अभिमत

डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर द्वारा
लिखित शोध-कृति आद्योपान्त पढ़ी।
स में डॉ. भास्कर ने जैन संस्कृति का
तिहास, साहित्य, संघ, दर्शन एवं
स्कृति को बड़ी चिन्तनशीलतापूर्वक
स्तुत किया है। डॉ. जैन इसके लिए
धाई के पात्र हैं। जैन कला और
स्कृति का अनूठा विवेचन करने वाला
ह शोध-ग्रन्थ सर्वत्र समादरणीय होगा,
सा हमारा विश्वास है।

डॉ. प्रो. मधुकर आष्टीकर
भूतपूर्व, अधिष्ठाता,
कला संकाय,
नागपूर विद्यापीठ

डॉ. भास्कर का "जैन दर्शन
ौर संस्कृति का इतिहास,, नामक
नुसन्धानात्मक ग्रन्थ देखने का अवसर
िला। इस में विद्वान लेखक ने जैन
स्कृति के समग्र पक्षों को अपने गंभीर
ध्ययन के माध्यम से प्रस्तुत किया है।
हीं भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों
साथ उन्होंने जैन दर्शन की तुलना भी
 है। इतने सुन्दर और उपयोगी
थ के लेखन के लिए डॉ. भास्कर का
ात्न प्रशंसनीय है।

जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास

लेखक

डॉ. भागचन्द्र भास्कर

एम्. ए. (संस्कृत, पालि, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति)

साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, पी-एच्. डी. (श्रीलंका)

विभाग प्रमुख, पालि-प्राकृत विभाग,

नागपुर विश्वविद्यालय

नागपुर विद्यापीठ प्रकाशन

त्वदीयमिदं वस्तु तुभ्यमेव समर्पये

परमपूज्या माँ

श्रीमती तुलसादेवी जैन

के कर-कमलों में

सविनय समर्पित

जिन्होंने

लेखक की

प्रगति में अपना सर्वस्व

निछावर कर दिया

श्रीमती तुलसीदेवी जैन

पुरस्कार

डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर लगभग पन्द्रह वर्षों से प्राच्य [illegible] (जैन और बौद्ध) वांङमय के अध्ययन-अध्यापन में जुटे हुए हैं। नागपुर विश्वविद्यालय में वे १९६५ से पालि-प्राकृत विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य कर रहे हैं और साथ ही संस्कृत विभाग में भी अध्यापन कार्य करते हैं। अभी तक उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। Jainism in Buddhist Literature (शोध प्रबन्ध), बौद्ध संस्कृति का इतिहास, चतुःशतकम् (संपादन और अनुवाद), पातिमोक्ख (संपादन और अनुवाद), पालिकोससंगहो (संपादन), भ. महावीर और उनका चिन्तन, भारतीय संस्कृतीला बौद्ध धर्माचे योगदान (मराठी) आदि उनकी कृतियों ने विद्वता-क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया है।

आज हम डॉ. भास्कर की ही एक अन्यतम कृति "जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास" का प्रकाशन विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहयोग से कर रहे हैं। इस शोध कृति में विद्वान लेखक ने जैन धर्म के इतिहास, संघ, सम्प्रदाय, साहित्य, दर्शन, कला और संस्कृति पर गंभीर प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं, उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों से भी यथास्थान तुलना की है। इस लिए इसकी उपयोगिता और बढ़ गई है। एतदर्थ लेखक बधाई के पात्र हैं।

आशा है, डॉ. भास्कर का यह नवीन शोध ग्रन्थ विद्यार्थियों और शोधकों को अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

के. क. [illegible]

कुलगुरु,

नागपुर विद्यापीठ, नागपुर.

नागपुर

दि. २५-४-१९७७

प्राक्कथन

जैन धर्म का उद्गम कब हुआ, इस सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कतिपय विद्वानों ने हड़प्पा संस्कृति की कुछ मूर्तियों में जैन प्रभाव के दर्शन किये हैं तो कुछ विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में आद्य जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव का नामोल्लेख आया है। ऋग्वेद में वर्णित वातरशन मुनि उनके अनुसार जैन मुनियों से अभिन्न हैं। दुर्भाग्यवश इस विषय में उपलब्ध साक्ष्य अत्यन्त अनिश्चित स्वरूप का है तथा इस सन्दर्भ में बहुचर्चित मुनियों एवं वैदिक ऋचाओं की व्याख्या अन्य विद्वानों ने भिन्न प्रकार से की है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर निश्चित रूप से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जैन धर्म ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में, जब तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ हुए, अवश्य ही अस्तित्व में था। यद्यपि जैन परम्परा के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व बाईस और तीर्थङ्कर हो चुके थे, तथापि उनकी ऐतिहासिकता का कोई निश्चित प्रमाण अभी तक नहीं मिल सका है।

यद्यपि जैन धर्म के उद्भव काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहना असम्भव है, तथापि इतना अवश्य निश्चित प्रतीत होता है कि प्रागैतिहासिक [illegible] काल से भारत में धार्मिक क्षेत्र में दो भिन्न चिन्तन-धाराएँ प्रवाहमान रही हैं जिन्हें हम प्रवृत्ति मार्ग एवं निवृत्ति मार्ग कह सकते हैं। वैदिक संस्कृति [illegible] वैदिक संहिताओं में दृश्यमान मूल रूप में प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण करती है तो जैन, बौद्ध एवं कतिपय सम्प्रति [illegible] निवृत्ति मार्ग का। इस प्रकार यथार्थतः वैदिक एवं श्रमण संस्कृतियाँ एक ही [illegible] की दो शाखाएँ हैं [illegible] और मूलभूत एकता के आधार पर उनके बीच विद्यमान अनेक समानताओं को समझा जा सकता है।

जैन धर्म का [illegible] क्षेत्रों में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है [illegible] पर विचार किये बिना भारतीय संस्कृति की [illegible] नहीं है। जैनों ने विपुल साहित्य-सृजन किया है [illegible]

कृतित्व अप्रतिम है। उपलब्ध परम्पराओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि जो प्रचुर धार्मिक वाङ्मय सम्प्रति हमें प्राप्त है वह मूलतः रचित वाङ्मय का एक स्वल्प अंशमात्र है। इससे मूल धार्मिक साहित्य की अनन्यसाधारण विशालता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। किन्तु जैनों की साहित्यिक गतिविधि केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित नही रही। उन्होंने लौकिक साहित्य का भी बड़े पैमाने पर निर्माण किया और व्याकरण, ज्योतिष, कथा एवं ललित वाङ्मय के क्षेत्र में उनका योगदान अप्रतिम है। अपना सन्देश जन-साधारण तक पहुँचाने के उद्देश से साहित्य-सृजन के लिए संस्कृत के अतिरिक्त लोक-भाषाओं का उपयोग किया और इसका मधुर फल हमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित बहुमूल्य ग्रंथ-राशि के रूप में उपलब्ध है। कतिपय आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपलब्ध प्राचीनतम कृतियों की रचना का श्रेय जैन लेखकों को प्राप्त है। यही बात कला के विभिन्न अंगों के विषय में सत्य है। अन्य धर्म-सम्प्रदायों के समान जैनधर्म को भी कतिपय राजवंशों का आश्रय मिला। किन्तु इससे अधिक महत्वपूर्ण बात है व्यापारी वर्ग में जैन धर्म की लोकप्रियता। इस धर्म के श्रद्धालु समृद्ध अनुयायियों ने अपना अपार ऐश्वर्य विशाल वसतियों एवं मन्दिरों के निर्माण पर उड़ेल दिया और यह परम्परा आधुनिक काल तक चली आ रही है। इनमें से अनेक कृतियाँ कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं और भारतीय कला का कोई भी विद्यार्थी इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन एवं सृजन तो अस्तित्व का प्रश्न था। अतः इस विषय में कुछ भी कहना अनावश्यक है।

डॉ. भास्कर ने प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन धर्म एवं संस्कृति के इन सभी पक्षों का सविस्तर विवेचन किया है। उनकी अन्य प्रकाशित कृतियों की भाँति यह पुस्तक भी उनके वर्षों के गम्भीर अध्ययन एवं परिश्रम का परिणाम है। भले ही कुछ पाठकों को उनके कतिपय विचार मान्य न हों, किन्तु ग्रन्थ की उपयोगिता एवं महत्व के विषय में दो मत नहीं हो सकते। इस में संशय नहीं कि इसकी गणना हिन्दी में जैन संस्कृति एवं दर्शन पर अद्यावधि प्रकाशित श्रेष्ठतम ग्रन्थों में होगी और विद्वज्जगत् में इसका आदर होगा।

अजयमित्र शास्त्री
विभागप्रमुख
प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्व,
नागपुर विश्वविद्यालय

नागपुर,
[illegible]

उपस्थापना

१. जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम अविच्छिन्न अंग के रूप में सुस्थिर और सुविकसित रही है। आज साहित्य, दर्शन, इतिहास और पुरातत्त्व की शृङ्खलाओं की वह ऐसी बेजोड़ सुनहरी कड़ी है जो तोड़ने पर भी तोड़ी न जा सकी। प्रारम्भ से ही उसने संयम, सहयोग, सद्भाव और समन्वय पर आधारित अपनी सैद्धान्तिक भूमिका को स्वीकार किया जिसपर पल्लवित भव्य और मनोहरणीय प्रासाद समता, सर्वोदय और समृद्धि की शीतल किरणों को बिखेरता रहा।

२. जैन संस्कृति वैदिक और सिन्धु सभ्यता में प्रारम्भ से ही घुली-मिली रही है। व्रात्य, वातरशना आदि अध्यायों से गुजरती हुई उसने उपनिषद् विचार-धारा को जन्म दिया। वैदिक विचारधारा में नया परिवर्तन लाकर उसमें मानवतावाद का पुनीत रस प्रवाहित किया। यह प्रक्रिया अनेक रूपों में उत्तर-काल मे भी चलती रही।

३. बौद्ध संस्कृति विचारधारा की दृष्टि से श्रमण-संस्कृति का अंग है पर वह जैन संस्कृति से बहुत बाद उत्पन्न हुई है। इसलिए समसामयिक संस्कृतियों के प्रभाव से वह बच नहीं सकी। तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि वह जैन संस्कृति के [illegible] हर पक्ष से प्रभावित रही है।

४. [illegible] से परे नहीं। एक लम्बे समय तक वह आध्यात्मिकता से ही ओतप्रोत रही [illegible] बाद में उसने दर्शन और योग के क्षेत्र में भी पदार्पण किया। [illegible]

अनेकान्तवाद उसके प्रधान साधन रहे हैं। साधनों की पवित्रता साध्य की पवित्रता को जन्म देती है। जैन धर्म के विकास का हर चरण इसी पवित्रता को समेटे रहा है। तीर्थंकर महावीर ने इसी परम्परा का पल्लवन किया।

५. जैन साहित्य की विशालता और प्रगाढ़ता अभी तक उपेक्षित-सी रही है। उसे धार्मिक साहित्य कहकर विद्वानों ने खूब कोसा और उपेक्षित किया। किसी भी संस्कृत अथवा हिन्दी के इतिहास के लेखक ने सहृदयतापूर्वक अपने ग्रन्थ में उसे समुचित स्थान देने का साहस नहीं किया। साहित्य और दर्शन परस्पर अनुस्यूत रहते हैं। लेखक का दर्शन उसके साहित्य में प्रतिबिम्बित हुए बिना रह नहीं सकता। कालिदास, अश्वघोष, भवभूति, कबीर, तुलसी आदि कवियों का साहित्य किसी न किसी दर्शन को अभिव्यक्त करता ही है। फिर धार्मिक साहित्य का लेबल मात्र जैन साहित्य पर क्यो जकड़ दिया गया? प्रसन्नता की बात है कि अब धीरे-धीरे विद्वत्ता के क्षेत्र में निष्पक्षता बढ़ती चली जा रही है और जैन साहित्य भी प्रकाशित होता चला जा रहा है। अभी भी सहस्रों ग्रन्थ भण्डारों मे अप्रकाशित पड़े हुए हैं। न जाने कितने ग्रन्थ तो दीमकों की चपेट में आ गये है, और आते जा रहे हैं। फिर भी उन्हें बाहर की हवा नहो मिल पा रही है। शोधकों को प्रकाशित ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ प्राप्त करने में जिन कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है उन्हें दूर किया जाना अपेक्षित है। जैन समाज का यह कर्तव्य है कि वह प्रतिष्ठाओं की ओर ध्यान न देकर साहित्य प्रकाशन की ओर अपनी शक्ति लगाये। उसके लिए यही ज्ञानयज्ञ है।

६. दार्शनिक क्षेत्र में अहिंसा और अनेकान्तवाद का आधार लेकर जैन दर्शन सामने आया। दर्शन में तत्त्व, ज्ञान और चारित्र समाविष्ट हैं। जैनाचार्यों ने इन तीनों तत्त्वों पर निष्पक्ष रूप से गंभीर चिन्तन उपस्थित किया। ऐतिहासिक दृष्टि से हमने इन तीनों तत्त्वों की तुलनात्मक मीमांसा प्रस्तुत की है तथा वैदिक और बौद्ध दर्शनों के साथ ही जैन दर्शन का दर्शन के विविध पक्षों के विकास में क्या व कैसा योगदान रहा, यह भी विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रसंग में थेलीज, पीथागोरस, हेरेक्लीटस, डीमोक्रीट्स, एम्पेडोक्लीज, प्लेटो, अरस्तू, पीरो, सेक्स्टस, एम्पिरिकस, देकार्ते, ह्यूम, बर्कले, काण्ट, हीगेल, लाइब-निज आदि पाश्चात्य विचारकों की विचारधाराओं की भी संक्षिप्त तुलना की गई है।

७. जैन परम्परा में विद्यानुवाद पूर्व का उल्लेख मिलता है, जो सम्प्रति अनुपलब्ध है। इस प्रश्नव्याकरणांग में मंत्रविद्या और विद्याविद्याओं का वर्णन

उपलब्ध होता है। निरयावलि नामक उपांग में श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इला, सुरा, रस, और गन्ध इन दस देवियों के नाम मिलते हैं। [illegible] आदि आचार्यों ने भी इन में से कतिपय देवियों का नामोल्लेख किया है। कालक्रम में यक्ष, यक्षिणियों, शासन देवी-देवताओं तथा चैत्य वृक्षों की भी कल्पना समाहित हो गई। इतना ही नहीं, धारिणी, चामुण्डा, घटकर्णा, कर्णपिशाचिनी, भैरव पद्मावती आदि जैसी वैदिक-बौद्ध परम्पराओंमे मान्य देवी-देवताओं की उपासना से भी जैन परम्परा बच नहीं सकी। आकाशगामिनी आदि जैसी विद्याओं की भी सिद्धि की जाने लगी। प्रतिष्ठा, विधि-विधान आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त निर्वाण कलिका, रहस्यकल्पद्रुम, सूरिमन्त्रकल्प आदि शताधिक छोटे-मोटे ग्रन्थ भी रचे गये। स्तोत्रों की भी एक लम्बी परम्परा इसी तन्त्र-मन्त्र परम्परा से अनुस्यूत है।

८. समूची मान्त्रिक परम्परा के समीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भिक्षु को मूलत: मन्त्रादिक तत्त्वों से बिलकुल दूर रहने की व्यवस्था थी।[1] पर उत्तरकाल में प्रभावना आदि की दृष्टि से जैनेतर परम्पराओं का अनुकरण किया गया। इस अनुकरण की एक विशेषता दृष्टव्य है कि जैन मन्त्र परम्परा ने कभी अनर्गल आचरण को प्रश्रय नही दिया। लौकिकता को ध्यान में रखते हुए भी वह विशुद्ध अध्यात्मिकता से दूर नही हटी। इसलिए वह विद्रूप और पथभ्रष्ट भी नहीं हो सकी।

९. जहाँ तक योग का प्रश्न है, हम यह कह सकते हैं कि जैन योग जहाँ समाप्त होता है वैदिक और बौद्ध योग वहाँ प्रारम्भ होता है। हठयोग की परम्परा से जैन योग का कोई मेल नही खाता, फिर भी लौकिक आस्था को ध्यान में रखकर उत्तरकालीन आचार्यों ने उसके कुछ रूपों को अध्यात्मिकता के साथ सम्बद्ध कर दिया। जैन योग के क्षेत्र में यह विकास आठवीं-नवमीं शताब्दी से प्रारम्भ हो जाता है और बारहवीं शताब्दी तक यह परिवर्तन अधिक कथित होने लगता है। आचार्य सोमदेव, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि विद्वानों ने जैन योग को वैदिक और बौद्ध योग की ओर खींच दिया। धर्मध्यान के अन्तर्गत आनेवाले आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान विचय के स्थान पर पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों की परिकल्पना कर दी गई। पार्थिवी, आग्नेयी, [illegible] और वारुणी धारणाओं ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और भावना का स्थान ग्रहण कर लिया। प्राणायाम, कालज्ञान और परकाया-प्रवेश जैसे तत्त्वों को शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने खुलकर अपना लिया। सोमदेव इस प्रकार के ध्यान को पहले ही लौकिक ध्यान की संज्ञा दे चुके थे। इसलिए उत्तरकाल [illegible] की ओर [illegible]

---

१. [illegible]
[illegible]

का झुकाव अधिक हो गया। यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र की साधना ने आध्यात्मिक साधना को पीछे कर दिया। प्रतिष्ठा और विधान के क्षेत्र में दसों यन्त्रों की संरचना की गई। कोष्ठक आदि बनाकर उनमें विविध मन्त्रों को चित्रित किया जाने लगा। प्रसिद्ध यन्त्रों में ऋषिमण्डल, कर्मदहन, चौबीसी मण्डल, णमोकार, सर्वतोभद्र, सिद्धचक्र, शान्तिचक्र आदि अड़तालीस यन्त्रों का नाम उल्लेखनीय है।

१०. जैन स्थापत्य और कला के क्षेत्र में जैन संस्कृति का अनूठा योगदान रहा है। जैनमूर्तिकला, वास्तुकला, गुफा आदि के कलात्मक प्रतिष्ठान भारत के कोने-कोने में व्याप्त हैं। बरली (अजमेर) में प्राप्त अभिलेख संभवतः प्राचीनतम अभिलेख माना जायगा। अतः इतिहास के निर्माण में जैन साहित्य, कला और संस्कृति को भुलाया नहीं जा सकता।

११. समाज व्यवस्था में समता और समानता का उद्घोष करने वालों में जैनाचार्यों को ही प्रथम श्रेय दिया जा सकता है। कर्मणा व्यवस्था उन्हीं की देन है। लगभग अठवीं शती में वैदिक संस्कृति में मान्य समाज व्यवस्था को जैन परिवेश में जिनसेन ने स्वीकृत किया और आगे चलकर वह सर्वमान्य हो गई। यज्ञोपवीत आदि वैदिक संस्कारों को भी जैनधर्म का जामा पहना दिया गया। यह आन्तरिक सांस्कृतिक क्रान्ति का एक बिलकुल नवीन चरण था। कला के क्षेत्र को भी इस चरण ने प्रभावित किया। समन्वय और एकता इस चरण की मूल भावना थी।

जैन संस्कृति में कुछ अध्यात्मिक पर्व हैं जिनका उपयोग शाश्वत सिद्धि के लिये किया जाता है। भाद्रपद में आनेवाला पर्यूषण (दशलक्षण) पर्व ऐसे पर्वों में अग्रगण्य है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिंचन और अपरिग्रह इन दश मानवीय धर्मों की साधना कर जीवन की परिशुद्धि की जाती है। इसी प्रकार रक्षाबन्धन, दीपावली, श्रुतपञ्चमी, अनन्त-चतुर्दशी आदि और भी अनेक पर्व हैं जिनके साथ जैन इतिहास और संस्कृति जैसे तत्त्व जुड़े हुए हैं।

१२. 'जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास' नामक प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में उपर्युक्त तत्त्वों के कतिपय रूपों को हमने उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। कुछ तत्त्व ऐसे भी रहे जिनको विश्लेषित नहीं किया जा सका और कुछ ऐसे रहे जिनका उल्लेख मात्र करके ही सन्तोष करना पड़ा। जैन साहित्य और आचार्यों का तो मात्र वर्गीकरण-सा ही किया जा सका है। समय और अर्थ की सीमा एक बड़ी विवशता रही जिसने संकलित सामग्री का भी उपयोग नहीं करने दिया।

१३. प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में अनेक लेखकों के ग्रन्थों का उपयोग किया गया है जिनमें से सर्वश्री स्व. डॉ. हीरालाल जैन, पं. सुखलाल संघवी, कैलाशचन्द्र शास्त्री, दलसुख मालवणिया, स्व. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, दरबारी लाल कोठिया, मोहनलाल मेहता, मुनि नथमल विशेष उल्लेखनीय हैं। जैन मूर्तिकला और स्थापत्यकला के लिखने में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित जैन स्थापत्यकला का भी उपयोग किया गया है। इन सभी विद्वानों और संस्थाओं के प्रति मै अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूं।

ग्रन्थ के अन्त में मैने प्लेट्स देना आवश्यक समझा। एदर्थ श्री. गणेश ललवाणी, संपादक जैन जर्नल, कलकत्ता से निवेदन किया और उन्होंने बड़ी सरलता और उदारतापूर्वक चबालीस फोटो ब्लाक्स भेज दिये। इसी तरह श्री. सुमेरुचन्द्र जैन, सन्मति प्रसारक मण्डल, सोलापुर से भी सात ब्लाक्स प्राप्त हो गये। श्री. बालचन्द्र, उप-संचालक, रानी दुर्गावती संग्रहालय, जबलपुर, डॉ. सुरेश जैन, लखनादोन, अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ संस्थान, शिरपुर तथा नागपुर संग्रहालय से भी ब्लाक्स उपलब्ध हो गये। डॉ. गोकुलचन्द्र जैन, वाराणसी ने अमेरिकन एकेडेमी से कुछ फोटो भी लेकर भेज दिये। हम अपने इन सभी मित्रों के स्नेहिल सहयोग के लिए अत्यन्त आभारी है। पर दुःख यह है कि हम इन फोटो ब्लाक्स का अर्थाभाव के कारण अधिक उपयोग नही कर सके।

१४. इस पुस्तक का 'पुरस्कार' हमारे कुलगुरु डॉ. दे. य. गोहोकर ने लिखकर हमें प्रोत्साहित किया है। इसी प्रकार डॉ. अजय मित्र शास्त्री, प्राध्यापक और अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, नागपुर विश्वविद्यालय ने प्राक्कथन लिखकर मुझे उपकृत किया। डॉ. मधुकर आष्टीकर, भूतपूर्व अधिष्ठाता, कला संकाय, श्री. शिवचन्द्र नागर, अधिष्ठाता, कला-संकाय, श्री. गोवर्धन अग्रवाल एवं श्री. प्रो. वा. मो. काळमेघ, आदि विद्वान मित्रों की समय–समय पर प्रेरणा मिलती रही। उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

१६. प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त अनुदान से हो रहा है। अतः उसका सहयोग भी अविस्मरणीय है। मैं अपनी पत्नी डॉ. पुष्पलता जैन, एम्. ए., पीएच्. डी. के भी अनेक सुझावों से लाभान्वित हुआ हूँ। श्री. क. मा. सावंत, व्यवस्थापक, विश्वविद्यालय प्रेस का भी मधुर व्यवहार कार्य की शीघ्रता में कारण बना। अतः इन सभी का कृतज्ञ हूँ।

१६. लेखक ने अपनी इस कृति को परमपूज्या माँ श्रीमती तुलसीदेवी जैन को समर्पित किया है। उसकी प्रगति में उनका अमूल्य योगदान है। उनके

पुनीत चरणों मेरा मस्तक श्रद्धावनत है।

१७. अन्त में यह विनम्र निवेदन है कि ग्रन्थ लेखन में जहाँ जो-जैसी भी त्रुटियाँ हुई हों उनकी ओर पाठक हमारा ध्यान आकृष्ट करें। हम उनके आभारी रहेंगे। मुद्रण की त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। यदि अध्येताओं के लिए यह ग्रंथ उपयोगी सिद्ध हो सका तो हम अपना परिश्रम सार्थक समझेंगे। इत्यलम्।

—भागचन्द्र जैन भास्कर

न्यू एक्सटेन्शन एरिया,
सदर, नागपुर,
महावीर जयन्ती, २-४-१९७७

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिवर्त

जैन संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय संस्कृति की दो धारायें

श्रमण का शब्दार्थ

प्राचीन ऐतिहासिक भूमिका

कुलकर : एक समाज व्यवस्थापक

सभ्यताका उत्कर्ष-अपकर्ष काल

त्रेसठ शलाका पुरुष

भारत की प्राचीन मूल जातियां

सिन्धु सभ्यता और जैन संस्कृति

वैदिक साहित्य और जैनधर्म

वातरशना श्रमण

केशी ऋषभ व्रात्य

अर्हन्, और जैन संस्कृति

तीर्थङ्कर और बौद्ध साहित्य

ऋषभदेव

अन्य तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ

तीर्थङ्कर महावीर

प्रथम परिवर्त

जैन संस्कृति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय संस्कृति की दो धाराएं :

भारतीय संस्कृति मूलतः दो संस्कृतियों का समन्वित रूप है—एक वैदिक संस्कृति और दूसरी श्रमण संस्कृति वैदिक संस्कृति 'ब्रह्म' की पृष्ठभूमि से उद्भूत हुई है जबकि श्रमण संस्कृति सम शब्द के विविध रूपों और अर्थों पर आधारित है। प्रथम में परतन्त्रता, ईश्वरावलम्बन और क्रियाकाण्ड की चरम प्रवृत्ति देखी जाती है, जबकि द्वितीय संस्कृति स्वातन्त्र्य, स्वावलम्बन विशुद्ध एवं आत्मा की सर्वोच्च शक्ति पर विश्वास करती है ।

श्रमण का शब्दार्थ :

श्रमण में पालि-प्राकृत का मूल शब्द 'समण' है जिसका संस्कृत रूपान्तर श्रमण, शमन और समन होता है। अतः श्रमण संस्कृति उक्त श्रम, शम और सम के मूल सिद्धान्तों के धरातल पर अवलम्बित है। इसका अर्थ हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) श्रमण शब्द श्रम् धातु से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है उद्योग करना, परिश्रम करना। इसमें तथाकथित ईश्वर मार्ग-द्रष्टा हैं, सृष्टि का कर्ता धर्ता-हर्ता नहीं। इसलिए उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम और सत्कर्मों से स्वयं ईश्वर बन सकता है। वह ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर नहीं है, बल्कि आत्मविकास की उसके स्वयं का पुरुषार्थ उसे चरम स्थिति तक पहुंचा सकता है।

(२) शमन का अर्थ है—शान्त करना। अर्थात् श्रमण अपनी चित्तवृत्तियों अथवा विकार-भावों का शमन करता है। उसकी मूल साधना है—आत्मचिन्तन अथवा भेदविज्ञान। चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, सभी को समान रूप से आत्मचिन्तन करने एवं मुक्ति प्राप्त करने का अधिकार है। वहां कोई जाति विशेष का बन्धन नहीं।[1] साधक इस शमता से शत्रु-मित्र, बन्धु-बान्धव सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, मिट्टी-सोना तथा जीवन-मरण जैसे विषयों में समता बुद्धि जागरित करता है।

---

१. न दीसई जाइविसेस कोई—उत्तराध्ययन, १२-३७.

समसत्तुबन्धुवग्गो सम सुहदुक्खो पसंसणिदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदामरणे समो समणो ।।[१]

(३) सम शब्द का अर्थ है–समानता। श्रमण संस्कृति में सभी जीव समान हैं। उनमें वर्णादिजन्य भेदभाव अथवा असमानता नहीं होती। कोई भी व्यक्ति मात्र गोत्र अथवा धन से श्रेष्ठ नहीं होता, बल्कि उसकी श्रेष्ठता तो उसके कर्म विद्या, धर्म और शील से आंकी जाती है।[२] आत्मा अथवा चित्त स्वरूपतः ज्ञानवान् निर्मल और निर्विकार है। हमारे कर्म उसके मूल स्वरूप को आवृत कर लेते हैं। आत्मा के इस विकार-भाव को दूर करने के लिए विशुद्ध ज्ञान-भाव पूर्वक अहिंसात्मक तपो-साधना अपेक्षित है। यही साधना समानता की जननी है। इसी को चारित्र, धर्म अथवा सम कहा गया है।[३]

इस प्रकार श्रमण संस्कृति का मूल धरातल श्रम, शम और सम के सिद्धान्तों पर आधारित है। ये तीनों सिद्धान्त विशुद्ध मानवता की भूमि पर खडे हुए हैं। वर्गभेद, वर्णभेद, उपनिवेशवाद, आदि जैसे असमानतावादी तत्व श्रमण संस्कृति से कोसों दूर हैं। यह उसकी अनुपम विशेषता है।

प्राचीन ऐतिहासिक भूमिका

कुलकर-एक समाज व्यवस्थापक :

जैन दर्शन की दृष्टि से सृष्टि अनादि और अनन्त है। वह किसी ईश्वर की निर्मिति का फल नहीं, बल्कि स्वाभाविक परिणमन का फल है जो निमित्त और उपादान जैसे कारणों पर अवलम्बित है। जैन पौराणिक परम्परा हमारे भारतवर्ष के उस समय के इतिहास को प्रस्तुत करती है जबकि यहां नागरिक सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। सम्भव है, समूची सृष्टि के विकासात्मक तथ्य को ही इस रूप में प्रस्तुत किया गया हो। आचार्यों ने इस विकास को दो भागों में विभाजित किया है–भोगभूमि और कर्मभूमि। भोगभूमि काल में

---

१. प्रवचनसार, ३-४१.; दशवैकालिकवृत्ति, १-३.

२. कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तियो।
बइस्सो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ।। उत्तराध्ययन।, २५-३१ ।।
कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोत्तेन धनेन वा ।। विसुद्धिमग्ग–१ ।।

३. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ।।
—प्रवचनसार, १.७

व्यक्ति प्राय: जंगलों में रहते थे। उस समय नागरिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का अभाव था। समाज साधारणतः अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति वृक्षों से कर लिया करता था। इसलिए वृक्षों को यहां "कल्पवृक्ष" कहा गया है। भाई-बहिन ही अपनी तरुणावस्था में पति-पत्नी बन जाते थे। इससे पता चलता है कि उस समय यौन सम्बन्ध-विषयक विवेक जागरित नहीं हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से इसे हम पूर्व और उत्तर पाषाणयुग का समन्वित रूप कह सकते हैं।

सभ्यता का विकास धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा। नागरिक और कौटुम्बिक व्यवस्था के साथ कृषि, कर्म भी प्रारम्भ हो गया। असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प जैसी कलाओं का जन्म भी इसी समय हुआ। जैन संस्कृति में इस युग को 'कर्मभूमि' नाम दिया गया है और इसके प्रवर्तकों को 'कुलकर' की संज्ञा से अभिहित किया। इन कुलकरों की संख्या जैन साहित्य में कहीं सात, कहीं चौदह और कहीं पन्द्रह मिलती है। ठाणांग (७ स्वरमण्डलाधिकार) में कुलकरों की संख्या ७ है–(१) विमल वाहन, (२), चक्षुष्मान, (३) यशोमान, (४) अभिचन्द्र, (५) प्रसेनजित, (६) मरुदेव, और (७) नाभि। जिनसेन के महा-पुराण (१.३.२२९–३२) में यही संख्या १४ है–(१) सुमति, (२) प्रतिश्रुति, (३) सीमंकर, (४) सीमन्धर, (५) क्षेमंकर, (६) क्षेमन्धर, (७) विमलवाहन, (८) चक्षुष्मान, (९) यशस्वी, (१०) अभिचन्द्र, (११) चन्द्राभ, (१२) प्रसेनजित (१३) मरुदेव, और (१४) नाभि। जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति (पृ. १३२) में ऋषभदेव का नाम जोड़कर कुलकरों की कुल संख्या पन्द्रह कर दी गई है।

कुलकरों की संख्याओं में मतभेद भले ही हो पर उनके कार्यों में मतभेद नहीं है। सभी कुलकरों ने समाज को सभ्यता का कोई ना कोई अंग अवश्य दिया है। जिनसेन ने तो प्रत्येक कुलकर के द्वारा किये गये कार्यों का उल्लेख किया है। वस्तुत: कुलकर समाज को व्यवस्थित रूप देनेवाली एक संस्था होनी चाहिए। जैन साहित्य और संस्कृति में कुलकर का वही स्थान है जो वैदिक संस्कृति में मनु का है। वहां भी मत्स्य पुराण आदि में मनुओं की संख्या चौदह बतायी गई है। कुलकर अथवा मनु का मुख्य कार्य है–धर्म और कर्म की स्थापना कर समाज और राष्ट्र को एक नयी सभ्यता के लोक में पहुंचाना।

सभ्यता का उत्कर्ष-अपकर्ष काल :

भूवैज्ञानिकों और पुरातात्विकों ने सृष्टि-प्रक्रिया को आदि मानव के समीप तक पहुंचाने के लिए तीन कालों में विभाजित किया है– १. पेलेजोइक,

(पुरातन जीवयुग), २. मेसेजोइक (मध्य जीवयुग), और ३. केनेजोइक (नव्य जीवयुग)। संम्भव है, आद्य मानव की उत्पत्ति तृतीय युग में हुई हो।

मानवीय सभ्यताको पुनः तीन सोपानों में कल्पित किया गया है–(१) प्रारम्भिक पाषाणयुग,(२) पाषाणयुग, तथा (३) धातुयुग। धातुयुगीन सभ्यता काल में ही मानव सही अर्थों में सभ्यता के युग में प्रवेश करता है। इस युग को हम जैन पारिभाषिक शब्द में "कुलकर युग" कह सकते हैं। सम्भव है, इसी युग को 'उत्सर्पिणी' काल कहा गया हो क्योंकि मानव का विशेष उत्कर्ष इसी युग से प्रारम्भ होता है। इस उत्कर्ष काल को छः भागों में विभाजित किया गया है–सुषमा–सुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषमा-दुषमा, (४) दुषमा-सुषमा, (५) दुषमा, और (६)दुषमा-दुषमा।

एक समय आता है जब सभ्यता का अपकर्ष आरम्भ होता है और उसकी अन्तिम परिणति उत्कर्ष में होती है। इस 'अपसर्पिणी' काल को भी जैन संस्कृति में छः भागों में विभाजित किया गया है–(१)दुषमा-दुषमा, (२) दुषमा, (३) दुषमा-सुषमा, (४) सुषमा-दुषमा, (५) सुषमा, और (६) सुषमा-सुषमा। इन उत्सर्पिणी और अपसर्पिणी कालों में करोडों वर्ष होते हैं। इन दोनों कालों के सुषमा-दुषमा काल में २४ तीर्थङ्करों का प्रादुर्भाव होता है। वर्तमान में उत्सर्पिणी का दुषमा काल चल रहा है। उत्सर्पिणी के तृतीय काल तक भोग-भूमि का समय कहा जा सकता है और उसके उपरान्त कर्मभूमि का समय आता है। कुलकरों का यही कार्यकाल रहा होगा।

त्रेसठ शलाका पुरुष :

कुलकरों के बाद जैन परम्परा में कुछ ऐसे महनीय व्यक्तित्व हुए हैं जिन्होंने मानव समुदाय को धर्म एवं नीति तत्व का उपदेश दिया। उन्हें शलाका पुरुष कहा जाता है। उनकी कुल संख्या तिलोय पण्णत्ति आदि ग्रन्थों में त्रेसठ मिलती है :–

२४ तीर्थङ्कर–(१) ऋषभ,(२) अजित,(३) संभव,(४)अभिनन्दन,(५) सुमति,(६) पद्मप्रभ,(७) सुपार्श्व,(८) चन्द्रप्रभ,(९)पुष्पदन्त,(१०) शीतल, (११) श्रेयांस,(१२) वासुपूज्य,(१३)विमल,(१४)अनन्त, (१५) धर्म,(१६) शान्ति,(१७) कुन्थु,(१८) अरह,(१९)मल्लि, (२०) मुनिसुव्रत,(२१) नमि, (२२) नेमि, (२३) पार्श्वनाथ और, (२४) वर्धमान अथवा महावीर.

१२ चक्रवर्ती–(२५) भरत,(२६)सगर, (२७) मघवा,(२८)सनत्कुमार, (२९) शान्ति, (३०) कुन्थु, (३१) अरह, (३२) सुभौम, (३३) पद्म, (३४) हरिषेण, ३५) जयसेन, और (३६) ब्रह्मदत्त।

९ बलभद्र–३७) अचल, ३८) विजय, ३९) भद्र, ४०) सुप्रभ, ४१) सुदर्शन, ४२) आनन्द, ४३) नन्दन, ४४) पद्म, और ४५) राम.

९ वासुदेव–४६) त्रिपृष्ठ, ४७) द्विपृष्ठ, ४८) स्वयंभू, ४९) पुरुषोत्तम, ५०) पुरुषसिंह, ५१) पुरुष पुण्डरीक, ५२) दत्त, ५३) नारायण, और ५४) कृष्ण.

९ प्रतिवासुदेव–५५) अश्वग्रीव, ५६) तारक, ५७) मेरक, ५८) मधु, ५९) निशुम्भ, ६०) बलि, ६१) प्रह्लाद, ६२) रावण, और ६३) जरासंध.

भारत की प्राचीन मूल जातियां :

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने प्राचीन भारत वर्ष से सम्बद्ध मनुष्य जाति को तीन प्रधान समुदायों में विभक्त किया है–[१]

१) प्रथम समुदाय उत्तरी भारत के पूर्वी मैदानी भाग में गंगा-यमुना के दो आबे से लेकर अंग-मगध पर्यन्त निवास करता था। वह समाज शान्तप्रिय, मूर्तिपूजक, अध्यात्मवादी, आत्मवादी, अहिंसक, एवं निवृत्तिपरक था। सम्भवतः इसीलिए वे अपने आपको "आर्य" कहने लगे। कुलकरों का जन्म इसी समुदाय में हुआ था। अतः यह समुदाय 'मानव वंश' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

२) द्वितीय समुदाय दक्षिण तथा पूर्व के अधिकतर पर्वतीय प्रदेशों में सीमित था। वह आध्यात्मिक दृष्टि से तो मानवों की अपेक्षा हीन था पर कलाकौशल एवं उद्योगधन्धों में अधिक प्रगतिशील था। उसने विज्ञान का विकास किया। इस समुदाय में नाग, यक्ष, वानर आदि नाम के अनेक कुल थे। इन्हें 'विद्याधर' कहा गया है। इन्हीं विद्याधरों को 'द्रविड' की संज्ञा दी गई है। मानवों और विद्याधरों के बीच सभी प्रकार के सम्बन्ध रहे हैं।

३) तृतीय समुदाय मानव वंश की ही एक शाखा थी, जो बहुत पहले मध्यप्रदेशीय मूल मानव जाति से पृथक् होकर उत्तर-पश्चिम पर्वतीय प्रदेशों की ओर चली गई थी। घुमक्कड़ स्वभाव होने के कारण यह जाति मध्य-एशिया तक फैल गई। वहां से एक शाखा कुछ उत्तर की ओर जा वसी, दूसरी पश्चिम की ओर यूरोप आदि में और तीसरी ईरान में वस गई। कालान्तर में इन्हीं को 'इन्डोआर्यन' नाम से अभिहित किया जाने लगा।

डॉ. जैन ने यह निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है कि भारत वर्ष की आदिम मानव जातियां जैन संस्कृति-निष्ठ थी। आर्य और द्रविड संस्कृति मूलतः श्रमण संस्कृति रही है। डॉ. जैन का यह निष्कर्ष असंगत भी नहीं कहा

---

१. भारतीय इतिहास, एक दृष्टि, पृ. २१–२३.

जा सकता । जैनों के प्राचीन साहित्य, कला और संस्कृति की ओर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में वह अत्यन्त समृद्ध और बहुजनपालित संस्कृति थी । द्रविड़, वैदिक आर्यों से भिन्न थे । इसलिए उन्हें 'अनार्य' कहा गया । 'पद्मपुराण' (प्रथम सृष्टि खण्ड) और 'विष्णु पुराण' (अध्याय, १७–१८) में समागत दिगम्बर योगी जिन्हें मायामोह की कथा में दास, दस्यु, असुर आदि नामों से व्यवहृत किया गया है, वेद विरोधी जैन ही होना चाहिए । इक्ष्वाकुवंशी ऋषभदेव को पुरुषवंशी भी कहा गया है । 'सत्प्रथ ब्राह्मण' (६·८४) में पुरुषों को ही 'असुर' कहा गया है । ये असुर ही मूल निवासी 'आर्य' होना चाहिए ।

सिन्धु सभ्यता और जैन संस्कृति :

नदियों की घाटियां संस्कृतियों के उद्भव एवं विकास की दृष्टि से विश्व में प्रसिद्ध हैं । सुमेरियन, लेबोलियन, असीरियन आदि संस्कृतियों की उत्पत्ति और विकास दजला-फरात की घाटी में हुआ, मिश्र की प्राच्य संस्कृति नील नदी की मनोरम घाटी से ही उदित और विकसित हुई । इसी प्रकार भारत में सिन्धु नदी की घाटी प्राचीन भारतीय संस्कृति का एक विशाल भण्डार जैसी सिद्ध हुई । सन् १९२२ में मोहेनजोदडो और हडप्पा नगरों की खुदाई हुई । उसमें सुन्दर भवन, आभूषण, अनाज, माप तौल के विभिन्न साधन, मूर्तियां आदि उपलब्ध हुई है । सभ्यता की विकसित अवस्था से पता चलता है कि यहां तत्कालीन सुनियोजित नागरिक सभ्यता का केन्द्र रहा होगा । इस सभ्यता का प्रसार मोहेन्जोदडो और हड़प्पाके अतिरिक्त चन्हुदडो, झूकरदडो, अम्बाला, करांची, केला (बलूचिस्तान) आदि स्थानों तक रहा है । डॉ. गार्डन चाइल्ट तथा हाल तो इसी सिन्धु सभ्यता को सुमेरियन सभ्यता की जन्मदात्री मानते है । विद्वानों ने इसकी प्राचीनता लगभग ४००० ई. पू. से लेकर २५०० ई. पू. तक निर्धारित की है ।

सिन्धु सभ्यता के मूल निवासी और आविष्कारक कौन थे, यह विवाद-ग्रस्त प्रश्न है । पर यह निश्चित है कि यह सभ्यता प्राग्वैदिक कालीन है और वैदिक संस्कृति से भिन्न है । वैदिक धर्म में मूर्तिपूजा का कोई स्थान नहीं था । वहां तो गाय की पूजा होती थी । अग्निकुण्ड एक अनिवार्य तत्व था । इसके विपरीत सिन्धु सभ्यता में मूर्तिपूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान था । वहां के लोग ऋषभ (बैल) की पूजा करते थे । यज्ञ, अग्निकुण्ड अथवा शिश्नपूजा के वे विरोधी थे । इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन से यह कहा जा सकता है कि यह सिन्धु सभ्यता वैदिक विरोधी सभ्यता थी । इसमें कोई आश्चर्य नहीं, यदि यह

सभ्यता तत्कालीन विद्याधर किंवा द्रविड जाति से सम्बद्ध रही हो। यह जाति ऋषभदेव (जैन धर्म के आदि तीर्थङ्कर) को पूज्य मानती थी और उन्हें योगी के रूप में स्वीकार करती थी। लोहानीपुर एवं हडप्पा से प्राप्त विशाल काय की एक दिगम्बर मूर्ति मात्र धड़, कायोत्सर्ग अवस्था में खड़ी है।[१] उसकी आकृति और भाव ऋषभदेव की आकृति और भाव से शत्-प्रतिशत् मिलते हैं। रामचन्द्रन् और काशी प्रसाद जायसवाल जैसे प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता उस मूर्ति को किसी जैन तीर्थङ्कर की मूर्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।[२] इसी प्रकार की कुछ योगी मूर्तियों का और भी चित्रण वहां की मुद्राओं में हुआ है जिनपर ऋषभ का चिन्ह बना है। इससे पता चलता है कि सिन्धु सभ्यता काल में आदिनाथ ऋषभदेव और उनका चिन्ह ऋषभ लोकप्रिय रहा होगा। मुद्राओं में अंकित लिपि अभी तक एकमत से अवाच्य रही है फिर भी प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार ने वहां की एक मुद्रा में "जिन इइ सरइ" (जिनेश्वर) पढ़ा है। ऋग्वेद (७.२१.५) में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि शिश्नदेव हमारे यज्ञ में बाधक न बने। यें शिश्नदेव अवैदिक होना चाहिए, यह स्पष्ट है। उनका सम्बन्ध शिश्नयुक्त माननेवाले अवैदिक श्रमण जैनों से रहा प्रतीत होता है। अतः यह अधिक संभव है की सिन्धु सभ्यता वैदिक सभ्यता की विरोधी द्रविड सभ्यता थी। डॉ. हेरास और प्रो. श्रीकण्ठ शास्त्री जैसे सर्वमान्य विद्वानों ने इस सभ्यता को द्राविडी अर्थात् जैन सभ्यता ही स्वीकार किया है।[३]

योग साधना का सीधा सम्बन्ध अध्यात्म से है। ऋग्वेद में यद्यपि 'योग' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है पर वहां उसका अर्थ प्रायः जोड़ना अथवा मिलाना है। आध्यात्मिक साधना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। यह ठीक भी है क्योंकि वैदिक संस्कृति आध्यात्मिक संस्कृति न होकर आधि दैविक अथवा आधिभौतिक विचार प्रधान संस्कृति है। इसलिए वैदिक परम्परा में योग साधना का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। उसका सम्बन्ध तो प्रारम्भ से ही श्रमण परम्परा से रहा है जिसमें आत्मसंयम और तप के द्वारा निर्वाण-प्राप्ति को साध्य स्वीकार किया गया है। इसलिए हमारा यह विचार और भी सुदृढ़ हो जाता है कि सिन्धुसभ्यता में प्राप्त योगीश्वर मूर्तियां जैन मूर्तियां ही हैं। यहां यह भी दृष्टव्य है कि वैदिक संस्कृति के प्रारम्भिक भाग में मूर्तिपूजा

---

1. The Vedic Age, General editor–R. C. Majumdar. Plate VI- Statuary Red Stone Statue, Harappa.
२. अहिंसावाणी में उद्धृत, अप्रेल–मई, १९५७. पृ. ५४–५६.
३. भारतीय इतिहासः एक दृष्टि, पृ. २८

प्रचलित नहीं थी, मात्र देवी-देवताओं के भावात्मक रूप का चित्रण ही वहां मिलता था। उत्तर काल में जैन संस्कृति की अहिंसा और आत्म साधना से वैदिक संस्कृति प्रभावित हुई फलतः वहां भी मूर्तिपूजा प्रारम्भ हो गई।[१] डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा का यह निष्कर्ष भ्रान्तिपूर्ण है कि जैनधर्म का सम्बन्ध सिन्धु-सभ्यता से तो है परन्तु समकालीनता का नहीं बल्कि बाद का है। क्योंकि इसके पूर्व वे स्वयं काणे को उद्धृत कर यह स्वीकार कर चुके हैं कि मूर्तिपूजा सिन्धु-सभ्यता की देन है जिसे सम्भवतः सर्वप्रथम जैनधर्म ने अपनाया फिर वैदिक धर्म में भी इसका प्रचार हुआ।[२]

वैदिक साहित्य और जैनधर्म :

वैदिक सभ्यता की जानकारी वेदों पर विशेष रूप से अवलम्बित है। साधारणतः वेद, विशेषतः ऋग्वेद, को लगभग २००० ई. पू. का मानते हैं। उससे पता चलता है कि वैदिक आर्यों का संघर्ष किसी यज्ञ विरोधी-संस्कृति के समुदाय से हुआ जिसे वहां दास और दस्यु की संज्ञा से अभिहित किया गया। बाद में उनके बीच सौजन्य स्थापित हुआ। यह संघर्ष और सौजन्य ऋषभदेव को माननेवाली जैन संस्कृति के साथ हुआ होगा। यही कारण है कि ऋग्वेद में ऋषभ की स्तुति की गई है।

वातरशना श्रमण :

ऋग्वेद में वातरशना मुनियों और श्रमणों की साधना का चित्रण मिलता है जिसका सम्बन्ध विशेषतः जैनमुनि परम्परा से रहा है—

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गाः वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्द्वासो अविक्षत ।।२।।
उन्मदिता मौने येन वातां आतस्थिमा वयम्।
शरीरादेस्माकं यूयं मर्तासो अभि पस्सथ ।।३।।[३]

अर्थात् अतीन्द्रियार्थी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्णवाले दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक देते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से दीप्तिमान्

1. Kane, P. V; History of Dharmashastra, Vol. II, Pt. II. P. 712.
२. जैनधर्म की प्राचीनता, श्रमण, मई १९६९, पृ. ३२
३. ऋग्वेद, १०, १३६, २-३ : तैत्तिरीय आरण्यक, १.२३.२.१; २४.४. २. ७.१; वैदिक कोश, पृ. ४७३,

होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सार्वलौकिक व्यवहार को छोड़कर वे मौनेय की अनुभूति में कहते हैं–"मुनिभाव से प्रमुदित होकर हम वायुभाव में स्थित हो गये। मर्त्यो! तुम हमारा बाह्य शरीर मात्र देखते हो। हमारे आभ्यन्तर शरीर को नहीं देख पाते।" यह वर्णन निश्चित ही किसी वैदिकेतर तपस्वी का है और वह तपस्वी ऋषभदेव होंगे। तैत्तरीयारण्यक में इन्हीं वातरशना मुनियों को "श्रमण" और "उर्ध्वमन्थी" भी कहा गया है।

"वातशरना ह वा ऋषभः श्रमणा उर्ध्वमन्थिनो बभूतुः।"[1]

श्रीमद्भागवत (५.३.२०), वृहदारण्यक (४.३.२२), रामायण (बालकाण्ड १४-२२) आदि वैदिक ग्रन्थों में भी वातरशना मुनियोंका सम्बन्ध श्रमण सम्प्रदाय से स्थापित किया गया है। जिनसेन ने 'वातरसन्' शब्द का अर्थ निर्वस्त्र निर्ग्रन्थ किया है।[2]

केशी ऋषभ :

एक अन्यत्र स्थानपर ऋग्वेद में ही केशी की भी स्तुति की गई है–

केश्यग्निं केशीविषं केशी बिर्भात रोदशी।
केशी विश्वं स्वर्दूंशे केशीदं ज्योति रुच्यते॥[3]

अर्थात् केशी, अग्नि, जल तथा स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्वों का दर्शन कराता है। केशी ही प्रकाशमान ज्योति (कैवल्यज्ञानी) कहलाता है। यहां केशी का अर्थ ऋषभदेव है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में ऋषभदेव की प्रतिमा में केशों के बने रहने की घटना को चामत्कारिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।[4] जो भी हो, पर यह तो निश्चित है कि केशी और ऋषभ पर्यायवाची शब्द हैं। कहीं-कहीं केशी को विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है–

ककर्दवे ऋषभो युक्त आसीद् वावचीत्सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानसऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुदग्लानीम्॥[5]

---

१. तैत्तिरीयारण्यक, २.७.१.

२. दिग्वासा वातरसनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः, आदिपुराण.

३. ऋग्वेद, १०.१३६.१.

४. वक्षस्कार, २. सू.–३०

५. ऋग्वेद, १०.९.१०२.६.

व्रात्य :

वैदिक साहित्य में व्रात्य संस्कृति एवं उसके तपस्वियों के उल्लेख आये हैं जिनका विशेष सम्बन्ध श्रमण संस्कृति से होना चाहिए। अथर्ववेद में तो समूचा एक व्रात्यकाण्ड ही है। व्रात्य को आचार्य सायण ने विद्वत्तम, महाधिकार, पुण्यशील, विश्व-सन्मान्य और ब्राह्मण-विशिष्ट कहा है।[१] आगे उन्होंने उपनयनादि से हीन व्यक्ति को व्रात्य की संज्ञा दी है। साधारणतः ये व्रात्य यज्ञादि के अधिकारी नहीं हैं परन्तु उनमें जो विद्वान और तपस्वी हैं उन्हें परमात्मा तुल्य अवंश्य कहा गया है।[२]

मनुस्मृति में भी व्रात्य को असंस्कृत[३] एवं उपनयनादि व्रतों से परिभ्रष्ट बताया गया है।[४] अथर्ववेद में कहा है कि उसने अपने पर्यस्न काल में प्रजापति को प्रेरणा दी।[५] और फलतः प्रजापति ने स्वयं में स्वर्ण आत्मा को देखा।[६] आचार्य हेमचन्द्र ने भी उक्त अर्थ ही प्रतिपादित कर आचार और संस्कारों से हीन व्यक्ति अथवा समुदाय को "व्रात्य" नाम से अभिहित किया है।[७] पं. टोडरमलने मनुस्मृति से जैनधर्म विषयक उद्धरण दिये हैं जो आज के संस्करणों में उपलब्ध नहीं होते।

तैत्तिरीय संहिता और ताण्ड्य ब्राह्मण जैसे वैदिक ग्रन्थों में इन्हीं व्रात्यों को सम्भवतः "यति" नाम से उल्लेखित किया है। वहां इन्द्र द्वारा इन यतियों को शृगालों एवं कुत्तों (शालाष्टकों) से नुचवाये जानेका भी उल्लेख है।[८] ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्र के इस कुकृत्य की घनघोर गर्हणा की गई।[९] मनुस्मृति (दशम अध्याय) में लिच्छवी, नाथ, मल्ल आदि क्षत्रिय जातियों को व्रात्यों में परिगणित किया गया है।

उक्त सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में मुनि, यति और व्रात्य समान रूप से वैदिक क्रियाकाण्ड के विरोध में खड़ी होनेवाली संस्कृति के पालनेवाले थे। यह वेद विरोधी संस्कृति निश्चित ही श्रमण संस्कृति के अतिरिक्त अन्य दूसरी संस्कृति नहीं हो सकती।

---

१. अथर्ववेद, सायणभाष्य, १५.१.१.१.
२. वही, सायणभाष्य, १५.१.१.१.
३. मनुस्मृति २.३९.
४. वही, १०.२०.
५. व्रात्य आसीदीयमान एवस प्रजापतिं समैरयत अथर्ववेद, १५.१.१.१.
६. वही, १५.१.१.३
७. अभिधानचिन्तामणि कोश, ३.५१८.
८. तैत्तिरीय सं, २.४.९.२; ताण्ड्य ब्राह्मण, १४.२-२८.१८.१.९.
९. ऐतरेय ब्राह्मण, ७.२८.

व्रात्य शब्द का अर्थ है व्यक्ति अथवा समुदाय जो व्रतों का पालन करनेवाला है। जैन संस्कृति में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह व्रतों को पालनेवाले व्रती कहलाते हैं। ये व्रती दो प्रकार के हैं–अणुव्रती एवं महाव्रती। देशविरत का पालन करनेवाले श्रावकों को "अणुव्रती" एवं संपूर्ण रूप से पालन करनेवाले मुनियों को "महाव्रती" कहते हैं। उपर व्रात्यों के जो लक्षण दिये गये हैं वे इन्हीं व्रतियों से सम्बद्ध हैं।

अर्हन् और जैन संस्कृति :

वातरसना, मुनि आदि के समान ऋग्वेद में जैनों के लिए अर्हन् शब्द का भी प्रयोग हुआ है। श्रमण संस्कृति में इस शब्द को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। ऋग्वेद में श्रमण नेता के लिए "अर्हन्" शब्द का प्रयोग हुआ है– और उसका अर्थ पूज्य और योग्य किया है।

अर्हन् विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्बं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥[1]

प्राचीन साहित्य में असुर और अर्हत् के बीच स्थापित सम्बन्धों का भी उल्लेख मिलता है। वहां असुर, नाग और द्रविड़ जातियों को सभ्य जातियों की श्रेणी में परिगणित किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि वे जैनधर्म (अर्हत्) के अनुयायी बन गये थे।[2] विष्णुपुराण में असुरों को मूलतः वैदिक धर्मानुयायी बताया है पर बाद में यह कह दिया गया है कि वे उससे असन्तुष्ट होकर आर्हत् धर्म में दीक्षित हो गये। दीक्षा देनेवाले का नाम वहां "मायामोह" दिया गया है। इस 'मायामोह' शब्द को यदि हम रूपक भी मानें तब भी उद्धरण के सन्दर्भ में कोई अन्तर नहीं आता।[3]

वैदिक साहित्य में वर्णित देव-दानव युद्ध वैदिक आर्यों और आर्य-पूर्व जातियों के बीच हुए युद्ध का प्रतीक है।[4] असुरों को आर्य-पूर्व जाति के नेता इन्द्र ने पराजित किया फिर भी वे अडिग रहे। उन्होंने आत्मविद्या को पुनर्जागरित करने के लिए कठोर तप किया और फलस्वरूप उन्हें अपनी पराजय का दुःख भी नहीं हुआ।[5]

---

१. ऋग्वेद. २.४.३३.१०.
२. विष्णुपुराण, ३.१७.१८; मत्स्यपुराण २४.४३.४९.
३. विष्णुपुराण, ३.१८.२७.२९.
४. उत्तराध्ययनः एक समीक्षात्मक अध्ययन, भूमिका पृ. १८
५. महाभारत, शान्तिपर्व, २२७.१३–१५.

इन सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन साहित्य का अर्हत् शब्द निश्चित ही जैन संस्कृति से सम्बद्ध रहा होगा। 'ऋग्वेद' में अर्हत के अनुयायी 'आर्हत' कहलाते थे और वेद और ब्रह्म के उपासक 'बार्हत' कहलाते थे।[१] आर्हत् मुक्ति प्राप्ति को साध्य मानते थे। इसलिए उन्हें "सर्वोच्च" कहा गया है।[२] जैन धर्म आर्हत धर्म है। उसके मूलमन्त्र "णमोकार मन्त्र" में भी किसी व्यक्ति विशेष को नमस्कार नहीं किया गया। इसका मूल कारण यह है कि जैन धर्म के अनुसार कोई भी व्यक्ति अध्यात्म की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर सकता है और तीर्थङ्कर बन सकता है। इसलिए तीर्थङ्कर का अवतार नहीं होता। वह तो संसार का उत्तार करता है।

तीर्थंकर और बौद्ध साहित्य :

तीर्थङ्कर का तात्पर्य है संसार-सागर से पार करने वाले धर्म का प्रवर्तन करने वाला महा मानव। इस शब्द का प्रयोग प्राचीन काल में तीनों संस्कृतियों में हुआ है। परन्तु जैन संस्कृति में उसे सर्वाधिक महत्व मिला है। बौद्ध साहित्य में भी इसका प्रयोग मिलता है। 'सामञ्ञफलसुत्त' में तत्कालीन छह तीर्थङ्करों के विचारों को प्रस्तुत किया गया है, जिनमें एक निगण्ठ नातपुत्त अथवा महावीर भी है। जैनधर्म में तीर्थङ्करों की संख्या चौबीस बतायी गई है जिनमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव हैं।

ऋषभदेव :

पीछे हमने वैदिक साहित्य में उल्लिखित वातरसना मुनि, केशी और ऋषभदेव के सन्दर्भ में विचार किया था। 'ऋग्वेद' (४·५८·३, ·१०·१६६·१) में ऋषभदेव का स्पष्टत: उल्लेख मिलता है। वातरसना का सम्बन्ध मुनि की दिगम्बरावस्था से है। 'भागवत पुराण' में वर्णित ऋषभदेव के चरित्र से यह और भी स्पष्ट हो जाता है। वहां कहा गया है कि प्रकीर्ण केशी और शरीर मात्र परिग्रही ऋषभदेव ब्रह्मावर्त से प्रव्रजित हुए। वे जटिल, कपिश केशों सहित मलिन वेश को धारण किये थे और अवधूत वेष में मौनव्रती बने थे।[३] 'भागवत पुराण' में ऋषभदेव की कठोर तपस्या, अपरिग्रहवृत्ति, दिगम्बर व्रतचर्या और वंश परिचय का विस्तार से उल्लेख आया है। वहां उनको विष्णु का अंशावतार माना गया है। 'विष्णु पुराण', 'शिवपुराण,' अग्नि पुराण',

---

१. ऋग्वेद, १०–८५–४.
२. पद्म पुराण, १३–३५०.
३. भागवत पुराण, ५·६·२८–३१.

'कूर्म पुराण', 'मार्कन्डेय पुराण तथा 'वायु पुराण' में भी उनके महनीय व्यक्तित्व को उपस्थित किया गया है। अनेक सन्दर्भ में शिव और ऋषभ में साम्य भी देखा जाता है।

बौद्ध साहित्य में भी ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है। धम्मपद में उन्हें "पवरवीर" कहा गया है। (उसभं पवरं वीरं, ४२२)। 'मञ्जुश्री मूलकल्प' उनको निर्ग्रन्थ तीर्थङ्कर और आप्तदेव के रूप में उल्लेख करता है।[1] 'धर्मोत्तर प्रदीप (पृ. २८६) में भी उनका स्मरण किया गया है।

इस प्रकार ऋषभदेव का प्राचीन इतिहास जैन, वैदिक और बौद्ध, तीनों साहित्यों में मिलता है। कहीं कहीं तो उनकी और शिव की एक रूपता के भी दर्शन होते हैं। इसे हम उत्तर काल की समन्वयावस्था का प्रतीक मानते हैं।

अन्य तीर्थंकर :

यहां यह उल्लेखनीय है कि जैनों के चौबीस तीर्थंकरों का अनुकरण कर वैदिक परम्परा ने चौबीस अवतारों की कल्पना की और बौद्ध परम्परा ने चौबीस बुद्ध बना लिए। अवतारों और बुद्धों की संख्या में यथासमय वृद्धि भी होती रही पर जैनों के तीर्थंकर चौबीस से पच्चीस नहीं हुए और न चौबीस से तेबीस। इससे जैन परम्परा की वास्तविकता और मौलिकता का आभास होता है।

बौद्ध परम्परा में ऋषभदेव के साथ ही अन्य तीर्थंकरों का भी उल्लेख हुआ है। उसने उन तीर्थंकरों के नामों का उपयोग अपने बुद्धों, प्रत्येक बुद्धों, और बोधिसत्वों के नामों की अवधारणा में किया है। उदाहरणतः द्वितीय तीर्थंकर 'अजित' का नाम एक पच्चेक बुद्ध को दिया गया है जो इक्यान वें कल्पों पूर्व हुए थे।[2] वैपुल्य पर्वत का नाम सुपार्श्व के आधार पर रखा गया है। राजगृह निवासी कस्सप बुद्ध के समय 'सुप्पिय' (सुपार्श्व के अनुयायी, कहे जाते थे।[3] सुपार्श्व जैन परम्परा के सप्तम तीर्थंकर हैं।

षष्ठ तीर्थंकर 'पद्म' का नाम आठवें बुद्ध के लिए दिया गया है।[4] यही नाम एक प्रत्येक बुद्ध का भी है जिसे अनुपम थेर ने अकुलिपुष्प समर्पित किये

१. ४५-२७, गणपतिशास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम, १९-२०.

२. थेरीगाथा, अपदान १, पृ. ६८.

३. संयुत्तनिकाय, भाग-२, पृ. १९२.

४. जातक, भाग १, पृ. ३६.

थे ।[१] आठ कल्प पूर्व 'पदुमं नाम' एक चक्रवर्ती को भी दिया गया था । वही चक्रवर्ती बाद में पिण्डोल भारद्वाज हुआ ।[२]

अष्टम तीर्थंकर 'चन्द' का नाम शिखि बुद्ध के एक उपासक को दिया गया था ।[३] 'जातक' में वाराणसी का नाम 'पुप्फवती' मिलता है । सम्भवतः यह नाम नवम् तीर्थंकर पुष्पदन्त पर आधारित हो । तेरहवें तीर्थंकर 'विमल' के नाम से एक प्रत्येक बुद्ध का नाम जोडा गया है ।[४] एकसठ कल्पों पूर्व 'विमल' नाम का एक राजा भी था जो सम्भवतः विमलनाथ ही हो ।[५] इसी प्रकार कामावचार लोक में जन्म लेनेवाले देवयुक्त बोधिसत्व का नाम पन्द्रहवें तीर्थंकर 'धर्म' (धम्म) के नाम पर आधारित है ।[६] 'मिलिन्द प्रश्नो' में इसी नाम का यक्ष भी मिलता है[७] जिसका सम्बन्ध सम्भवतः किसी विद्याधर से रहा होगा ।

अरिष्टनेमि :

अरिष्टनेमि जैन परम्परा के बाईसवें तीर्थंकर हैं । वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में भी उनका पुनीत स्मरण हुआ है । 'अंगुत्तरनिकाय' में 'अरनेमि' के लिए छह तीर्थंकरों मे एक नाम दिया गया है ।[८] 'मज्झिमनिकाय' में उन्हें ऋषिगिरि पर रहनेवाले चौबीस प्रत्येक बुद्ध में अन्यतम माना गया है ।[९] 'दीघनिकाय' में "दृढनेमि" नामक चक्रवर्ती का उल्लेख आया है ।[१०] इसी नाम का एक यक्ष भी था ।[११] ऋग्वेद (७·३२·२०) में नेमि का और यजुर्वेद (२५·२८) में अरिष्टनेमि का उल्लेख आता है। 'महाभारत' में अरिष्टनेमि के लिए

---

१. थेरगाथा, अपदान, भाग–१, पृ. ३३५; मज्झिमनिकाय, भाग–३, पृ. ७०; पेतवत्थु, पृ. ७५.

२. अपदान, भाग–१, पृ. ५०.

३. बुद्धवंस, २१. १२२.

४. मज्झिमनिकाय, भाग, ३. पृ. ७०; अपदान भाग १ पृ. १०७.

५. अपदान, भाग, १, पृ. २०५; थेरगाथा, अपदान, भाग १, पृ. ११५.

६. धम्मजातक.

७. पृ. २१२.

८. अंगुत्तरनिकाय, धम्मिकसुत्त, भाग, ३, पृ. ३७३.

९. इसिगिलिसुत्त.

१०. Dialogues of the Buddha–भाग ३, पृ. ६० (III—60)

११. दीघनिकाय, भाग ३, पृ. २०१.

नेमि जिनेश्वर और 'ताक्ष्यं' शब्द का भी प्रयोग हुआ है ।[१] ताक्ष्यं ने सगर को उपदेश दिया कि मोक्ष का सुख ही सर्वोत्तम सुख है । हम जानते हैं कि वैदिक विशेषत: ऋग्वेद दर्शन में मोक्ष को साध्य नहीं माना गया है, परन्तु ताक्ष्यं अरिष्टनेमि के उपदेश में मोक्ष साध्य है अत: इस उपदेश का सम्बन्ध जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि से ही होना चाहिए । उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावक था कि 'लंकावतार' में बुद्ध को भी अरिष्टनेमि कहकर उल्लिखित किया गया है । इसका मूल कारण उनकी अहिंसात्मक साधना है । इतिहास की दृष्टि से वे यदुवंशी कृष्ण के चचेरे भाई थे ।[२] इन उद्धरणों से अरिष्टनेमि का व्यक्तित्व ऐतिहासिक माना जाने लगा है ।

पार्श्वनाथ :

पार्श्वनाथ जैन परम्परा के तेईसवें तीर्थंकर हैं । अभी तक उनके व्यक्तित्व को ऐतिहासिक स्वीकार नहीं किया गया था । परन्तु हर्मन जैकोबी ने बौद्ध साहित्य के आधारपर जैन परम्परा की प्राचीनता स्थापित की और यह सिद्ध किया कि पार्श्वनाथ महावीर के लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए ।[३]

पार्श्वनाथ का जन्म ई. पू. लगभग ९–१० वीं शताब्दी में वाराणसी के इक्ष्वाकु वंशज राजा अश्वसेन और रानी वामा के घर हुआ । इस समय नेमिनाथ का प्रभाव जन समाज में बना था । पार्श्वनाथ के माता-पिता उनके अनुयायी थे । श्रमण परम्परा की सुसंस्कृत पृष्ठभूमि के रूप में उन्हें परिवार का वातावरण मिला । लगभग ३० वर्ष तक उन्होंने अध्यात्म चिन्तन पूर्वक अपना समय घर में ही बिताया । बाद में वैराग्य लेकर तपस्वी हो गये और लगभग १०० वर्ष की अवस्था में वे सम्मेद शिखर पर्वत से निर्वाण को प्राप्त हुए ।

पार्श्वनाथ श्रमण परम्परा का उद्भट प्रभावशाली व्यक्तित्व था । बौद्ध साहित्य में उल्लिखित श्रमण सिध्दान्तों से उसका निकट सम्बन्ध था । महात्मा बुद्ध का चाचा वप्प शाक्य पार्श्वनाथ परम्परा का अनुयायी था ।[४] 'धर्मोत्तर

---

१. महाभारत से नेमिनाथ सम्बन्धी निम्नलिखित उल्लेख उद्धृत किये गये हैं ।
अशोकस्तारणस्तार: शूर: शौरिर्जिनेश्वर : ॥१४९-५०.
कालनेमि महावीर : शूर : शौरिर्जिनेश्वर : १४९-८२.
शान्तिपर्व, २८८.४, २८८.५-६.

२. हरिवंशपुराण (वैदिक) १.३३.१.

3. The Sacred books of the East, Vol. XLV, introduction, P. 21.

४. अंगुत्तरनिकाय, चतुक्कनिपात, वग्ग ५. अट्ठकथा.

प्रदीप' (पृ. २८६) में भी पार्श्वनाथ और अरिष्टनेमि को उद्धृत किया गया है। अधिक सम्भव है कि महात्मा बुद्ध स्वयं बोधिप्राप्ति काल में पार्श्वनाथ परम्परा में कुछ समय के लिए दीक्षित रहे हों। यह उनकी साधना से स्पष्ट है।[१]

पार्श्वनाथ का 'चातुर्याम धर्म' इतिहास में सर्वमान्य है। सर्वप्रथम बौद्ध साहित्य में उसका उल्लेख हुआ है। सामञ्ञफलसुत्त में कहा है कि अजातशत्रु श्रामण्य फल के प्रश्न को लेकर तत्कालीन छह तीर्थंकरों के पास गया। इसी प्रसंग में निगण्ठनातपुत्त महावीर को "चातुर्यामसंवर संवुत्तो" बताया है। ये चातुर्याम इस प्रकार हैं–

१) जल का व्यवहार न करना ताकि जीवों का घात न हो।
२) सभी पापों को दूर करना।
३) पापों को छोड़ने से धुत पाप होता है, और
४) पापों के धुल जाने से लाभ होता है।

पार्श्वनाथ के चातुर्याम परम्परा का यह उल्लेख भ्रान्तिकारी है। वस्तुतः यह परम्परा निगण्ठनातपुत्त से सम्बद्ध न होकर उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ से थी। पार्श्वनाथ ने जिन चातुर्याम धर्मों का उपदेश दिया था वे इस प्रकार हैं–

१) सर्व प्राणातिपात विरमण,
२) सर्व मृषावाद विरमण,
३) सर्व अदत्तादान विरमण,
४) सर्व बहिस्थादान विरमण।

यह चातुर्याम परम्परा उत्तराध्ययनादि आगम ग्रन्थों में वर्णित है। निग्गण्ठ नातपुत्त से उसका सम्बन्ध जोड़ने का तात्पर्य यह हो सकता है कि त्रिपिटक के संग्राहक इस तथ्य से अपरिचित होंगे कि चातुर्याम के उपदेशक तो पार्श्वनाथ थे, महावीर नहीं। यह भी सम्भव है कि महावीर अपनी तपस्या के पूर्वकाल में चातुर्याम परम्परा के अनुयायी रहे हों, और बाद में समाजगत आचार शैथिल्य के कारणों का विश्लेषण करने पर उन्होंने उसे 'पञ्चयाम' के रूप में परिणित कर दिया हो। दूसरी बात, निग्गण्ठनातपुत्त के नाम पर जिन चातुर्याम व्रतों का वर्णन किया गया है, वह भी सही नहीं है। बौद्ध साहित्य के ही अन्यतम ग्रन्थ 'अंगुत्तरनिकाय' (भाग ३, पृ. २७६–

---

५. मज्झिमनिकाय (रोमन) भाग-१, पृ. २३८. भाग-२, पृ. ७७.

२७७) के उल्लेख से यह चातुर्याम संवर बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। 'ठाणाङ्ग' (सूत्र २६६) आदि जैनागमों से भी इसका समर्थन होता है। पालि साहित्य में उल्लिखित वप्प, उपालि, अभय, अग्निवेसायन सच्चक, दीघतपस्सी; असिबन्धकपुत्त गामणि, देवनिक, उपतिक्ख, सीहसेनापति आदि जैन उपासक पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी रहे हैं।

इन प्रमाणों से यह निश्चित हो गया कि पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व ऐतिहासिक है। उनके सिध्दान्तों से पिप्पलाद, भारद्वाज जैसे अनेक वैदिक ऋषि प्रभावित रहे प्रतीत होते हैं। भगवान बुद्ध ने तो उनकी परम्परा में बोधिलाभ के पूर्व दीक्षा भी ली थी। यह बात उनकी स्वयं की साधना के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है। आचार्य देवसेन ने तो 'दर्शनसार' में पार्श्व परम्परा में दीक्षित बुद्ध का पूर्व नाम भी उल्लिखित किया है। उसके अनुसार बुद्ध पिथिताश्रव नामक साधु के शिष्य बुद्धकीर्ति के नाम से विख्यात थे। परन्तु मत्स्याहार प्रारम्भ कर देने से वे पथभ्रष्ट हो गये और उन्होंने अपना स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्थापित कर लिया।

पार्श्वनाथ की परम्परा और उसके आचार्यों के विषय में साहित्य प्रायः मौन है। कुछ उपासकों के उल्लेख अवश्य मिलते हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। "उपदेश गच्छ-चरितावली" में भगवान पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा में केवल चार आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है–शुभदत्त, समुद्रसूरि, हरिदत्त और केशी। परन्तु अन्यत्र उनका सक्षम और ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता। अतः ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में हम उन्हें स्वीकार नहीं कर सकते।

पार्श्वनाथ की करुणाद्रता, अहिंसाप्रियता, चिन्तनशीलता एवं वात्सल्य का प्रभाव तत्कालीन आचार्यों पर निश्चित रूप से देखा जा सकता है। पिप्पलाद, भारद्वाज, नचिकेता जैसे वैदिक ऋषियों और केशकम्बलि, सञ्जयबेलट्ठिपुत्त तथा बुद्ध जैसे तीर्थंकरों के जीवन और दर्शन पर पार्श्वनाथ की चिन्तन परम्परा का प्रभाव स्पष्ट रूपसे झलकता है। भगवान महावीर को तो निश्चित ही उनका आचार-विचार और दर्शन विरासत में मिला है।

महावीर :

तीर्थंकर महावीर छठी शताब्दी ई. पू. का एक ऐसा क्रान्तिदर्शी व्यक्तित्व था जिसने परम्परा में पली-पुसी समाज की हर समस्या को समीप से देखा था और उसकी मूलभूत आवश्यकताओं को भलीभांति समझा था। दकियानूसी विचारों से त्रस्त, ऊंच-नीच की भावनाओं से ग्रस्त और आर्थिक, सामा-

जिक तथा राजनीतिक आचार संहिताओं से भ्रष्ट वातावरण के दूषित कल्पना-जाल को उसने अपनी सूक्ष्मदृष्टि और गहन अनुभूति के माध्यम से निर्मूल करने को यथाशक्य प्रयत्न किया। विश्व के अन्य कोनों के समान हमारी भारत वसुन्धरा भी महात्मा बुद्ध, मक्खलि गोसाल, संजय वेलट्ठियुत आदि श्रमण दार्शनिकों तथा असित देवल, द्वैपायन, पाराशर, नमि, विदेही रामगुप्त, बाहुक, नारायण आदि वैदिक दार्शनिकों को अपनी सुखद अंक में संजोये हुई थी। महावीर ने इन सभी चिन्तकों की भूमिका पर खड़े होकर समाज और धर्म की अर्जरित रुग्ण नाड़ी की हलन-चलन का लेखा-जोखा किया और भिषगाचार्य के सार्थक संयोजन ने उन्हें युगचेता महावीर बना दिया।

महावीर का जन्म ई. पू. ५९९, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में हुआ। उनके पिता सिद्धार्थ नाथवंश के थे और कुण्डपुर अथवा वैशाली के प्रधान थे तथा माता त्रिशला लिच्छविवंशीय राजा चेटक की पुत्री थीं। माता पिता के राजवंशों का परिवेश महावीर के व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त था।

लगभग तीस वर्ष की अवस्था में महावीर ने महाभिनिष्क्रमण किया। कठोर तपश्चर्या करते हुए उन्होंने आत्मसधना की। लगभग बयालीस वर्ष की अवस्था में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया और आगे बहत्तर वर्ष की अवस्था तक वे अपना धर्मप्रचार करते हुए देशाटन करते रहे। उनका निर्वाण ५२७ ई. पू. में पावा (गोरखपुर) मे कार्तिक शुक्ला अमावस्या की रात्रि अन्तिम प्रहर में हुआ। महावीर के निर्वाण काल और निर्वाण स्थली के विषय में मतभेद है पर अब साधारणतः विद्वान उपयुक्त तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं,[१] तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के ही उपलक्ष्य में दीपावली मनाई जाती है।

पार्श्वनाथ के 'चातुर्यामधर्म' के चतुर्थव्रत में मैथुन और परिग्रह दोनों का अन्तर्भाव था। कालान्तर में शिथिलाचार बढ़ता गया और मैथुन की ओर प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इस शिथिलाचार को देखकर महावीर का हृदय रो उठा और उन्होंने चतुर्थव्रत को ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दो भागों में विभक्त करके उसे 'पंचमहाव्रत नाम दे दिया। महावीर का यह चिन्तन जनसमाज को रुचिकर और हितकर सिद्ध हुआ। फलतः जैन धर्म की ओर उसका आकर्षण और बढ़ने लगा।

---

१. विस्तार के लिए देखिये लेखक की पुस्तक, Jainism in Buddhist Literature, आलोक प्रकाशन, नागपुर, १९७२, प्रथम अध्याय।

अमीर और गरीब के बीच की खाई को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि कोई भी व्यक्ति आवश्यकता से अधिक किसी भी वस्तु का संग्रह अन्यायपूर्वक न करे और संग्रहीत वस्तु को प्रसन्नतापूर्वक ऐसे व्यक्तियों को बांट दे जिनको उसकी नितान्त आवश्यकता है। यही सच्चा समाजवाद है। इसी को भ. महावीर ने अपरिग्रहव्रत की संज्ञा दी है। इसी अपरिग्रहवाद अथवा समाजवाद पर सर्वोदय की नींव खड़ी है। सर्वोदय की इस पुनीत विचारधारा के मूल सूत्र को समन्त-भद्रने इन शब्दों में गूंथा है —

सर्वान्तवत् तद्गुण मुख्यकल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्ष्यम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

प्राचीन काल में जातिभेद का भयंकर बवंडर खड़ा हुआ था। इस समय समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त था। इस विभाजन से ऊँच-नीच के विचारों से प्रभावित होकर समाज की अंतरात्मा में द्वेषभाव का विषाक्त बीज घर कर चुका था। उसे दूर करने के लिए महावीर ने यह क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया कि उनका शासन ऊँच-नीच, सभी के लिए खुला है, क्योंकि जिस प्रकार से एक स्तम्भ के आश्रय से प्रासाद टिक नहीं सकता, उसी प्रकार एक पुरुष के आश्रय से जैन शासन भी स्थिर नहीं रह सकता।

उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्।
नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥

कठोर जातिवाद की दूषित भावना को सुव्यवस्थित और सही रूप देने के लिए महावीर ने जन्म के स्थानपर कर्म का आधार लिया। उन्होंने कहा कि उच्चकुल में उत्पन्न होने मात्र से व्यक्ति को ऊँचा नहीं कहा जा सकता। वह ऊंचा तभी हो सकता है जबकि उसका चरित्र या कर्म ऊँचा हो। इसलिए महावीर ने 'न जाइविसेस कोई' कहकर चारों वर्णों को एक मनुष्य जाति के रूप में देखा है—

कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तियो।
वइस्सो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥ उत्तराध्ययन, २५.३३

तथा इस मनुष्य जाति को आचरण के आधार पर विभाजित किया है—

ब्राह्मणः क्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः।
एकैव मानुषी जाति राचारेण विभज्यते ॥

महावीर का यह चिन्तन आधुनिक चिन्तन के अधिक निकट दिखाई देता है। महावीर ने जनभाषा 'प्राकृत' में सारा उपदेश दिया। उसी प्राकृत भाषा ने कालान्तर में साहित्यिक भाषा का रूप ले लिया। भारतीय भाषाओं के विकास क्रम में इस प्राकृत भाषा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषाविज्ञान के लिए तो यह एक अमूल्य देन है। प्राकृत भाषा में निबद्ध साहित्य भारतीय इतिहास और संस्कृति के नये मानदण्ड उपस्थित करने के लिए एक समृद्ध भण्डार है।

एक ओर जहाँ महावीर ने आचार क्षेत्र में क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किये वही दूसरी ओर विचार क्षेत्र में भी उन्होंने अभूतपूर्व योगदान दिया। उनका कहना था कि एक सर्वसाधारण व्यक्ति किसी भी वस्तु या व्यक्ति को सर्वांशतः नही जान सकता। विभिन्न संघर्षों का कारण एकांशिक प्रतीति और उसी प्रतीति के लिए कदाग्रही बने रहना है। इसलिए 'ही' का दुराग्रह छोड़कर 'भी' का कथन किया जाना चाहिए। दूसरे की दृष्टि को समझना हमारा कर्तव्य है। यही उसके प्रति हमारा आदर है। प्रत्येक दृष्टिकोण में कुछ न कुछ सत्यांश रहता है जिसे उपेक्षित करना सत्य का अपमान होगा। विश्वशान्ति के लिए यह सिद्धान्त एक अमोघ अस्त्र के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। महावीर ने इस सिद्धान्त को स्याद्वाद और 'अनेकान्तवाद' नाम दिया है। 'स्याद्वाद' वचन की दूषित प्रणाली को दूर करता है और 'अनेकान्तवाद' चिन्तन की। सर्वधर्म समन्वय के क्षेत्र में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। इसी दृष्टि को आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है कि व्यक्ति को किसी अर्थ विशेष से आकृष्ट न होकर निष्पक्षतापूर्वक विचार करना चाहिए।

आग्रही वत निनीषति युक्ति, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्ति यंत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

आचार्य हेमचन्द्र ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए समन्वयवाद पर विचार किया। उन्होंने कहा कि मैं किसी तीर्थंकर या विचारक के प्रति पक्षपाती नहीं हूँ, परन्तु जिसका वचन तर्कसिद्ध प्रतीत होगा उसी को मैं स्वीकार करूँगा।

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः प्रतिग्रहः॥

इस प्रकार भ. महावीर ने समाज को अभ्युन्नत करने के लिए सभी प्रकार के प्रयत्न किए। उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा का महत्त्व प्रदर्शित करके मानवता के संरक्षण में अधिकाधिक योगदान दिया। यह उनके गहन चिन्तन और समीक्षण का ही परिणाम था। इसपर समूचा जैन साहित्य आधारित है।

महावीर पर्यन्त जैनधर्म की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म भारत का प्राचीनतम धर्म रहा है और उसने व्यक्ति समाज, राष्ट्र और विश्व की एकता और अभ्युन्नति की दृष्टि से जो सिद्धान्त प्रस्थापित किये वे आज भी उतने ही उपयोगी हैं जितने उस समय थे।

जैनेतर साहित्य के कतिपय लुप्त प्राचीन जैन उल्लेख :

प्राचीन जैनेतर साहित्य में जैनधर्म सम्बंधी उद्धरण काफी मिला करते थे पर धीरे-धीरे सम्प्रदायाभिनिवेश से उनका लोप कर दिया गया। पं. टोडरमल जी ने 'मनुस्मृति' और 'यजुर्वेद' से निम्नलिखित उद्धरणों को उद्धृत किया है—

१. कुलदिबीजं सर्वेषां प्रथमो विमल वाहनः ।
चक्षुष्मान् यशस्वी वाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित ।।
मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुल सत्तमाः ।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेजाति उरुक्रमः ।।
दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः ।
नीतित्रितयकर्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः ।। मनुस्मृति ।।

२. ॐ नमो अरहतो ऋषभाय। ॐ ऋषभपवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं माहसंस्तुतं वरं शत्रुं पशुरिन्द्रमाहुतिरिति स्वाहा। ॐ त्रातारमिंद्रं ऋषभं वदन्ति। अमृतारमिन्द्रं हवे सुगतं सुपार्श्वमिन्द्रं हवे शक्रमजितं तद्व- र्धमानपुरुहूतमिन्द्रमाहुरिति स्वाहा। ॐ नग्नं सुधीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनं उपैमि वीरं पुरुषमर्हन्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात स्वाहा। ॐ स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरि- ष्टनेमि स्वस्तिनो वृहस्पति र्दधातु। दीर्घायुस्त्वायुबलायुर्वा शुभाजातायु। ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा। वामदेव शान्त्यर्थमनुविधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमिः स्वाहा।

इन उद्धारणों में उल्लिखित तीर्थंकरों के नाम और उनके प्रति अभिव्यक्त समाज दृष्टव्य है। पर आश्चर्य की बात है कि आज ये उद्धरण मनुस्मृति और यजुर्वेद के संस्करणों से क्यों और कैसे लुप्त हो गये, यह विचारणीय है।

मूलवैशम्पायन सहस्रनाम में "कालनेमिर्महावीरः शूरः शौरिर्जिनेश्वरः"[1] कहा गया है पर आधुनिक संस्करणों में जिनेश्वर के स्थान पर जनेश्वर रख दिया गया है—कालनेमिर्महावीरः शौरिशूर जनेश्वरः "।[2]

१. महाभारत, अनुशासनपर्व, १४८, ८२.
२. महाभारत (गोरखपुर), १९५८ पृ. ६०४३.

टोडरमलजी ने भर्तृहरि के 'वैराग्य शतक' से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है–

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहार्द्धधारी हरो,
नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः ।
दुर्वारस्मरवाणपन्नगविषव्यासक्तमुग्धां जनः,
शेषः कामविडंवितो हि विषयान् भोक्तु न मोक्तुं क्षमः ।।

रागियों में महादेव और वीतरागियों में जिनदेव की बात कहने वाले इस श्लोक को आज के संस्करणों में या तो रखा ही नहीं या कुछ संस्करणों में रखा भी गया तो वह कुछ परिवर्तन के साथ रखा गया।

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धहारी हरो,
नीरागेष्वपि यो विमुक्तललनासंगो न यस्मात्परः ।
दुर्वारस्मरवाणपन्नगविषज्वालावलीढो जनः
शेषः कामविडंबितो हि विषयान् भोक्तुं च मोक्षुं क्षमः ।।[1]

इसी प्रकार मूल 'अमरकोष' में बुद्ध के बाद जिनके भी नाम दिये गये है, वर्तमान संस्करणों में वह भाग लुप्त हो गया। पं. मिलापचन्द कटारियाजी ने उस लुप्त भाग को इस प्रकार खोज निकाला–

सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन् केवली तीर्थकृज्जिनः ।
स्याद्वादवादी निर्ह्लीकः निर्ग्रन्थाधिप इत्यपि ।। [2]

इस प्रकार के अनेक जैनेतर उद्धरण प्राचीन जैन साहित्य में मिलते हैं जिनसे जैनधर्म की प्राचीनता और लोकप्रियता का पता चलता है पर धीरे-धीरे वैदिक विदानों ने अपनी संकीर्णतावश उनको अलग कर दिया अथवा तोड़-मोड़कर उपस्थित किया। टोडरमलजी ने 'भमानी सहस्त्रनाम', 'गणेश पुराण', 'प्रभास पुराण', 'नगर पुराण' आदि ग्रन्थों से भी अनेक उद्धरण दिये हैं पर वे प्राय: अब मिलते नहीं। शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में यह व्यामोह उचित नहीं कहा जा सकता। समूचे जैन साहित्य से इस प्रकार के उद्धरण एकत्रित कर उनकी मीमांसा की जानी अपेक्षित है। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद आदि में उपलब्ध तथाकथित उद्धरण कहाँ तक जैन संस्कृति की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

* * *

१. श्रृंगारशतक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८१८, चतुर्थ संस्करण (सं. कृष्ण शास्त्री)
२. अजैन साहित्य मे जैन उल्लेख और साम्प्रदायिक की संकीर्णता से उनका लोप– महावीर जयन्ती स्मारिका, १९७०, पृ. ५७-६५.

द्वितीय परिवर्त

जैन संघ और सम्प्रदाय

द्वितीय परिवर्त

जैन संघ और सम्प्रदाय

मतभेद की भूमिका :

प्रत्येक धर्म में यथासमय संघ और सम्प्रदाय खड़े होते रहे हैं। इन सम्प्रदायों के निर्माण के पीछे सैद्धान्तिक मतभेद और आचार्यों का बहुश्रुतत्व तथा सामाजिक आवश्यकता जैसे कारण रहते हैं।[1] सैद्धान्तिक मतभेद यद्यपि धर्म और सम्प्रदाय के विकास की कहानी है फिर भी वे मूल सिद्धान्त से हटते चले जाते हैं। इतिहास इसका साक्षी है कि जिन पन्थों में मतभेद नहीं हो पाये वे प्रायः अपने प्रवर्तकों अथवा प्रसारकों के साथ ही कालकवलित हो गये और जिनमें वैचारिक मतभेद पैदा हुए वे उत्तरोत्तर विकसित होते गये।

जैनधर्म भी इस तथ्य से दूर नहीं रहा। भगवान महावीर के निर्वाण के उपरान्त ही उनके संघ में मतभेद प्रगट हो गये। पालि त्रिपिटक में कहा गया है कि एक बार भ. बुद्ध शाक्य देश में सामग्राम में बिहार कर रहे थे। उसी समय निगण्ठनातपुत्त का निर्वाण पावा में हो गया था। उनके निर्वाण के बाद ही उनके अनुयायियों (निगण्ठों) में मतभेद पैदा हो गये। वे दो भागों (पक्षों) में विभक्त हो गये थे और परस्पर संघर्ष और कलह कर रहे थे। निगण्ठ एक-दूसरे को वचन-बाणों से बेधते हुए विवाद कर रहे थे— "तुम इस धर्म विनय को नहीं जानते, मैं इस धर्मविनय को जानता हूँ, तू इस धर्म विनय को कैसे जानेगा? तू मिथ्यादृष्टि है, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ। मेरा कथन सार्थक है, तेरा कथन निरर्थक है। पूर्व कथनीय बात तूने पीछे कही और पश्चात् कथनीय बात आगे कही। तेरा वाद बिना विचार का उल्टा है। तूने वाद आरम्भ किया पर निगृहीत हो गया। इस वाद से बचने के लिए इधर-उधर भटक। यदि इस वाद को समेट सकता है तो समेट" इस प्रकार नातपुत्तीय निगण्ठों में मानो युद्ध ही हो रहा था।

"एवं मे सुत्तं एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावायं अधुना कालङ्कतो होति। तस्स कालङ्किरि-

---

१. विशेष देखिये-लेखक के ग्रन्थ–Jainism in Buddhist Literature तथा बौद्ध संस्कृति का इतिहास– प्रथम अध्याय (अलोक प्रकाशन, नागपुर)
जह जह बहुस्सुओ सम्मओ य सिस्सगणसंपरिवुडो य।
अविणिच्छिओ य समये तह तह सिद्धान्तपडिणीओ। सम्मति प्रकरण, ३-६६.

याय भिक्खू निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना अञ्ञम-अञ्ञं मुखसत्ती वितुदन्ता विहरन्ति–"न त्वं इमं धम्मविनयं आजानासि, अहं इमं धम्मविनयं आजानामि । किं त्वं धम्मविनयं आजानिस्ससि ? मिच्छापटि-पन्नो त्वमसि, अहमस्मि सम्मापटिपन्नो । सहितं मे असहितं ते । पुरे वचनीयं पच्छा अवच, पच्छा वचनीयं पुरे अवच । अधिचिण्णं ते विपरावत्तं । आरोपितो ते वादे निग्गहितोसि, चर वादप्पमोक्खाय । निब्बेठेहि वा सचे पहोसी" ति । वधो येव खो मञ्ञे निगण्ठेसु नातपुत्तियेसु वत्तति ।"[१]

आचार्य कालगणना :

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद दिगम्बर परम्परानुसार ६२ वर्ष में क्रमश: तीन केवली और १०० वर्ष में पाँच श्रुतकेवली इस प्रकार हुए[२]–

केवली		श्रुतकेवली	
१. गौतम गणधर	– १२ वर्ष	१. विष्णुकुमार (नन्दि)–	१४ वर्ष
२. सुधर्मा स्वामी (लोहार्य)	– ११ वर्ष	२. नन्दिमित्र –	१६ वर्ष
३. जम्बू स्वामी	– ३९ वर्ष	३. अपराजित –	२२ वर्ष
		४. गोवर्धन –	१९ वर्ष
	कुल–६२ वर्ष	५. भद्रबाहु (प्रथम) –	२९ वर्ष
			कुल–१०० वर्ष

इस प्रकार महावीर निर्वाण के १६२ वर्ष (६२ + १००) पर्यन्त केवली और श्रुतकेवली रहे । श्वेताम्बर परम्परानुसार महावीर के जीवन काल में ही ९ गणधरों का निर्वाण हो गया था । मात्र इन्द्रभूति गौतम और आर्य सुधर्मा शेष रह गये थे । महावीर निर्वाण के उत्तरवर्ती आचार्यों की कालगणना स्थविरावली में इस प्रकार दी गई है–

१. सुत्तपिटक, मज्झिमनिकाय, सामगामसुत्तन्त; दीघनिकाय, पाथिकवग्ग, पासादिकसुत्त, संगीतिसुत्त.

२. धवला, भाग १, पृ. ६६; तिलोयपण्णत्ति, ४-१४८२-८४; जयधवला, भाग १, पृ. ८५; इन्द्रश्रुतावतार, ७२-७८; नन्दिसंघीय प्राकृत पट्टावली-जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४.

१. सुधर्मा	– २० वर्ष	५. यशोभद्र	– ५० वर्ष
२. जम्बू	– ४४ वर्ष	६. संभूतिविजय	– ८ वर्ष
३. प्रभव	– ११ वर्ष	७. भद्रबाहु (द्वितीय)	– १४ वर्ष
४. शय्यंभव	– २३ वर्ष	८. स्थूलभद्र	– ४५ वर्ष
			कुल २१५ वर्ष

यहां यह दृष्टव्य है कि जैन परम्परानुसार हेमचन्द्र ने 'परिशिष्टपर्वन्' में भगवान महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल बताया है। यहां यह भी स्मरणीय है कि आचार्य हेमचन्द्र अवन्ती राजा पालक के राज्यकाल के ६० वर्षों की गणना को किसी कारणवश भूल गए थे। अर्थात् महावीर निर्वाण के (१५५ + ६०) २१५ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक हुआ होगा।

उक्त आचार्य कालगणना के अनुसार दिगम्बर परम्परा ने भ. महावीर निर्वाण के १२ वर्ष तक गौतम गणधर का काल माना है, और उनके बाद उनके उत्तराधिकारी क्रमशः सुधर्मा और जम्बुस्वामी को रखा है पर स्थविरावली में गौतम के स्थान पर सुधर्मा का काल २० वर्ष (१२ + ८ = २०) रखा है जबकि कल्पसूत्र पूर्ववर्ती परम्परा को ही स्वीकार कर महावीर निर्वाण के बाद १२ वर्ष गौतम[1] का और आठ वर्ष सुधर्मा का काल निर्धारण करता है। यह कालगणना जो जैसी भी हो, पर दोनों परम्परायें भद्रबाहु के कुशल नेतृत्व को सहर्ष स्वीकार करती हुई दिखाई देती हैं। अन्तर यहां यह है कि दिगम्बर परम्परा महावीर निर्वाण के १६२ वर्ष बाद भद्रबाहु का निर्वाण समय मानती है जबकि श्वेताम्बर परम्परा १७० वर्ष बाद। यहां लगभग आठ वर्ष का कोई विशेष अन्तर नहीं। पर समस्या यह है कि इस कालगणना से भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य की समकालीनता सिद्ध नहीं होती। उन दोनों महापुरुषों के बीच वही प्रसिद्ध ६० वर्ष का अन्तर पड़ता है। अर्थात् यदि भद्रबाहु के समय (वीर नि. सं. १६२) में ६० वर्ष बढ़ा दिये जायें तो चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहु की समकालीनता ठीक बन जाती है। अथवा चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में से ६० वर्ष पीछे हटा दिये जायें, जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने महावीर निर्वाण से २१५ वर्ष की परम्परा के स्थान में १५५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त का राजा होना लिखा है, तो दोनों की समकालीनता बन सकती है।[1]

---

१. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका, पृ. ३४२.

श्वेताम्बर परम्परानुसार महावीर निर्वाण के उपरान्त आचार्य कालगणना इस प्रकार दी जाती है[१]–

आचार्य कालगणना		राजकाल	
१. गौतम	– १२ वर्ष		
२. सुधर्मा	– ८ ,,	पालक	– ६० वर्ष
३. जम्बू	– ४४ ,,		
४. प्रभव	– ११ ,,		
५. स्वयंभू	– २३ ,,		
६. यशोभद्र	– ५० ,,	नवनन्द	– १५५ वर्ष
७. संभूतिविजय	– ८ ,,		
८. भद्रबाहु	– १४ ,,		
९. स्थूलभद्र	– ४५ ,,		
१०. महागिरि	– ३० ,,		
११. सुहस्ति	– ४६ ,,	मौर्य वंश	– १०८ वर्ष
१२. गुणसुन्दर	– ३२ ,,		
१३. गुणसुन्दर-शेष	– १२ ,,	पुष्यमित्र	– ३० वर्ष
१४. कालिक	– ४० ,,	(१) बलमित्र	= ६० वर्ष
१५. स्कन्दिल	– ३८ ,,	(२) भानुमित्र	
१६. रेवतीमित्र	– ३६ ,,	(१) नरवाहन	– ४० वर्ष
१७. आर्यमंगु	– २० ,,	(२) गर्दभिल्ल	– १३ वर्ष
		(३) शक	– ४ वर्ष
१८. बहुल			
१९. श्रीव्रत			
२०. स्वाति			
२१. हारि		(१) विक्रमादित्य	– ६० वर्ष
२२. श्यामार्य	– १११ वर्ष	(२) धर्मादित्य	– ४० वर्ष
२३. शाण्डिल्य आदि		(३) माहल्ल	– ११ वर्ष
२४. भद्रगुप्त			
२५. श्रीगुप्त			
२६. वज्रस्वामी			
	कुल ५८० वर्ष		कुल ५८१ वर्ष

१. पट्टावली समुच्चय, पृ. २७.

इस प्रकार महावीर निर्वाण के ५८१ वर्ष व्यतीत हुए। उसके बाद पुष्पमित्र और नाहड़ का राज्यकाल २४ वर्ष का रहा। तदनन्तर (५८१ + २४ = ६०५ वर्ष बाद) शक संवत् की उत्पत्ति हुई। आगे भ. महावीर निर्वाण के ९८० वर्ष पूर्ण हो जानेपर महागिरि की परम्परा में उत्पन्न देवर्धिगणि क्षमा श्रमण ने "कल्पसूत्र" की रचना की।[1]

दिगम्बर परम्परानुसार[2] जिस दिन भ. महावीर का परिनिर्वाण हुआ, उसी दिन गौतम गणधर ने केवल ज्ञान प्राप्त किया। गौतम के सिद्ध हो जाने पर सुधर्मा स्वामी केवली हुए। सुधर्मा स्वामी के सिद्ध हो जाने पर जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हुए। इन तीनों केवलियों का काल ६२ वर्ष है उनके बाद नन्दि (विष्णु), नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु प्रथम ये पांच श्रुत केवली हुए जिनका समय १०० वर्ष है। उनके बाद विशाख, पोष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म (धर्मसेन) ये ग्यारह आचार्य क्रमशः दश पूर्वधारी हुए। उनका काल १८३ वर्ष है। उनके बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पांच आचार्य ग्यारह अंग के धारी हुए। उनका समय २२० वर्ष है। उनके बाद भरत क्षेत्र में कोई भी आचार्य ग्यारह अंग का धारी नहीं हुआ। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु द्वितीय और लोह (लोहार्य) ये चार आचार्य आचारांग के धारी हुए। ये सभी आचार्य शेष ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के एक देश के ज्ञाता थे। उनका समय ११८ वर्ष होता है। इस प्रकार गौतम गणधर से लेकर लोहाचार्य पर्यन्त कुल काल का परिमाण ६८३ वर्ष हुआ। अर्हद्बली आदि आचार्यों का समय इस काल परिमाण के बाद आता है।

(१) तीन केवली	– ६२ वर्ष
(२) पांच श्रुतकेवली	– १०० ,,
(३) ११ दश पूर्वधारी	– १८३ ,,
(४) पांच ग्यारह अंग के धारी	– २२० ,,
(५) चार आचारांगधारी	– ११८ ,,
	कुल ६८३ वर्ष

१. कल्पसूत्र स्थविरावली.

२. जयधवला, भाग-१ प्रस्तावना, पृ. २३-३०; हरिवंशपुराण.

नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली इससे कुछ भिन्न है। उसमें उपर्युक्त लोहाचार्य तक का समय कुल ५६५ वर्ष बताया है। पश्चात् एकांगधारी अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि इन पांच आचार्यों का काल क्रमशः २८, २१, १९, ३० और २० वर्ष निर्दिष्ट है। इस दृष्टि से पुष्पदन्त और भूतबलि का समय ६८३ वर्ष के ही अन्तर्गत आ जाता है।[1] इस प्रकार धवला आदि ग्रन्थों में उल्लिखित और नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली में उद्धृत इन दोनों परम्पराओं में आचार्यों की कालगणना में ११८ वर्ष (६८३ – ५६५ = ११८) का अन्तर दिखाई देता है। पर यह अन्तर एकादशांगधारी और आचार्यों में ही है, केवली, श्रुतकेवली और दशपूर्वधारी आचार्यों में नहीं। इसके वावजूद धवला आदि ग्रन्थों की परम्परा अधिक मान्य है क्योंकि षट्खण्डागम की रचना महावीर निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद ही हुई। विद्वानोंने इन दोनों परम्पराओं में समन्वय करने का भी प्रयत्न किया है।[2]

आचार्य भद्रबाहु :

आचार्य कालगणना की उक्त दोनों परम्पराओं को देखने से यह स्पष्ट है कि जम्बूस्वामी के बाद होने वाले युगप्रधान आचार्यों में भद्रबाहु ही एक ऐसे आचार्य हुए हैं, जिनके व्यक्तित्व को दोनों परम्पराओं ने एक स्वर में स्वीकार किया है। बीच में होनेवाले प्रभव,शय्यंभव, यशोभद्र और संभूतिविजय आचार्यों के विषय में परम्परायें एकमत नहीं। भद्रबाहु के विषय में भी जो मतभेद है वह बहुत अधिक नहीं। दिगम्बर परम्परा भद्रबाहु का कार्यकाल २९ वर्ष मानती है और उनका निर्वाण महावीर निर्वाण के १६२ वर्ष बाद स्वीकार करती है पर श्वेताम्बर परम्परानुसार यह समय १७० वर्ष बाद बताया जाता है और उनका कार्यकाल कुल चौदह वर्ष माना जाता है। जो भी हो, दोनों परम्पराओं के बीच आठ वर्ष का अन्तराल कोई बहुत अधिक नहीं है।

परम्परानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु निमित्तज्ञानी थे। उनके ही समय संघभेद प्रारंभ हुआ है। अपने निमित्तज्ञान के बलपर उत्तर में होने वाले द्वादश वर्षीय दुष्काल का आगमन जानकार भद्रबाहु ने बारह हजार मुनि- संघ के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। अपना अन्त निकट जानकर उन्होंने संघ को चोल, पाण्ड्य प्रदेशों की ओर जाने का आदेश दिया और स्वयं श्रवणवेलगोल में ही कालवप्र नामक पहाड़ी

---

१. धवला, आदिपुराण तथा श्रुतावतार आदि ग्रन्थों में भी लोहाचार्य तक के आचार्यों का काल ६८३ वर्ष ही दिया गया है।

२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ. ३३२.

पर समाधिमरण पूर्वक देह त्याग किया। इस आशय का छठी शती का एक लेख पुन्नाड के उत्तरी भाग में स्थित चन्द्रगिरि पहाड़ी पर उपलब्ध हुआ है। उसके सामने विन्ध्यगिरि पर चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोमटेश्वर बाहुबलि की ५७ फीट ऊंची एक भव्य मूर्ति स्थित है। परिशिष्टपर्वन् के अनुसार भद्रबाहु दुष्काल समाप्त होने के बाद दक्षिण से मगध वापिस हुए और पश्चात् महाप्राण ध्यान करने नेपाल चले गये। इसी बीच जैन साधु-संघ ने अनभ्यासवश विस्मृत श्रुत को किसी प्रकार से स्थूलभद्र के नेतृत्व में एकादश अंगों का संकलन किया और अवशिष्ट द्वादशवें अंग दृष्टिवाद के संकलन के लिए नेपाल में अवस्थित भद्रबाहु के पास अपने कुछ शिष्यों को भेजा। उनमें स्थूलभद्र ही वहां कुछ समय रुक सके जिन्होंने उसका कुछ यथाशक्य अध्ययन कर पाया। फिर भी दृष्टिवाद का संकलन अवशिष्ट ही रह गया।

देवसेन के "भाव संग्रह" में भद्रबाहु के स्थान पर शान्ति नामक किसी अन्य आचार्य का उल्लेख है। भट्टारक रत्नकीर्ति (ई. १४००) ने संभवतः देवसेन और हरिषेण की कथाओं को सम्बद्ध करके भद्रबाहु चरित्र लिखा है। प्रथम भद्रबाहु का कोई भी ग्रन्थ प्रामाणिक तौर पर नहीं मिलता। छेद सूत्रों का कर्ता उन्हें अवश्य कहा गया है, पर यह कोई सुनिश्चित परम्परा नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्दने "बोहि पाहुड" में अपने गुरु का नाम भद्रबाहु लिखा है और उन भद्रबाहु को 'गमकगुरु' कहा है। कुन्दकुन्द के ये गमकगुरु निश्चित ही श्रुतकेवली भद्रबाहु रहे होंगे।

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारस अंग वियाणं चउदस पुव्वंग विउल वित्थरणं।
सुयाणि भद्दबाहू गमयगुरु भयवओ जयओ ॥६२॥

बोहिपाहुड की इन दोनों गाथाओं से यह स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय तक भद्रबाहु नाम के दो आचार्य हो चुके थे। – प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु जिन्हें कुन्दकुन्दने 'गमक गुरु' कहा है और द्वितीय भद्रबाहु जो कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु थे। ये दोनों व्यक्तित्व पृथक् पृथक हुए हैं अन्यथा कुन्दकुन्द दोनों गाथाओं में भद्रबाहु शब्द का प्रयोग नहीं करते।

आचारांग, सूत्रकृतांग, सूर्यप्रज्ञप्ति, व्यवहार, कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक और ऋषिभाषित ग्रन्थों पर किसी अन्य भद्रबाहु नामक विद्वान ने निर्युक्तियां लिखी हैं, ऐसी एक परम्परा है। ये निर्युक्तिकार तृतीय भद्रबाहु होना चाहिए जो छेदसूत्रकार भद्रबाहु (चतुर्थ

से भिन्न) रहे होंगे। निर्युक्तियों में आर्यवज्र, आर्यरक्षित, पादलिप्ताचार्य, कलिकाचार्य, शिवभूति आदि अनेक आचार्यों के नामों के उल्लेख मिलते हैं। ये आचार्य निश्चित ही उक्त प्रथम और द्वितीय भद्रबाहु से उत्तर काल में हुए हैं। प्रथम भद्रबाहु का समय ई. पू. ३८४–३६५ (वी. नि. सं. १३३–१६२) माना गया है। द्वितीय भद्रबाहु यशोभद्र के शिष्य तथा लोहाचार्य के गुरु थे। उनका समय ई. पू. ३५–१२ (वी. नि. ४८२–१५) है। द्वितीय भद्रबाहु यशोभद्र के शिष्य तथा लोहाचार्य गुरु थे। उनका समय ई. पू. ३५–१२ (वी. नि. ४८२–१५) है।

भद्रबाहु चरित्र के अतिरिक्त भद्रबाहु के चरित विषयक और भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध है– देवर्धिक्षमाश्रमण की स्थविरावली, भद्रेश्वर सूरि की कहावली, तित्थोगालि प्रकीर्णक, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक पर हरिभद्रीया वृत्ति तथा हेमचन्द्र सूरि के त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित का परिशिष्टपर्वन्। उनमें उपलब्ध विविध कथायें ऐतिहासिक सत्य के अधिक समीप नहीं लगतीं। मेरुतुंगाचार्य की प्रबन्ध चिन्तामणि ओर राजेश्वर सूरि का प्रबन्ध कोष भी इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है।

प्रबन्ध चिन्तामणि[1] में एक किंवदन्ति का उल्लेख है कि भद्रबाहु वराह मिहिर के सहोदर थे। ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न ये दोनों भाई कुशल निमित्तवेत्ता थे। इन दोनों भाइयों में भद्रबाहुने जैन दीक्षा ले ली पर वराहमिहिर ने स्वधर्म परित्याग नहीं किया। वराहमिहिर के पुत्र के सन्दर्भ में भद्रबाहु का निमित्तज्ञान वराहमिहिर की अपेक्षा प्रगल्भ निकला। फलतः वराह मिहिर जैनों से द्वेष करने लगे। इस द्वेषभाव के परिणाम स्वरूप वराहमिहिर काल कवलित होने पर व्यन्तर जाति के देव हुए और जैनों पर घनघोर उपसर्ग करने लगे। इन उपसर्गों को दूर करने के लिए भद्रबाहु ने उपसग्गहरस्तोय लिखा। प्रबन्ध कोश में इससे-भिन्न अन्य कथा का उल्लेख है। तदनुसार वराहमिहिर ओर भद्रबाहु, दोनों ने जैन मुनिव्रत ग्रहण किये। इनमें भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वज्ञान के धारी थे। जिन्होंने निर्युक्तियों तथा भद्रबाहुसंहिता जैसे ग्रन्थों की रचना की। परन्तु स्वभाव से उद्धत होने के कारण आचार्य वराहमिहिर को जैन मुनिदीक्षा त्यागकर पुनः ब्राह्मण व्रत धारण करना पड़ा। इसी के पश्चात् उन्होंने वृहत्संहिता लिखी। यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रबन्ध कोष के पूर्ववर्ती अन्य किसी ग्रन्थ में भद्रबाहु को भद्रबाहु संहिताकार अथवा वराहमिहिर का सहोदर नहीं बताया गया। प्रबन्धकोश[2] में भी इसीसे मिलती-जुलती घटना का उल्लेख मिलता है।

---

१. प्रबन्ध चिन्तामणि–सं मुनिजिनविजय, प्रकाश ५, पृ. ११८,

२. प्रबन्धकोश–सं. मुनिजिनविजय, पृ. २

परम्परानुसार वराहमिहिर के सहोदर भद्रबाहुने ही उपर्युक्त निर्युक्तियों की रचना की है। जिन ग्रन्थों में श्रुतकेवली भद्रबाहु का चरित्र-चित्रण मिलता है उनमें द्वादशवर्षीय दुष्काल, नेपाल-प्रयाण, महाप्राणध्यान की आराधना स्थूलभद्र की शिक्षा, छेद सूत्रों की रचना आदि का वर्णन तो मिलता है परन्तु वराहमिहिर का सहोदर होना, निर्युक्तियों, उपसग्गहरस्तोय तथा भद्रबाहुसंहिता आदि ग्रन्थों की रचना तथा नैमित्तिक होने का कतई उल्लेख नहीं। अतः छेदसूत्रकार भद्रबाहु तथा निर्युक्तिकार भद्रबाहु दोनों का व्यक्तित्व निश्चित ही पृथक्-पृथक् रहा होगा। वराहमिहिर ने अपनी पञ्चसिद्धान्तिका शक संवत् ४२७ (ई. ५०५) में समाप्त की थी। अतः तृतीय भद्रबाहु का भी यही समय निश्चित किया जा सकता है।

प्रश्न है, वराहमिहिर के भ्राता भद्रबाहुने प्रस्तुत भद्रबाहु संहिता की रचना की या नहीं ? हमे ऐसा लगता है कि वराहमिहिर की "बृहत्संहिता" के समकक्ष में कोई अन्य जैन संहिता रखने की दृष्टि से किसी दिगम्बर जैन लेखक ने श्रुतकेवली भद्रबाहु को सर्वाधिक श्रेष्ठ एवं उपयोगी आचार्य समझा ओर उन्हीं के नाम पर एक संहिता ग्रन्थ की रचना कर दी। बृहत्संहिता का विशाल सांस्कृतिक कोष, विशद निरूपण, उदात्त कवित्व शक्ति, सूक्ष्म निरीक्षण ओर अगाध विद्वता आदि जैसी विषेषतायें भद्रबाहु संहिता में दिखाई नहीं देतीं। यह निश्चित है कि भद्रबाहु संहिताकार ने ही बृहत्संहिता का आधार लिया होगा। "भद्रबाहुवचो यथा" आदि शब्दों से भी यही बात स्पष्ट होती है। भद्रबाहुसंहिता में छन्दोभंग, व्याकरण दोष, पूर्वापर विरोध, वस्तु-वर्णन शैथिल्य, क्रमबद्धता का अभाव, प्रभावहीन निरूपण इत्यादि अनेक अक्षम्य दोष भी इस कथन की पुष्टि करते हैं।

स्व. पं. जुगजकिशोर मुख्तार डॉ. गोपाणी[1] का अनुसरण करते हुए भद्र-बाहु संहिता को इधर-उधर का बेढंगा संग्रह मानते हैं जिसे १७ वीं शदी में संकलित किया गया था। यह ठीक नहीं। क्योंकि १७ वीं शती तक का सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक कोई प्रमाण इसमें नहीं मिलता जिसके आधार पर मुख्तार सा. के मत को समर्थन दिया जा सके। मुनि जिनविजय[2] ने यह समय ११-१२ वीं शती निश्चित किया है। यह यत कहीं अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। वैसे ग्रन्थ को अन्तः-प्रमाणों के आधार पर इस समय को भी एक-दो शताब्दी आगे किया जा सकता है।

---

१. भद्रबाहु संहिता-सं. ए. एस. गोपाणी, पुस्तिका. पृ. ७०

२. वही. प्राक्कथन, पृ. ३-८.

कुछेक वर्षों पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ से डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित भद्रबाहु संहिता का प्रकाशन हुआ था। उसकी प्रस्तावना में स्व. डॉ. शास्त्री ने एक स्थान पर भद्रबाहु को वराहमिहिर से प्रभावित बताया। दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा कि कुछ विषयों का वर्णन वराहमिहिर से भी अधिक भद्रबाहु संहिता में मिलता है ओर यही नवीनता प्राचीनता की पोषिका है। फलतः भद्रबाहु वराहमिहिर के पूर्ववर्ती भी हो सकते हैं ओर अन्त में डॉ. शास्त्रीने इस कृति का समय ८-९ वीं शती भी बता दिया। इन तीन मतों में कोन-सा मत उनका माना जाय, निश्चित नहीं किया जा सकता। लगता है, वे स्वयं इस समय की परिधि को निश्चित नहीं कर पाये।

इस सन्दर्भ में मेरा अपना मत है कि भद्रबाहु ११-१२ वीं शती की होना चाहिए। उसके लेखक न तो श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं, न कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु, ओर न ही निर्युक्तिकार भद्रबाहु। इनके अतिरिक्त अन्य कोई पञ्चम भद्रबाहु ही होना चाहिए क्योंकि निर्युक्तिकार भद्रबाहु की भाषा प्रायः शुद्ध और समीचीन जान पड़ती है जबकि प्रस्तुत ग्रन्थ इस दृष्टि से अस्पष्ट तथा व्याकरण दोषों से परिपूर्ण है।

'भद्रबाहु संहिता' की रचना ११-१२ वीं शती की है, इस मत के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं-

(१) चातुर्वर्ण्य व्यवस्था तथा वर्णसंकर का उल्लेख भ. सं.द्र में अनेक स्थानों पर विकसित अवस्था में हुआ है। जैन संस्कृति में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था जिनसेन द्वारा की गई जिसका परिपोषक रूप सोमदेव के ग्रन्थों में मिलता है।

(२) अरिष्टों कें वर्णन के प्रसंग में दुर्गाचार्य और एलाचार्य का उल्लेख है। दुर्गाचार्य का ग्रन्थ 'रिष्टसमुच्चय का रचना काल १०३२ ई. है।

(३) चन्द्र, वरुण, इन्द्र, बलदेव, प्रद्युम्न, सूर्य, लक्ष्मी, भद्रकाली, इन्द्राणी धन्वन्तरि, परशुराम, रामचन्द्र, तुलसा, गरुड, भूत, अर्हन्त, रुद्र, सूर्य, शुक्र, द्रोण, इन्द्र, अग्नि, वायु, समुद्र, विश्वकर्मा, प्रजापति, पार्वती, रति आदि की प्रतिमाओं का वर्णन इस ग्रन्थ में है। इन सभी के रूप १२ वीं शती तक विकसित हो चुके थे।

(४) भद्रबाहु वचो यथा (इ.-६४), यथावदनुपूर्वशः (९-१) आदि जैसे वाक्यों का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि भद्र सं. की रचना श्रुतकेवली भद्रबाहु ने तो नहीं की। उनके अनुसार अन्य किसी भद्रबाहु ने की हो अथवा उनकें नामपर किसी यद्वा तद्वा विद्वान ने।

(५) भौगोलिक और राजनीतिक वर्णन.

(६) बृहत्संहिता की अपेक्षा विषय वर्णन में नवीनता ।

इन सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि भद्रबाहुसंहिता की रचना ११–१२वीं शती से पूर्ववर्ती नही होना चाहिए । मूल ग्रन्थ प्राकृत में रहा हो, यह भी समीचीन नहीं जान पड़ता । बौद्ध साहित्य के अवदान साहित्य की श्रेणी में भी इसे नहीं रखा जा सकता क्योंकि प्राकृत के रूप इतने अधिक सं.भ.द्रमें नहीं मिलते। अतः इस ग्रन्थ की उपरितम सीमा १२–१३ वीं शती मानी जानी चाहिए ।

संघभेद :

प्रायः हर तीर्थंकर अथवा महापुरुष के परिनिर्वृत अथवा देहावसान हो जाने के बाद उसके संघ अथवा अनुयायियों में मतभेद पैदा हो जाते हैं । इस मतभेद के मूल कारण आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के परिवर्तित रूप हुआ करते हैं । मतभेद की गोद में विकास निहित होता है जिसे जागर्ति का प्रतीक कहा जा सकता है । पार्श्वनाथ और महावीर के संघ में भी उनके निर्वाण के बाद मतभेद उत्पन्न होना प्रारम्भ हो गया था । उस मतभेद के पीछे भी आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के बदलते हुए रूप थे ।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण के बाद उनका संघ अन्तिम रूप में दो भागों में विभक्त हो गया–दिगम्बर और श्वेताम्बर । संघभेद के संदर्भ में दोनों सम्प्रदायों में अपनी-अपनी परंपराये हैं । दिगम्बर सम्प्रदाय पूर्णतः अचेलत्व को स्वीकार करता है पर श्वेताम्बर सम्प्रदाय सवस्त्र अवस्था को भी मानता प्रदान करता है । दोनों परम्पराओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि मतभेद का मूल कारण वस्त्र था ।

पालि साहित्य से पता चलता है कि निगण्ठनातपुत्त के परिनिर्वाण के बाद ही संघभेद के बीज प्रारम्भ हो चुके थे । आनन्द ने बुद्ध को चुन्द का समाचार दिया था कि महावीर के निर्वाण के उपरान्त उनके अनुयायियों में परस्पर विवाद और कलह हो रहा है । वे एक दूसरे की बातों को अप्रामाणिक सिद्ध कर रहे हैं ।[१] बुद्ध ने इसका कारण बताया कि निगण्ठों के तीर्थंकर निगण्ठ नातपुत्त न तो सर्वज्ञ हैं और न ठीक तरह से उन्होंने धर्म देशना दी है ।[२] अट्ठकथा में इसका विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि निगण्ठनातपुत्तने अपने अपने सिद्धान्तों की निरर्थकता को समझकर अपने अनुयायियों से कहा था कि वे

१. मज्झिमनिकाय, भा. २. पृ–४२३ (रो.); दीघनिकाय, भा.३. पृ. ११७, १२० (रो.),
२. दीघनिकाय, भा. ३, पृ. १२१.

बुद्ध के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लें। आगे वहां बताया गया है कि उन्होंने अन्तिम समय में एक शिष्य को शाश्वतवाद की शिक्षा दी और दूसरे को उच्छेदवाद की। फलतः वे दोनों परस्पर संघर्ष करने लगे। संघ भेद का मूल कारण यही है।[१]

उक्त उद्धरण कहाँ तक सही है, कहा नहीं जा सकता पर यह अवश्य है कि शासन भेद निगण्ठनातपुत्त के परिनिर्वाण के बाद किसी न किसी अंश में प्रारम्भ हो गया था। वैसे इस उद्धरण में अनेकान्तवाद की ओर संकेत किया गया है।

निन्हव और दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति

इस शासन भेद को श्वेताम्बर परम्परा में 'निन्हव' कहा गया है। उनकी संख्या सात बतायी गयी है।– जामालि तिष्यगुप्त, आषाढ, विश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल। निन्हव का तात्पर्य है– किसी विशेष दृष्टि कोण से आगमिक परम्परा से विपरीत अर्थ प्रस्तुत करनेवाला[२]। यह यहां दृष्टव्य है कि प्रत्येक निन्हव जैनागमिक परम्परा के किसी एक पक्ष को अस्वीकार करता है और शेष पक्षों को स्वीकार करता है। अतः वह जैन धर्म के अन्तर्गत अपना एक पृथक् मत स्थापित करता है। ये सातों निन्हव संक्षेपतः इस प्रकार हैं–

१. प्रथम निन्हव–जामालि–बहुरत सिद्धान्त :

जामालि भ. महावीर का शिष्य था। श्रावस्ती में उसने अपने शिष्य से एक बार विस्तर लगाने के लिए कहा। शिष्य ने कहा–विस्तर लग गये। जामालि ने आकर जब देखा कि अभी विस्तर लग रहा है तो उसे महावीर का कहा हुआ "कियमाणं कयं" (किया जानेवाला कर दिया गया) वचन असत्य प्रतीत हुआ। तब उसने उस सिद्धान्त के स्थान पर 'बहुरत' सिद्धान्त की स्थापना की जिसका तात्पर्य है कि कोई भी क्रिया एक समय में न होकर अनेक समय में होती है। मृदानयन आदि से घट का प्रारम्भ होता है पर घट तो अन्त में ही दिखाई देता है। यह ऋजुसूत्र नय का विषय है जिसे जामालि नहीं समझ सका।[१]

---

१. अट्ठकथा, भा–३, पृ. ९९६

२. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा–२३०८–३२,

३. राजवार्तिक (६.१०.२) में ज्ञानका अपलाप करनेवाले को निन्हव कहा गया है।

२. द्वितीय निन्हव–तिष्य गुप्त–जीव प्रादेशिक सिद्धान्त :

तिष्यगुप्त वसु का शिष्य था। एक समय ऋषभपुर में आत्मप्रवाद पर चर्चा चल रही थी। प्रश्न था–क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कह सकते हैं। भगवान महावीर ने उत्तर दिया–नहीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण प्रदेश युक्त होने पर ही 'जीव' कहा जायगा। तब तिष्यगुप्त ने कहा कि जिस प्रदेश के कारण वह जीव नहीं कहलायेगा उसी चरम प्रदेश को जीव क्यों नहीं कहा जाता ? यही उसका जीव प्रादेशिक मत है। एवंभूत नय न समझने के कारण ही उसने यह मत स्थापित किया।[1]

३ तृतीय निन्हव–आषाढ आचार्य–अव्यक्त वाद ।

श्वेताविका नगरी में आषाढ नामक एक आचार्य थे। वे अकस्मात् मरकर देव हुए और पुनः मृत शरीर में आकर उपदेश देने लगे। योग साधना समाप्त होने पर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा–"मैंने असंयमी होते हुए भी आप लोगों से आज तक वन्दना कराई। श्रमणो ! मुझे क्षमा करना।" इतना कहकर वे चले गये। तब शिष्य कहने लगे–कौन साधु वन्दनीय है, कौन नहीं, निर्णय करना सरल नहीं। अतः किसी की भी वन्दना नहीं करनी चाहिए। व्यवहार नय को न समझने के कारण यह निन्हव पैदा हुआ।[2]

४ चतुर्थ निन्हव–कौण्डिण्य–समुच्छेदकवाद :

कौण्डिण्य का शिष्य अश्वमित्र मिथिला नगरी में अनुप्रवाद नामक पूर्व का अध्ययन कर रहा था। उसमें एक स्थान पर प्रसंग आया कि वर्तमान कालीन नारक विच्छिन्न हो जायेंगे। अतः उसके मन में आया कि उत्पन्न होते ही जब जीव नष्ट हो जाता है तो कर्म का फल कब भोगता है ? यह क्षण भंगवाद पर्यायनय को न समझने के कारण उत्पन्न हुआ। इसे समुच्छेदक नाम दिया गया है। इसका अर्थ है– पदार्थ का जन्म होते ही उसका अत्यन्त विनाश हो जाता है।[3]

५. पञ्चम निन्हव–गंग–द्विक्रिया वाद :

धन गुप्त का शिष्य गंग एक बार शरद ऋतु में ऋतुकातीर नामक नगर से आचार्य की वन्दना करने के लिए निकला। मार्ग में उसने गर्मी

---

१. वही गाथा–२३३३–२३५५.

२. वही गाथा–३५६–३३८८.

३. वही गाथा–३८९–४३३३.

और ठण्ड दोनों का अनुभव एक साथ किया। तब उसने यह मत प्रतिपादित किया कि एक समय में दो क्रियाओं का अनुभव हो सकता है। नदी में चलने पर ऊपर की सूर्य-उष्णता और नदी की शीतलता, दोनों का अनुभव होता है। गंग ने इस सिद्धान्त के आधार पर अपने द्विक्रियावाद की स्थापना कर ली। तथ्य यह है कि मन की सूक्ष्मता के कारण यह आभास नहीं हो पाता। क्रिया का वेदन तो क्रमशः ही होता है।

६. षष्ठ निन्हव-रोहगुप्त-त्रैराशिक वाद :

एक बार अंतरंजिका नगरी में रोहगुप्त अपने गुरु की वन्दना करने जा रहा था। मार्ग में उसे अनेक प्रवादी मिले जिन्हें उसने पराजित किया। अपने वाद-स्थापन काल में उसने जीव और अजीव के साथ ही 'नो जोव' की भी स्थापना की। गृहकोकिलादि को उसने 'नो जीव' बतलाया। समाभिरूढ नय को न समझने के कारण उसने इस मत की स्थापना की। इसे त्रैराशिक वाद कहा गया है।

७. सप्तम निन्हव-गोष्ठामाहिल अबद्ध वाद :

एक बार दशपुर नगर में गोष्ठामाहिल कर्मप्रवाद पढ रहा था। उसमें उसने पढ़ा कि कर्म केवल जीव का स्पर्श करके अलग हो जाता है। इस पर उसने सिद्धान्त बनाया कि जीव और कर्म अबद्ध रहते हैं। उनका बन्ध ही नहीं होता। व्यवहारनय को न समझने के कारण ही गोष्ठामाहिल ने यह मत प्रस्थापित किया।

८. अष्टम निन्हव बोटिक-दिगम्बर संप्रदाय की उत्पत्ति-शिवभूति :

रथवीरपुर नामक नगर में शिवभूति नामक साधु रहता था। वहां के राजा ने एक बार बहुमूल्य रत्न कंबल भेंट किया। शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण ने कहा कि साधु के मार्ग में अनेक अनर्थ उत्पन्न करनेवाले इस कम्बल को ग्रहण करना उचित नहीं। पर शिवभूति को उस कम्बल में आसक्ति उत्पन्न हो गई। यह समझकर आर्यकृष्ण ने शिवभूति की अनुपस्थिति में उस कम्बल के पादप्रोञ्छनक बना दिये। यह घटना देखकर शिवभूति क्रोधित हो गया। एक समय आर्यकृष्ण जिनकल्पियों का वर्णन कर रहे थे। और कह रहे थे कि उपयुक्त संहनन आदि के अभाव होने से उसका पालन सम्भव नहीं। शिवभूति ने कहा-"मेरे रहते हुए यह अशक्य कैसे हो सकता है!" यह कहकर अभिनिवेशवश निर्वस्त्र होकर यह मत स्थापित किया कि वस्त्र कषाय का कारण होने से परिग्रह रूप है। अतः त्याज्य है।

ये निन्हव किसी अभिनिवेश के कारण आगमिक परम्परा से विपरीत अर्थ प्रस्तुत करनेवाले होते हैं। प्रथम निन्हव महावीर के जीवन काल में ही उनकी ज्ञानोत्पत्ति के चौदह वर्ष बाद हुआ। इसके दो वर्ष बाद ही द्वितीय निन्हव हुआ। शेष निन्हव महावीर के निर्वाण होने पर क्रमशः २१४, २२०, २१८, ५४४, ५८४ और ६०९ वर्ष बाद उत्पन्न हुए। सिद्धान्त भेद से प्रथम सात निन्हवों का उल्लेख मिलता है। पर जिनभद्र ने 'विशेषावश्यक भाष्य' में एक और निन्हव जोड़कर उनकी संख्या ८ कर दी। इसी अष्टम निन्हव को 'दिगम्बर' कहा गया है। आश्चर्य की बात है, इन निन्हवों के विषय में दिगम्बर साहित्य बिलकुल मौन है। प्रथम सात निन्हवों के कारण किसी सम्प्रदाय विशेष की उत्पत्ति नहीं हुई। 'ठाणाङ्गसूत्र' (सूत्र ५८०) में केवल सात निन्हवों का उल्लेख है पर 'आवश्यकनिर्युक्ति' (गाथा–७७९–७८३) में स्थान-काल का उल्लेख करते समय आठ निन्हवों का और उपसंहार करते समय मात्र सात निन्हवों का निर्देश किया गया है।[१] इससे यह स्पष्ट है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ही सर्वप्रथम अष्टम निन्हव के रूप में दिगम्बर मत की उत्पत्ति की कल्पना की है। उन्होंने यह भी कहा है कि उपयुक्त संहननादि का अभाव होने से जिनकल्प का धारण करना अब शक्य नहीं।

इससे यह स्पष्ट है कि दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति अर्वाचीन नहीं, प्राचीनतर है। ऋषभदेव ने जिनकल्प की ही स्थापना की थी और वह अविच्छिन्न रूप से श्वेताम्बर सम्पद्राय के अनुसार भी जम्बूस्वामी तक चला आया। बाद में उसका विच्छेद हुआ। शिवभूति ने उसकी पुनः स्थापना की। अतः जिनकल्प को निन्हव कैसे कहा जा सकता है? और फिर बोटिक का सम्बन्ध दिगम्बर सम्प्रदाय से कैसे लिया जाय, इसका स्पष्टीकरण श्वेताम्बर साहित्य में भी नहीं मिलता। सम्भव है, बोटिक नाम का कोई पृथक् सम्प्रदाय ही रहा होगा जिसका अधिक समय तक अस्तित्व नहीं रह सका। आवश्यक चूर्णि (पृ. २०) में बोटिकों को अवन्द्य श्रमणों में गिना गया है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति :

दिगम्बर साहित्य में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय में जो कथानक मिलते हैं वे इस प्रकार हैं–

(१) हरिषेण के बृहत्कथाकोश (शक संवत् ८५३) में यह उल्लेख मिलता है कि गोवर्धन के शिष्य श्रुतकेवली भद्रबाहुने उज्जयिनी में द्वादशवर्षीय

१. एवं एए कहिआ ओसप्पिणिए उ निण्हया सत्त।
वीरवरस्स पवयणे सेसाणं पवयणे नत्थि ॥ ७८४ ॥

दुष्काल को निकट भविष्य में जानकर मुनि विशाखाचार्य (चन्द्रगुप्त मौर्य) के नेतृत्व में मुनि संघ को दक्षिणापथवर्ती पुन्नाट नगर भेज दिया और स्वयं भाद्रपद देश में जाकर समाधिमरण पूर्वक शरीर त्याग किया। इधर दुष्काल की समाप्ति हो जाने पर विशाखाचार्य ससंघ वापिस आ गये। संघ में से रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य सिन्धु देश की ओर चले गये थे। वहां दुर्भिक्ष पीड़ितों के कारण लोग रात्रि में भोजन करते थे। फलतः मुनियों–निर्ग्रन्थों को भी रात्रि भोजन प्रारम्भ करना पड़ा। एक बार अंधकार में भिक्षा की खोज में निकले निर्ग्रन्थ को देखकर भय से एक गर्भिणी का गर्भपात हो गया। इस घटना के मूल कारण को दूर करने के लिए श्रावकों ने मुनियों को अर्धफलक (अर्धवस्त्रखण्ड) धारण करने के लिए निवेदन किया। सुभिक्ष हो जानेपर रामिल्ल, स्थविर स्थूल और भद्राचार्य ने तो मुनिव्रत धारण कर लिया, पर जिन्हें वह अनुकूल नहीं लगा, उन्होंने जिनकल्प के स्थानपर अर्धफलक संप्रदाय की स्थापना कर ली। उत्तरकाल में इसी अर्धफलक सम्प्रदाय से काम्बल सम्प्रदाय, फिर यापनीय संघ और बाद में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई।

(२) देवसेन के 'दर्शनसार'[१] (वि. सं. ९९९) में एतत् सम्बन्धी कथा इस प्रकार मिलती है–

विक्रमाधिपति की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र देश के बलभीपुर में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई। इस संघ की उत्पत्ति में मूल कारण भद्रबाहुगणि के आचार्य शांति के शिष्य जिनचन्द्र नामक एक शिथिलाचारी साधु था। उसने स्त्री-मोक्ष, कवलाहार, सवस्त्रमुक्ति, महावीर का गर्भ परिवर्तन आदि जैसे मत प्रस्थापित किये थे।

दर्शनसार में व्यक्त ये मत निःसन्देह श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। उनके संस्थापक तो नहीं, प्रबल पोषक कोई जिनचन्द्र नामक आचार्य अवश्य हुए होंगे। पर चूंकि आचार्य शान्ति और उनके शिष्य जिनचन्द्र का अस्तित्व देवसेन के पूर्व नहीं मिलता अतः ये जिनचन्द्र जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (सप्तम शती) होना चाहिए। उन्होंने 'विशेषावश्यकभाष्य' में उक्त मतों का भरपूर समर्थन किया है।

(३) एक अन्य देवसेन ने भावसंग्रह में भी श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति इसी प्रकार बतायी है। थोड़ा-सा जो भी अन्तर है, वह यह है कि यहां 'शान्ति' नामक आचार्य सौराष्ट्र देशीय बलभीनगर अपने शिष्यों सहित पहुंचे। पर वहां भी दुष्काल का प्रकोप हो गया। फलतः साधु वर्ग यथेच्छ भोजनादि करने लगा। दुष्काल समाप्त हो जाने पर शान्ति आचार्य ने उनसे इस वृत्ति

---

१. दर्शनसार–११-१४.

को छोड़ने के लिए कहा पर उसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। तब आचार्य ने उन्हें बहुत समझाया। उनकी बात पर किसी शिष्य को क्रोध आया और उसने गुरु को अपने दीर्घ दण्ड से शिर पर प्रहार कर उन्हें स्वर्ग लोक पहुंचाया और स्वयं संघ का नेता बन गया। उसी ने सवस्त्र मुक्ति का उपदेश दिया और श्वेताम्बर संघ की स्थापना की।[१]

(४) भट्टारक रत्ननन्दि का एक "भद्रबाहुचरित्र" (तृतीय परिच्छेद) मिलता है, जिसमें उन्होंने कुछ परिवर्तन के साथ इस घटना का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि दुर्भिक्ष पड़ने पर भद्रबाहु ससंघ दक्षिण गये। पर रामिल्ल, स्थूलाचार्य आदि मुनि उज्जयिनी में ही रह गये। कालान्तर में संघ में व्याप्त शिथिलाचार को छोड़ने के लिए जब उन्होंने कहा तो संघ ने उन्हें मार डाला। उन शिथिलाचारी साधुओं से ही बाद में अर्धफलक और श्वेताम्बर संघ की स्थापना हुई।

इन कथानकों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भद्रबाहु की परंपरा दिगम्बर सम्प्रदाय से और स्थूल भद्र की परंपरा श्वेताम्बर सम्प्रदाय से जुड़ी हुई है। यह श्वेताम्बर सम्प्रदाय अर्धफलक संघ का ही विकसित रूप है। अर्धफलक सम्प्रदाय की उत्पत्ति वि. पू. ३३० में हुई और वि. सं. १३६ में वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय के रूप में सामने आया। 'अर्धफलक सम्प्रदाय' का यह रूप मथुरा कंकाली टीले से प्राप्त शिलापट्ट में अंकित एक जैन साधु की प्रतिकृति में दिखाई देता है। वहां वह साधु 'कण्ह' वायें हाथ से वस्त्र खण्ड के मध्य भाग को पकड़कर नग्नता को छिपाने का यत्न कर रहा है। हरिभद्र के 'सम्बोधप्रकरण' से भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के इस पूर्व-रूप पर प्रकाश पड़ता है। कुछ समय बाद उसी वस्त्र को कमर में धागे से बांध दिया जाने लगा। यह रूप मथुरा में प्राप्त एक आयागपट्ट पर उट्टङ्कित रूप से मिलता-जुलता है। इस विकास का समय प्रथम शताब्दि के आसपास माना जा सकता है। एक अधिपति अथवा महाराज्ञी की आज्ञा से ही एक संघ विशेष में इतना परिवर्तन हो गया हो, यह बात तथ्यसंगत नहीं लगती। वस्तुत: उसकी पृष्ठभूमि में मूल रूप से शिथिलाचार की बढ़ती हुई प्रवृत्ति रही होगी। जिनकल्प को मूलरूप मानने और स्थविरकल्प को उत्तर काल में उत्पन्न स्वीकार करने से भी यही बात पुष्ट होती है।

ऊपर के कथानकों से यह भी स्पष्ट है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के बीच विभेदक रेखा खींचने का उत्तरदायित्व वस्त्र की अस्वीकृति

---

१. भावसंग्रह—गा. ५३-७२.

और स्वीकृति पर है। 'उत्तराध्ययन' में केशी और गौतम के बीच हुए संवाद का उल्लेख है। केशी पार्श्वनाथ परम्परा के अनुयायी हैं और गौतम महावीर परम्परा के। पार्श्वनाथ ने 'सन्तरुत्तर' (सान्तरोत्तर) का उपदेश दिया और महावीर ने अचेलकता का। इन दोनों शब्दों के अर्थ की ओर हमारा ध्यान श्री. पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने आकर्षित किया है। उन्होंने लिखा है कि उत्तराध्ययन की टीकाओं में 'सान्तरोत्तर का अर्थ महामूल्यवान् और अपरिमित वस्त्र (सान्तर—प्रमाण और वर्ण में विशिष्ट' तथा उत्तर—प्रधान) किया गया है और उसी के अनुरूप अचेल का अर्थ वस्त्राभाव के स्थान में क्रमशः कुत्सितचेल, अल्पचेल, और अमूल्यचेल मिलता है। किन्तु आचारंगसूत्र २०९ में आये 'संतरुत्तर' शब्द का अर्थ दृष्टव्य है। वहां कहा गया है कि तीन वस्त्रधारी साधुओं का कर्तव्य है कि वे जब शीत ऋतु व्यतीत हो जायें ओर ग्रीष्म ऋतु आ जाये और वस्त्र यदि जीर्ण न हुए हों तो उन्हें कहीं रख दे अथवा सान्तरोत्तर हो जाये। शीलांक ने 'सान्तरोत्तर' का अर्थ किया है—सान्तर है उत्तर ओढ़ना जिसका अर्थात्, जो आवश्यकता होने पर वस्त्र का उपयोग कर लेता है, अन्यथा उसे पास रखे रहता है।[१]

केशी और गौतम के संवाद[२] में आयें हुए 'सान्तरोत्तर' का तात्पर्य भी यही है कि पार्श्वनाथ परम्परा के साधु अचेलक तो थे पर आवश्यकता पड़ने पर वे वस्त्र भी धारण कर लेते थे जबकि महावीर के धर्म में साधु पूर्णतः अचेलक अवस्था में रहता था। साधु सचेलक वही हो सकता था जो अचेलक होने में असमर्थ रहता था। पालि साहित्य में निग्गण्ठ साधुओं को जो 'एकसाटका' कहा गया है वह भी हमारे मत का पोषण करता है।[३]

पार्श्वनाथ परम्परा में सचेलावस्था का भी प्रवेश होने से महावीर के समय तक उसमें चारित्रिक वतन हो गया था। इसलिए उस परम्परा के अनुयायी साधुओं को "पासावज्जिय" (पार्श्वापत्यीय) अथवा "पासज्ज" (पार्श्वस्थ) कहा जाने लगा। पासज्ज का तात्पर्य है कर्म से बंधा हुआ साधु। यह शब्द इतना अधिक प्रचलित हो गया कि चारित्र से पतित साधु का वह पर्यायवाची बन गया।[४] सूत्रकृतांग में पार्श्वस्थ साधुओं को अनार्य, बाल, जिनशासन से विमुख एवं स्त्रियों में आसक्त कहा गया है।[५] "भगवती आराधना" (गाथा

१. जैन साहित्य का इतिहास: पूर्व पीठिका पृ. ३९७—९८.

२. उत्तराध्ययन, २३.२९-३३.

३. तत्रिदं भन्ते, पूरणेन कस्सपेन लोहिताभिजातिपञ्ञत्ता, निग्गण्ठा एकसाटका, अंगुत्तर-निकाय, ६.६.३.

४. सूत्रकृतांग, १-१-२-५ वृत्ति.

५. सूत्रकृतांग, ३—४—३ वृत्ति.

१३००) आदि में भी पार्श्वस्थ साधुओं का चरित्र–चित्रण इसी प्रकार किया गया है। इसका मूल कारण है कि पार्श्व परम्परा में ब्रह्मचर्य व्रत को अपरिग्रह व्रत में सम्मिलित कर दिया गया था।

'पञ्चाशक विवरण' में कहा गया है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के अनुयायी साधु स्वभावतः कठिन और वक्रजड़ होते थे। इसलिए उन्हें अचेलावस्था का पालन करना आवश्यक बताया गया जबकि बीच के बाईस तीर्थंकरों के अनुयायी साधु स्वभावतः सरल और बुद्धिमान थे। अतः आवश्यकता पड़ने पर सचेलावस्था को भी विहित बना दिया गया।[१]

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी साधु को अपरिग्रही होना आवश्यक बताया गया है।[२] "आचारांगसूत्र" एतदर्थ दृष्टव्य है। उसमें अचेलक साधु की प्रशंसा की गयी है और उसे वस्त्रादि से निश्चिन्त बताया गया है।[३] "ठाणांग" (सूत्र १७१) में वस्त्र धारण करने के तीन कारणों का उल्लेख मिलता है–लज्जानिवारण, ग्लानि निवारण और परीषह निवारण। आगे पांच कारणों से अचेलावस्था की प्रशंसा की गई है–प्रतिलेखना की अल्पता, लाघवता, विश्वस्तरूपता, तपशीलता और इन्द्रिय निग्रहता।[४] और भी अन्य आगमों में अचेलावस्था को प्रशस्त माना गया है। मात्र असमर्थता होने पर ही वस्त्रग्रहण करने की अनुज्ञा दी गई है। कालान्तर में वस्त्रग्रहण की प्रवृत्ति बढ़ती गई और उसी के साथ आगमों की टीकाओं और चूर्णियों आदि में अचेलकता के अर्थ में परिवर्तन किया जाने लगा।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के कालतक स्थिति बिलकुल बदल गई। फलतः उन्हें आचार के दो रूप करना पड़े–जिनकल्प और स्थविरकल्प। जिनकल्प रूप अचेलकता का प्रतिपादक बना तथा स्थविरकल्प सचेलकता का। जम्बूस्वामी के मोक्ष जाने के बाद जिनकल्प को विच्छिन्न बता दिया गया। बृहत्कल्पसूत्र और विशेषावश्यकभाष्य (गाथा २५९८–२३०१) में इसका विशेष विवेचन मिलता है। वहां अचेल के दो भेद कर दिये गये हैं– संताचेल और असंताचेल। संताचेल (वस्त्र रहते हुए भी अचेल) जिनकल्पी आदि सभी प्रकार के साधु कहलाते हैं और असन्ताचेल के अन्तर्गत मात्र तीर्थंकर आते हैं।

---

१. पञ्चाशक विवरण, १७.८.१०.

२. आचारांग, ५–१५०–१५२.

३. आचारांगसूत्र, १८२.

४. ठाणांगसूत्र, ५.

उत्तर काल में इस प्रकार के अर्थ करने की प्रवृत्ति और भी बढ़ती गई। हरिभद्रसूरि ने "दशवैकालिक सूत्र" में आये शब्द नग्न का अर्थ उपचरितनग्न और निरुपचरितनग्न किया है। कुचेलवान् साधु को उपचरितनग्न और जिन-कल्पी साधु को निरुपचरित नग्न कहा गया है।[१] बाद में अचेल का अर्थ अल्पमूल्यचेल भी किया गया। सिद्धसेनगणि ने भी दशकल्पों में आये आचेलक्य कल्प का अर्थ यही किया है।[२] धीरे-धीरे साधु वस्तिओं में रहने लगे। कटिवस्त्र के स्थानपर चोलपट्ट का प्रयोग होने लगा और उपकरणों में वृद्धि हो गई। लगभग आठवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह विकास हो चुका था।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शिथिलाचार की पृष्ठभूमि में संघ भेद के बीज जम्बूस्वामी के बाद से ही प्रारम्भ हो गये थे जो भद्रबाहु के काल में दुर्भिक्ष की समाप्ति पर कुछ अधिक उभरकर सामने आये "परिशिष्टपर्वन्" (९-५५-७६) तथा "तित्थोगाली पइन्नय" (गा. ७३०-३३) के अनुसार भी पाटालिपुत्र में हुई प्रथम वाचना काल में संघभेद प्रारम्भ हो गया था। यह वाचना भद्रबाहु की अनुपस्थिति में हुई थी। इसी के फलस्वरूप दोनों पर-म्पराओं की गुर्वावलियों में भी अन्तर आ गया। यह स्वाभाविक भी था। उत्तर काल में इस अन्तर ने आचार-विचार क्षेत्र को भी प्रभावित किया और देव-र्धिगणि क्षमाश्रमण के काल तक दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परायें सदैव के के लिए एक दूसरे से पृथक् हो गईं। केशी गौतम जैसे संवाद जोड़े गये और जिनकल्प के उच्छेद की बात प्रस्थापित की गई।

१. दिगम्बर संघ और सम्प्रदाय

दिगम्बर परम्परा संघ भेद के बाद अनेक शाखा प्रशाखाओं में विभक्त हो गई। वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष तक चली आयी लोहाचार्य तक की परम्परा में गण, कुल, संघ आदि की स्थापना नहीं हुई थी। उसके बाद अंग पूर्व के एकदेश के ज्ञाता चार आरातीय मुनि हुए। उनमें आचार्य शिवगुप्त अथवा अर्हद्बली से नवीन संघ और गणों की उत्पत्ति हुई। महावीर के निर्वाण के लगभग इन ७०० वर्षों में आचार-विचार में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। समाज का आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ढांचा बदल चुका था। शिथिलाचार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी। इसी कारण नये-नये संघ और सम्प्रदाय खड़े हो गये।

---

१. दशवैकालिकसूत्र, गाथा–६४ चूर्णि.

२. तत्त्वार्थसूत्र, ९-९, व्याख्या; शीलांकाचार्य ने भी आचारांग सूत्र १८० की टीका में अचेल का यही अर्थ दिया है।

कदम्ब एवं गंगवंशी लेखों से पता चलता है कि समूचे दिगम्बर संघ को निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ कहा जाता था। कालान्तर में जब शिथिलाचार बढ़ने लगा, तो उसकी विशुद्धि के लिए नये-नये आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। भट्टारक युगीन संघ तो इस शिथिलाचार का बहुत अधिक शिकार हुआ। फलस्वरूप विभिन्न संघ-सम्प्रदाय बन गये। इन संघ-सम्प्रदायों में मतभेद का विशेष आधार आचार-प्रक्रिया थी। विचारों में भेद अधिक नहीं आ पाया। वनों में निवास करनेवाले मुनि नगर की ओर आने लगे, और मन्दिरों और चैत्यों में निवास करने लगे। लगभग १० वीं शताब्दी तक यह प्रवृत्ति अधिक दृढ़ हो गई। विशुद्ध आचारवान् भिक्षुओं ने इसका विरोध किया और शिथिलाचारी साधुओं की भर्त्सना कर उन्हें जैनाभासी और मिथ्यात्वी जैसे सम्बोधनों से सम्बोधित किया। इन सभी कारणों से दिगम्बर सम्प्रदाय में अनेक संघों की स्थापना हो गई। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

१. मूल संघ :

शिथिलाचारी साधुओं के विरोध में विशुद्धतावादी साधुओं ने जिस आन्दोलन को चलाया उसे मूल संघ कहा गया है। मूल संघ के स्थापकों ने यह नाम देकर अपना सीधा सम्बन्ध महावीर से बताने का प्रयत्न किया और शेष संघ को अमूल बता दिया। इस संघ की उत्पत्ति का स्थान और समय अभी तक निश्चित नहीं हो पाया पर यह निश्चित है कि इस संघ का विशेष सम्बन्ध कुन्दकुन्द से रहा है। साधारणतः कुन्दकुन्द का समय ईसा की प्रथम शताब्दी माना गया है। कालान्तर में मूल संघ जैसे ही काष्ठा-द्राविड आदि और संघ भी स्थापित हुए। इन सभी संघों पर निर्ग्रन्थ और यापनीय संघों का प्रभाव अधिक है।

आचार्य इन्द्रनन्दि (११ वीं शताब्दी) ने मूल संघ का परिचय देते हुए लिखा है कि पुण्डवर्धनपुर (बोगरा, बंगाल) के निवासी आचार्य अर्हद्बली (लगभग प्रथम शती ई.) पांच वर्ष के अन्त में सौ योजन में रहनेवाले मुनियों को एकत्र कर युगप्रतिक्रमण किया करते थे। एक बार इसी प्रकार प्रतिक्रमण के समय उन्होंने मुनियों से पूछा—"क्या सभी मुनि आ चुके? मुनिओं से उत्तर मिला—हाँ, सभी मुनि आ चुके। अर्हद्बली ने उत्तर पाकर यह सोचा कि समय बदल रहा है। अब जैनधर्म का अस्तित्व गणपक्षपात के आधारपर ही रह सकेगा, उदासीन भाव से नहीं। तव उन्होंने संघ अथवा गण स्थापित किये। गुहाओं से आनेवाले मुनियों को "नन्दि" और "वीर" संज्ञा दी, अशोक वाटिका से आनेवालों को "देव" और "अपराजित" कहा, पञ्चस्तूप से आनेवालों को "सेन" या "भद्र" नाम दिया, शाल्मलिवृक्ष से आनेवालों को "गुणधर" और

'गुप्त' बताया तथा खण्डकेसर वृक्षों से आनेवालों को 'सिंह' और 'चन्द्र' कहकर पुकारा ।[१] परवर्ती अभिलेखों में मूलसंघ के प्रणेता कुन्दकुन्दाचार्य माने गये हैं[२] तथा पट्टावलियों में माघनन्दी को प्रथम स्थान दिया गया है ।[३] इसी सन्दर्भ में इन्द्रनन्दि ने कुछ मतभेदों का भी उल्लेख हुआ है जिससे पता चलता है कि इन्द्रनन्दि को भी संघभेद का स्पष्ट ज्ञान नहीं था । पर यह निश्चित है कि उस समय विशेषत: नन्दि, सेन, देव देशी और सिंह गण ही प्रचलित थे ।[४] बाद में सूरस्थगण, बलात्कार गण, क्राणूरगण आदि गणों का भी उत्पत्ति हुई ।

नन्दिसंघ :

मूलसंघमें नन्दि संघ प्राचीनतम संघ प्रतीत होता है । इस संघ की एक 'प्राकृत पट्टावली भी मिली है । ये कठोर तपस्वी हुआ करते थे । यापनीय और द्राविड संघ में भी नन्दिसंघ मिलता है । लगभग १४–१५ वीं शताब्दी में नन्दिसंघ और मूलसंघ एकार्थ वाची-से हो गये । नन्दिसंघ का नाम "नन्दि" नामान्तधारी मुनियों से हुआ जान पड़ता है ।

सेनसंघ :

सेनसंघ का नाम भी सेनान्त आचार्यों से हुआ होगा । जिनसेन एक संघ के प्रधान नायक कहे जा सकते है । उनके पूर्व, संभव है, उसे 'पञ्चस्तूपान्वय' कहा जाता हो । जिनसेन ने अपने गुरु वीरसेन को इसी अन्वय से सम्बद्ध लिखा है । इस अन्वय का उल्लेख पहाड़पर (बंगाल) के पांचवीं शताब्दी के शिलालेखों में तथा हरिवंश कथाकोष में भी मिलता है । 'सेनगण' नाम भी उत्तर कालीन ही प्रतीत होता है । यह गण दक्षिण भारत के भट्टारकों में अधिक प्रचलित रहा है।

मूलसंघ के अन्तर्गत जो शाखायें-प्रशाखायें उपलब्ध होती हैं, उन्हें हम निम्नप्रकार से विभाजित कर सकते हैं[५]–

१. अन्वय–कोण्डकुन्दान्वय, श्रीपुरान्वय, कित्तुरान्वय, चन्द्रकवाटान्वय, चित्रकूटान्वय आदि ।

२. बलि–इनसोगे या पनसोगे, इंगुलेश्वर एवं वाणद बलि आदि ।

---

१. श्रुतावतार, ९६.

२. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम खण्ड, यसंख्यक ५.

3, Indian Antiquary, XX, P, 341

४. नीतिसार, ६–८.

५. चौधरी गुलाबचन्द्र-दिगम्बर जैन संघ के अतीत की एक झांकी, आचार्य भिक्षु स्मृतिग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ. २९५.

३. गच्छ–चित्रकूट, होत्तगे, तगरिक, होगरि, पारिजात, मेषपाषाण, तिंत्रिणीक, सरस्वती, पुस्तक, वक्रगच्छ आदि ।

४. संघ–नविलूरसंघ, मयूरसंघ, किचूरसंघ, कोशलनूरसंघ, गनेश्वरसंघ, गोडसंघ, श्रीसंघ, सिंहसंघ, परलूरसंघ आदि ।

५. गण–बलात्कार, सूरस्थ, कालोग्र, उदार, योगरिय, पुलागवृक्ष, मूलगण, पंकुर, देशी गण आदि ।

ये गण दक्षिण भारत में अधिक पाये जाते हैं, उत्तर भारत में कम । उनमें प्रधानतः उल्लेखनीय हैं–कोण्डकुन्दान्वय, सरस्वती पुस्तक गच्छ, सूरस्थगण, क्राणूरगण एवं बलात्कार गण ।

कोण्डकुन्दान्वय का ही रूपान्तर कुन्दकुन्दान्वय हैं, जिसका सम्बन्ध स्पष्टतः आचार्य कुन्दकुन्द से है । यह अन्वय देशीगण के अन्तर्गत गिना जाता है। इस देशीगण का उद्भव लगभग ९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में देश नामक ग्राम (पश्चिमघाट के उच्चभूमिभाग और गोदावरी के बीच) में हुआ था । कर्नाटक प्रान्त में इस गण का विशेष विकास १०–११ वीं शताब्दी तक हो गया था ।

मूलसंघ के अन्य प्रसिद्ध गणों में सूरस्थगण क्राणूरगण और बलात्कारगण विशेष उल्लेखनीय है । सूरस्थगण सौराष्ट्र, धारवाड़ और बीजापुर जिले में लगभग १३ वीं शती तक अधिक लोकप्रिय रहा है । क्राणूरगण का अस्तित्व १४ वीं शती तक उपलब्ध होता है । इसकी तीन शाखायें थी । तन्त्रिणी गच्छ, मैषपाषाणगच्छ और पुस्तकगच्छ । 'बलात्कार गण' के प्रभाव से ये शाखायें हतप्रभ हो गई थीं । इसके अनुयायी भट्टारक पद्मनन्दि को अपना प्रधान आचार्य मानते रहे हैं । पद्मनन्दी संभवतः आचार्य कुन्दकुन्द का द्वितीय नाम था । बलात्कार गण का उद्भव बलगार ग्राम में हुआ था । कहा जाता है कि बलात्कार गण के उद्भावक पद्मनन्दी ने गिरनार पर पाषाण से निर्मित सरस्वती को वाचाल कर दिया । इसलिए बलात्कार गण के अन्तर्गत ही एक 'सारस्वतगच्छ' का उदय हुआ । इसका सर्वप्रथम उल्लेख शक सं. ९९३–९९४ के शिलालेख में मिलता है । कर्णाटक प्रान्त में इस गण का विकास अधिक हुआ है पर इसकी शाखायें कारंजा, मलयखेड, लातूर, देहली, अजमेर, जयपुर, सूरत, ईडर, नागौर, सोनागिर आदि स्थानों पर भी स्थापित हुई हैं । भट्टारक पद्मनन्दी और सकलकीर्ति आदि जैसे कुशल साहित्यकार इसी बलात्कार गण में हुए हैं । गुजरात, राजस्थान मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में उस बलात्कार गण का कार्यक्षेत्र अधिक रहा है । इसकी एक अन्य शाखा सेनगण की परम्परायें

कोल्हापुर जिनकांची (मद्रास) वेनुगोण्ड (आन्ध्र) और कारंजा (विदर्भ) में उपलब्ध होती हैं।

मूलसंघ के आचार्यों ने इतर संघों को जैनाभास कहा है। ऐसे संघों में उन्होंने द्राविड, काष्ठा, यापनीय माथुर और भिल्लक संघों की गणना की है[1]। जैनाभास बताने का मूल कारण यह था कि उनमें शिथिलाचार की प्रवृत्ति अधिक आ चुकी थी। वे मन्दिर आदि का निर्माण कराते थे। और तन्निमित्त दान स्वीकार करते थे। पर यह ठीक नहीं। क्योंकि आशाधर जैसे विद्वान इसी तथाकथित जैनाभास संघों में से थे, जिन्होंने शिथिलाचार की कठोर निन्दा की है। दर्शनपाहुड की टीका में श्वेताम्बर सम्प्रदाय को भी जैनाभासी संघों में परिगणित किया है।

२. द्राविड संघ :

द्राविड़ संघ का सम्बन्ध स्पष्टत: तमिल प्रदेश से रहा है। ई. पूर्व चतुर्थ शताब्दी में वहां जैनधर्म पहुंच चुका था। सिंहल द्वीप में जो जैनधर्म पहुंचा वह तमिल प्रदेश होकर ही गया। आचार्य देवसेन ने इस संघ की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि देवनन्दि के शिष्य वज्रनन्दिने वि. सं. ५२६ में मथुरा में इस संघ की स्थापना की थी। इस संघ की दृष्टि मे वाणिज्य व्यवसाय से जीविकार्जन करना और शीतल जल से स्नानादि करना विहित माना गया है। उसके अनुसार बीजों में जीव नहीं तथा मुनियों को खड़े-खड़े भोजन करने का कोई विधान नहीं। तमिल प्रदेश में शैव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। सप्तम शताब्दी में उनके साथ जैनों के अनेक संघर्ष भी हुए। इस संघ को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से इसके यक्ष-यक्षिणियों की पूजा प्रतिष्ठा आदि को भी स्वीकार कर लिया गया। पद्मावती की मान्यता यहीं से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है। कूर्चक संघ (जटाधारी) भी इसी संघ में था।

होयसल नरेशों के लेखों से पता चलता है कि वे इस संघ के संरक्षक रहे हैं। उन्ही के लेख इस संघ के विषय की सामग्री से भरे हुए हैं। द्राविड़ संघ के साथ ही इस संघ में कोण्डकुन्दान्वय, पुस्तकगच्छ, मूलितलगच्छ और अरुंगलान्वय आदि को भी जोड़ दिया गया है। संभव है, अपने संघ को अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से यह कदम उठाया गया हो। मैसूर प्रदेश इसके प्रचार-प्रसार का केन्द्र रहा है।

---

१. दर्शनसार. २४–२५.

द्राविड संघ में अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। उनमें वादिराज और मल्लिषेण विशेष उल्लेखनीय हैं। उनके ग्रन्थों में मन्त्र-तन्त्र के प्रयोग अधिक मिलते हैं। भट्टारक प्रथा का प्रचलन विशेषतः द्राविड संघ से ही हुआ होगा।

३. काष्ठा संघ :

काष्ठा संघ की उत्पत्ति मथुरा के समीपवर्ती काष्ठा ग्राम में हुई थी। दर्शनसार के अनुसार वि. सं. ७५३ में इसकी स्थापना विनयसेन के शिष्य कुमारसेन के द्वारा की गई थी। तद्नुसार मयूरपिच्छ के स्थान पर गोपिच्छ रखने की अनुमति दी गई। वि. सं. ८५३ में रामसेन ने माथुर संघ की स्थापना कर गोपिच्छ रखने को भी अनावश्यक बताया है। बुलाकीचन्द के वचनकोश (वि. सं. १७३७) में काष्ठासंघ की उत्पति उमास्वामी के शिष्य लोहाचार्य द्वारा निर्दिष्ट है। माथुर संघ को निष्पिच्छिक कहा गया है।

काष्ठासंघ का प्राचीनतम उल्लेख श्रवण बेल्गोला के वि. सं- ११११ के लेख में मिलता है। सुरेन्द्रकीर्ति (वि. सं. १७४७) द्वारा लिखित पट्टावली के अनुसार लगभग १४ वीं शताब्दी तक इस संघ के प्रमुख चार अवान्तर भेद हो गये थे —माथुरगच्छ, वागडगच्छ, लाटवागडगच्छ एवं नन्दितटगच्छ। बारहवीं शती तक के शिलालेखों में ये नन्दितटगच्छ को छोड़कर शेष तीनों गच्छ स्वतन्त्र संघ के रूप में उल्लिखित हैं। उनका उदय क्रमशः मथुरा, बागड (पूर्व गुजरात) और लाट (दक्षिण गुजरात) देश में हुआ था। चतुर्थगच्छ नन्दितट की उत्पत्ति नान्देड़ (महाराष्ट्र) में हुई। दर्शनसार के अनुसार नान्देड़ ही काष्ठा संघ का उद्भव स्थान है। संभव है, इस समय तक उक्त चारों गच्छों का एकीकरण कर उन्हें काष्ठासंघ नाम दे दिया गया हो। इस संघ में जयसेन, महासेन, कुमारसेन, रामसेन सोमकीर्ति, अमितगति आदि जैसे अनेक प्रसिद्ध आचार्य और ग्रन्थकार हुए हैं। अग्रवाल, खण्डेलवाल आदि उपजातियां इसी संघ के अन्तर्गत निर्मित हुई हैं। इस संघ ने स्त्रियों को दीक्षा देने का, क्षुल्लिकों को वीर्यचर्या का मुनियों को कड़े बालों की पिच्छी रखने का और रात्रिभोजन त्याग नामक छठं गुणव्रत का, विधान किया है[१]। दर्शनपाहुड के अनुसार चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर, साधक के लिए समभावी होना चाहिए।

४. यापनीय संघ :

दर्शनसार के अनुसार इस संघ की उत्पत्ति वि. सं. २०५ में कल्याण नामा नगर में श्री कलश नामक श्वेताम्बर साधु ने की थी[२]। संघ भेद होने के बाद

१. दर्शनसार, ३४-३६.

२. अन्य प्रति के अनुसार यह तिथि वि. सं. ७०५ है।

शायद यह प्रथम संघ था, जिसने श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों संघों की मान्यताओं को एकाकार कर दोनों को मिलाने का प्रयत्न किया था। इस संघ के आचार के अनुसार साधु नग्न रहते मयूरपिच्छ धारण करते पाणितलभोजी होते और नग्न मूर्ति की पूजन करते थे।[1] पर विचार की दृष्टि से वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समीप थे। तदनुसार वे स्त्रीमुक्ति, केवलीकवलाहार और सवस्त्र-मुक्ति मानते थे। उनमें कल्पसूत्र, आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति दशवैकालिक आदि श्वेताम्बरीय ग्रन्थों का भी अध्ययन होता था।[2] यापनीय संघ को गोप्यसंघ भी कहा गया है।

आचार-विचार का यह संयोग यापनीय संघ की लोकप्रियता का कारण बना। इसलिए इसे राज्यसंरक्षण भी पर्याप्त मिला। कदम्ब, चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट, रट्ट आदि वंशों के राजाओं ने यापनीय संघ को प्रभूत दानादि देकर उसका विकास किया था। इस संघ का अस्तित्व लगभग १५ वीं शताब्दी तक रहा है, यह शिलालेखों से प्रमाणित होता है। ये शिलालेख विशेषतः कर्नाटक प्रदेश में मिलते हैं। यही इसका प्रधान केन्द्र रहा होगा। वेलगांव, बीजापुर, धारवाड, कोल्हापुर आदि स्थानों पर भी यापनीय संघ का प्रभाव देखा जाता है।

यापनीय संघ भी कालान्तर में अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो गया। उसकी सर्वप्रथम शाखा 'नन्दिगण' नाम से प्रसिद्ध है। कुछ अन्य गणों का भी उल्लेख शिलालेखों में मिलता हैं- जैसे-कनकोपलसम्भूतवृक्षमूल गण, श्रीमूलगण, पुन्नागवृक्षमूलगण, कौमुदीगण, मडुवगण, कारेयगण, वन्दियूरगण, कण्डूरगण, बलहारिगण आदि। ये नाम प्रायः वृक्षों के नामों पर रखे गये हैं। सम्भव है, इस संघ ने उन वृक्षों को किसी कारणवश महत्व दिया हो। लगता है, बाद में यापनीय संघ मूल संघ से सम्बद्ध हो गया होगा। लगभग ११ वीं शताब्दी तक नन्दिसंघ का उल्लेख द्रविड़ संघ के अन्तर्गत होता रहा और १२ वीं शताब्दी से वह मूलसंघ के अन्तर्भूत होता हुआ दिखता है।

यापनीय संघ के आचार्य साहित्य सर्जना में भी अग्रणी थे। पाल्यकीर्ति का शकटायन व्याकरण, अपराजित की मूलाराधना पर विजयोदया टीका और शिवार्य की भगवती आराधना का विशेष उल्लेख यहां किया जा सकता है। उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, विमलसूरि, स्वयंभू आदि आचार्यों को भी याप-नीय संघ से संबद्ध माना गया है।[3]

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय, षट्प्राभृतटीका, पृ. ७६.

२. अमोघवृत्ति १.२.२०१-४.

३. जैन सम्प्रदाय के यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश-डॉ. ए. एन. उपाध्ये, अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ. २४४-२५३.

५. भट्टारक सम्प्रदाय :

उक्त संघों की आचार-विचार परम्परा की समीक्षा करने पर यह स्पष्ट आभास होता है कि जैनसंघ में समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। यह संघ मूलतः निष्परिग्रही और वनवासी था, पर लगभग चौथी-पांचवीं शताब्दी में कुछ साधु चैत्यों में भी आवास करने लगे। यह प्रवृत्ति श्वेताम्बर और दिगम्बर, दोनों परम्पराओं में लगभग एक साथ पनपी। इस तरह वहां साधु सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त हो गया—वनवासी और चैत्यवासी। पर ये दोनों शब्द श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित हुए। दिगम्बर सम्प्रदाय में उनका स्थान क्रमशः मूलसंघ और द्राविड संघ ने ले लिया। बाद में तो मूलसंघी भी चैत्यवासी बनते दिखाई देने लगे। आचार्य गुणभद्र (नवी शताब्दी) के समय साधुओं की प्रवृत्ति नगरवास की ओर अधिक झुकने लगी थी। इसका उन्होंने तीव्र विरोध भी किया।[1]

मयध्युग तक आते-आते जैन धर्म की आचार व्यवस्था में अनपेक्षित परिवर्तन आ गया।साधु समाज में परिग्रह और उपभोग के साधनों की ओर खिचाव अधिक दिखाई देने लगा। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो यह प्रवृत्ति बहुत पहले से ही प्रारम्भ हो गई थी, पर दिगम्बर सम्प्रदाय भी अब वस्त्र की ओर आकर्षित होने लगा। इसका प्रारम्भ वसन्तकीर्ति (१३ वीं शताब्दी) द्वारा मण्डपदुर्ग (मांडलगढ, राजस्थान) में किया गया।[2] भट्टारक प्रथा भी लगभग यहीं से प्रारम्भ हो गई। यहां यह उल्लेखनीय है कि वे दिगम्बर भट्टारक नग्नमुद्रा को पूज्य मानते थे और यथावसर उसे धारण भी करते थे। स्नान को भी वे वर्जित नहीं मानते थे। पिच्छी के प्रकार और उपयोग में भी अन्तर आया। धीरे-धीरे ये साधु-मठाधीश होने लगे और अपनी पीठ स्थापित करने लगे। उस पीठ की प्रचुर सम्पदा के भी वे उत्तराधिकारी होने लगे। इसके बावजूद उनमें निर्वस्त्र रहने अथवा जीवन के अन्तिम समय में नग्न मुद्रा धारण करने की प्रथा थी। प्रसिद्ध विद्वान भट्टारक कुमुदचन्द्र पालकी पर बैठते थे, छत्र लगाते थे और नग्न रहते थे।[3]

लगभग बारहवीं शती तक आते—आते भट्टारक समुदाय का आचार मूलाचार से बहुत भिन्न हो गया। आशाधर ने उनके आचार को म्लेच्छों के

---

१. आत्मानुशासन, १९७.

२. भट्टारक सम्प्रदाय, विद्याधर जोहरापुरकर, आचार्य भिक्षुस्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ. ३७,

३. जैन निबन्ध रत्नावली, पृ. ४०५.

आचार के समान बताया है ।[१] सोमदेव ने भी 'यशस्तिलक चम्पू' में इसका उल्लेख किया है ।[२] श्वेताम्बर चत्यवासियों में भी इसी प्रकार का कुत्सित आचरण घर कर गया था, जिसका उल्लेख हरिभद्र ने 'संबोध प्रकरण' में किया है । उन्होंने लिखा है कि ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं, पूजा करने का आरम्भ करते हैं, देव-द्रव्य का उपभोग करते हैं, जिन मन्दिर और शालायें बनवाते हैं, रङ्ग–विरङ्गे सुगन्धित धूपवासित वस्त्र पहिनते हैं, बिना नाथ के बैलों के सदृश स्त्रियों के आगे गाते हैं, आर्यिकाओं द्वारा लाये गये पदार्थ खाते हैं, और तरह–तरह के उपकरण रखते हैं, जल, फल, फूल आदि सचित्त द्रव्यों का उपभोग करते है, दो–तीन बार भोजन करते हैं और ताम्बूल, लवंगादि भी खाते हैं ।

ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते हैं । ज्योनारों में मिष्ठाहार प्राप्त करते हैं, आहार के लिए खुशामद करते हैं और पूछने पर भी सत्य धर्म नहीं बतलाते ।

स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरों से आलोचना प्रतिक्रमण कराते हैं । स्नान करते, तेल लगाते, शृंगार करते और इत्र–फुलेल का उपयोग करते हैं । अपने हीनाचारी मृतक गुरुओं की दाह भूमि पर स्तूप बनवाते है । स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियां उनके गुणों के गीत गाती हैं ।

सारी रात सोते, क्रय–विक्रय करते और प्रवचन के बहाने विकथा में किया करते हैं । चेला बनाने के लिए छोटे–छोटे बच्चों को खरीदते, भोले लोगों को ठगते और जिन प्रतिमाओं को भी बेचते–खरीदते हैं । उच्चाटन करते और वैद्यक यन्त्र, मन्त्र, गण्डा, तावीज आदि में कुशल होते है ।

ये श्रावकों को सुविहित साधुओं के पास जाते हुए रोकते हैं, शाप देने का भय दिखाते हैं, परस्पर विरोध रखते हैं और चेलों के लिए एक दूसरे से लड़ मरते हैं ।

जो लोग इन भ्रष्ट चरित्रों को भी मुनि मानते थे, उनको लक्ष्य करके हरिभद्र ने कहा है "कुछ अज्ञानी कहते हैं कि यह तीर्थंकरों का वेष है, इसे भी नमस्कार करना चाहिए । अहो ! धिक्कार हो इन्हें । मैं अपने शिर के शूल की पुकार किसके आगे जाकर करूं ।[३]

---

१. अनागारधर्मामृत, २९६.

२. जैनसाहित्य और इतिहास, पृ. ४८९.

३. संबोधप्रकरण, ७६: जैन साहित्य का इतिहास, पृ. ४८०–८१.

दिगम्बर साधुओं में भी लगभग इसी प्रकार का आचरण प्रचलित हो गया था। महेन्द्रसूरि की 'शतपदी' (वि. सं. १२६३) इसका प्रमाण है। तदनुसार दिगम्बर मुनि नग्नत्व के प्रावरण के लिए योगपट्ट (रेशमी वस्त्र) आदि धारण करते थे। उत्तर काल में उसका स्थान वस्त्र ने ले लिया। श्रुतसागर की 'तत्वार्थसूत्र टीका' में यह भी लिखा है कि शीतकाल में ये दिगम्बर मुनि कम्बल आदि भी ग्रहण कर लेते थे और शीतकाल के व्यतीत होने के उपरान्त वे उन्हें छोड़ देते थे। धीरे धीरे ऋतुकाल का भी बन्धन दूर हो गया और साधु यथेच्छ वस्त्र धारण करने लगे। साथ ही गद्दे, तकिये, पालकी, छत्र–चंवर, मठ, सम्पत्ति आदि विलासी सामग्री का भी परिग्रह बढ़ने लगा। ऐसे साधुओं को भट्टारक अथवा चैत्यवासी कहा गया है।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि मध्यकालीन जैनसंघ में यह शिथिलाचार सुरसा की भांति बढ़ता चला जा रहा था। विशुद्धतावादी आचार्यों ने उसकी घनघोर निन्दा की फिर भी उसका प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरा मूल कारण था कि समाज का मानसिक परिवर्तन बड़ी तीव्रता से होता जा रहा था। भट्टारकों का मुख्य कार्य मूर्तियों की प्रतिष्ठा, मन्दिरों का निर्माण और उनकी व्यवस्था, यान्त्रिक, मान्त्रिक और तान्त्रिक प्रतिपादन तथा यक्ष–यक्षिणियों और देवी–देवताओं का यजन–पूजन हो गया। साधारण समाज में ये कार्य बड़े लोकप्रिय हो गये थे। अत: उपासकों मे भट्टारक समाज के प्रति श्रद्धा जाग्रत हो गई थी। भट्टारकों के कारण मूर्ति और स्थापत्य कला को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिला। जैन ग्रन्थ–भण्डार स्थापित किये गये। साहित्य–सृजन और संरक्षण की ओर अभिरुचि जाग्रत हुई तथा जैनधर्म का प्रभावना–क्षेत्र बढ़ गया। जैन संघ और सम्प्रदाय की भट्टारक सम्प्रदाय की यह देन अविस्मरणीय है।

तेरहपन्थ और बीसपन्थ :

भट्टारक सम्प्रदाय का उक्त आचार–विचार जैनधर्म के कुशल ज्ञाताओं के बीच आलोचना का विषय बना रहा। कहा जाता है कि उसके विरोध में पण्डितप्रवर अमरचन्द बड़जात्या एवं बनारसी दास ने सत्रहवीं शताब्दी में आगरा में एक आन्दोलन चलाया। इसी आन्दोजन का नाम तेरहपन्थ रखा गया। इसके नाम के विषय में कोई निर्विवाद सिद्धान्त नहीं है। इस तेरहपन्थ की दृष्टि में भट्टारकों का आचार सम्यक् नहीं। वह तो महावीर के द्वारा निर्दिष्ट मूलाचार को ही मूल सिद्धान्त स्वीकार करता है। यह पन्थ समाज में काफी लोकप्रिय हो गया। दूसरी ओर भट्टारकों अथवा चैत्यवासियों के अनुयायी अपने आप को बीसपन्थी कहने लगे। इनके अनयायी प्रतिमाओं पर

केसर लगाते तथा पुष्पमालायें और हरे फल आदि चढ़ाते हैं। तेरहपन्थ के अनुयायी इसके विरोधक हैं। जीवन-निर्माण से संबद्ध तेरह सिद्धान्तों के कारण इसे तेरापन्थ कहा गया और उनसे श्रेष्ठतर बताने के लिए विरोधियों ने अपने पंथ को बीसपन्थ कह दिया। दोनों पन्थों के समन्वय की दृष्टि से एक तोतापन्थ अथवा साढ़ी सोलहपंथ की स्थापना का भी उल्लेख मिलता है।

तारणपन्थ :

पन्द्रहवीं शताब्दी तक मुसलिम आक्रमणों ने जैन मूर्ति कला और स्थापत्य कला को गहरा आघात पहुंचा दिया था। उन्होंने इन सभी सांस्कृतिक धरोहरों को अधिकाधिक परिणाम में नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। ये अचेतन मूर्तियां इस कार्य का कोई विरोध नहीं कर सकीं। प्रत्युत उन्होंने आपत्तियों को निमन्त्रित किया। फलस्वरूप दिगम्बर सम्प्रदाय के ही एक व्यक्ति के मन में यह बात जम गई कि मूर्ति-पूजा अनावश्यक है। उसने अपना नया पन्थ प्रारम्भ कर दिया। कालान्तर में वही व्यक्ति इस पन्थ के स्थापक तारणतरण स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए। सन् १५१५ में उनका स्वर्गवास मल्हारगढ़ (ग्वालियर) में हुआ। यही स्थान आज नसियाजी कहलाता है, जो आज एक तीर्थस्थान बन गया। इस पन्थ का विशेष प्रचार मध्यप्रदेश में हुआ। इसके अनुयायी मूर्ति के स्थान पर शास्त्र की पूजा करते हैं। ये दिगम्बर सम्प्रदाय में मान्य सभी ग्रन्थों को स्वीकार करते हैं। तारणतरण स्वामी ने तारणतरण श्रावकाचार, पण्डितपूजा, मालारोहण, कमलाबत्तीसी, उपदेशशुद्धसार, ज्ञानसमुच्चयसार, अमलपाहुड, चौबीस ठाण, त्रिभङ्गीसार आदि १४ छोटे-मोटे ग्रन्थों की रचना की है। उनमें श्रावकाचार प्रमुख है।

२. श्वेताम्बर संघ और सम्प्रदाय

जैसा हम पहले कह चुके हैं, श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति एक विकास का परिणाम है। कुछ समय तक श्वेताम्बर साधु अपवाद के रूप में ही कटिवस्त्र धारण किया करते थे। पर बाद में लगभग आठवीं शती में उन्होंने उन्हें पूर्णतः स्वीकार कर लिया। साधारणतः उनके पास ये चौदह उपकरण होते हैं—पात्र, पात्रबन्ध, पात्र स्थापन, पात्र प्रमार्जनिका, पटल, रजस्त्राण, गुच्छक, दो चादर, कम्बल (ऊनी वस्त्र), रजोहरण, मुखवस्त्रिका, मात्रक और चोलक। महावीर निर्वाण के लगभग १००० वर्ष बाद देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अपने ग्रन्थों का संकलन श्रुति परम्परा के आधार पर किया जिन्हें दिगम्बरो ने स्वीकार नहीं किया। इसका मूल कारण

था कि वहां कतिपय प्रकरणों को काट–छाट कर और तोड़–मरोड़कर उपस्थित किया गया था। कालन्तर में श्वेताम्बर संघ में निम्नलिखित प्रधान सम्प्रदाय उत्पन्न हुए–

चैत्यवासी :

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वनवासी साधुओं के विपरीत लगभग चतुर्थ शताब्दी (३५५ ई.) में एक चैत्यवासी साधु सम्प्रदाय खड़ा हो गया, जिसने वनों को छोड़कर चैत्यों–मन्दिरों में निवास करना और ग्रन्थ संग्रह के लिए आवश्यक द्रव्य रखना विहित माना। इसी के पोषण में उन्होंने निगम नामक शास्त्रों की रचना भी की। हरिभद्र सूरि ने चैत्यवासियों की ही निन्दा अपने संबोध प्रकरण में की है। चैत्यवासियों ने ४५ आगमों को प्रामाणिक स्वीकार किया है। उन्होंने मन्दिर निर्माण और मूर्ति–प्रतिष्ठाओं का कार्य बहुत अधिक किया। इन्हें यति कहते हैं।

वि. स. ८०२ में अणहिलपुर पट्टाण के राजा चावड़ा ने अपने चैत्यवासी गुरु शील गुण सुरि की आज्ञा से यह निर्देश दिया कि इस नगर में वनवासी साधुओं का प्रवेश नहीं हो सकेगा। इससे पता चलता है कि लगभग आठवीं शताब्दी तक चैत्यवासी सम्प्रदाय का प्रभाव काफी बढ़ गया था। बाद में वि. सं. १०७० में दुर्लभदेव की सभा में जिनेश्वर सूरि और बुद्धि सागर सूरि ने चैत्यवासी साधुओं से शास्त्रार्थ करके उक्त निर्देश को वापिस कराया। इसी उपलक्ष्य में राजा दुर्लभदेव ने वनवासियों को खरतर नाम दिया। इसी नामपर खरतरगच्छ की स्थापना हुई।

विविध गच्छ :

श्वेताम्बर सम्प्रदाय कालान्तर में विविध गच्छों में विभक्त हो गया। उन गच्छों में प्रमुख गच्छ इस प्रकार हैं–[1]

१. **उपकेशगच्छ**–पार्श्वनाथ का अनुयायी केशी इस का संस्थापक कहा जाता है।

२. **खरतरगच्छ**–जैसा उपर कहा जा चुका है, खरतरगच्छ की स्थापना में दुर्लभदेव वि. सं. १०१७ का विशेष हाथ रहा है। उनके अतिरिक्त वर्धमान सूरि के शिष्य जिनेश्वर सूरि ने चैत्यवासियों के साथ शास्त्रार्थ किया था। खरतरगच्छ के कालान्तर में दस गच्छ–भेद हुए जिनमें मूर्ति प्रतिष्ठा, मन्दिर–निर्माण आदि होते रहे है—

१. विस्तार से देखिये,–जैन धर्म–कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. २९०–२.

१) मधुखरतरगच्छ– ११०७ ई. में जिनवल्लभसूरि ने स्थापित किया।

२) लघुखरतरगच्छ– १२७४ ई. में जिनसिंहसूरि ने स्थापित किया।

३) वेगड़ खरतरगच्छ– १३६५ ई. में धर्मवल्लभगणि ने प्रारम्भ किया।

४) पीप्पालक गच्छ– १४१७ ई. में. जिनवर्धनसूरि ने संस्थापित किया।

५) आचारीय खरतरगच्छ– १५०७ ई. में आचार्य शान्तिसागरसूरि ने स्थापित किया।

६) भावहर्ष खरतरगच्छ– १६२९ ई. में अबहर्षोपाध्याय ने प्रारम्भ किया।

७) लघुवाचार्यीय खरतरगच्छ– १६२९ ई. में जिनसागरसूरि संस्थापक बने।

८) रंगविजय खरतरगच्छ– १६४३ ई. में रंगविजयगणि इसके प्रवर्तक हुए।

९) श्रीसारीय खरतरगच्छ– १६४३ ई. में भी सादोपाध्यायने इसे चलाया।

तपागच्छ :

वि. सं. १६८५ में जगच्चन्द्रसूरि की कठोर साधना से प्रभावित होकर मेवाड़ नरेश जैत्रसिंह ने उन्हें "तपा" नामक विरुद से अलंकृत किया। जगच्चन्द्रसूरि मूलतः निर्ग्रन्थगच्छ के अनुयायी थे। 'तपा' विरुद के मिलने पर निर्ग्रन्थगच्छ का नाम तपागच्छ हो गया। कालान्तर में उन्हीं के अन्यतम शिष्य विजयचन्द्र सूरि ने शिथिलाचार को प्रोत्साहित किया और यह स्थापित किया कि साधु अनेक वस्त्र रख सकता है, उन्हें धो सकता है, घी, दूध, शाक, फल आदि खा सकता है, तथा साध्वी द्वारा आनीत भोजन ग्रहण कर सकता है।

तपागच्छ में भी यथासमय अनेक गच्छों की स्थापना हुई–[1]

१) वृद्ध पोसालिक तपागच्छ– संस्थापक विजयचन्द्र सूरि

२) लघु पोसालिक तपागच्छ– संस्थापक देवेन्द्रसूरि

३) देवसूरि गच्छ– संस्थापक देवसूरि

---

१. श्रमण भगवान महावीर, जिल्द ५, भाग २, स्थविरावली, पृ. १७६.

४) आनन्दसूरि गच्छ–	संस्थापक आनन्दसूरि
५) सागर गच्छ–	संस्थापक सागरसूरि
६) विमल गच्छ	संस्थापक विमलसूरि
७) संवेगी गच्छ–	संस्थापक विजयगणि

पाश्र्वनाथगच्छ :

वि. सं. १५१५ में तपागच्छ पृथक् होकर आचार्य पार्श्वचन्द ने इस गच्छ की स्थापना की। वे निर्युक्ति, अल्प, चूर्णि, और छेद ग्रन्थों को प्रमाण कोटि में नहीं रखते थे। इसी प्रकार कृष्णर्षि का कृष्णर्षिगच्छ भी तप।गच्छ की ही शाखा के रूप में प्रसिद्ध था।

आञ्चलगच्छ :

उपाध्याय विजयहंससूरि (आर्यरक्षित सूरि) ने ११६६ ई. में मुखपट्टी के स्थान पर अंचल (वस्त्र का छोर) के उपयोग करने की घोषणा की। इसीलिए इसे अंचलगच्छ कहते हैं।

पूर्णिमा एवं सार्ध पूर्णिमिया गच्छ :

आचार्य चन्दप्रभसूरि ने प्रचलित क्रियाकाण्ड का विरोधकर पौर्णमेयकगच्छ की स्थापना की। वे महानिशीथसूत्र को प्रमाण नहीं मानते थे। कुमारपाल के विरोध के कारण इस गच्छ का कोई विशेष विकास नहीं हो पाया। कालान्तर में ११७९ ई. में सुमतिसिंह ने इसका उद्धार किया इसलिए इसे सार्ध पौर्णमीयक गच्छ कहा जाने लगा।

आगमिक गच्छ :

इस गच्छ के संस्थापक शीलगुण और देवभद्र पहले पौर्णमेयक थे। बाद में आचलिक हुए और फिर ११९३ में आगमिक हो गये। वे क्षेत्रपाल की पूजा को अनुचित बताते थे। सोलहवीं शती में इसी गच्छ की एक शाखा कटुक नाम से प्रसिद्ध हुई इस शाखा के अनुयायी केवल श्रावक थे।

अन्य गच्छ

इन गच्छों के अतिरिक्त पच्चीसों गच्छों के उल्लेख मिलते हैं जिनकी स्थापनायें प्राय: १०–११ वीं शताब्दी के बाद राजस्थान में हुई। इन गच्छों में कतिपय इस प्रकार है–[1]

---

१. राजस्थात में जैन संस्कृति के विकास का ऐतिहासिक सर्वेक्षण- डॉ. कैलाशचन्द्र जैन, एवं डॉ. मनोहरलाल दलाल, जैन संस्कृति और राजस्थान विशेषांक, जिनवाणी, वर्ष ३२, अंक ४-७, १९०५. १.१२५-१६८,

चन्द्र गच्छ (११८२ ई.), नागेन्द्र गच्छ (१०३१ ई.), निवृत्ति गच्छ (१४१२ ई.), पिप्पालाचार्य गच्छ (११५१ ई.), महेन्द्रसूरि गच्छ (१३ वीं शती), आम्रदेवाचार्य गच्छ (११ वीं शती), प्रभाकर गच्छ (१५१५ ई.), कड़ौमति गच्छ (१५०५ ई.), धर्मतोषगच्छ (१४ वीं शती), भावदेवाचार्य गच्छ (१३ वीं शती), बडाहड़ गच्छ (१३ वीं शती), मलधारी गच्छ (१३ वीं शती), विद्याधर गच्छ (१४ वीं शती), विजयगच्छ (१६४२ ई.) मड़ाहड़ गच्छ (१२३० ई.), नानवालगच्छ (११ वीं शती), बृहद्‌गच्छ (१०८६ ई.), ब्राह्मणगच्छ (१२ वीं शती), काछोली गच्छ (१४ वीं शती), उपकेश गच्छ (१२०२ ई.), कोरण्टक गच्छ (१०३१ ई.), सण्डेरक गच्छ (१२ वीं शती), हस्तिकुण्डी गच्छ (१३९६ ई.) पल्लिवालगच्छ (१४०५ ई.), नागपुरीय गच्छ (१११७ ई.) हर्षपुरीयगच्छ (११०५ ई.) भतृपुरीयगच्छ (१३ वीं शती), थारापद्रीय गच्छ (११५१ ई.), आदि।

इन गच्छों की स्थापना छोटे–मोटे अनेक कारणों से हुई। कुछ का सम्बन्ध स्थानों से है तो कुछ का कुल से गच्छ अधिकांश किसी न किसी आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। प्रत्येक गच्छ की साधुचर्या पृथक्–पृथक् रही है। इन गच्छों में आजकल खरतरगच्छ, तपागच्छ और आंचलिकगच्छ ही अस्तित्व में है। ये सभी गच्छ मन्दिर–मार्गी और मूर्तिपूजक रहे हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय :

मूर्तिपूजा के विरोध में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी कुछ सम्प्रदाय खड़े हुए जिनमें स्थानकवासी और तेरापन्थी प्रमुख हैं। स्थानकवासी सम्प्रदाय की उत्पत्ति चैत्यवासी सम्प्रदायके विरोध में हुई। १५ वीं शती में अहमदाबादवासी मुनि ज्ञीनश्री के शिष्य लोकाशाहने आगमिक ग्रन्थों के आधार पर यह प्रस्थापित किया कि मूर्तिपूजा और आचार-विचार जो आज की समाज में प्रचलित है, वह आगम विहित नहीं। फलतः उन्होंने १४५१ ई. में लोंकापंथ की स्थापना की। चैत्यवासियों के विलासपूर्ण जीवन के विरोध ने इसे लोकप्रिय बना दिया। मूर्तिपूजा का विरोध, प्रतिक्रमण, प्राचारव्यान और ब्रह्मचर्य-पालन उनके मुख्य सिद्धान्त थे। इन सिद्धान्तों का आधार ३२ सूत्रों को बनाया।

उत्तरकाल में सूरतवासी एक गृहस्थ लवजी ने लोकागच्छ की आचार परम्परा में कुछ सुधार कर ढूंढ़िया सम्प्रदाय भी स्थापना की। लोकागच्छ के सभी अनुयायी इस सम्प्रदाय के अनुयायी हो गये। इसके अनुसार अपना धार्मिक क्रियाकर्म मन्दिरों में न कर स्थानकों अथवा उपाश्रय में करते हैं।

इसलिए इस सम्प्रदाय को स्थानकवासी सम्प्रदाय कहा जाने लगा। इसे साधु-मार्गी भी कहते हैं। यह सम्प्रदाय तीर्थयात्रा में भी विशेष श्रद्धा नहीं रखता इसके साधु श्वेतवस्त्र पहिनते और मुखपट्टी बांधते हैं। अठारहवीं शती में सत्यविजय पंयास ने साधुओं को श्वेतवस्त्र पहिनने का विधान किया, पर आज यह प्रचार में दिखाई नहीं देता। क्रियोद्धारकों में पांच आचार्यों के नाम प्रमुख हैं—जीवराज, लव, धर्मसिंह, धर्मदास, हर, और घन्ना। जीवराज, अमर-सिंह, नानकराम, माधो, नाथूराम, भूधर, रघुनाथ, जयमल, रामचन्द, कुशल, कमीराम आदि अनेक प्रभावक आचार्य इत सम्प्रदाय में हुए हैं।

तेरापन्थ सम्प्रदाय :

स्थानकवासी आचार-विचार की शिथिलता के विरोध में स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य रघुनाथ के शिष्य आचार्य भिक्षु (भीखणजी) ने वि. सं. १८१७, चैत्रशुक्ला नवमी के दिन अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना का सूत्र-पात किया। उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति, अनासक्ति और प्रतिभा के लगभग तीन अहबाद तेरापन्थ की स्थापना कर दी। इस अवसर पर उनके साथ तेरह साधु थे और तेरह श्रावक। इसी संख्या पर इस पन्थ का नाम 'तेरापन्थ' रख दिया गया। बाद में इसकी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति हुई कि भगवन, यह तुम्हारा ही मार्ग है जिसपर हम चल रहे हैं। पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति इन तेरह नियमोंका जो पालन करे वह तेरापन्थी है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के समान तेरापन्थ भी बत्तीस आगमों को प्रामा-णिक मानता है। तदनुसार प्रमुख अन्यतायें इस प्रकार हैं—

१) षष्ठ या षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती सुपात्र संयमी को यथाविधि प्रदत्त दान ही पुण्य का मार्ग है।

२) जो आत्मशुद्धि पोषक दया है वह पारमार्थिक है और जिसमें साध्य-साधन शुद्ध नहीं हैं, वह मात्र लौकिक है।

३) मिथ्यादृष्टि के दान, शील, तप आदि अनवद्य अनुष्ठान मोक्ष-प्राप्ति के ही हेतु हैं और वे निर्जरा धर्म के अन्तर्गत हैं।

४) निष्काम कर्म की प्रतिष्ठा।

५) समता और सापेक्षता के आधार पर संघ की व्यवस्था।

इस सम्प्रदाय में एक ही आचार्य होता है और उसी का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होता है। इससे संघ फूट से बच जाता है। अभी तक तेरापन्थ के आठ आचार्य हो चुके हैं—भिक्षु (भीखण), भारमल, रामचन्द्र, जीतमल,

मघवागणी, माणकगणी, डालगणी, और कालूगणी। इसी शृङ्खला में तुलसीजी नवम आचार्य है।

तेरापन्थ की संघ–व्यवस्था विशेष प्रशंसनीय है। उदाहरणतः

१) साधू के भोजन, वस्त्र, पुस्तक आदि जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति का सामुदायिक उत्तरदायित्व संघ पर है।

२) प्रतिवर्ष साधु–साध्वियाँ आचार्य के सान्निध्य में एकत्रित होकर अपने-अपने कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हैं और आगामी वर्ष का कार्यक्रम तैयार करते हैं। इसे "मर्यादा-महोत्सव" कहा जाता है।

३) संघ मे दीक्षित करने का अधिकार मात्र आचार्य को है, अन्य किसी को नहीं।

इस व्यवस्था से एक ओर जहां सामुदायिक विकास होता है वहां वैयक्तिक विकास की भी संभावनायें अधिक बन जाती है। विकास में बाधक होती है रूढ़ियां जो तेरापन्थ में यथासमय मग्न होती हुई दिखाई देती हैं। आचार-विचार की दिशा में भी यह पन्थ आगे है। इस पन्थ पर मूल रूप से आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है।

इस प्रकार महावीर के निर्वाण के बाद जैनसघ और सम्प्रदाय अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हो गया। पर उनका आचार-विचार जैनधर्म के मूल रूप से बहुत दूर नही रहा। इसलिए उनमे वह ह्रास नही आया जो बौद्धधर्म में आ गया था। जैनसंघ की यह विशेषता जैनेतर संघों की दृष्टि से निःसन्देह महत्वपूर्ण है।

* * *

तृतीय परिवर्त

जैन साहित्य और आचार्य

तृतीय परिवर्त

जैन साहित्य और आचार्य

साहित्य संस्कृति का उद्वाहक तत्त्व है। संस्कृति के हर कोने को साहित्य के अन्तस्तल में देखा जा सकता है। जैन साहित्य की विविधता और प्राञ्जलता में उसकी संस्कृति को पहचानना कठिन नहीं। जैनाचार्यों ने अपने आपको लौकिक जीवन से समरस बनाये रखा। इसके लिए उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश जैसी लोक-भाषाओं किंवा बोलियों को अपनी अभिव्यक्ति का साधन स्वीकार किया। आवश्यकता प्रतीत होने पर उन्होंने संस्कृत को भी पूरे मन से अपनाया। यहां हम जैनाचार्यों द्वारा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य का एक अत्यन्त संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं।

भाषा और साहित्य :

भाषा और साहित्य संस्कृति के अविच्छन्न अंग हैं, उसके अजस्र स्रोत हैं। अभिव्यक्ति के साधनों में उनका अपना अनुपम स्थान है। समय और परिस्थिति के थपेड़ों में नया धर्म और नयी भाषा का जन्म होता है। समाज की बदलती दीवारें और उनकी अकथ्य कहानी को अचूक रूप से प्रस्तुत करने वाले ये दो ही प्रतिष्ठित रूप हैं जिन्हें सदियों तक स्वीकारा जाता है। भाषा विचारों का प्रतिबिम्ब है जिन्हें सुघढ़ता पूर्वक कागद पर अंकित कर दिया जाता है। पाठक के लिए अनदेखी घटनायें सद्यः घटित-सी दिखाई देने लगती हैं।

प्राकृत भाषाओं में लिखा साहित्य इसी प्रकार की अनुभूतियों और जिज्ञासाओं से आपूरित है। उनका हर पन्ना एक क्रान्तिकारी विचारधारा के विभिन्न पहलुओं से रंगा हुआ है। कहीं वह दकियानूसी और मूढ़ता से सने तथाकथित सिद्धान्तों का खण्डन करता हुआ दिखाई देता है तो कहीं संसार के घने पीड़ा भरे जंगलों में भटकते हुए प्राणी को सम्यक् दृष्टि से सिञ्चित चिरन्तन अध्यात्म का संदेश प्रचारित करते हुए नजर आता है। यज्ञ बहुल हिंसा-अहिंसा की परिभाषा बनाने वाली संस्कृति का विरोध भी यहां मुखरित हुआ है। अहिंसा की उस प्राचीन डगमगाती दीवार को तोड़कर नया प्रासाद खड़ा करने का उपक्रम इन दोनों भाषाओं के साहित्य में स्पष्ट झलकता है। समानता, आत्मशक्ति का वर्चस्व, श्रम की प्रतिष्ठा, सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र का

समन्वित पोषण, आत्मा की विस्मृत शक्ति के रूप में विशुद्ध सुखद निर्वाण का अस्तित्व, नैतिक उत्तरदायित्व, समाज का सर्वाङ्गीण अभ्युत्थान, वर्गविहीन क्रान्ति आदि जैसे प्रगतिशील सामाजिक और आध्यात्मिक तत्वोंका मूल्याङ्कन करने वाला यही श्रमण साहित्य रहा है। अतः उसे भारतीय साहित्य का नित नवीन अक्षुण्ण अंग माना जाना अपरिहार्य है।

प्राकृत भाषा और आर्यभाषायें :

भाषा संप्रेषण शीलता से जुड़ी हुई है। विचारों के प्रवाह के साथ उसकी संप्रेषणशीलता बढ़ती चली जाती है। सृष्टि के प्रथम चरण की भाषा की उत्पत्ति का इतिहास यहीं से प्रारम्भ होता है। मानवीय इतिहास और संस्कृति की धरोहर का संरक्षण भाषा की प्रमुख देन है। उसके उतार-चढ़ाव का दिग्दर्शन कराना भी भाषा का विशिष्ट कार्य है। इस दृष्टि से प्राकृत भाषा और साहित्य का सही मूल्याङ्कन अभी शेष है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत भाषा का सम्बन्ध भारोपीय भाषा-परिवार में भारतीय आर्यशाखा परिवार से है। विद्वानों ने साधारणतः तीन भागों में इस भाषा-परिवार के विकास को विभाजित किया है—

१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल—१६०० ई. पू. से ६०० ई.पू. तक
२) मध्यकालीन आर्यभाषा काल — ६०० ई. पू. से १००० ई. तक
३) आधुनिक आर्यभाषा काल —१००० ई. से आधुनिक काल तक

प्राकृत भाषायें प्राचीन कालीन जन सामान्य बोलियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। उन्हें सामान्यतः 'प्राकृत' की संज्ञा दी जाती है। प्राकृत की प्राचीनतम स्थिति को समझने के लिए हमें तुलनात्मक भाषाविज्ञान का अश्रय लेना पड़ेगा। इसका सम्बन्ध भारोपीय परिवार से है जिसकी मूलभाषा 'इयु' अथवा आर्यभाषा रही है। इसका मूल निवास लिथूनिया से लेकर दक्षिण रूस के बीच कहीं था। यहीं से यह गण अनेक भागों में विभाजित हुआ। उनमें से रूस गण मेसोपोटामियन होता हुआ भारत आया। यही कारण है कि ईरान की प्राचीन भाषा और भारत की प्राचीन भाषा में गहरा सम्बन्ध दिखाई देता है। अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषाओं के अध्ययन से यह अनुमान किया जाता है कि यह आर्य शाखा किसी समय पामीर के आसपास कहीं एक स्थान पर साथ रही होगी और वहीं से कुछ लोग ईरान की ओर और कुछ भारत की ओर आये होंगे। भारत में आने पर 'इयु' की ध्वनियों में परिवर्तन हो गया। उदाहरण के रूप में इयु का ह्रस्व और दीर्घ अ, ए और ओ इन्डो-ईरानी में लुप्त हो गया। ऋग्वेद और अवेस्ता की तुलना से यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का स्वरूप ऋग्वेद और अथर्ववेद में दिखाई देता है। उच्चा, नीचा, दूलभ, पश्चा आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। उस समय तक जनभाषा या बोली के ये रूप विकसित होकर छान्दस् का रूप ले चुके थे। इसके बावजूद उसमें जनभाषिक तत्व छिप नहीं सके। जनभाषा के परिष्कृत और विकसित रूप पर ही यास्क ने अपना निरुक्त शास्त्र लिखा। पाणिनि के आते आते वह भाषा निश्चित ही साहित्यिक हो चुकी होगी। पाणिनि-के पूर्ववर्ती शाकटायन, शाकल्य आदि वैयाकरणों में से किसी ने जनभाषा को व्याकरण में परिबद्ध करने का प्रयत्न किया हो तो कोई असंभव नहीं।

परवर्ती वैदिककाल में देश्य भाषाओं के तीन रूप मिलते हैं (१) उदीच्य या उत्तरीय विभाषा, (२) मध्यदेशीय विभाषा, (३) प्राच्य या पूर्वीय भाषा उदीच्य विभाषा सप्तसिन्धु प्रदेश की परिनिष्ठित मध्यदेशीय भाषा मध्यम मार्गीय थी तथा प्राच्यभाषा पूर्वी उत्तरप्रदेश, अवध और बिहार में बोली जाती थी। प्राच्यभाषा भाषी यज्ञीय संस्कृति में विश्वास न करने वाले प्राच्य लोग थे। भ. बुद्ध और महावीर ने इसी जनभाषा को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया था। पालि-प्राकृत भाषायें इसी के रूप हैं। डॉ सुनीति कुमार चाटूर्ज्या ने इस सन्दर्भ में लिखा है–"व्रात्य लोग उच्चारण में सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बतलाते हैं और यद्यपि वे दीक्षित नही हैं, फिर भी दीक्षा पाये हुओं की भाषा बोलते हैं। इस कथन से स्पष्ट है कि पूर्व के आर्य लोग (व्रात्य) संयुक्त व्यञ्जन, रेफ एवं सोष्म ध्वनियों का उच्चारण सरलता से नहीं कर पाते थे। संयुक्त व्यज्जनों का यह समीकृत रूप ही प्राकृत ध्वनियों का मूलाधार है। इस प्रकार वैदिक भाषा के समानान्तर जो जनभाषा चली आ रही थी. वही आदिम प्राकृत थी। पर इस आदिम प्राकृत का स्वरूप भी वैदिक साहित्य से ही अवगत किया जा सकता है।"[१]

आर्यभाषा के मध्यकाल में द्राविड और आग्नेय जातियों का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। मूर्धन्य ध्वनियों का अस्तित्व द्रविड परिवार का ही प्रभाव है। छान्दस् में ळ ध्वनि प्राकृत से पहुँची हुई है। वैदिक और परवर्ती संस्कृत में न के स्थान पर ण हो जाना (जैसे फण, पुण्य, निपुणआदि) तथा रेफ के स्थान पर ल हो जाना जैसी प्रवृत्तियां भी प्राकृत के प्रभाव की दिग्दर्शिका हैं।

प्राकृत और छान्दस् भाषा :

प्राकृत भाषा की प्रवृत्तियों की ओर दृष्टिपात करने पर ऐसा लगता है कि उसका विकास प्राचीन आर्यभाषा छान्दस् से हुआ है जो उस समय की

---

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ. ७२ द्वितीय संस्करण; प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. ६.

जनभाषा रही होगी। जनभाषा के रूपों को अलगकर छान्दस् का निर्माण हुआ होगा जो कुछ शेष रह गये उनका उत्तर काल में विकास होता रहा। प्राकृत और वैदिक भाषाओं की तुलना करने पर यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है –

i) प्राकृत में व्यञ्जनान्त शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं होता परन्तु वैदिक भाषा में वह कहीं होता है और कहीं नहीं भी होता।

ii) प्राकृत में विजातीय स्वरों का लोप हो जाता है और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ हो जाता है। जैसे–निश्वास का नीसास। वैदिक संस्कृत में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। जैसे– दुर्नाश का दूर्णाश।

iii) स्वरभक्ति का समान प्रयोग मिलता है। प्राकृत में स्व को सुव होता है तो वैदिक संस्कृत में भी तन्वः को तनुवः मिलता है।

iv) प्राकृत में तृतीया का बहुवचन देवेहि मिलता है तो वैदिक संस्कृत में भी देवेभि मिलता है।

v) प्रारम्भ में ही प्राकृत में ऋ का इ, अ, उ आदि ध्वनियों में परिवर्तन हुआ जो वैदिक साहित्य में श्रिणोति,शिथिर आदि रूपों में देखा जाता है।

छान्दस् और प्राकृत भाषा की तुलना करने पर यह तथ्य सामने आता है कि उसके पूर्व की जनभाषा प्राकृत थी जिससे छान्दस् साहित्यिक भाषा का विकास हुआ। छान्दस् साहित्यिक भाषा को ही परिमार्जित कर संस्कृत भाषा का रूप सामने आया। परिमार्जित करने के बावजूद छान्दस् में जो शेष तत्त्व थे उनका विकास होता गया और वही प्राकृत कहलाया। छान्दस् से प्राकृत और संस्कृत, दोनों भाषाओं की उत्पत्ति होने पर भी संस्कृत भाषा नियमों और उपनियमों में बंध गई, पर प्राकृत को जनभाषा रहने के कारण बांधा नहीं जा सका। इस दृष्टि से प्राकृत को बहता नीर कहा गया है और संस्कृत को बद्ध सरोवर। प्राचीन प्राकृत से ही उत्तर काल में मध्यकालीन प्राकृत का विकास हुआ और मध्यकालीन प्राकृत से ही अपभ्रंश तथा अपभ्रंश से हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती आदि आधुनिक भाषाओं का जन्म हुआ। इस प्रकार बोलियों में साहित्य–सृजन होता गया और वे भाषा का रूप लेती गइ। प्राकृत का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ बल्कि उनसे निरन्तर नई–नई भाषाओं का जन्म होता गया। संस्कृत भाषा भी इन प्राकृत बोलियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी।

प्राकृतः जनभाषा का रूप :

सदियों से प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में विवाद के स्वर गूंजते रहे हैं। प्राकृत और संस्कृत इन दोनों भाषाओं में प्राचीनतर तथा मूल भाषा

कौन–सी है? इस प्रश्न के समाधान में दो पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम पक्ष का कथन है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है तथा दूसरा पक्ष उसका सम्बन्ध किसी प्राचीन जनभाषा से स्थापित करता है। प्राकृत व्याकरण-शास्त्र में दोनों पक्षों का विश्लेषण इस प्रकार मिलता है–

१. प्रथम पक्ष :

i) प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्–हेमचन्द्र।
ii) प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवं प्राकृतम् उच्यते–मार्कण्डेय।
iii) प्रकृतेः संस्कृतायाः तु विकृतिः प्राकृतिः मता–नरसिंह।
vi) प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः–वासुदेव।
v) प्राकृतेः आगतम् प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम्–धनिक।
vi) संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततोऽपभ्रंश भाषणम्–शंकर।
vii) प्रकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतम्–सिंहदेवगणिन्।
viii) प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्–पीटर्सन।

(प्राकृतचन्द्रिका)

२. द्वितीय पक्ष :

i) 'प्राकृतेति' सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयवो सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी' इत्यादि–वचनात् वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबंधभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समोसादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति। अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोदित. शब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृत-मुच्यते–नमिसाधु

ii) सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं॥–वाक्पतिराज

iii) याद् योनिः किल संस्कृतस्य सुदशां जिह्वासु यन्मोदते –राजशेखर

उपर्युक्त दोनों पक्षों का विश्लेषण हम इस प्रकार कर सकते हैं कि प्राकृत वस्तुतः जनबोली थी जिसे उत्तर काल में संस्कृत के माध्यम से समझने-समझाने

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ. ७२; प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ–६.

का प्रयत्न किया गया। प्राकृत भाषा के समानान्तर वैदिक संस्कृत अथवा छान्दस् भाषा थी जिसका साहित्यक रूप ऋग्वेद और अथर्ववेद में विशेष रूप से दृष्टव्य है। यास्क ने इसी पर निरुक्त लिखा और पाणिनि ने इसी को परिष्कृत किया। विडम्बना यह है कि प्राकृत कें प्राथमिक रूप को दिग्दर्शित कराने वाला कोई साहित्य उपलब्ध नहीं जिसकें आधार पर उसकी वास्तविक स्थिति समझी जा सके। हां, यह अवश्य है कि प्राकृत के कुछ मूल शब्दों को वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त शब्दों के माध्यम से समझा जा सकता है। वैदिक रूप विकृत, किंकृत, निकृत, दन्द्र, अन्द्र, प्रथ्, प्रथ्, क्षुद्र क्रमश: प्राकृत के विकट, कीकट, निकट, दण्ड, अण्ड, पट्, घट, क्षुल्ल रूप थे जो धीरे-धीरे जनभाषा से वैदिक साहित्य में पहुंच गये।[१] इन शब्दों और ध्वनियों से यह कथन अतार्किक नहीं होगा कि प्राकृत जनबोली थी जिसे परिष्कृतकर छान्दस् भाषा का निर्माण किया। जनबोली का ही विकास उत्तरकाल में पालि, प्राकृत अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में हुआ। तथा छान्दस् भाषा को पणिनि ने परिष्कृतकर लौकिक संस्कृत का रूप दिया। साधारणत: लौकिक संस्कृत में तो परिवर्तन नहीं हो पाया पर प्राकृत जनबोली सदैव परिवर्तित अथवा विकसित होती रही। संस्कृत भाषा को शिक्षित और उच्चवर्ग ने अपनाया तथा प्राकृत सामान्य समाज की अभिव्यक्ति का साधन बना रहा। यही कारण हैं कि संस्कृत नाटकों में सामान्य जनों से प्राकृत में ही वार्तालाप कराया गया है।

डॉ. पिशल ने होइफर, नास्सन, याकोबी, भण्डारकर आदि विद्वानों के इस मत का सयुक्तिक खण्डन किया है कि प्राकृत का मूल केवल संस्कृत है। उन्होंने सेनार से सहमति व्यक्त करते--हुए कहा कि प्राकृत भाषाओं की जड़ें जनता की बोलियों के भीतर जमी हुई हैं और उनके मुख्य तत्त्व आदि काल में जीती-जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिये गये हैं; किन्तु बोलचाल की वे भाषायें, जो बाद को साहित्यक भाषाओं के पद पर चढ़ गईं, संस्कृत की भांति ही बहुत ठोकी-पीटी गई, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाय।[१] अपने मत को सिद्ध करने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम वैदिक शब्दों से साम्य बताया और बाद में मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय बोलियों में संनिहित प्राकृत भाषागत विशेषताओं को स्पष्ट किया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार वैदिक भाषा उस समय की जनभाषा का परिष्कृत रूप है, उसी प्रकार साहित्यिक प्राकृत बोलियों का परिष्कृत रूप है। उत्तर काल में तो वह संस्कृत व्याकरण, भाषा और शैली

---

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वि, सं., पृ. ७४

से भी प्रभावित होती रही। फलतः लम्बे-लम्बे समास और संस्कृत से परिवर्तित प्राकृत रूपों का प्रयोग होने लगा। प्राकृत व्याकरणों की रचना की आधार-शिला में भी इसी प्रवृत्ति ने काम किया।

प्राकृत का ऐतिहासिक विकास क्रम :

प्राकृत का ऐतिहासिक विकास भी हम तीन स्तरों में विभाजित कर सकते हैं–

१. प्रथम स्तरीय प्राकृत--(१६०० ई. पू. से ६०० ई. पू.) इस काल की जनबोली का रूप वैदिक या छान्दस् ग्रन्थों में मिलता है।

२. द्वितीय स्तरीय प्राकृत--इस काल में प्राकृत में साहित्य लिखा गया। इसे तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है--

i) प्रथम युगीन प्राकृत-- (६००ई.पू.से५००ई.) — i) अर्धं प्राकृत, (पालि, अर्धमागधी और जैन शौरसेनी) ii) शिलालेखी प्राकृत, iii) निया प्राकृत, iv) प्राकृत धम्मपद की प्राकृत, v) अश्वघोष के नामों की प्राकृत

ii) द्वितीय युगीन प्राकृत--(प्रथम शती से बारहवीं शती तक) — अलंकार, व्याकरण, काव्य और नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें--महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, और पैशाची

iii) तृतीय युगीन प्राकृत–(पञ्चम शती से पन्द्रहवीं शती तक) — अपभ्रंश

प्राकृत और संस्कृत :

जैनाचार्यों ने प्राकृत के साथ ही संस्कृत भाषा को भी अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया। प्राकृत का जैसे-जैसे विकास होता गया, उसकी बोलियाँ भाषाओं का रूप ग्रहण करती गईं। यह परिवर्तन संस्कृत में नहीं हो सका। इसका मूल कारण यह था कि पाणिनि आदि आचार्यों ने बहुत पहले ही उसे नियमों से जकड़ दिया जबकि प्राकृत व्याकरणों की रचना संस्कृत व्याकरणों के आधार पर लगभग दशवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई। इस समय तक प्राकृत का विकास अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं की आधार भूमि तक पहुँच चुका था।

ई. की लगभग द्वितीय शताब्दी से जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में लिखना प्रारम्भ किया। उमास्वामी अथवा उमास्वाति इसके सूत्रधार थे जिन्होंने

तत्वार्थ सूत्र जैसा महनीय ग्रन्थ समर्पित किया। गुप्तकाल तक आते-आते संस्कृत और अधिक प्रतिष्ठित हो चुकी। इसके बावजूद वह जनभाषा नहीं बन सकी बल्कि संभ्रान्त परिवारों में उसका उपयोग लोकप्रिय अधिक हो गया। सिद्धर्षि (ई. ८०५) ने इस तथ्य को इस प्रकार से स्पष्ट किया है–

संस्कृता प्राकृताचेति भाषे प्राधान्यमर्हतः।
तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्ध हृदि स्थिता॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते॥
उपाये सति कर्तव्यं सर्वेषां चित्तरंजनम्।
आतस्तदनुरोधेन संस्कृतेऽस्य करिष्यते॥[1]

हेमचन्द्र भी इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। उनके अनुसार ११–१२ वीं शताब्दी में भी सर्व साधारण जनता प्राकृत भाषा का ही व्यवहार करती थी और अभिजात वर्ग ने संस्कृत भाषा को अपनाया था काव्यानुशासन कारिका की टीका में लिखा है–

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुगहार्थं तत्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः॥

इस प्रकार संस्कृत अभिजात एवं सुशिक्षित वर्ग की भाषा थी जबकि प्राकृत का प्रयोग अशिक्षित तथा सामान्य वर्ग किया करता था। जैनधर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से जैनाचार्यो के लिए यह आवश्यक था कि वे संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं पर समान रूप से अधिकार करें। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से ही साधारणतः यह देखा जाता है कि सभी जैनाचार्य इन दोनों भाषाओं के पण्डित रहे हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने दोनों भाषाओं में साहित्य-सर्जना भी की है। अनेक आचार्यों ने तो अपने आपको "उभयभाषाचक्रवर्ती" भी लिखा है। यही कारण है कि जैन साधक आज भी संस्कृत, प्राकृत और आधुनिक भाषाओं में साहित्य-साधना कर रहे हैं।

अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाएं :

प्राकृत भाषा किंवा बोली के चरण आगे बढ़ते गये और अपभ्रंश के रूप में उसका विकास निर्धारित होता गया। यहां अपभ्रंश का तात्पर्य है जनबोली अथवा ग्रामीण भाषा। प्रारम्भ में प्राकृत भी अपभ्रंश में गर्भित थी परन्तु

---

१. उपमितिभव प्रपंचकथा, १. ५१-५२.

उसके साहित्यिक रूप में आ जाने पर उसका मूल रूप विकसित होने लगा। इसी कुछ विकसित अथवा परिवर्तित रूप को हम अपभ्रंश कहते हैं। धीरे-धीरे अपभ्रंश में भी साहित्य-सृजन होने लगा और भाषा भी क्रमश: विकसित होती गई। फलत: अवहट्ट आदि सोपानों को पार करती हुई वह भाषा किंवा बोली आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को उत्पन्न करने में कारण बनी।

डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार आधुनिक आर्य भाषाओं का जन्म इस प्रकार हुआ–[१]

१. शौरसेनी से पश्चिमी हिन्दी, नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, गुजराती पहाड़ी, बोलियाँ।
२. पैशाची अपभ्रंश से लहँदा और पंजाबी।
३. ब्राचड़ अपभ्रँश से सिन्धी।
४. महाराष्ट्री अपभ्रँश से मराठी।
५. अर्द्धमागधी अपभ्रँश से पूर्वी हिन्दी, और
६. मागधी अपभ्रँश से बिहारी, बंगाली, उड़िया और असमिया भाषाओं का विकास हुआ है।

प्राकृत साहित्य के क्षेत्र में :

जनभाषा-प्राकृत इस प्रकार इन विभिन्न स्तरों को पार करती हुई आधुनिक युगीन भारतीय भाषाओं तक पहुँची। समय और सुविधाओं के अनुसार उसमें परिवर्तन होते गये और नवीन भाषायें जन्म लेती गयीं। इसलिए देश-काल भेद से इन सभी प्राकृत भाषाओं की विशेषतायें भी पृथक्-पृथक् हो गई। यहाँ उन विशेषताओं की ओर संकेत करना अप्रासंगिक होगा पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सरलीकरण की प्रवृत्ति इनमें विशेष दिखाई देती है। ऋ का अन्य स्वरों में बदल जाना, ए, औ के स्थान पर ए, ओ हो जाना, द्विवचन का लोप हो जाना, आत्मनेपद के रूप अदृश्य हो जाना, श और ष का प्राय: लोप हो जाना, (कहीं-कहीं ये सुरक्षित भी हैं), संयुक्त व्यञ्जनों में परिवर्तन हो जाना आदि कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो प्राय: सभी प्राकृत में मिल जाती हैं।

प्राकृत भाषा-जनभाषा को अपने सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाने वालों में सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध और महावीर के नाम लिये जा सकते हैं। ये सिद्धान्त जब लिपिबद्ध होने लगे तब तक स्वभावत: भाषा के प्रवाह में

---

१. हिन्दी भाषा, १९६६, पृ. ८५.

कुछ मोड़ आये और संकलित साहित्य उससे अप्रभावित नहीं रह सका। सम-कालीन अथवा उत्तर कालीन घटनाओं के समावेश में भी कोई एकमत नहीं रह सका। किसी ने सहमति दी और कोई उसकी स्थिति से सहमत नहीं हो सका। फलतः पाठान्तरों और मतमतान्तरों का जन्म हुआ। भाषा और सिद्धान्तों के विकास की यही अमिट कहानी है। समूचे प्राकृत साहित्य का सर्वेक्षण करने पर यही तथ्य सामने आता है।

वर्तमान में उपलब्ध प्राकृत साहित्य २५०० वर्ष से पूर्व का ही माना जा सकता। परन्तु उसके पूर्व अलिखित रूप में आगमिक साहित्य-परम्परा विद्यमान अवश्य रही होगी। प्राकृत भाषा का अधिकांश साहित्य जैनधर्म और संस्कृति से संबद्ध है। उसकी मूल परम्परा श्रुत, आर्ष अथवा आगम के नाम से व्यवहृत हुई है जो एक लम्बे समय तक श्रुति परम्परा के माध्यम से सुरक्षित रही। संगीतियों अथवा वाचनाओं के माध्यम से यद्यपि इस आगम परम्परा का परीक्षण किया जाता रहा है पर समय और आवश्यकता के अनुसार चिन्तन के प्रवाह को रोका नहीं जा सका। फलतः उसमें हीनाधिकता होती रही है।

१. प्राकृत जैन साहित्य

प्राकृत जैन साहित्य के संदर्भ में जब हम विचार करते हैं तो हमारा ध्यान जैनधर्म के प्राचीन इतिहास की ओर चला जाता है जो वैदिक काल किंवा उससे भी प्राचीनतर माना जा सकता है। उस काल के प्राकृत जैन साहित्य को "पूर्व" संज्ञा से अभिहित किया गया है जिसकी संख्या चौदह है-- उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। आज जो साहित्य उपलब्ध है वह भगवान महावीर रूपी हिमाचल से निकली वाग्गंगा है जिसमें अवगाहनकर गणधरों और आचार्यों ने विविध प्रकार के साहित्य की रचना की है।

परम्परागत साहित्य :

उत्तरकाल मे यह साहित्य दो परम्पराओं में विभक्त हो गया--दिगम्बर परम्परा और श्वेताम्बर परम्परा, दिगम्बर परम्परा के अनुसार जैन साहित्य दो प्रकार का है--अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट में बारह ग्रन्थों का समावेश है-- आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृ धर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तः कृद्दशांग अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्न व्याकरण और दृष्टिवाद। दृष्टिवाद के पांच भेद किये गये हैं-- परिकर्म, सूत्र,

प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका । पूर्वगत के ही उत्पाद आदि पूर्वोक्त चौदह भेद हैं । उन अंगों के आधार पर रचित ग्रन्थ अंगबाह्य कहलाते हैं जिनकी संख्या चौदह है-- सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक महापुण्डरीक और निषिद्धिका । दिगम्बर परम्परा इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ग्रन्थों को विलुप्त हुआ मानती है । उसके अनुसार भ. महावीर के परिनिर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् अंगग्रन्थ क्रमशः विच्छिन्न होने लगे । मात्र दृष्टिवाद के अन्तर्गत आये द्वितीय पूर्व आग्रायणी के कुछ अधिकारों का ज्ञान आचार्य धरसेन के पास शेष था जिसे उन्होंने आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को दिया । उसी के आधार पर उन्होंने षट्खण्डागम जैसे विशालकाय ग्रन्थ का निर्माण किया । श्वेताम्बर परम्परा में ये अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ग्रन्थ अभी भी उपलब्ध हैं । अंगबाह्य ग्रन्थों के सामायिक आदि प्रथम छह ग्रन्थों का अन्तर्भाव कल्प, व्यवहार और निशीथ सूत्रों में हो गया ।

अनुयोग साहित्य :

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ग्रन्थों के आधार पर जो ग्रन्थ लिखे गये उन्हें चार विभागों में विभाजित किया गया है-- प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग । प्रथमानुयोग में ऐसे ग्रन्थों का समावेश होता है जिनमें पुराणों, चरितों और आख्यायिकाओं के माध्यम से सैद्धान्तिक तत्त्व प्रस्तुत किये जाते हैं । करणानुयोग में ज्योतिष और गणित के साथ ही लोकों, सागरों, द्वीपों, पर्वतों, और नदियों आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है । सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ इस विभाग, के अन्तर्गत आते हैं । जिन ग्रन्थों में जीव, कर्म, नय, स्याद्वाद आदि दार्शनिक सिद्धान्तों पर विचार किया गया है वे द्रव्यानुयोग की सीमा में आते हैं । ऐसे ग्रन्थों में षट्खण्डागम, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों का समावेश होता है । चरणानुयोग में मुनियों और गृहस्थों के नियमोपनियमों का विधान रहता है । कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार, नियमसार, रयणसार, वट्टकेर का मूलाचार, शिवार्य की भगवती आराधना आदि ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं ।

वाचनाएँ :

प्राचीन काल में श्रुति परम्परा ही एक ऐसा माध्यम था जो हर सम्प्रदाय के आगमों को सुरक्षित रखा करता था । समय और परिस्थितियों के अनुसार चिन्तन की विभिन्न धाराएँ उसमें संयोजित होती जाती थीं । संगीतियों अथवा

वाचनाओं के माध्यम से यद्यपि इन आगमों का परीक्षण कर लिया जाता था फिर भी चिन्तन के प्रवाह को रोकना सरल नहीं होता था।

i) पाटलिपुत्र वाचना :

भ. महावीर के श्रुतोपदेश को भी इसी प्रकार की श्रुति परम्परा से सुरक्षित करने का प्रयत्न किया गया। संपूर्ण श्रुत के ज्ञाता निर्युक्तिकार भद्रबाहु से भिन्न आचार्य भद्रबाहु थे जिन्हें श्रुतकेवली कहा गया है। भ. महावीर के परिनिर्वाण के लगभग १५० वर्ष बाद तित्थोगालीपइन्ना के अनुसार उत्तर भारत में एक द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा जिसके परिणाम स्वरूप संघभेद का सूत्रपात हुआ। दुर्भिक्ष काल में अस्तव्यस्त हुए श्रुतज्ञान को व्यवस्थित करने के लिए थोड़े समय बाद ही लगभग १६२ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में एक संगीति अथवा वाचना हुई जिसमें ग्यारह अंगों को व्यवस्थित किया जा सका। बारहवें अंग दृष्टिवाद के ज्ञाता मात्र भद्रबाहु थे जो बारह वर्ष की महाप्राण नामक योगसाधना के लिए नेपाल चले गये थे। संघ की ओर से उसके अध्ययन के लिए कुछ साधुओं को उनके पास भेजा गया जिनमें स्थूलभद्र ही सक्षम ग्राहक सिद्ध हो सके। वे मात्र दश पूर्वों का अध्ययन कर सके और शेष चार पूर्व उन्हें वाचनाभेद से मिल सके, अर्थतः नहीं[१]। धीरे-धीरे काल प्रभाव से दशपूर्वों का भी लोप होता गया।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर के निर्वाण के ३४५ वर्ष बाद दशपूर्वों का विच्छेद हुआ। अंतिम दशपूर्व ज्ञानधारी धर्मसेन थे। श्वेताम्बर परम्परा भी इस घटना को स्वीकार करती है, पर महावीर निर्वाण के ५८४ वर्ष बाद। उसके अनुसार दशपूर्वज्ञान के धारी अंतिम आचार्य वज्र थे। श्रुति-लोप का क्रम बढ़ता ही गया। दशपूर्वों के विच्छेद हो जाने के बाद विशेष पाठियों का भी विच्छेद हो गया। दिगम्बर परम्परा इस घटना को महावीर निर्वाण के ६८३ वर्षों के बाद घटित मानती है पर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आर्यवज्र के बाद १३ वर्षों तक आर्यरक्षित युगप्रधान आचार्य रहे। वे साढ़े नव पूर्वों के ज्ञाता थे। उन्होंने विशेष पाठियों का क्रमशः ह्रास देखकर उसे चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया। फिर भी पूर्वों के लोप को बचाया नहीं जा सका।

ii) माथुरी वाचना :

पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना के पश्चात् दो दुर्भिक्ष और पड़-प्रथम महावीर निर्वाण के २९१ वर्ष बाद, आर्यसुहस्ति सूरि के समय, संप्रति के राज्यकाल में

---

१. तित्थोगाली. ८०१-२,

और द्वितीय ८२७ वर्ष बाद आर्य स्कन्दिल और वज्रस्वामी के समय । इन दुर्भिक्षों के कारण अस्त-व्यस्त हुई आगम परम्परा को व्यवस्थित करने के लिए आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में एक वाचना बुलाई गई ।[१] इसी समय हुई एक अन्य वाचना का भी उल्लेख मिलता है जो आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में बलभी में आयोजित की गई थी[२] । मलयगिरि के अनुसार अनुयोग-द्वार और ज्योतिष्करण्डक इसी वाचना के आधार पर संकलित हुए हैं ।

बलभी वाचना :

माथुरी और बलभी वाचना के पश्चात् लगभग १५० वर्ष बाद पुनः बलभी में आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में परिषद् की संयोजना की गई और उसमें उपलब्ध आगम साहित्य को लिपिबद्ध किया गया । यह संयोजन महावीर के परिनिर्वाण के ९८० वर्ष बाद (सन् ४५३ ई.) हुई । श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगम इसी परिषद् का परिणाम है । इसमें संघ के आग्रह से विच्छिन्न होने से अवशिष्ट रहे, परिवर्तित और परिवर्धित, त्रुटित और अत्रुटित तथा स्वमति से कल्पित आगमों को अपनी इच्छानुसार पुस्तकारूढ़ किया गया. . . .श्री संघाग्रहात् . . . .विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिता-त्रुटितान् आगमालोपकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढान कृताः । ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्संकलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमान् कर्ता श्री देवर्धिगणि क्षमाश्रमण एव जातः ।[३] पुनरुक्तियों को दूर करने की दृष्टि से बीच-बीच में अन्य आगमों का भी निर्देश किया गया । देवर्धिगणि ने इसी समय नन्दिसूत्र की रचना की तथा पाठान्तरों को चूर्णियों में संग्रहीत किया । कल्याण विजयजी के अनुसार बलभी वाचना के प्रमुख नागार्जुन थे । उन्होंने इस वाचना को पुस्तक– लेखन कहकर अभिहित किया है ।

दिगम्बर परम्परा में उक्त वाचनाओं का कोई उल्लेख नहीं मिलता । इसका मूल कारण यह प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के समान दिगम्बर परंपरा में अंगज्ञान ने कभी सामाजिक रूप नहीं लिया । वहां तो वह गुरु-शिष्य परम्परा से प्रवाहित होता हुआ माना गया है ।[४] वस्तुतः वह वाचनिक परम्परा बौद्धों की संगीति परम्परा की अनुकृति मात्र है ।

१. श्वेताम्बर परम्परा इस घटना को महावीर निर्वाण के १७० वर्ष बाद मानती है और दिगम्बर परम्परा १६२ वर्ष बाद ।

२. कहावली, २९८; कल्याणविजय मुनि—वी. नि. सं. और जैन कालगणना, पृ. १०४–१७.

३. समय सुन्दरगणी रचित सामाचारी शतक.

४. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका, पृ. ५४३ .

श्रुतकी मौलिकता :

उपर्युक्त वाचनाओं के माध्यम से श्वेताम्बर परम्परा ने दृष्टिवाद को छोड़कर समूचे आगम साहित्य को सुव्यवस्थित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। परन्तु दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। उसकी दृष्टि में तो लगभग संपूर्ण आगम साहित्य क्रमशः लुप्त होता गया। जो आंशिक ज्ञान सुरक्षित रहा उसी के आधार पर षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों की रचना की गई। पर इसे भी हम बिलकुल सत्य नहीं कह सकते। यह अधिक संभव है कि श्रुतागमों में किये गये परिवर्तनों को लक्ष्यकर दिगम्बर परंपरा ने उन्हें 'लुप्त' कह दिया हो और संघर्ष के क्षेत्र से दूर हो गये हों। डॉ. विन्टरनित्स[१] भी समूचे आगमों को प्राचीन नहीं स्वीकारते। लगभग एक हजार वर्षों के बीच परिवर्तन-परिवर्धन होना स्वाभाविक है। बेचरदास दोसी ने मूलागम और उपलब्ध आगम में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वलभी में संग्रहीत अंग साहित्य की स्थिति के साथ भ. महावीर के समय के अंग साहित्य की तुलना करने वाले को दो सौतेले भाइयों के बीच जितना अन्तर होता है उतना अन्तर-भेद मालूम होना सर्वथा संभव हो।[२] वर्तमान में उपलब्ध आगमों में अचेलकता को स्थान-स्थान पर उपादेय और श्रद्धास्पद माना है तथा सचेलकता को भाव की प्रधानता का तर्क देकर स्वीकार किया गया है। डॉ. जेकोबी और वेबर भी आगमों में परिवर्तन-परिवर्धन को स्वीकार करते हैं। यह इससे भी स्पष्ट है कि भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में जो उदाहरण आगमों से दिये गयें है वे आज उपलब्ध आगमों में अप्राप्य हैं।

जो भी हो, यह निश्चित है कि महावीर निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद जो ये आगम संकलित किये गये, उनमें परिवर्तन–परिवर्धन अवश्य हुए हैं। स्थानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र, उत्तराध्ययन आदि, ग्रन्थों में वर्णित कुछ विषय स्पष्टतः उत्तरकालीन प्रतीत होते हैं[१]। उनका अन्तः–बाह्य परीक्षणकर समय निर्धारण करना अत्यावश्यक है। आगमों में "अट्ठे पण्णत्ते", "सुयं मे आउसं तेण भगवया एवमत्थ" आदि जैसे शब्द भी परिवर्तन–परिवर्धन के सूचक हैं।

प्राकृत साहित्य का वर्गीकरण :

दिगम्बर परम्परा में परम्परागत शास्त्रों के लिए प्रायः 'श्रुत' और श्वेताम्बर परम्परा में 'आगम' शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रुत का अर्थ है वे

---

१. हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ. ४३१-४३४.

२. जैन साहित्य में विकार, पृ. २३.

शास्त्र जिन्हें गणधर तीर्थंकरों से सुनकर रचना करते हैं और 'आगम' का अर्थ है परम्परा से आया हुआ। दोनों शब्दों का तात्पर्य लगभग समान है इसलिए कहीं-कहीं दोनों परम्परायें इन दोनों शब्दों का उपयोग करती हुई भी दिखाई देती हैं। इसी सन्दर्भ में अंग, परमागम, सूत्र, सिद्धान्त आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। बौद्ध त्रिपिटक के समान जैनागम को भी आचार्यों ने 'गणिपिटक' कहा है।[२] इन श्रुत अथवा आगमों के विषय का प्रतिपादन भगवान महावीर ने किया और उसे गौतम गणधर ने यथारीति ग्रन्थों में निबद्ध किया।

यहां हम सुविधा की दृष्टि से प्राकृत जैन साहित्य को निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं–

i) आगम साहित्य
ii) आगमिक व्याख्या साहित्य
iii) कर्मसाहित्य
iv) सिद्धान्त साहित्य
v) आचार साहित्य
iv) विधिविधान और भक्ति साहित्य
vii) कथा साहित्य, और
viii) लाक्षणिक साहित्य

१. आगम साहित्य

प्राकृत जैनागम साहित्य की दो परम्पराओं से हम सुपरिचित हैं ही। दिगम्बर परम्परा तो उसे लुप्त मानती है परन्तु श्वेताम्बर परम्परा में उसे अंग, उपांग, मूलसूत्र, छेदसूत्र और प्रकीर्णक के रूप में विभक्त किया गया है। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है। इन द्वादशांगों की रचना पूर्व-ग्रन्थ परम्परा पर आधारित रही है।

i) अंग साहित्य :

अंग साहित्य के पूर्वोक्त बारह भेद हैं जिनके कुल पदों का योग ४१५०२००० है। इनकी उल्लिखित विषय सामग्री और उपलब्ध विषय सामग्री में बहुत अन्तर है।[३]

---

१. जैन साहित्य का इतिहास: पूर्वपीठिका, पृ. ५४३

२. भगवती सूत्र, २५३

३. देखिये, भ. महावीर और उनका चिन्तन–डॉ. भागचन्द्र जैन, अध्याय ३.

१. आचारांग–यह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में सत्थ परिण्णा आदि नव अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पांच। प्रथम श्रुतस्कन्ध में पाणिपात्री साधुओं का कोई उल्लेख भले ही न हो पर उसका झुकाव अचेलकता की ओर अवश्य है। अतः यह भाग प्राचीनतर है। पाणिपात्री साधुओं के अस्तित्व को उत्तर कालीन विकास का परिणाम भी नहीं कहा जा सकता। द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूलिका के रूप में लिखा गया है जिनकी संख्या पांच है। चार चूलिकायें आचारांग में और पंचम चूलिका विस्तृत होने के कारण पृथक् रूप में निशीथ सूत्र' के नाम से निबद्ध है। यह भाग प्रथम श्रुतस्कन्ध के उत्तर काल का है। इस ग्रन्थ में गद्य और पद्य, दोनों का प्रयोग हुआ है। इसमें मुनियों के आचार-विचार का विशेष वर्णन है। महावीर की चर्या का भी विस्तृत उल्लेख हुआ है। निर्युक्तिकार की दृष्टि से द्वितीय श्रुतस्कन्ध स्थविरकृत है। महावीर का जीवन भी यहां चमत्कारात्मक ढंग से मिलता है।

२. सूयगडंग–इसमें स्वसमय और परसमय का विवेचन है। इसे दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त किया गया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं–समय, वेयालिय, उपसर्ग, स्त्रीपरिज्ञा, नरकविभक्ति, वीरस्तव, कुशील, वीर्य, धर्म, समाधि, मार्ग, समवशरण, याथातथ्य, ग्रन्थ आदान, गाथा और ब्राह्मण-श्रमण निर्ग्रन्थ। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन हैं–पुण्डरीक, क्रियास्थान, आहारपरिज्ञा, प्रत्याख्यानक्रिया, आचारश्रुत, आर्द्रकीय तथा नालन्दीय। प्रथम श्रुतस्कन्ध के विषय को ही यहां विस्तार से कहा गया है। अतः निर्युक्तिकार ने इसे "महा अध्ययन" की संज्ञा दी है। इस ग्रंथ में मूलतः क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद आदि मतों का प्रस्थापन और उसका खण्डन किया गया है। यह ग्रन्थ खण्डन–मण्डन परम्परा से जुड़ा हुआ है।

३. ठाणांग–इसमें दस अध्ययन हैं और ७८३ सूत्र हैं जिनमें अंगुत्तरनिकाय के समान एक से लेकर दस संख्या तक संख्याक्रम के अनुसार जैन सिद्धान्त पर आधारित वस्तु संख्याओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहां भ. महावीर की उत्तर कालीन परम्पराओंको भी स्थान मिला है। जैसे नवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक में महावीर के ९ गणों का उल्लेख है। सात निन्हवों का भी यहाँ उल्लेख मिलता है–जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल। इनमें प्रथम दो के अतिरिक्त सभी निन्हवों की उत्पत्ति महावीर के बाद ही हुई। प्रव्रज्या, स्थविर, लेखन– पद्धति आदि से संबद्ध सामग्री की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इसका समय लगभग चतुर्थ-पंचम ई. शती निश्चित की जा सकती है।

४. समवायांग–इसमें कुल २७५ सूत्र हैं जिनमें ठाणांग के समान संख्याक्रम से निश्चित वस्तुओंका निरूपण किया गया है। यद्यपि यहां कोई क्रम तो नहीं पर उसी का आधार लेकर संख्याक्रम सहस्त्र, दस सहस्त्र और कोटाकोटि तक पहुँची है। ठाणांग के समान यहां भी महावीर के बाद की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। उदाहरणतः १०० वें सूत्र में गणधर इन्द्रभूति और सुधर्मा के निर्वाण से संबद्ध घटना। ठाणांग और समवायांग की एक विशिष्ट शैली है जिसके कारण इनके प्रकरणों में एकसूत्रता के स्थानपर विषयवैविध्य अधिक दिखाई देता है। इसमें भौगोलिक और सांस्कृतिक सामग्री भरी हुई है। इनकी शैली अंगुत्तर निकाय और पुग्गलपञ्ञत्ति की शैली से मिलती-जुलती है।

५. वियाहपण्णत्ति–ग्रन्थ की विशालता और उपयोगिता के कारण इसे 'भगवतीसूत्र' भी कहा जाता है। इसमें गणधर गौतम के ६००० प्रश्न और महावीर के उत्तर निबद्ध हैं। अधिकांश प्रश्न स्वर्ग, नरक, चन्द्र, सूर्य, आदि से संबद्ध हैं। इसमें ४१ शतक हैं जिनमें ८३७ सूत्र हैं। प्रथम शतक अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आगे के शतक इसी की व्याख्या करते हुए दिखाई देते हैं। यहा मक्खलि गोसाल का विस्तृत चरित भी मिलता है। बुद्ध को छोड़कर पार्श्वनाथ और महावीर के समकालीन आचार्य और परिव्राजक, पार्श्वनाथ और महावीर का परम्पराभेद, स्वप्नप्रकार, जवणिज्ज (यापनीय) संघ, वैशाली में हुए दो महायुद्ध, वनस्पतिशास्त्र, जीवप्रकार आदि के विषय में यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण जानकारी देता है। इसमें देवर्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित नन्दिसूत्र का भी उल्लेख है जिससे स्पष्ट है कि इस महाग्रन्थ में महावीर के बाद की लगभग एक हजार वर्ष की परम्पराओं का संकलन है। इसकी विषय–सूची भी बड़ी लम्बी चौड़ी है। इसमें गद्यसूत्र ५२९३ और पद्यसूत्र ६० हैं।

६. नायाधम्मकहाओ–इसमें भ. महावीर द्वारा उपदिष्ट लोकप्रचलित धर्मकथाओं का निबन्धन है जिसमें संयम, तप, त्याग आदि का महत्त्व बताया गया है। इस ग्रन्थ में दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नीति कथाओं से संबद्ध उन्नीस अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों में धर्मकथायें संकलित हैं। शैली रोजक और आकर्षक है। इसमें मेघकुमार, धन्ना और विजय चोर, सागरदत्त और जिनदत्त, कच्छप और शृंगाल, शैलक मुनि और शुक परिव्राजक, तुंब, रोहणी, मल्लि, माकंदी, दुर्दर, अमात्य तेमलि, द्रोपदी, पुण्डरीक, कुण्डरीक, गजसुकुमाल, नंदमणियार आदि की कथायें संकलित हैं। ये कथायें घटना प्रधान तथा नाटकीय तत्त्वों से आपूर हैं। सांस्कृतिक महत्त्व की सामग्री भी इसमें सन्निहित है।

७. **उपासगदसाओ**–इसमें दस अध्ययन हैं जिनमें क्रमशः आनन्द, कामदेव चुलिनीप्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नंदिनीपिता और सालतियापिता इन दस उपासकों का चरित्र चित्रण है। इन श्रावकों को पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह अणुव्रतों का निरतिचार पूर्वक पालन करते हुए धर्मार्थ साधना में तत्पर बताया है। इसे आचारांग का परिपूरक ग्रन्थ कहा जा सकता है। गृहस्थाचार के विकास की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है।

८. **अंतगडदसाओ**–इस अंग में ऐसे स्त्री-पुरुषों का वर्णन है जिन्होंने संसार का अन्तकर निर्वाण प्राप्त किया है। इसमें आठ वर्ग हैं। हर वर्ग किसी न किसी मुमुक्षु से संबद्ध है। यहां गौतम, समुद्र, सागर, गंभीर, गजसुकुमाल, कृष्ण, पद्मावती, अर्जुनमाली, अतिमुक्त आदि महानुभावों का चरित्र-चित्रण उपलब्ध है। पौराणिक और चरितकाव्यों के लिए ये कथानक बीजभूत माने जा सकते हैं। इसका समय लगभग २–३ री शती होना चाहिए।

९. **अणुत्तरोववाइयदसाओ**–इस ग्रन्थ में ऐसे महापुरुषों का वर्णन है जो अपने तप और संयम से अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए और उसके बाद वे मुक्तिगामी होते हैं। यह अंग तीन वर्गों में विभक्त है। प्रथम वर्ग में १०, द्वितीय वर्ग में १३ और तृतीय वर्ग में १० अध्ययन हैं। जालि, महाजालि, अभयकुमार आदि दस राजकुमारों का प्रथम वर्ग में, दीर्घसेन, महासेन, सिंहसेन, आदि तेरह राजकुमारों का द्वितीय वर्ग में, और धन्यकुमार, रामपुत्र, वेहल्ल आदि दस राजकुमारों का भोगमय और तपोमय जीवन का चित्रण तृतीय वर्ग में मिलता है। यहां अनुत्तरोपपातिकों की अवस्था का वर्णन किया गया है।

१०. **पण्हवागरणाइं**–इसमें प्रश्नोत्तर के माध्यम से परसमय (जैनेतरमत) का खण्डनकर स्वसमय की स्थापना की है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में हिंसादिक पाप रूप आश्रवों का और द्वितीय भाग में अहिंसादि पांच व्रत रूप संवर द्वारों का वर्णन किया गया है। इसी संदर्भ में मन्त्र, तन्त्र, और चामत्कारिक विद्याओं का भी वर्णन किया गया है। संभवतः यह ग्रन्थ उत्तरकालीन है।

११. **विवागसुयं**–इस ग्रन्थ में शुभाशुभ कर्मों का फल दिखाने के लिए बीस कथाओं का आलेखन किया गया है। इन कथाओं में मृगापुत्र नन्दिषेण आदि की जीवन गाथायें अशुभ कर्म के फल को और सुबाहु, भद्रनन्दी आदि की जीवन गाथायें शुभकर्म के फल को व्यक्त करती हैं। वर्णनक्रम से पता चलता है कि यह ग्रन्थ भी उत्तरकालीन होना चाहिए।[1]

---

१. विशेष देखिये, लेखक का ग्रन्थ भगवान् महावीर और उनका चिन्तन पाथर्डी, १९७५

१२. दिट्ठिवाय–श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह ग्रन्थ लुप्त हो गया है जबकि दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम आदि आगमिक ग्रन्थ इसी के भेद-प्रभेदों पर आधारित रहे हैं। समवायांग में इसके पांच विभाग किये गये हैं–परिकर्म सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। इसमें विभिन्न दर्शनों की चर्चा रही होगी। पूर्वगत विभाग के उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। अनुयोग भी दो प्रकार के हैं–प्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग। चूलिकायें कहीं बत्तीस और कहीं पांच बतायी गई हैं। उनका सम्बध मन्त्र-तन्त्रादि से रहा होगा। वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यह एक विशालकाय ग्रन्थ रहा होगा।

२. उपांग साहित्य

वैदिक अंगोपांगों के समान जैनागम के भी उपर्युक्त बारह अंगों के बारह उपांग माने जाते हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो उपांगों के क्रम का अंगों के क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। लगभग १२ वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में उपांगों का वर्णन भी नहीं आता। इसलिए इन्हें उत्तरकालीन माना जाना चाहिए। ये उपांग इस प्रकार हैं।

१. उववाइय–में ४३ सूत्र हैं और उनमें साधकों का पुनर्जन्म कहां-कहां होता है, इसका वर्णन किया गया है। इसमें ७२ कलाओं और विभिन्न परिव्राजकों का वर्णन मिलता है।

२. रायपसेणिय–में २१७ सूत्र हैं। प्रथम भाग में सूर्याभदेव का वर्णन है और द्वितीय भाग में केशी और प्रदेशी के बीच जीव–अजीव विषयक संवाद का वर्णन है। इसमें दर्शन, स्थापत्य, संगीत और नाट्यकला की विशिष्ट सामग्री सन्निहित है।

३. जीवाभिगम–में ९ प्रकरण और २७२ सूत्र हैं जिनमें जीव और अजीव के भेद–प्रभेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है। टीकाकार मलयगिरि ने इसे ठाणांग का उपांग माना है। इसमें अस्त्र, वस्त्र, धातु, भवन आदि के प्रकार दिये गये हैं।

४. पण्णवणा–में ३४९ सूत्र हैं और उनमें जीव से संबन्ध रखने वाले ३६ पदों का प्रतिपादन है–प्रज्ञापना, स्थान, योनि, भाषा, कषाय, इन्द्रिय, लेश्या आदि। इसके कर्ता आर्य श्यामाचार्य हैं जो महावीर परिनिर्वाण के ३७६ वर्ष बाद अवस्थित थे। इसे समवायांगसूत्र का उपांग माना गया है। वृक्ष, तृण, औषधियां, पंचेन्द्रियजीव, मनुष्य, साढ़े पच्चीस आर्य देशों आदि का वर्णन मिलता है।

५. सुरियपण्णत्ति—में २० पाहुड, और १०८ सूत्र हैं जिनमें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति आदि का वर्णन मिलता है। इस पर भद्रबाहु ने निर्युक्ति और मलयगिरि ने टीका लिखी है।

६. जम्बूदीवपण्णत्ति—दो भागों में विभाजित है—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पूर्वार्ध में चार और उत्तरार्ध में तीन वक्षस्कार (परिच्छेद) हैं तथा कुल १७६ सूत्र हैं। जिनमें जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, नदी, पर्वत, कुलकर आदि का वर्णन है। यह नायाधम्मकहाओ का उपांग माना जाता है।

७. चंदपण्णत्ति—में बीस प्राभृत हैं और उनमें चन्द्र की गति आदि का विस्तृत विवेचन मिलता है। इसे उपासगदसाओ का उपांग माना जाता है।

८. निरयावलिया—अथवा कप्पिया में दस अध्ययन हैं जिनमें काल, सुकाल, महाकाल, कण्ठ, सुकण्ह महाकण्ह, वीरकण्ह रामकण्ह, पिउसेणकण्ह और महासेणकण्ह का वर्णन है।

९. कप्पावडिंसिया—में भी दस अध्ययन है जिनमें पउम, महापउम, भद्द, सुभद्द, पउमभद्द, पउमसेण, पउमगुम्म, नलिणिगुम्म, आणंद व नंदण का वर्णन है।

१०. पुप्फिया—में भी दस अध्ययन हैं जिनमें चंद, सूर, सुक्क, बहुपुत्तिया, पुन्नभद्द, गणिभद्द, दत्त, सिव, बल और अणाढिय का वर्णन है।

११. पुप्फचूला—में भी दस अध्ययन हैं—सिरि, हिरि, धिति, कित्ति, बुद्धि, लच्छी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी।

१२. वण्हिदसाओ—में बारह अध्ययन हैं—निसढ, माअनि, वह, वण्ह, पगता, जुत्ती, दसरह, दढरह, महाधणू, सत्तधणू, दसधणू और सयधणू।

ये उपांग सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। आठवें उपांग से लेकर बारहवें उपांग तक को समग्र रूप में 'निरयावलिओ' भी कहा गया है।

३. मूलसूत्र

डॉ. शुब्रिंग के अनुसार इनमें साधु जीवन के मूलभूत नियमों का उपदेश गर्भित है इसलिए इन्हें मूलसूत्र कहा जाता है। उपांगों के समान मूलसूत्रों का भी उल्लेख प्राचीन आगमों में नहीं मिलता। इनकी मूलसंख्या में भी मतभेद है। कोई इनकी संख्या तीन मानता है—उत्तराध्ययन, आवश्यक और दसवैकालिक और कुछ विद्वानों ने पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को सम्मिलितकर उनकी संख्या चार कर दी है।

१. उत्तरज्झायण—भाषा और विषय की दृष्टि से यह सूत्र प्राचीन माना जाता है। इसकी तुलना पालि त्रिपिटक के सुत्तनिपात, धम्मपद आदि ग्रन्थों से की गई है। इसका अध्ययन आचारांगादि के अध्ययन के बाद किया जाता था। यह भी संभव है कि इसकी रचना उत्तरकाल में हुई हो। उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन हैं जिनमें नैतिक, सैद्धान्तिक और कथात्मक विषयों का समावेश किया गया है। इनमें कुछ जिनभाषित हैं, कुछ प्रत्येकबुद्धों द्वारा प्ररूपित हैं और कुछ संवाद रूप में कहे गये हैं।

२. आवस्सय में छः नित्य क्रियाओंका छः अध्यायों में वर्णन है— सामाजिक चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान।

३. दसवेयालिय के रचयिता आर्यसंभव हैं। उन्होंने इसकी रचना अपने पुत्र के लिए की थी। विकाल अर्थात् सन्ध्या में पढ़े जाने के कारण इसे दसवेयालिय कहा जाता है। यह दस अध्यायों में विभक्त है जिनमें मुनि आचार का वर्णन किया गया है।

४. पिण्डनिर्युक्ति में आठ अधिकार और ९७१ गाथायें हैं जिनमें उद्गम, उत्पादन, एषणा आदि दोषों का प्ररूपण किया गया है। इसके रचयिता भद्रबाहु माने जाते हैं।

५. ओघनिर्युक्ति में ८११ गाथायें हैं जिनमें प्रतिलेखन, पिण्ड, उपाधि-निरूपण, अनायतनवर्जन, प्रतिसेवना, आलोचना और विशुद्धि का निरूपण है।

४. छेदसूत्र

श्रमणधर्म के आचार-विचार को समझने की दृष्टिसे छेदसूत्रों का विशिष्ट महत्त्व है इनमें उत्सर्ग (सामान्य विधान), अपवाद, दोष और प्रायश्चित विधानों का वर्णन किया गया है। छेदसूत्रों की संख्या ९ है— दसासुयक्खन्ध, बृहत्कल्प, ववहार, निसीह, महानिसीह और पंचकप्प अथवा जीतकप्प।

१. दसासुयक्खन्ध अथवा आचारदसा में दस अध्ययन हैं। उनमें क्रमशः असमाधि के कारण शबलदोष (हस्तकर्म मैथुन आदि), आशातना (अवज्ञा), गणिसम्पदा, चित्तसमाधि, उपासक प्रतिमा, भिक्षुप्रतिमा पर्यूषणाकल्प, मोहनीयस्थान और आयातिस्थान (निदान) का वर्णन मिलता है। महावीर के जीवनचरित की दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इसके रचयिता निर्युक्तिकार से भिन्न आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं।

२. बृहत्कल्प में छः उद्देश हैं जिनमें भिक्षु-भिक्षुणियों के निवास, बिहार, आहार, आसन आदि से सम्बद्ध विविध नियमों का विधान किया गया है। इसके भी रचयिता भद्रबाहु माने गये हैं। यह ग्रन्थ गद्य में लिखा गया है।

३. बवहार में दस उद्देश और ३०० सूत्र हैं। उनमें आहार, बिहार, वैयावृत्ति, साधु-साध्वी का पारस्परिक व्यवहार, गृहगमन, दीक्षाविधान आदि विषयों पर सांगोपांग चर्चा की गई है। इस ग्रन्थ के भी कर्ता भद्रबाहु माने गये हैं।

४. निसीह में बीस उद्देश और लगभग १५०० सूत्र हैं। इनमें गूरुमासिक, लघुमासिक, और गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त से संबद्ध क्रियाओं का वर्णन है।

५. महानिसीह में छः अध्ययन हैं और दो चूलिकाएँ हैं जिनमें लगभग ४५५४ श्लोक होंगे। भाषा और विषय की दृष्टिसे यह ग्रन्थ अधिक प्राचीन नहीं जान पड़ता। विनष्ट महानिसीथ को हरिभद्रसूरि ने संशोधित किया और सिद्धसेन तथा जिनदासगणि ने उसे मान्य किया। कर्मविपाक, तान्त्रिक प्रयोग, संघस्वरूप, आदि पर विस्तार से वहाँ चर्चा की गई है।

६. जीतकल्प की रचना जिनदासगणि क्षमाश्रमण ने १०३ गाथाओं में की। इसमें आत्मा की विशुद्धि के लिए जीत अर्थात् प्रायश्चित्त का विधान है। इसमें आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य, और पारांचिक भेदोंका वर्णन किया गया है।

५. चूलिका सूत्र

चूलिकायें ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में मानी गई हैं। इनमें ऐसे विषयों का समावेश किया गया है जिन्हें आचार्य अन्य किसी ग्रन्थ-प्रकार में सम्मिलित नहीं कर सके। नन्दी और अनुयोगद्वार की गणना चूलिकासूत्रों में की जाती है। ये सूत्र अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। नन्दीसूत्र गद्य-पद्य में लिखा गया है। इसमें ९० गाथायें और ५९ गद्यसूत्र हैं। इसका कुल परिमाण लगभग ७०० श्लोक होगा। इसके रचयिता दूष्यगणि के शिष्य देववाचक माने जाते हैं जो देवर्धिगणि क्षमाश्रमण से भिन्न हैं। इसमें पंचज्ञानों का वर्णन विस्तार से किया गया है। स्थविरावली और श्रुतज्ञान के भेद-प्रभेद की दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ महत्त्पूर्ण है। अनुयोगद्वार में निक्षेप पद्धति से जैनधर्म के मूलभूत विषयों का व्याख्यान किया गया है। इसके रचयिता आर्य रक्षित माने आते हैं। इसमें नय, निक्षेप, प्रमाण, अनुगम आदि का विस्तृत वर्णन है। ग्रन्थमान लगभग २००० श्लोक प्रमाण है इसमें अधिकांशतः गद्य भाग है।

६. प्रकीर्णक

इस विभाग में ऐसे ग्रन्थ सम्मिलित किये गये हैं जिनकी रचना तीर्थंकरों द्वारा प्रवेदित उपदेश के आधार पर आचार्यों ने की है। ऐसे आगमिक ग्रन्थों

की संख्या लगभग १४००० मानी गई है परन्तु बल्लभी वाचना के समय निम्नलिखित दस ग्रन्थों का ही समावेश किया गया है–चउसरण, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण, भत्तपइण्णा, तंदुलवेयालिय, संथारक, गच्छायार, गणिविज्जा, देविंदथह, और मरणसमाहि। 'चउसरण' में ६३ गाथायें हैं जिनमें अरिहंत, सिद्ध, साधु, एवं केवलिकथित धर्म को शरण माना गया है। इसे वीरभद्रकृत माना जाता है। 'आउरपच्चक्खाण' में वीरभद्रने ७० गाथाओं में बालमरण और पण्डितमरण का व्याख्यान किया है। महापच्चक्खाण में १४२ गाथायें है जिनमें व्रतों और आराधनाओं पर प्रकाश डाला गया है। 'भत्तपइणा' में १७२ गाथायें है जिनमें वीरभद्र ने भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन रूप मरण भेदों के स्वरूप का विवेचन किया है। 'तंदुलवेयालिय' में १३९ गाथाएँ हैं और उनमें गर्भावस्था, स्त्री स्वभाव तथा संसार का चित्रण किया गया है। 'संथारक' में १२३ गाथायें हैं जिनमें मृत्युशय्या का वर्णन है। 'गच्छायार' में १३० गाथायें है जिनमें गच्छ में रहने वाले साधु-सध्वियों के आचार का वर्णन है। 'गणिविज्जा' में ८० गाथायें है जिनमें दिवस, तिथि, नक्षत्र, करण, मुहूर्त आदि का वर्णन है। देविंदथह (३०७ गा.) में देवेन्द्रकी स्तुति है। मरणसमाहि (६६३ गा.) में आराधना, आराधक, आलोचना, सल्लेखना क्षमायापन आदि पर विवेचन किया गया है।

इन प्रकीर्णकों के अतिरिक्त तित्थुगालिय, अजीवकप्प, सिद्धपाहुड, आराहण पहाआ, दीवसायरपण्णत्ति, जोइसकरंडव, अंगविज्जा, पिंडविसोहि, तिहिपइण्णग, सारावलि, पज्जंताराहणा, जीवविहत्ति, कवचपकरण और जोगिपाहुड, ग्रन्थों को भी प्रकीर्णक श्रेणि में सम्मिलित किया जाता है।

७. आगमिक व्याख्या साहित्य

उपर्युक्त अर्धमागधी आगम साहित्य पर यथासमय निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि, टीका विवरण, वृत्ति, अवचूर्णी पंजिका एवं व्याख्या रूप में विपुल साहित्य की रचना हुई है। इनमें आचार्यो ने आगमगत दुर्बोध स्थलों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस विद्या में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, और टीका साहित्य विशेष उल्लेखनीय है।

८. निर्युक्ति साहित्य

जिस प्रकार यास्क ने वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए निरुक्त की रचना की उसी प्रकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने आगमिक शब्दों की व्याख्या के लिए निर्युक्तियों का निर्माण किया। ये निर्युक्तियां

निम्नलिखित दस ग्रन्थों पर लिखी गई हैं–आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार, सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित। इनमें अन्तिम दो निर्युक्तियाँ उपलब्ध नहीं। इन निर्युक्तियों की रचना प्राकृत पद्यों में हुई है। बीच बीच में कथाओं और दृष्टान्तों को भी नियोजित किया गया है। सभी निर्युक्तियों की रचना निक्षेप पद्धति में हुई है। इस पद्धति में शब्दों के अप्रासंगिक अर्थों को छोड़कर प्रासंगिक अर्थों का निश्चय किया गया है।

'आवश्यकनिर्युक्ति' में छः अध्ययन हैं–सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इसमें सप्तनिन्हव तथा भ. ऋषभदेव और महावीर के चरित्र का आलेखन हुआ है। इस निर्युक्ति पर जिनभद्र, जिनदासगणि, हरिभद्र, कोट्याचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, माणिक्यशेखर आदि आचार्यों ने व्याख्या ग्रन्थ लिखे। इसमें लगभग १६५० गाथायें हैं। 'दशवैकालिक' निर्युक्ति (३४१ गा.) में देश, काल आदि शब्दों का निक्षेप पद्धति से विचार हुआ है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति (६०७ गा.) में विविध धार्मिक और लौकिक कथाओं द्वारा सूत्रार्थ को स्पष्ट किया गय है। आचारांग निर्युक्ति (३४७ गा.) में आचार, अंग, ब्रह्म, चरण आदि शब्दों का अर्थ निर्धारण किया गया है। सूत्रकृतांग निर्युक्ति (२०५ गा.) में मतमतान्तरों का वर्णन है। दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति में समाधि, स्थान, दसश्रुत आदि का वर्णन है। यह निर्युक्ति बृहत्कल्पनिर्युक्ति (५५९ गा.) और व्यवहारनिर्युक्ति के समान अल्पमिश्रित अवस्था में उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त पिण्ड निर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति, निशीथनिर्युक्ति और संसक्तनिर्युक्ति भी मिलती हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन निर्युक्तियों का विशेष महत्व है।

९. भाष्य साहित्य

निर्युक्तियों में प्रच्छन्न गूढ़ विषय को स्पष्ट करने के लिए भाष्य लिखे गये। जिन आगम ग्रन्थों पर भाष्य मिलते हैं वे हैं– आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, पंचकल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प, ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति। ये सभी भाष्य पद्यबद्ध प्राकृत में हैं। आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य मिलते हैं– मूलभाष्य, भाष्य और विशेषावश्यकभाष्य। "विशेषावश्यकभाष्य" आवश्यकसूत्र के मात्र प्रथम अध्ययन सामाकयि पर लिखा गया है फिरभी उसमें ३६०३ गाथायें हैं। इसमें आचार्य जिनभद्र (लगभग वि. सं. ६५०–६६०) ने जैन ज्ञान और तत्वमीमांसा की दृष्टि से सामग्री को संकलित

किया है। योग, मंगल, पंचज्ञान, सामायिक, निक्षेप, अनुयोग, गणधरवाद, आत्मा और कर्म, अष्टनिन्हव, प्रायश्चित्तविधान आदि का विस्तृत विवेचन मिलता है। जिनभद्र का ही दूसरा भाष्य 'जीतकल्प' (१०३ गा.) पर है। जिसमें प्रायश्चित्तों का वर्णन है। इसी पर एक स्वोपज्ञभाष्य (२६०६ गाथायें) भी मिलता है जिसमें बृहत्कल्प, लघुभाष्य, व्यवहारभाष्य, पंचकल्प, महाभाष्य, पिण्डनिर्युक्ति आदि की गाथायें शब्दशः उद्धृत हैं।

बृहत्कल्प लघुभाष्य के रचयिता संघदासगणि क्षमाश्रमण जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं जिन्होंने इसे छः उद्देशों और ६४९० गाथाओं में पूरा किया। इसमें जिनकल्पिक और स्थविर कल्पिक साधु-साध्वियों के आहार, बिहार, निवास आदि का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। सांस्कृतिक सामग्री से यह ग्रन्थ भरा हुआ है। इन्हीं आचार्य का पंचकल्पमहाभाष्य (२६६५ गा.) भी मिलता है। बृहत्कल्प लघुभाष्य के समान बृहत्कल्प बृहद्भाष्य भी लिखा गया है पर दुर्भाग्य से अभीतक वह अपूर्ण ही उपलब्ध हुआ है। इस संदर्भ में व्यवहारभाष्य (दस उद्देश), ओघनिर्युक्ति लघुभाष्य (३२२ गा.), ओघनिर्युक्ति बृहद्भाष्य (२५१७ गा.) और पिण्डनिर्युक्ति भाष्य (४६ गा.) भी उल्लेखनीय है।

१०. चूर्णि साहित्य

आगम साहित्य पर निर्युक्तियों और भाष्यों के अतिरिक्त चूर्णियों की भी रचना हुई है। पर वे पद्य में न होकर गद्य में हैं और शुद्ध प्राकृत भाषा में न होकर प्राकृत-संस्कृत मिश्रित हैं। सामान्यतः यहां संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत का प्रयोग अधिक हुआ है।चूर्णिकारों में जिनदासगणिमहत्तर और सिद्धसेन सूरि अग्रगण्य हैं।जिनदास गणिमहत्तर(लगभग वि. सं. ६५०-७५०)ने नन्दि,अनुयोगद्वार, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, बृहत्कल्प, व्याख्या प्रज्ञप्ति, निशीथ और दशाश्रुतस्कन्ध पर चूर्णियां लिखी हैं तथा जीतकल्प चूर्णि के कर्ता सिद्धसेन सूरि (वि. सं. १२२७) हैं। इनके अतिरिक्त जीवाभिगम, महानिशीथ, व्यवहार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों पर भी चूर्णियां लिखी गई हैं। इन चूर्णियों में सांस्कृतिक तथा कथात्मक सामग्री भरी हुई है।

११. टीका साहित्य

आगम को और भी स्पष्ट करने के लिए टीकायें लिखी गई हैं। इनकी भाषा प्रधानतः संस्कृत है पर कथा भाग अधिकांशतः प्राकृत में मिलता है। आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार पर हरिभद्रसूरि (लगभग ७००–७७० ई.) की, आचारांग और सूत्रकृतांग पर शीलांकाचार्य (वि. सं.

लगभग ९००–१०००) की, उत्तराध्ययन पर शिष्यहिता टीका शान्तिसूरि (११ वीं शती) की तथा सुखबोधा टीका देवेन्द्रगणि नेमिचन्द्र की विशेष उल्लेखनीय हैं। संस्कृत टीकाओं, विवरणों और कृतियों की तो एक लम्बी संख्या है जिसका उल्लेख करना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

१२.. कर्म साहित्य

पूर्वोक्त आगम साहित्य अर्धमागधी प्राकृत में लिखा गया है। इसे परम्परानुसार श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्वीकार करता है परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय किन्हीं कारणों वश उसे 'लुप्त' हुआ मानता है। उसके अनुसार लुप्त आगम का आंशिक ज्ञान मुनि परम्परा में सुरक्षित रहा। उसी के आधार पर आचार्य धरसेन के सान्निध्य में षट्खण्डागम की रचना हुई।

षट्खण्डागम "दृष्टिवाद" नामक बारहवें अंग के अन्तर्गत अग्रायणी नामक द्वितीय पूर्व के चयनलब्धि नामक पांचवें अधिकार के चतुर्थ पाहुड (प्राभृत) कर्म प्रकृति पर आधारित है। इसलिए इसे कप्रार्मभृत भी कहा जाता है। इसकें प्रारम्भिक भाग सत्प्ररूपणा के रचयिता पुष्पदन्त हैं और शेष भाग को आचार्य भूतबलि ने लिखा है। इनका समय महावीर निर्वाण के ६००–७०० वर्ष बाद माना जाता है।[१] सत्प्ररूपणा में १७७ सूत्र हैं। शेष ग्रन्थ ६००० सूत्रों में रचित कर्म प्राभृत के छः खण्ड हैं– जीवट्ठाण (२३७५ सूत्र), खुद्दाबन्ध (१५८२ सूत्र), बन्धसामित्तविचय (३२४ सूत्र), वेदना (१४४९ सूत्र), वग्गणा (९६२ सूत्र और महाबन्ध (सात अधिकार)। इनमें कर्म और उनकी विविध प्रकृतियों का विस्तृत विवेचन मिलता है। इस पर निम्नलिखित टीकायें लिखी गई हैं। इन टीकाओं में "धवला" टीका को छोड़कर शेष सभी, अनुपलब्ध हैं। इनकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है–

!) प्रथम तीन खण्डों पर कुन्दकुन्दाचार्य की प्राकृत टीका (१२००० श्लोक प्रमाण)

ii) प्रथम पांच खण्डों पर शास्त्रकुण्डकृत पद्धतिनामक प्राकृत–संस्कृत–कन्नड मिश्रित टीका (१२००० श्लोक प्रमाण)।

iii) छठे खण्ड पर तुम्बूलाचार्यकृत प्राकृत पंजिका (६००००श्लोक प्रमाण)

iv) वीरसेन (८१६ ई.) की प्राकृत-संस्कृत मिश्रित टीका (७२००० श्लोक प्रमाण)

---

१. षट्खण्डागम पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ, २१-३१.

दृष्टिवाद के ही ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के पेज्जदोस नामक तृतीय प्राभृत से 'कषायप्राभृत' (कसाय पाहुड) की उत्पत्ति हुई। इसे 'पेज्जदोसपाहुड' भी कहा गया है। आचार्य गुणधर ने इसकी रचना भ. महावीर के परिनिर्वाण के ६८३ वर्ष बाद की। इसमें १६०० पद एवं १८० किंवा २३३ गाथायें और १५ अर्थाधिकार हैं। इसपर यतिवृषभ ने विक्रम की छठी शती में छः हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखा। उस पर वीरसेन ने सन् ८७४ में बीस हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखी। इस अधूरी टीका को उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर ग्रन्थ समाप्त किया। इनके अतिरिक्त उच्चारणाचार्यकृत उच्चारणवृत्ति, शामकुण्डकृत पद्धतिटीका, तुम्बूलाचार्यकृत चूड़ामणिव्याख्या तथा बप्पदेवगुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति नामक टीकाओं का उल्लेख मिलता है पर आज वे उपलब्ध नहीं हैं। इन सभी टीका ग्रन्थों में कर्म की विविध व्याख्या की गई है।

इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने विक्रम की ११ वीं शती में 'गोमट्टसार' की रचना की। वे चामुण्डराय के गुरु थे जिन्हें गोमट्टराय भी कहा जाता था। गोमट्टसार के दो भाग हैं—जीवकाण्ड (७३३ गा.) और कर्मकाण्ड (९७२ गा.)। जीवकाण्ड में जीव, स्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी और वेदना इन पांच विषयों का विवेचन है। कर्मकाण्ड में कर्म के भेद–प्रभेदों की व्याख्या की गई है। इसी लेखक की 'लब्धिसार' (२६१ गा.) नामक एक और रचना मिलती है। लगभग आठवीं शती में लिखी किसी अज्ञात विद्वान की 'पञ्चसंग्रह' (१३०९ गा.) नामक कृति भी उपलब्ध हुई है। इसमें कर्मस्तव आदि पांच प्रकरण हैं। प्रायः ये सभी ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में लिखे गये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, वट्टकेर और शिवार्य के साहित्य को इसमें और जोड़ दिया जाय तो यह समूचा साहित्य दिगम्बर सम्प्रदाय का आगम साहित्य कहा जा सकता है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त शिवशर्मसूरि (वि. की पांचवीं शती) की कर्मप्रकृति (४७५ गा.), उस पर किसी अज्ञात विद्वान की सात हजार श्लोक प्रमाण चूर्णि, वीरशेखरविजय का ठिइबन्ध (८७६ गा.) तथा खवगसेढी–और चन्दर्सि महत्तर का पंचसंग्रह (१००० गा.) विशिष्ट कर्मग्रन्थ हैं। गर्गर्षि (वि. की १० वीं शती) का कर्मविवाग, अज्ञात कवि का कर्मस्तव और बन्धस्वामित्व, जिनबल्लभगणि की षडसीति, शिवशर्मसूरि का शतक और अज्ञात कवि की सप्ततिका ये प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ कहे जाते हैं। जिनबल्लभगणि (वि. की १२ वीं शती) का सार्धशतक (१५५ गा.) भी स्मरणीय है। देवेन्द्रसूरि (१३ वीं शती) के कर्मविपाक (६० गा.), कर्मस्तव (३४ गा.),

बन्धस्वामित्व (२४ गा.), षड्सीति (४६ गा.) और शतक (१०० गा.)। इन पांच ग्रन्थों को 'नव्यकर्मग्रन्थ' कहा जाता है। जिनभद्रगणि की विशेषणवति, विजयविमलगणि (वि. सं. १६२३) का भाव प्रकरण (३० गा.), हर्षकुलगणि (१६ वीं शती) का बन्धहेतूदयत्रिभंगी (६५ गा.) और विजयविमलगणि (१७ वीं शती) का बन्धोदयसत्ताप्रकरण (२४ गा.) ग्रन्थ भी यहां उल्लेखनीय हैं।

१२. सिद्धान्त साहित्य

कर्मसाहित्य के अतिरिक्त कुछ और ग्रन्थ हैं जिन्हें हम आगम के अन्तर्गत रख सकते हैं। इन ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम शती) के पवयणसार (२७५ गा.), समयसार (४१५ गा.), नियमसार (१८७ गा.), पंचत्थिकाय-संगहसुत्त (१७३ गा.), दंसणपाहुड (३६ गा.), चारित्तपाहुड (४४ गा.), सुत्तपाहुड (२७ गा.), बोधपाहुड (६२ गा.), भावपाहुड (१६६ गा.), मोक्खपाहुड (१०६ गा.), लिंगपाहुड (२२ गा.), और सीलपाहुड (४० गा.) प्रधान ग्रन्थ हैं। इनमें निश्चय नय की दृष्टिसे आत्मा की विशुद्धावस्था को प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। इनकी भाषा शौरसेनी है।

अनेकान्त का सम्यक् विवेचन करने वालों में आचार्य सिद्धसेन (५–६ वीं शती) शीर्षस्थ हैं जिन्होंने 'सम्मइसुत्त' (१६७ गा.) लिखकर प्राकृत में दार्शनिक ग्रन्थ लिखने का मार्ग प्रशस्त किया। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है– नय, उपयोग और अनेकान्तवाद। अभयदेवने इसपर २५०० श्लोक प्रमाण तत्त्वबोधविधायिनी नामक टीका लिखी। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इसी प्रकार आचार्य देवसेन का लघुनयचन्द्र (६७ गा.) और माइलधवल का वृहन्नयचक्र (४२३ गा.) भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

किसी अज्ञात कवि का जीवसमास (२८६ गा.), शान्तिसूरि (११ वीं शती) का जीवविचार (५१ गा.), अभयदेवसूरि की पण्णवणातइयपयसंगहणी (१३३ गा.), अज्ञात कवि की जीवाजीवाभिगमसंगहणी (२२३ गा.), जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण का समयखित्तसमास (६३७ गा.), राजशेखरसूरि की क्षेत्रविचारणा (३६७ गा.), नेमिचन्द्रसूरि का पवयण सारुद्धार (१५९९ गा.), सोमतिलकसूरि (वि. सं. १३७३) का सत्तरिसय ठाणपयरण (३५९ गा.), देवसूरि का जीवाणुसासण (४२३ गा.) आदि रचनाओं में सप्त तत्वों का सांगोपांग विवेचन मिलता है।

धर्मोपदेशात्मक साहित्य भी प्राकृत में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। जीवनसाधना की दृष्टि से यह साहित्य लिखा गया है। धर्मदाससंगणी

(लगभग ८ वीं शती) की उवएसमाला (५४२ गा.), हरिभद्रसूरि का उवएसपद (१०३९ गा.) व संबोहप्रकरण (१५१० गा.), हेमचन्द्रसूरि की उवएसमाला (५०५ गा.) व भवभावणा (५३१ गा.), महेन्द्रप्रभसूरि (सं. १४३६) की उवएसचिंतामणि (४१५ गा.), जिनरत्नसूरि (सन् १२३१) का विवेगविलास (१३२३ गा.), शुभवर्धनगणी (सं. १५५२) की वद्धमाणदेसना (३१६३ गा.), जयवल्लभ का वज्जालग्ग (१३३० गा.) आदि ग्रन्थ मुख्य हैं। इन कृतियों में जैनधर्म, सिद्धान्त और तत्वों का उपदेश दिया गया है और आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से व्रतादि का महत्व बताया गया है। ये सभी कृतियां जैन महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गई हैं। उत्तर पश्चिम के जैन साहित्यकारों ने अर्धमागधी के बाद इसी भाषा को माध्यम बनाया। 'यश्रुति' इसकी विशेषता है।

आचार्यों ने योग और बारह भावनाओं सम्बन्धी साहित्य भी प्राकृत में लिखा है। इसका अधिकांश साहित्य यद्यपि संस्कृत में मिलता है पर प्राकृत भी उससे अछूता नहीं रहा। हरिभद्रसूरि का झाणज्झयण (१०६ गा.) कुमार कार्तिकेय का बारसानुवेक्खा (४८९ गा.), देवचन्द्र का गुणणट्ठाणसय (१०७ गा.), गुणरत्नविजय का खवगसेढी (२७१ गा.) तथा वीरसेखरविजय का मूलपकइठिइबन्ध (८७६ गा.) उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में यम, नियम आदि के माध्यम से मुक्तिमार्ग-प्राप्ति को निर्दिष्ट किया गया है। प्राचीन भारतीय योगसाधना को किस प्रकार विशुद्ध आध्यात्मिक साधना का माध्यम बनाया जा सकता है इसका निदर्शन इन आचार्यों ने इन कृतियों में बड़ी सफलता पूर्वक किया है।

१३. आचार साहित्य

आचार साहित्य में सागार और अनगार के व्रतों और नियमों का विधान रहता है। वट्टकेर (लगभग ३ री शती) का मूलाचार (१५५२ गा.), शिवार्य (लगभग तृतीय शती) का भगवइ आराहणा (२१६६ गा.) और वसुनन्दी (१३ वीं शती) का उवासयाज्झयणं (५४६ गा.) शौरसेनी प्राकृत में लिखे कुछ विशिष्ट ग्रन्थ हैं जिनमें मुनियों और श्रावकों के आचार-विचार का विस्तृत वर्णन है।

इसी तरह हरिभद्रसूरि के पंचवत्थुग (१७१४ गा.), पंचासग (८५० गा.), सावयपण्णत्ति (४०५ गा.) और सावयधम्मविहि (१२० गा.), प्रद्युम्नसूरि की मूलसिद्धि (२५२ गा.), वीरभद्र (सं. १०७८) की आराहणापडाया (९९० गा.), देवेन्दसूरि की सड्ढदिणकिच्च (३४४ गा.) आदि जैन महाराष्ट्री में लिखे

प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनमें मुनि और श्रावकों की दिनचर्या, नियम, उपनियम, दर्शन, प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था बतायी गई है। इन ग्रन्थों पर अनेक टीकायें भी मिलती हैं।

१४. विधिविधान और भक्तिमूलक साहित्य

प्राकृत में ऐसा साहित्य भी उपलब्ध होता है जिसमें आचार्यों ने भक्ति, पूजा, प्रतिष्ठा, यज्ञ, मंत्र, तंत्र, पर्व, तीर्थ आदि का वर्णन किया गया है। कुन्दकुन्द की सिद्धभत्ति (१२ गा.) सुदभत्ति, चरित्तभत्ति (१० गा.), अणगारभत्ति (२३ गा.), आयरियभत्ति (१० गा.) पंचगुरुभत्ति (७ गा.), तित्थयरभत्ति (८ गा.), और निव्वाणभत्ति (२७ गा.) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यशोदेवसूरि का पच्चक्खाणसरूव (३२९ गा.), श्रीचन्द्रसूरि की अणुट्ठाणविहि, जिनवल्लभगणि की पडिक्कमण समायारी (४० गा.), देवभद्र की (पमसहविहिपयरण (११८ गा.), और जिनप्रभसूरि (वि. सं. १३६३) की विहिमग्गप्पवा (३५७५ गा.) इस संदर्भ में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। धनपाल का ऋषभपंचासिका (५० गा.), भद्रबाहु का उपसग्गहरस्तोत्र (२० गा.), नन्दिषेण का अजियसंतिथय, देवेन्द्रसूरि का शाश्वतचैत्यास्तव, धर्मघोषसूरि (१४ वीं शती) का भवस्तोत्र, किसी अज्ञात कवि का निर्वाण काण्ड (२१ गा.), तथा योगेन्द्रदेव (छठी शती) का निजात्माष्टकम् प्रसिद्ध स्तोत्र हैं। इन स्तोत्रों में दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ ही काव्यात्मक तत्त्वों का विशेष ध्यान रखा गया है। रसात्मकता तो है ही।

१५. पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य

जैनधर्म में ६३ शलाका महापुरुष हुए हैं जिनका जीवन चरित कवियों ने अपनी लेखनी में उतारा है। इन काव्यों का स्रोत आगम साहित्य है। इन्हें प्रबन्ध काव्य की कोटि में रखा जा। है सकता इनमें कवियों ने धर्मोपदेश, कर्मफल, अवान्तर कथायें, स्तुति, दर्शन, काव्य और संस्कृति को समाहित किया है। साधारणतः ये सभी काव्य शान्तरसानुवर्ती हैं। इनमें महा काव्य के प्रायः सभी लक्षण घटित होते हैं। लोकतत्त्वों का भी समावेश यहाँ हुआ है।

पउमचरिय (८३५१ गा.) पौराणिक महाकाव्यों में प्राचीनतम कृति है जिसकी रचना विमलासूरि नें वि. सं. ५३० में की। कवि ने यहां रामचरित को यथार्थवादिता की भूमिका पर खडे होकर लिखा है। उसमें उन्होंने अतार्किक और अनर्गल बातों को स्थान नहीं दिया। सभी प्रकार के गुण, अलंकार, रस और छन्दों का भी उपयोग किया गया है। गुप्त-वाकाटक युग

की संस्कृति भी इसमें पर्याप्त मिलती है। महाराष्ट्री प्राकृत का परिमार्जित रूप यहाँ विद्यमान है। कहीं-कहीं अपभ्रंश का भी प्रभाव दिखाई देता है। इसी तरह भुवन तुंगसूरि का सीताचरित (४६५ गा.) भी उल्लेखनीय है।

संभवतः शीलांकाचार्य से भिन्न शीलाचार्य (वि. सं. ९२५) का चउप्पन्न-महापुरिसचरिय (१०८०० श्लोक प्रमाण), भद्रेश्वरसूरि (१२ वीं शती), तथा आम्रकवि (१० वीं शती) का चउप्पन्नमहापुरिसचरिय (१०३ अधिकार), सोमप्रभाचार्य (सं. ११९९) का सुमईनाहचरिय (९६२१ श्लोक प्रमाण), लक्ष्मणगणि (सं. ११९९) का सुपासनाहचरिय (८००० गा.), नेमिचन्द्रसूरि (सं. १२१६) का अनन्तनाहचरिय (१२०० गा.), श्रीचन्द्रसूरि (सं. ११९९) का मुनिसुब्वयसामिचरिय (१०९९४ गा.) तथा गुणचन्द्रसूरि (सं. ११३९) और नेमिचन्द्रसूरि (१२ वीं शती) के महावीरचरिय (क्रमशः १२०२५ और २३८५ श्लोक प्रमाण) काव्य विशेष उल्लेखनीय हैं। ये ग्रन्थ प्रायः पद्यबद्ध हैं। कथावस्तु की सजीवता व चरित्र शित्रण की मार्मिकता यहाँ स्पष्टतः दिखाई देती है।

द्वादश चक्रवर्तियों तथा अन्य शलाका पुरुषों पर भी प्राकृत रचनायें उपलब्ध हैं। श्रीचन्द्रसूरि (सं. १२१४) का सणंतकुमारचरिय (८१२७ श्लोक प्रमाण), संघदासगणि और धर्मदासगणि (लगभग ५ वीं शती) का वसुदेवहिण्डी (दो खण्ड) तथा गुणपालमुनि का जम्बूचरिय (१६ उद्देश) इस संदर्भ में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। इन काव्यों में जैनधर्म, इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश डालने वाले अनेक स्थल हैं।

भ. महावीर के बाद होने वाले अन्य आचार्यों और साधकों पर भी प्राकृत काव्य लिखे गये हैं। तिलकसूरि (सं. १२६१) का प्रत्येक बुद्धचरित (६०५० श्लोक प्रमाण) उनमें प्रमुख है। इसके अतिरिक्त कुछ और पौराणिक काव्य मिलते हैं जो आचार्यों के चरित पर आधारित हैं जैसे हेमचन्द्र आदि की कालकाचार्य कथा।

जैनाचार्यों ने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कतिपय प्राकृत काव्य लिखे हैं। कहीं राजा, मन्त्री, अथवा श्रेष्ठी नायक हैं तो कहीं सन्त—महात्मा के जीवन को काव्य के लिए चुना गया है। उनकी दिग्विजय, संघ-यात्रायें तथा अन्य प्रासंगिक वर्णनों में अतिशयोक्तियां भी झलकती हैं। वहाँ काल्पनिक चित्रण भी उभरकर सामने आये हैं। ऐसे स्थलों पर इतिहासवेत्ता को पूरी सावधानी के साथ सामग्री का चयन करना अपेक्षित है। हेमचन्द्रसूरि का द्वाश्रय महाकाव्य चालुक्यवंशीय कुमारपाल महाराजा के चरित का ऐसा ही

चित्रण करता है। इस ग्रन्थ को पढ़कर भट्टिकाव्य, राजतरंगिणी तथा विक्रमांकदेवचरित जैसे ग्रन्थ स्मृति-पथ में आने लगते हैं।

इतिहास के निर्माण में प्रशस्तियों और अभिलेखों का भी महत्त्व होता है। श्रीचन्द्रसूरि के मुनिसुव्वय सामिचरिय (सं. ११९३) की १०० गाथाओं की प्रशस्ति में संघ, शाकम्भरी नरेश पृथ्वीराज, सौराष्ट्र नरेश खेंगार आदि का वर्णन है। साहित्य जहां मौन हो जाता है वहाँ अभिलेख के रूप में बारली (अजमेर से ३२ मील दूर) में प्राप्त पाषाणस्तम्भ पर खुदी चार पंक्तियां हैं जिनमें वीरनिर्वाण संवत् ८४ उत्कीर्ण है। अशोक के लेख इसके बाद के हैं। उनमें भी प्राकृत के विविध रूप दिखाई देते हैं। सम्राट् खारवेल का हाथी गुम्फा शिलालेख, मथुरा और प्रभोसा से प्राप्त शिलालेख तथा घटियाल (जोधपुर) का शिलालेख (सं. ९१८) इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। मूर्ति लेख भी प्राकृत में मिलते हैं।

नाटकों का समावेश दृश्यकाव्य के रूप में होता है। इसमें संवाद,सं गीत, नृत्य, और अभिनय संनिहित होता है। संस्कृत नाटकों में साधारणतः स्त्रियां, विदूषक, तथा निम्नवर्ग के किंकर, धूर्त, विट, भूत, पिशाच आदि अधिकांश पात्र प्राकृत ही बोलते हैं। पूर्णतया प्राकृत में लिखा नाटक अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। नेमचन्द्रसूरि की सट्टककृति नयमंजरी अवश्य मिली है जो कर्पूरमंजरी के अनुकरण पर लिखी गई है। इनमें प्राकृत के नाटकों और सट्टकों के विभिन्न रूप देखने मिलते हैं।

१६. कथा साहित्य

जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा में विपुल कथा साहित्य का निर्माण किया है। उनका मुख्य उद्देश्य कर्म, दर्शन, संयम, तप, चारित्र, दान आदि के महत्त्व को स्पष्ट करता रहा है। आगम साहित्य इन कथाओं का मूल स्रोत है। आधुनिक कथाओं के समान यहां वस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य के रूप में कथा के अंग भी मिलते हैं। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि ग्रन्थों में उपलब्ध कथायें उत्तरकालीन विकास को इंगित करती हैं। यहां अपेक्षाकृत सरसता और स्पष्टता अधिक दिखाई देती है।

समूचे प्राकृत साहित्य को अनेक प्रकार से विभाजित किया गया है। आगमों के अकथा, विकथा और कथा ये तीन भेद किये गये हैं।[1] कथा में

---

१. दशवैकालिक, गा. १८८; समराइच्च कहा, पृ. २

लोककल्याण का हेतु गर्भित होता है इसलिए वह उपादेय है। शेष त्याज्य है। विषय की दृष्टि से कथा के चार भेद हैं—आक्षेपणी, अर्थ, काम और मिश्रकथा। धर्मकथा के भी चार भेद हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी। जैनाचार्यों ने इसी प्रकार को अधिक अपनाया है।[१] पात्रों के आधार पर उन्हें दिव्य, मानुष और मिश्र कथाओं के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।[२] तीसरा वर्गीकरण भाषा की दृष्टि से हुआ है—संस्कृत, प्राकृत और मिश्र।[३] उद्योतनसूरि ने शैली की दृष्टि से कथाके पांच भेद किये हैं—सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा।[४] प्राकृत साहित्य में मिश्रकथायें अधिक मिलती हैं। इन सभी कथा ग्रन्थों का परिचय देना यहाँ सरल नहीं। इसलिए विशिष्ट ग्रन्थों का ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

कथासंग्रह :

जैनाचार्यों ने कुछ ऐसी धर्मकथाओं का संग्रह किया है जो साहित्यकार के लिए सदैव उपजीव्य रहा है। धर्मदासगणि (१० वीं शती) के उपदेशमालाप्रकरण (५४२ गा.) में ३१० कथानकों का संग्रह है। जयसिंहसूरि (वि. सं. ९१५) का धर्मोपदेशमाला विवरण (१५६ कथायें), देवभद्रसूरि (सं. ११०८) का कहारयणकोस (१२३०० श्लोक प्रमाण और ५० कथायें), देवेन्द्रगणि (सं. ११२९)का अक्खाणयमणिकोस (१२७ कथानक) आदि महत्त्वपूर्ण कथासंग्रह हैं जिनमें धर्म के विभिन्न आयामों पर कथानकों के माध्यम से दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं। ये दृष्टान्त सर्वसाधारण के लिए बहुत उपयोगी हैं।

उपर्युक्त कथानकों अथवा लोककथाओं का आश्रय लेकर कुछ स्वतन्त्र कथा साहित्य का भी निर्माण किया गया है जिनमें धर्माराधना के विविध पक्षों की प्रस्तुति मिलती है। उदाहरणतः हरिभद्रसूरि (सं. ७५७–८२७) की 'समराइच्चकहा' ऐसा ही ग्रन्थ है जिसमें महाराष्ट्री प्राकृत गद्य में ९ प्रकरण हैं और उनमें समरादित्य और गिरिसेन के ९ भवों का सुन्दर वर्णन है। इसी कवि का धूर्ताख्यान (४८० गा.) भी अपने ढंग की एक निराली कृति है जिसमें हास्य और व्यंग्यपूर्ण मनोरंजक कथायें निबद्ध हैं। जयराम की प्राकृत धम्मपरिक्खा भी इसी शैली में रची गई एक उत्तम कृति है।

यशोधर और श्रीपाल के कथानक भी आचार्यों को बड़े रुचिकर प्रतीत हुए। सिरिवालकहा (१३४२ गा.) को रत्नशेखरसूरि ने संकलित किया और हेमचन्द्रसाधु (सं. १४२८)ने उसे लिपिबद्ध किया। इसी के आधार पर प्रद्युम्नसूरि

---

१. धवलाटीका, पुस्तक–१, पृ. १०४.
२. समराइच्चकहा, पृ. २; दशवैकालिक, गाथा, १८८
३. लीलावईकहा–३६
४. कुवलयमाला, पृ. ४

और विनयविजय (सं. १६८३) ने प्राकृत कथा-रचनायें की। सुकोशल, सुकुमाल और जिनदत्त के चरित भी लेखकों के लिए उपजीव्य कथानक रहे हैं।

कतिपय रचनायें नारी पात्र प्रधान हैं। पादलिप्तसूरि रचित तरंगवईकहा इसी प्रकार की रचना है। यह अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं पर नेमिचन्द्रगणि ने इसी को तरंगलोला के नाम से संक्षिप्त रूपान्तरित कथाओं (१६४२ गा.) में प्रस्तुत किया है। उद्योतनसूरि (सं. ८३५) की कुवलयमाला (१३००० श्लोक प्रमाण) महाराष्ट्री प्राकृत में गद्य-पद्य मयी चम्पू शैली में लिखी गई इसी प्रकार की अनुपमकृति है जिसे हम महाकाव्य कह सकते हैं। गुणपालमुनि (सं. १२६४) का इसिदत्ताचरिय (१५५० ग्रन्थाग्रप्रमाण), धनेश्वरसूरि (सं. १०९५) का सुरसुन्दरीचरिय (४००१ गा.), देवेन्द्रसूरि (सं. १३२३) का सुदंसणाचरिय (४००२ गा.) आदि रचनायें भी यहां उल्लेखनीय हैं। इन कथा-ग्रन्थों में नारी में प्राप्त भावनाओं का सुन्दर विश्लेषण मिलता है।

कुछ कथा ग्रन्थ ऐसे भी रचे गये हैं जिनका विशेष सम्बन्ध किसी पर्व, पूजा अथवा स्तोत्र से रहा है। ऐसे ग्रन्थों में श्रुतपंचमी के माहात्म्य को प्रदर्शित करने वाला 'नाणपंचमीकहाओ' ग्रन्थ सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इसमें १० कथायें और २८०४ गाथायें हैं। इन कथाओं में भविस्सयत्तकहा ने उत्तरकालीन आचार्यों को विशेष प्रभावित किया है। इसके अतिरिक्त एकादशीव्रतकथा (१३७ गा.) आदि ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।

१७. लाक्षणिक साहित्य

लाक्षणिक साहित्य से हमारा तात्पर्य है– व्याकरण, कोश, छन्द, ज्योतिष, निमित्त व शिल्पादि विधायें। इन सभी विधाओं पर प्राकृत रचनायें मिलती हैं। अणुयोगदारसुत्त आदि प्राकृत आगम साहित्य में व्याकरण के कुछ सिद्धान्त परिलक्षित होते हैं पर आश्चर्य की बात है कि अभी तक प्राकृत भाषा में लिखा कोई भी प्राकृत व्याकरण उपलब्ध नहीं हुआ। समन्तभद्र, वीरसेन और देवेन्द्र सूरि के प्राकृत व्याकरणों का उल्लेख अवश्य मिलता है पर अभी तक वे प्रकाश में नहीं आ पाये। संभव है, वे ग्रन्थ प्राकृत में लिखे गये हों। संस्कृत भाषा में लिखे गये, प्राकृत व्याकरणों में चण्ड का स्ववृत्तिसहित प्राकृत व्याकरण (९९ अथवा १०३ सूत्र), हेमचन्द्रसूरि का सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन (१११९ सूत्र), त्रिविक्रम (१३ वीं शती) का प्राकृत शब्दानुशासन (१०३६ सूत्र) आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरण विषयक नियमों-उपनियमों का सुन्दर वर्णन मिलता है।[1]

---

1. विशेष देखिये, आधुनिक युग में प्राकृत व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन-अनुसन्धान—डॉ. भागचन्द्र जैन, संस्कृत-प्राकृत जैन व्याकरण और कोश की परम्परा, छापर, १९७७, पृ. २१९–२६१.

भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोश की भी आवश्यकता होती है। कोश की दृष्टि से निरुक्तियों का विशेष महत्त्व है। उनमें एक-एक शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रस्तुत किया गया है। प्राकृत कोशकला के उद्भव और विकास की दृष्टि से उनका समझना आवश्यक है। हेमचन्द्र की देशी नाम-माला (७८३ गा.) में ३९७ देशज शब्दों का संकलन किया गया है जो भाषाविज्ञान की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। इसकें अतिरिक्त धनपाल (सं. १०२९) का पाइयलच्छी नाममाला (२७९ गा.), विजयराजेन्द्रसूरि (सं. १९६०) का अभिधान राजेन्द्रकोश (चार लाख श्लोक प्रमाण) और हरगोविन्ददास त्रिविक्रमचन्द सेठ का पाइयसद्दमहण्णव (प्राकृत-हिन्दी) कोश भी यहाँ उल्लेखनीय हैं।

संवेदन शीलता जागृत करने-कराने के लिए छन्द का प्रयोग हुआ है। नंदियड्ढ (लगभग १० वीं शती) का गाहालक्खण (९६ गा.) और रत्नशेखर सूरि (१५ वीं शती) का छन्दःकोश (७४ गा.) उल्लेखनीय प्राकृत छन्द ग्रन्थ हैं।

गणित के क्षेत्र में महावीराचार्य का गणितसार संग्रह तथा भास्कराचार्य की लीलावती प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन दोनों का आधार लेकर उनमें उल्लिखित विषयों को लेकर ठक्कर फेरू (१३ वीं शती)ने गणितसार कौमुदी नामक ग्रन्थ लिखा। उनके अन्य ग्रन्थ हैं– रत्न परीक्षा (१३२ गा.), द्रव्य परीक्षा (१४९ गाथा) धातूत्पत्ति (५७ गा.), भूगर्भप्रकाश आदि। यहाँ यतिवृषभ (छठी शती) की तिलोयपण्णत्ति का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसमें लेखक ने जैन मान्यतानुसार त्रिलोक सम्बन्धी विषय को उपस्थित किया है। यह अठारह हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ है।

ज्योतिष विषयक ग्रन्थों में सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि अंगबाह्य ग्रन्थों के अतिरिक्त ठक्कर फेरु का ज्योतिस्सार (९८ गा.) हरिभद्रसूरि की लग्नसुद्धि (१३३ गा.), रत्नशेखरसूरि (१५ वीं शती) की दिणसुद्धि (१४४ गा.) हीरकलश (सं. १६२१) का ज्योतिस्सार (९०० दोहा) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। निमित्तशास्त्र में भौम, उत्पात, स्वप्न, अंग, अन्तरिक्ष, स्वर, लक्षण, व्यञ्जन आदि निमित्तों का अध्ययन किया गया है। किसी अज्ञात कवि का जयपाहुड (३७८ गा.), धरसेन का जोणिपाहुड, ऋषिपुत्र का निमित्तशास्त्र (१८७ गा.) दुर्गदेव (सं. १०८४) का रिट्ठसमुच्चय (२६१ गा.) आदि रचनायें प्रमुख हैं। अंगविज्जा एक अज्ञातकर्तृक रचना है जिसमें ६० अध्यायों में शुभाशुभ निमित्तों का वर्णन किया गया है। ९–१० वीं शती के पूर्व का यह ग्रन्थ सांस्कृतिक

सामग्रीसे भरा हुआ है। करलक्खण (६१ गा.) भी किसी अज्ञात कवि की रचना है जिसमें लक्षण, रेखाओं आदि का वर्णन है।

वास्तु शिल्प शास्त्र के रूप में ठक्कर फेरु का वास्तुसार (२८० गा.) प्रतिष्ठित ग्रन्थ है जिसमें भूमिपरीक्षा, भूमिशोधन आदि पर विवेचन किया गया है। इसी कवि की एक अन्य कृति रत्न परीक्षा(१३२ गा.) है जिसमें पद्मराग, मुक्ता, विद्रुम आदि १६ प्रकार के रत्नों का उत्पत्ति–स्थान, आकार, वर्ण, गुण, दोष आदि पर विचार किया गया है। उन्हीं की द्रव्यपरीक्षा (१४८ गा.) में सिक्कों के मूल्य, तौल, नाम आदि पर, धातूत्पत्ति (५७ गा.) में पीतल, तांबा आदि धातुओं पर, तथा भूगर्भप्रकाश में ताम्र, स्वर्ण आदि द्रव्य वाली पृथ्वी की विशेषताओं पर विशद प्रकाश डाला गया है। ये सभी ग्रन्थ वि. सं. १३७२–७५ के बीच लिखे गये हैं।

इस प्रकार प्राकृत भाषा और साहित्य के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्यों ने उसकी हर विधा को समृद्ध किया है। प्रस्तुत अध्याय में स्थानाभाव के कारण सभी का उल्लेख करना तो संभव नहीं हो सका। पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्राकृत जैन साहित्य लगभग पच्चीस सौ वर्षों से साहित्य के हर क्षेत्र को अपने योगदान से हरा भरा करता आ रहा है। प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति का हर प्राङ्गण प्राकृत साहित्य का ऋणी है। उसने लोकभाषा और लोकजीवन को अंगीकारकर उनकी समस्याओं के समाधान की दिशा में आध्यात्मिक चेतना को जागृत किया। इतना ही नहीं, आधुनिक साहित्य के लिए भी वह उपजीव्य बना हुआ है। प्रेमाख्यानक काव्यों के विकास में प्राकृत जैन कथा साहित्य को भुलाया नहीं जा सकता।संस्कृत चम्पू और चरित काव्य के प्रेरक प्राकृत ग्रन्थ ही हैं। काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का सरस प्रतिपादन भी यहाँ हुआ है। दर्शन और सिद्धान्त से लेकर भाषाविज्ञान, व्याकरण और इतिहास तक सब कुछ प्राकृत जैन साहित्य में निबद्ध है। उसके समूचे योगदान का मूल्यांकन अभी शेष है।

२. संस्कृत साहित्य

जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा के समान संस्कृत भाषा को भी अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया और इस क्षेत्र को भी अपने पुनीत योगदान से अलंकृत किया। यद्यपि संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम रचना करने वाले जैनाचार्यों में उमास्वाति अथवा उमास्वामी का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है पर हम यहां समूचे संस्कृत जैन साहित्य को विविध विधाओं में वर्गीकृतकर उसको संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना अधिक उपयोगी समझ रहे हैं। साथ ही

विधाओं का जैसा क्रम प्राकृत साहित्य में हमने रखा है वही क्रम यहाँ भी अपना रहे हैं।

१. चूर्णि और टीका साहित्य

चूर्णि साहित्य प्राय: प्राकृत में लिखा गया है। कुछ चूर्णियां ऐसी हैं जिनमें संस्कृत के कुछ गद्यांश और पद्यांश उद्धृत किये गये हैं। उत्तराध्ययन चूर्णि, आचारांग चूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि, निशीथ विशेष चूर्णि, और बृहत्कल्प चूर्णि ऐसे ही ग्रन्थ हैं जिनमें अल्पसंस्कृत-मिश्रित प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

आगम साहित्य पर जो टीकात्मक अथवा विवरणात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं वे संस्कृत में हैं। इस प्रकार की प्रमुख टीकायें और उनके टीकाकार इस प्रकार हैं–

जिनभद्र (७ वीं शती)	विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति		श्लोक प्रमाण
हरिभद्र (८ वीं शती)	आवश्यक वृत्ति	२२०००	,,
	दशवैकालिक वृत्ति		
	जीवाभिगम वृत्ति		
	प्रज्ञापना वृत्ति		
	नन्दि वृत्ति		
	अनुयोगद्वार वृत्ति		
कोट्याचार्य (८ वीं शती)	विशेषावश्यक भाष्य विवरण	१३७००	,,
शीलांक (९–१० वीं शती	आचारांग विवरण	१२०००	,,
	सूत्रकृतांग विवरण	१२८५०	,,
शान्तिसूरि (११ वीं शती)	उत्तराध्ययन टीका		
द्रोणसूरि (११–१२ वीं शती)	ओघनिर्युक्ति वृत्ति		
अभयदेव (१२ वीं शती)	स्थानांग वृत्ति	१४२५०	,,
	समवायांग वृत्ति	३२७५	,,
	व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति	१८६१६	,,
	ज्ञाता धर्म कथा विवरण	३८००	,,
	उपासक दशांग वृत्ति		
	अन्त:कृद्दशांगवृत्ति		
	अनुत्तरौपपातिक दशावृत्ति		
	प्रश्न व्याकरण वृत्ति		
	विपाक वृत्ति		
	औपपातिकवृत्ति		

मलयगिरि (११-१२ वीं शती)	भगवतीसूत्र-द्वितीय शतकवृत्ति	३७५० ,,
	राजप्रश्नोपांगटीका	३७०० ,,
	जीवाभिगमोपांगटीका	१६००० ,,
	प्रज्ञापनोपांगटीका	१६००० ,,
	चन्द्रप्रज्ञप्त्युपांगटीका	९५०० ,,
	सूर्यप्रज्ञप्तिटीका	९५०० ,,
	नन्दीसूत्रटीका	७७३२ ,,
	व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४००० ,,
	बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति (अपूर्ण)	४६०० ,,
	आवश्यकवृत्ति (अपूर्ण)	१८००० ,,
	पिण्डनिर्युक्तिटीका	६७०० ,,
	ज्योतिष्करण्डकटीका	५००० ,,
	धर्मसंग्रहणीवृत्ति	१००० ,,
	कर्मप्रकृतिवृत्ति	८००० ,,
	पंचसंग्रहवृत्ति	१८८५० ,,
	षडशीतिवृत्ति	२००० ,,
	सप्ततिकावृत्ति	३७८० ,,
	बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५००० ,,
	बृहत्क्षेत्रसमासवृत्ति	९५०० ,,
	मलयगिरिशब्दानुशासन	५००० ,,
मलधारी हेमचन्द्र (१२ वीं शती)	आवश्यकवृत्तिप्रदेश व्याख्या	४६०० ,,
	अनुयोगद्वारवृत्ति	५९०० ,,
	विशेषावश्यक भाष्य-बृहद्वृत्ति	२८००० ,,
	शतक विवरण	
	उपदेश माला सूत्र	
	उपदेशमालावृत्ति	
	जीवसमासविवरण	४१५०० ,,
	भवभावना सूत्र	
	भवभावना विवरण	
	नन्दि टिप्पण	
नेमिचन्द्र (१०७२ ई.)	उत्तराध्ययन सुखबोधाटीका	१२००० ,,
श्रीचन्द्रसूरि (१२ वीं शती)	निशीथचूर्णि दुर्गपदव्याख्या	
	निरयावलिकावृत्ति	६०० ,,
	जीतकल्पबृहच्चूर्णि	११२० ,,

क्षेमकीर्ति (१२७५ ई.)	बृहत्कल्पवृत्ति	४२६०० ,,
माणिक्यशेखरसूरि (१५ वीं शती)	आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका	
महेश्वरसूरि (१५ वीं शती)	आचारांगदीपिका	
विमलसूरि (१६३२ ई.)	उत्तराध्ययनव्याख्या	१६२५५ ,,
समयसुन्दरसूरि (१६३४ ई.)	दशवैकालिकदीपिका	३४५० ,,
ज्ञानविमलसूरि (१८ वीं शती)	प्रश्नव्याकरण वृत्ति	७५०० ,,
संघविजयगणि (१६१७ ई.)	कल्पसूत्र-कल्पप्रदीपिका	३२५० ,,
विनयविजय उपाध्याय (१६३९ई.)	कल्पसूत्र सुबोधिका	५४०० ,,
समयसुन्दरगणि (१७ वीं शती)	कल्पसूत्र-कल्पलता	७७०० ,,
शान्तिसागरगणि (१६५० ई.)	कल्पसूत्र कौमुदी	३७०७ ,,

२. कर्म साहित्य

मूलकर्म साहित्य प्राकृत में लिखा गया है पर उस पर टीका साहित्य संस्कृत में भी मिलता है। शाम कुण्ड ने कर्म प्राभृत और कषाय प्राभृत पर प्राकृत-संस्कृत-कन्नड़ मिश्रित भाषाओं मे बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी पर वह आज उपलब्ध नहीं। इसी प्रकार समन्तभद्र ने भी कर्मप्राभृत पर ४८००० श्लोक प्रमाण सुन्दर संस्कृत भाषा में टीका लिखी, पर वह भी आज मिलती नहीं। उपलब्ध टीकाओं में कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) पर वीरसेन द्वारा लिखी प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित, धवला टीका उल्लेखनीय है जो ७२००० श्लोक प्रमाण है। इसके बाद उन्होंने कषायप्राभृत की चार विभक्तियों पर २०००० श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखी जो पूरी नहीं हो सकी। उस अधूरे काम को जयसेन (जिनसेन) ने ४०००० श्लोक प्रमाण में लिखकर पूरा किया।[1] कषायपाहुड की रचना आचार्य गुणधर (ई. द्वितीय शती) ने तथा कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) की रचना पुष्पदन्त-भूतबलि (प्रथम शताब्दी) ने शौरसेनी प्राकृत में की थी। यहाँ कषायप्राभृत पर संस्कृत में लिखी गई वीरसेन-जिनसेनकृत जयधवला टीका (शक सं. ७३८) ही विशेष उल्लेखनीय है। यह साठ हजार श्लोक प्रमाण बृहत्काय ग्रन्थ है। ये दोनों ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायसे संबद्ध हैं। उत्तरकालीन पंचसंग्रह आदि कर्मग्रन्थ इन्हीं के आधार पर लिखे गये हैं।

षट्खण्डागम और कषायपाहुड की भाषा शौरसेनी है जिसका पूर्वरूप हमें अशोक के गिरनार शिलालेख (ई. पू. ३ री शती) में मिलता है। धवला टीका मणिप्रवाल शैली (गद्यात्मक प्राकृत तथा क्वचित् संस्कृत) में लिखी गई

१. षट्खण्डागम, पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ. ३८

है। उसमें प्राकृत के तीन स्तर मिलते हैं—१. सूत्रों की प्राकृत जो प्राचीनतम शौरसेनी के रूप में है, २. उद्धृत गाथाओं की प्राकृत, और ३. गद्य प्राकृत। यहाँ शौरसेनी प्राकृत के साथ-साथ अर्द्धमागधी प्राकृत की कतिपय विशेषतायें दृष्टव्य हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत के ये तीन स्तर उसके भाषा विकासात्मक रूप के परिचायक हैं। शौरसेनी के महाराष्ट्री प्राकृत का मिश्रण उत्तरकाल में मिलने लगता है। दण्डी के अनुसार शौरसेनी ने ही महाराष्ट्र में नया रूप धारण किया जिसे महाराष्ट्री प्राकृत कहा जाता है। वही उत्कृष्ट प्राकृत है (महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः—काव्यादर्श)। सेतुबन्ध आदि महाकाव्य इसी भाषा में लिखे गये (भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. ७६–७७)।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का कर्म साहित्य उसके कर्मप्रकृति, शतक, पञ्चसंग्रह और सप्ततिका नामक कर्मग्रन्थों पर आधारित है। कर्मप्रकृति पर दो संस्कृत टीकायें हैं—एक मलयगिरिकृत (१२-१३ वीं शती) वृत्ति (८००० श्लोक प्रमाण) और दूसरी यशोविजय (१८ वीं शती) कृत वृत्ति (१३००० श्लोक प्रमाण)। पञ्चसंग्रह की व्याख्याओं में दो व्याख्यायें महत्वपूर्ण हैं—चन्द्रर्षि महत्तरकृत स्वोपज्ञवृत्ति (९००० श्लोक प्रमाण) तथा मलयगिरिकृत बृहद्वृत्ति (१८८५० श्लोक प्रमाण)। छोटी-मोटी और भी टीकायें प्रकाशित हुई हैं।

३. सिद्धान्त साहित्य

आचार्य उमास्वाति (वि. १–२ शती) प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने प्राकृत में लिखित सिद्धान्त साहित्य को संस्कृत में सूत्र-बद्ध किया। उनके तत्वार्थ-सूत्र पर ही उत्तरकाल में सर्वार्थ सिद्धि, तत्वार्थराजवार्तिक, तत्वार्थश्लोकवार्तिक आदि अनेक बृहत्काय ग्रन्थों की रचना हुई। उसके बाद आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत ग्रन्थों पर संस्कृत में अनेक टीकायें रची गईं। प्रवचनसार और समयसार पर अमृतचन्द्र (१० वीं शती) और जयसेन (१२ वीं शती) की टीकायें, नियमसार पर पद्मप्रभ मलधारीदेव, पञ्चास्तिकाय पर अमृतचन्द्र, जयसेन, ज्ञानचन्द्र, मल्लिषेण, प्रभाचन्द्र आदि की टीकायें तथा अट्ठपाहुड पर श्रुतसागर, अमृतचन्द्र, आदि की टीकायें मिलती हैं। जीवविचार पर पाठक रत्नाकर (वि. सं. १६१०), मेघनन्दन (वि. सं. १६१०), समयसुन्दर तथा क्षमाकल्याण (वि. सं. १८५९) ने, जीवसमास पर हेमचन्द्र (६६२७ श्लोक प्रमाण) ने, समयखित्तसमास पर हरिभद्रसूरि, मलयगिरि सूरि व रत्नशेखरसूरि ने, पवयणसारुद्धार पर सिद्धसेनसूरि (वि. सं. १२४८) ने १६५०० श्लोक प्रमाण और उदयप्रभ ने ३२०३ श्लोक प्रमाण, तथा सत्तरिसयठाणपयरण

पर देवविजय (वि. सं. १३७०) ने २१०० श्लोक प्रमाण टीकायें लिखी हैं।

सिद्धान्त साहित्य में टीकात्मक ग्रन्थों की संख्या अवश्य अधिक है पर उनमें मौलिकता की कमी नहीं। कुछ मौलिक ग्रन्थ भी हैं। जैसे अमृतचन्द्र सूरि का पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, व तत्वार्थसार, माघनन्दी (१३ वीं शती) का शास्त्रसार समुच्चय, तथा जिनहर्ष (वि. सं. १५०२) का विंशतिस्थानक-विचारामृतसंग्रह (२८०० श्लोक परिमाण) उल्लेखनीय हैं।

उपदेशात्मक साहित्य भी टीकात्मक अधिक है। मूलतः वे प्राकृत में लिखे गये हैं पर बाद में उन पर संस्कृत में टीकायें हुई हैं। जैसे उवएसमाला पर लगभग बीस संस्कृत टीकायें हैं जिनमें सिद्धर्षि (वि. सं. १६२) और रत्नप्रभसूरि (वि. सं. १२३८) की टीकायें अग्रगण्य कही जा सकती है। जयशेखर (वि. सं. १४६२) की प्रबोधचिन्तामणि (१९११ पद्य) सोमधर्मगणी (वि. सं. १५०३) की उपदेशसप्ततिका (३००० श्लोक प्रमाण), रत्नमन्दिर गणी (वि.सं. १५१७) की उपदेशतरंगिणी, गुणभद्र (९ वीं शती) का आत्मानुशासन, हरिभद्रसूरि का धर्मबिन्दु, वर्धमान (वि. सं. ११७२) का धर्मरत्नकरण्डक, आशाधर (१२३९ ई.) के सागारधर्मामृत और अनगार धर्मामृत, जयशेखर (वि. सं. १४५७) की सम्यक्त्व कौमुदी, चरित्ररत्नगणी (वि. सं. १४९९) का दानप्रदीप, उदयधर्मगणी (वि. सं. १५४३) का धर्मकल्पद्रुम, अमितगति (लगभग १००० ई.) के सुभाषितरत्नसंदोह आदि ग्रन्थ मूलतः संस्कृत में हैं। उनपर अनेक टीकायें भी लिखी गई हैं।

न्याय साहित्य :

उत्तरकाल में सिद्धान्त ने न्याय के क्षेत्र में प्रवेश किया। आचार्यों ने उसे भी परिपुष्ट किया। समन्तभद्र (२-३ री शती) की आप्तमीमांसा, स्वयंभू-स्तोत्र और युक्त्यनुशासन इस क्षेत्र के प्राथमिक और विशिष्ट ग्रन्थ हैं। आप्त-मीमांसा पर अकलंक (७२०-७८० ई.) की अष्टशती, विद्यानंदि (७७५-८४० ई.) की अष्टसहस्री, और वसुनन्दि (११-१२ वीं शती) की देवागम वृत्ति उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त मल्लवादी (३५०-४३० ई.) का नय-चक्र, पूज्यपाद देवनन्दी (पंचम शती) की सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेन (६-९ वीं शती) के सम्मतितर्क और न्यायावतार, हरिभद्रसूरि (७०५-७७५ ई.) के शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शन समुच्चय और अनेकान्त जयपताका, अकलंक (७२०-७८० ई.) के न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाण संग्रह, तत्वार्थ राजवार्तिक, अष्टशती, विद्यानन्दि (७७५-८४० ई.) की प्रमाण परीक्षा, सत्यशासन परीक्षा, आप्तपरीक्षा, तत्वार्थ श्लोकवार्तिक, पत्रपरीक्षा,

सिद्धर्षिगणि (९–१० वीं शती) की न्यायावतारटीका, माणिक्यनन्दि (१०–११ वीं शती) का परीक्षामुख, प्रभाचन्द्र (११ वीं शती) के न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड, अनन्तवीर्य (११ वीं शती) की प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्र (१०८९–११७२ ई.) की प्रमाणमीमांसा, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, वादिदेवसूरि (१२ वीं शती) का प्रमाणनय तत्त्वालोक, वादिराजसूरि (१२ वीं शती) के प्रमाणनिर्णय और न्यायविनिश्चय विवरण, मल्लिषेण (१३ वीं शती) की स्याद्वादमंजरी, गुणरत्न (१३४३–१४१८ ई.) की षड्दर्शनसमुच्चयटीका आदि ग्रन्थ जैन न्याय के आधार स्तम्भ हैं। इस युग में अनेकान्तवाद की स्थापना तार्किक ढंग से की जा चुकी थी तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष की परिभाषाओं को स्थिर कर दिया गया था। नव्यन्याय के क्षेत्र में यशोविजय (१८ वीं शती) के नयप्रदीप, ज्ञानबिन्दु, अनेकान्त व्यवस्था, तर्कभाषा, न्यायालोक, न्यायखण्ड-खाद्य आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। संस्कृत साहित्य के विकास में इन दार्श-निक और न्याय विषयक ग्रन्थों का एक विशिष्ट योगदान है। इनमें तार्किक पद्धति के माध्यम से सिद्धान्तों को प्रस्थापित गया किया है।

योग साहित्य अध्यात्म की चरमावस्था को प्राप्त करने का सुन्दरतम साधन है। संस्कृत जैन लेखकों नें इस पर भी खूब लिखा है। पूज्यपाद का इष्टोपदेश तथा समाधिशतक प्राचीनतम रचनायें होंगी। उनके बाद हरिभद्रसूरि संभवतः प्रथम आचार्य होंगे जिन्होंने और अधिक जैन योग विषयक ग्रन्थों को संस्कृत में लिखने का उपक्रम किया। उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं– योगबिन्दु (५२७ पद्य), योगदृष्टि समुच्चय (२२६ पद्य) और ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय (४२३ पद्य)। इसी प्रकार हेमचन्द्र (१२ वीं शती) का योगशास्त्र, शुभचन्द्र (१३ वीं शती) का ज्ञाना-र्णव और रत्नशेखरसूरि (१५ वीं शती) की ध्यानदण्डकस्तुति तथा आशाधर का आध्यात्मरहस्य आदि ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं। इसी प्रकार की योग विषयक और भी कृतियां हैं।

योग साधना के लिए अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन आवश्यक है। संस्कृत में द्वादशानुप्रेक्षा नाम से तीन ग्रन्थ मिलते हैं– सोमदेवकृत, कल्याणकीर्तिकृत और अज्ञातकर्तृक। मुनि सुन्दरसूरि का आध्यात्मकल्पद्रुम, यशोविजय गणि का आध्यात्मसार और आध्यात्ममोपनिषद्, राजमल्ल (वि. सं. १६४१) का आध्यात्मकमलमार्तण्ड, सोमदेव की अध्यात्मतरंगणी आदि ग्रन्थ आध्यात्म से से सम्बद्ध हैं। इन ग्रन्थों में मन-वचन-काय की प्रवृत्तियों को संयमितकर परम विशुद्धावस्था को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसका वर्णन किया गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक प्राकृत ग्रन्थ पर शुभचन्द्र भट्टारक (१५५६ ई.) की संस्कृत टीका भी उपलब्ध है।

४. आचार साहित्य

प्राकृत के समान संस्कृत में भी आचार साहित्य का निर्माण हुआ है। उमास्वामी (प्रथम-द्वितीय शती) का तत्त्वार्थसूत्र इस क्षेत्र की प्रथम रचना कही जा सकती है। कुछ विद्वान प्रशमरतिप्रकरण को भी उन्हीं का ग्रन्थ मानते हैं। समन्तभद्र (द्वितीय-तृतीय शती) का रत्नकरण्डश्रावकाचार, अमितगति (वि. सं. १०५०), का श्रावकाचार, अमृतचन्द्रसूरि (१००० ई.) का पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, सोमदेव का उपासकाध्ययन, माघनन्दि (वि. सं. १२६५) का श्रावकाचार, आशाधर के सागर-अनगार धर्मामृत, वीरनंदी (१२ वीं शती) का आचारसार, सोमप्रभसूरि १२–१३ वीं शती) का सिन्दूर प्रकरण और श्रृङ्गारवैराग्यतरंगणी, देवेन्द्रसूरि (१३ वीं शती) की संघाचारविधि, रत्नशेखरसूरि (वि. सं. १५१६) का आचार प्रदीप (४०६५ श्लोक प्रमाण), राजमल्ल (१७ वीं शती) कृत लाटीसंहिता आदि ग्रन्थ भी आचार विषयक हैं।

भक्तिपरक साहित्य :

इनके अतिरिक्त संस्कृत में कुछ ऐसे भी ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनका विशेष सम्बन्ध पूजा-प्रतिष्ठा आदि से रहा है। इनकी भी संख्या कम नहीं। ये ग्रन्थ भक्ति परक हैं। पूज्यपाद की भक्तिपरक रचनायें इस क्षेत्र में संभवतः प्राचीतम रही होंगी जिनकी रचना आचार्य कुन्दकुन्द की भक्तिपरक कृतियों के आधार पर हुई। समन्तभद्र का देवागमस्तोत्र जिनस्तुतिशतक व स्वयंभूस्तोत्र, सिद्धसेन की बत्तीसियाँ, अकलंक का अकलंकस्तोत्र, बप्पिभट्टि (७४३–८३८ ई.) का चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र, धनञ्जय (८–९ वीं शती) का विषापहारस्तोत्र, गुणभद्र (९ वीं शती) का आत्मानुशासन, विद्यानंदि (८–९ वीं शती), का सुपार्श्वनाथस्तोत्र, अमितगति (१० वीं शती) कृत सुभाषित रत्नसंदोह, वादिराज (१०–११ वीं शती) कृत एकीभाव स्तोत्र, वसुनन्दि (११ वीं शती) कृत जिनशतक स्तोत्र, मानतुंग (११ वीं शती) कृत भक्तामर स्तोत्र, हेमचन्द्र (११–१२ वीं शती) कृत वीतरागस्तोत्र, शुभचन्द्र (१२ वीं शती) कृत ज्ञानार्णव, आशाधर (१२–१३ वीं शती) कृत सहस्रनामस्तोत्र, अर्हद्दास (१३ वीं शती) कृत भव्यजनकंठाभरण, पद्मनन्दि (१४ वीं शती) कृत जरीपल्लीपार्श्वनाथस्तोत्र, वैराग्यशतक, विमलकवि (१५ वीं शती) कृत प्रश्नोत्तररत्नमाला, दिवाकरमुनि (१५ वीं शती) कृत श्रृङ्गारवैराग्यतरंगणी आदि ग्रन्थ भक्तिपरक हैं। भक्तों ने इन संस्कृत ग्रन्थों में अपने इष्टदेव की स्तुति की है। लगभग प्रत्येक ग्रन्थ में ग्रन्थकारों ने किसी न किसी की स्तुति की है जिनका अभी तक संकलन नहीं हो पाया। सूत्रकृतांग में तो वीरस्तुति नाम का समूचा अध्याय है।

कुछ ग्रन्थ प्रतिष्ठाओं से सम्बद्ध है। "प्रतिष्ठाकल्प" नाम के ऐसे अनेक ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं परन्तु उनमें से हेमचन्द्र, हस्तिमल्ल और हरिविजय सूरि के ही प्रतिष्ठाकल्प अभी तक प्रकाश में आये हैं। इनके अतिरिक्त वसुनन्दि का प्रतिष्ठासारसंग्रह व आशाधार का प्रतिष्ठा सारोद्धार भी महत्व पूर्ण ग्रन्थ हैं।

जैनधर्म में मन्त्र-तन्त्र की भी परम्परा रही है। सूरिमंत्र जिनप्रभसूरि का सूरिमन्त्रबृहत्कल्प विवरण, सिंहतिलकसूरि (१३ वीं शती) का मंत्रराजरहस्य मल्लिषेण के भैरवपद्मावतीकल्प, कामचाण्डालिनीकल्प, सरस्वतीकल्प, विनयचन्द्रसूरि का दीपालिकाकल्प आदि मन्त्र-तन्त्रात्मक रचनायें प्रसिद्ध हैं। पंचमेरु सिद्धचक्रविधान, चतुर्विंशति विधान आदि विधिपरक रचनायें भी मिलती है। विविध तीर्थकल्प को भी इसी में सम्मिलित किया जा सकता है जिसमें जिनप्रभसूरि ने जैन तीर्थों का ऐतिहासिक वर्णन किया है।

५. पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य

पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य का सम्बन्ध जैनधर्म में मान्य महापुरुषों से आता है। इनमें उनके चरित, कर्मफल, लोकतत्त्व, दिव्यतत्त्व, आचारतत्त्व आदि का वर्णन किया जाता है। यहाँ तीर्थंकरों, चरितनायकों, साधकों अथवा राजाओं के जीवन चरित्र को काव्यात्मक आधार देकर उपस्थित किया गया है।

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का कथानक सार्वदेशिक और सार्वकालिक रहा है। जैन काव्य धारा में भी उसकी अनेक परम्परायें सामने आयीं और उनमें काव्य लिखे गये। संस्कृत में लिखे काव्यों में रविषेण (वि. सं. ७३४) का पद्मपुराण अथवा पद्मचरित, (१८०२३ श्लोक), जिनदास (१६ वीं शती), सोमसेन, धर्मकीर्ति, चन्द्रकीर्ति आदि विद्वानों के पद्मपुराण प्रसिद्ध हैं। महाभारत विषयक पौराणिक महाकाव्यों में जिनसेन का हरिवंशपुराण (शक सं. ७०५), देवप्रभसूरि (वि. सं. १२७०) का पाण्डवचरित, सकलकीर्ति (१५ वीं शती) का हरिवंशपुराण, शुभचन्द्र (वि. सं. १६०८), वादिचन्द्र (वि. सं. १६५४) व श्रीभूषण (वि. सं. १६५७) आदि के पाण्डवपुराण प्रमुख हैं।

त्रेसठशलाका महापुरुषों से सम्बद्ध संस्कृत साहित्य परिमाण में कहीं और अधिक है। जिनसेन का आदिपुराण, गुणभद्र (८ वीं शती) का उत्तरपुराण (शक सं. ७७०), श्रीचन्द्र का पुराणसार (वि. सं. १०८०), दामनन्दि (११वीं शती) का पुराणसार संग्रह, मुनि मल्लिषेण का त्रिषष्टिमहापुराण (वि. सं. ११०४), आशाधर का त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र (वि. सं. १२८२), हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (वि. सं. १२२८), आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इसी

प्रकार अमृतचन्द्र का चतुर्विंशतिजिनेन्द्र संक्षिप्तचरितानि (१२३८ ई.), अमर चन्द्रसूरि का पद्मानन्द महाकाव्य (वि. सं. १२९४), वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित (११ वीं शती), मानतुंगसूरि का श्रेयांसनाथचरित (वि. सं. १३३२), वर्धमानसूरि का वासुपूज्यचरित (वि. सं. १२९९), ज्ञानसागर का विमलनाथचरित (वि. सं. १५१७), असग का शान्तिनाथपुराण (शक सं. ९१०), माणिक्यचन्द्रसूरि का शान्तिनाथचरित[1] (वि. सं. १२७६), विनयचन्द्र सूरि का मल्लिनाथचरित, मुनिसुव्रतनाथचरित, कीर्तिराज उपाध्याय का नेमिनाथ महाकाव्य (१४ वीं शती), गुणविजयगणि का नेमिनाथचरित (वि. सं. १६६८), वादिराजसूरि (शक. सं. ९४७), माणिक्यचन्द्रसूरि, विनयचन्द्रसूरि, भावदेवसूरि आदि के पार्श्वनाथचरित, असग का महावीरचरित (वि. सं. १०४५), सकलकीर्ति का वर्धमानचरित आदि ग्रन्थ भी उत्तम कोटि के हैं।

चक्रवर्तियों पर भी अनेक संस्कृत काव्य लिखे गये हैं। चौबीस कामदेवों में नल भी एक लोकप्रिय विषय रहा है जिसपर लगभग पन्द्रह काव्य लिखे गये हैं। उनके अतिरिक्त हनुमान, वसुदेव, बलिराज, प्रद्युम्न[2] नागकुमार,[3] जीवन्धर और जम्बूस्वामी पर भी शताधिक संस्कृत काव्यों का प्रणयन हुआ है। जीवन्धर का आधार लेकर क्षत्रचूड़ामणि, गद्यचिन्तामणि (वादीभ सिंह), जीवन्धरचम्पू (हरिचन्द्र) तथा जम्बूस्वामीचरित का आधार लेकर पच्चीसों ग्रन्थ लिखे गये है। प्रत्येकबुद्धों (करकुण्ड, नग्गई, नमि और दुर्मुख) पर श्वेताम्बर परम्परा में अधिक ग्रन्थ लिखे गये,[4] हैं जबकि दिगम्बर परम्परा में केवल करकण्डु को रचना का विषय बनाया गया है।

इनके अतिरिक्त काव्य में कुछ ऐंसे भी महापुरुषों के जीवन-चरितों को अपने लेखक का विषय बनाया गया है जिनका संबन्ध महावीर, श्रेणिक अथवा जैन संस्कृति से रहा है। ऐसे चरितों में धन्यकुमार, शालिभद्र, पृथ्वीचंद्र, आर्द्रक कुमार, जयकुमार, सुलोचना, पुण्डरीक, वरांग श्रेणिक, अभयकुमार, गौतम, मृगापुत्र, सुदर्शन, चंदना, मृगावती, सुलसा आदि व्यक्तियों पर लिखे गये चरित काव्यों की संख्या शताधिक है। आचार्यों को भी चरित काव्यों का विषय बनाया गया है। भद्रबाहु, स्थूलभद्र, कालकाचार्य वज्रस्वामी, पादलिप्तसूरि, सिद्धसेन बप्पिभट्टि, हरिभद्रसूरि, सोमसुंदरसूरि, सुमतिसंभव, हीरसौभाग्य, विजयदेव,

---

१. अजितप्रभसूरि, देवसूरि, भावचन्द्रसूरि आदि अनेक लेखकों के भी इस नाम से ग्रन्थ मिलते हैं।

२. महासेनाचार्य सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, यशोधर आदि के प्रद्युम्नचरित उपलब्ध हैं।

३. मल्लिषेण, धर्मधर, दामनन्दि आदि के नागकुमारचरित प्राप्त हैं।

४। कुम्मापुत्त और अम्बड को भी प्रत्येक बुद्धों से सम्बद्ध किया जाता है।

अनुचंद्रगणि, दिग्विजय, जिनकृपाचंद्रसूरि आदि ऐसे ही प्रमुख आचार्य कहे जा सकते हैं जिनपर जैन विद्वानों ने संस्कृत काव्य लिखे हैं।

जैनाचार्यों ने ऐतिहासिक महापुरुषों पर भी संस्कृत महाकाव्य का सृजन किया है इससे उनके ऐतिहासिक ज्ञान का पता चलता है। हेमचन्द्र के कुमारपाल और द्वाश्रय महाकाव्य (संस्कृत–प्राकृत मिश्रित), अरिसिंह का सुकृत संकीर्तन (वि. सं. १२७८), बालचंद्रसूरि का वसंतविलास (वि.सं. १३३४), नयचंद्रसूरि का हम्मीर महाकाव्य (वि.सं. १४४०), जिनहर्षगणि का वस्तुपाल चरित (वि. सं. १४९७), सर्वानंद का जगडूचरित (वि.सं. १३५०), प्रभाचंद्र का प्रभावकचरित (वि. सं. १३३४), तथा मेरुतुंगसूरि का प्रबन्ध चिंतामणि (वि.सं.१३६१), आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। इत ग्रंथों में वर्णित राजाओं ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में पर्याप्त योगदान दिया है। इसी प्रकार अनेक प्रशस्तियां, पट्टावलियां गुर्वावलियां, तीर्थमालायें, शिलालेख, मूर्तिलेख आदि भी संस्कृत-भाषा में निबद्ध हैं।

६. कथा साहित्य

जैनाचार्यों ने संभवतः कथा ग्रंथों की सर्वाधिक रचना की है। यद्यपि ये कथायें घटना-प्रधान अधिक हैं परन्तु उनमें एक विशेष लक्ष्य दिखाई देता है। यह लक्ष्य है—आध्यात्मिक चरम साधना के उत्कर्ष की प्राप्ति। इस संदर्भ में लेखकों ने आगमों में वर्णित कथाओं का आश्रय तो लिया ही है, साथ ही नीति कथाओं की पृष्ठभूमि में लौकिक कथाओं का भी भरपूर उपयोग किया है। हरिषेण का वृहत्कथा कोष (वि. सं. ९५५), प्रभाचंद्र तथा नेमिचंद्र के कथाकोश, सोमचंद्रगणि का कथा महादधि (वि. सं. १५२०) शुभशीलगणि का प्रबंध पंचशती, सकलकीर्ति आदि के व्रतकथाकोष, गुणरत्नसूरि का कथार्णव, अनेक कवियों के पुण्याश्रव कथाकोश आदि रचनायें श्रेष्ठ संस्कृत काव्य को प्रस्तुत करती हैं। इनमें तत्कालीन प्रचलित अथवा कल्पित कथाओं को जैन धर्म का पुट देकर निबद्ध किया है। धर्माभ्युदय, सम्यक्त्वकौमुदी, धर्मकल्पद्रुम, धर्मकथा, उपदेशप्रासाद, सप्तव्यसन कथा आदि कथात्मक ग्रंथों में व्रत पूजादि से सम्बद्ध कथाओं का संकलन है। धर्मपरीक्षा नाम के भी अनेक कथा ग्रंथ इसी विषय से संबद्ध मिलते हैं। सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपञ्चकथा (वि.सं. ९६२) तथा नागदेव का मदनपराजय (लगभग १५ वीं शती) जैसे कुछ ग्रन्थ ऐसे भी प्राप्त होते हैं जो रूपक शैली में कर्मकथा कहने का उपक्रम करते हैं।

धर्म के किसी पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए साहित्य अथवा इतिहास से किसी व्यक्ति का चरित उठा लिया गया और उसे अपने ढंग से प्रस्तुत कर

दिया गया। यशोधर का चरित्र ऐसा ही क्रम है जो लेखकों को बड़ा प्रिय लगा। सोमदेव (१० वीं शती) ने उसे यशस्तिलकचम्पू में निबद्धकर और भी रुचिकर बना दिया। दशों ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में इस कथा का आधार लेकर रचे गये हैं। अहिंसा के माहात्म्य को यहाँ अभिव्यक्ति किया गया है। लगभग बीस ग्रन्थ 'श्रीपालचरित' के मिलते हैं जिनमें सिद्धचक्र के माहात्म्य को प्रस्तुत किया गया है। भविष्यदत्तकथा, मणिपतिचरित, सुकोशलचरित, सुकुमालचरित, जिनदत्तचरित, गुणवर्मचरित, चम्पकश्रेष्ठीकथा, धर्मदत्तकथा, रत्नपालकथा, नागदत्तकथा, आदि सैकड़ों ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें इस प्रकार की कथाओं के माध्यम से धर्म और संस्कृति को उद्घाटित किया गया है।

कुछ ऐसे भी कथा ग्रन्थ हैं जिनमें महिला वर्ग को पात्र बनाया गया है। रत्नप्रभाचार्य (१३ वीं शती) की कुवलयमालाकथा, जिनरत्नसूरि (वि. सं. १३४०) की निर्वाणलीलावतीकथा, माणिक्यसूरि (१५ वीं शती) की महाबल-मलयसुन्दरी आदि शताधिक कथाग्रंथ प्रसिद्ध हुए हैं।

इसी प्रकार तिथि, पर्व, पूजा, स्तोत्र, व्रत आदि से संबद्ध सैकड़ों कथायें हैं जिन्हें जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में निबद्ध किया है। विक्रमादित्य की कथा भी बहुत लोकप्रिय हुई है। कुछ धूर्ताख्यान और नीतिकथात्मक साहित्य भी मिलता है। जिनसे जीवन की सफलता के सूत्र संबलित किये जाते हैं।

७. ललित वाङ्मय

जैनाचार्यों ने संस्कृत के ललित वाङमय को भी बहुत समृद्ध किया है। उन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, संदेशकाव्य, नाटक आदि अनेक विधाओं पर अपनी लेखनी चलायी है। महासेनसूरि का प्रद्युम्नचरित (१० वीं शती), वाग्भट का नेमिनिर्वाण काव्य (१० वीं शती), वीरनन्दि (११ वीं शती) का चन्द्रप्रभचरित, असग का वर्धमानचरित (१० वीं शती), हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय (१३ वीं शती), जिनपालगणि (१३ वीं शती) का सनत्कुमारचरित, अभयदेवसूरि (वि. सं. १२७८) का जयन्तविजय, वस्तुपाल (१३ वीं शती) का नरनारायणनंद, अर्हत्दास (१३ वीं शती) के मुनिसुव्रत काव्य, पुरुदेवचम्पू और भव्यकण्ठाभरण, जिनप्रभसूरि का श्रेणिकचरित (वि. सं. १३५६), मुनिभद्रसूरि का शांतिनाथचरित (वि. सं. १४१०), भूरामल का जयोदय महाकाव्य (वि. सं. १९९४) आदि महाकाव्य परम्परागत महाकाव्यों के लक्षणों से अलंकृत हैं। उनकी भाषा भी प्रांजल और ओजमयी है। धनंजय (८ वीं शती) का द्विसंधान महाकाव्य और मेघविजयगणि का सप्त-संधान महाकाव्य (वि. सं. १७६०), जयशेखरसूरि का जैनकुमार संभव

(वि. सं. १४८३) धनपाल (११ वीं शती) की तिलकमंजरी, वादीभसिंह (१०१५–११५० ई.) की गद्य चिंतामणि, सोमदेव का यशस्तिलक चम्पू (वि॰ सं. १०१६), हरिचंद का जीवन्धरचम्पू आदि काव्य भी संस्कृत साहित्य के आभूषण कहे जा सकते हैं।

संदेश काव्यों में पार्श्वाभ्युदय (जिनसेनाचार्य, ८ वीं शती) नेमिदूत (विक्रम, १४ वीं शती), जैनमेघदूत (मेरुतुंग, १४ वीं शती), शीलदूत (चरित्र सुन्दरगणि, वि. सं. १४८४) पवनदूत (वादिचन्द्र, वि. सं. १७२७) चेतोदूत, मेघदूत समस्यालेख, इंद्रदूत, चंद्रदूत आदि काव्यों में गीतितत्व वस्तुकथा का आश्रय लेकर सुंदर ढंग से सँजोये गये हैं। जैनस्तोत्र साहित्य तो और भी समृद्ध हैं उसके भक्तामरस्तोत्र कल्याणमंदिर स्तोत्र, जिनसहस्त्रनाम तो अत्यंत प्रसिद्ध हैं। नाटक के क्षेत्र में भी जैनाचार्यों का का कम योगदान नहीं। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, रूपक और काल्पनिक विधाओं में नाटकों की रचना की है। रामचंद्र (१३ वीं शती) के सत्य हरिचन्द्र, नलविलास, मल्लिकामकरंद, कौमिदी मित्राणंद, रघुविलास, निर्भयभीम व्यायोग, रोहिणी मृगांक, राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय और वनमाला, देवचंद्र का चन्द्रविजय प्रकरण विजयपाल का द्रौपदी स्वयंवर, रामभद्र का प्रबुद्धरौहिणेय, यशःपाल का मोहराज पराजय (१३ वीं शती) यशचंद्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र, हस्तिमल्ल (१३–१४ वीं शती) के अंजना-पवनंजय, सुभद्रानाटिका, विक्रांतकौरव, मैथिली कल्याण, वादिचंद्र का ज्ञान सूर्योदय (वि. सं. १६४८) आदि दृश्यकाव्य एक ओर जहाँ नाटकीय तत्त्वों से भरे हुए हैं वहीं उनमें जैन तत्त्वों का भी पर्याप्त अंकन है। इन सभी काव्यों में यद्यपि शृंगार आदि रसों का यथास्थान प्रयोग हुआ है पर प्रमुख रूप से शांत रस ने स्थान लिया है। जयसिंह सूरि कृत हम्मीरमर्दन, रत्नशेखरसूरि कृत प्रबोधचन्द्रोदय, मेघप्रभाचार्य कृत मदन पराजय भी उत्तम कोटिकी नाट्य कृतियाँ हैं।

१८. लाक्षणिक-साहित्य

लाक्षणिक साहित्य के अन्तर्गत व्याकरण, कोश, अलंकार, छंद, संगीत, कला, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्प इत्यादि विधायें सम्मिलित होती हैं। जैनाचार्यों ने इन विधाओं को भी उपेक्षित नहीं होने दिया। व्याकरण के क्षेत्र में देवनन्दि (६ वीं शतीं) का जैनेन्द्र व्याकरण और उस पार लिखी अनेक वृत्तियाँ पाल्यकीर्ति (९ वीं शती) का शाकटायन व्याकरण और उन पर लिखी वृत्तियाँ, हेमचन्द्र का सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन और उस पर लिखी अनेक वृत्तियाँ सर्व विदित हैं। उन्होंने जैनेतर सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा लिखित

व्याकरण ग्रंथों पर बीसों टीकायें लिखी हैं जो अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। गुणनंदी, सोमदेव, अभयनंदी, पाल्यकीर्ति, गुणरत्न, भावचंद्र त्रैविद्य आदि आचार्य इस क्षेत्र के प्रधान पण्डित रहे हैं।

कोश के क्षेत्र में धनञ्जय (११ वीं शती) की धनंजयनाममाला और अनेकार्थ नाममाला, हेमचंद्र की अभिधान चिंतामणि नाममाला और निघंटु शेष तथा उन पर अनेक वृत्तियां, धरसेन (१३–१४ वीं शती) का विश्वलोचन कोश आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। हेमचन्द्र का काव्यानुशासन, वाग्भट का वाग्भटालंकार (१२ वीं शती), नरेन्द्रप्रभसूरि का अलंकार महोदधि (वि.सं. १२८०), विनयचंद्रसूरि की काव्य शिक्षा (१३ वीं शती) आदि अनेक अलंकारशास्त्र उल्लेखनीय हैं। काव्यकल्पलता, नाटयदर्पण, अलंकार चिन्तामणि, अलंकारशास्त्र, काव्यालंकार सार आदि और भी प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ हैं।

ज्योतिष के क्षेत्र में प्रश्नपद्धति, भुवनदीपक, आरम्भ सिद्धि, भद्रबाहुसंहिता केवलज्ञानहोरा, यंत्रराज, त्रैलोक्यप्रकाश, होरामकरन्द, शकुनशास्त्र, मेघमाला, हस्तकांड, नाड़ीविज्ञान, स्वप्नशास्त्र, केवलज्ञान प्रश्न चूड़ामणि, सामुद्रिकशास्त्र आदि शताधिक ग्रंथ हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद के क्षेत्र में अष्टांग संग्रह, पुष्पायुर्वेद, मदन काम रत्न, नाड़ी परीक्षा, अष्टांग हृदय वृत्ति, योग चिंतामणि, आयुर्वेद महोदधि, रस चिंतामणि, कल्याण कारक, ज्वर पराजय आदि ग्रंथ अत्यंत उपयोगी हैं। सोमदेव का नीतिवाक्यामृत हंसदेव का मृगपक्षीशास्त्र और दुर्लभराज का हस्ती परीक्षा नामक ग्रंथ भी संस्कृत जैनसाहित्य के अमूल्य मणि हैं। इन ग्रंथों से जैनाचार्यों का वैदूष्य देखा जा सकता है।

३. अपभ्रंश साहित्य

अपभ्रंश साहित्य में जनजीवन में प्रचलित कथाओं का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। उसमें लोकोपयोगी साहित्य के सृजन पर अधिक ध्यान दिया गया है। पुराण, चरित, कथा, रासा, फागु इत्यादि अनेक विधाओं पर जैनाचार्यों ने अपनी स्फुट रचनायें लिखी हैं जिनका संक्षिप्त उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं–

अपभ्रंश में प्राचीनतम 'पुराण' साहित्य में स्वयंभू (७ वीं-८ वीं शती) का पउमचरिउ सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। उनका रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंशपुराण) भी उपलब्ध है। हरिवंशपुराण नाम की अन्य कृतियां भी मिलती हैं जो धवल (१०–११ वीं शती) और यशःकीर्ति (१५ वीं शती) द्वारा लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त पुष्पदंत (१० वीं शती) के तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार

(महापुराण), जसहरचरिउ और णायकुमारचरिउ, धनपाल धक्कड़ का भविसयत्तकहा (१० वीं शती), कनकामर का करकण्डचरिउ (१० वीं शती), धाहिल का पउमसिरिचरिउ (१० वीं शती), हरिभद्र का सणत्कुमारचरिउ (१० वी शती), वीर का जम्बूसामिचरिउ (११ वीं शती), नयनन्दि का सुदंसणचरिउ, नरसेन का सिरिवालचरिउ, पद्मकीर्ति का पासणाहचरिउ पुराण अथवा चरित काव्य के सुन्दर निदर्शन हैं।

अपभ्रंश के कुछ 'प्रेमाख्यानक' काव्य हैं जिनका प्रभाव हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों पर भलीभांति देखा जा सकता है। ऐसे काव्यों में साधारण सिद्धसेन की विलासवतीकथा तथा रल्ह की जिनदत्तचउपई विशेष उल्लेखनीय हैं। 'खण्ड काव्यों' में सोमप्रभसूरि का कुमारपालप्रतिबोध, वरदत्त का वज्रस्वामी-चरित, हरिदेव का मयणपराजयचरिउ, अब्दुल रहमान का संदेश रासक, रइधू का आत्मसंबोधन काव्य, उदयकीर्ति की सुगन्धदशमीकथा, कनकामर का करकण्डु-चरिउ आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। 'रास' साहित्य तो मुख्यतः जैनों का ही है। उनकी संख्या लगभग ५०० तक पहुँच जायेगी। 'रूपक' काव्यों में मयणपराजय चरिउ, मयणजुज्झ, सन्तोषतिलकजयमाल, मनकरभारास आदि ग्रन्थों को प्रस्तुत किया जा सकता है।

अपभ्रंश में 'आध्यात्मिक' रचनायें भी मिलती हैं। योगीन्दु (६ वीं शती) के परमप्पयासु और योगसार, रामसिंह (हेमचन्द्र से पूर्व) का पाहुडदोहा, सुप्रभाचार्य का वैराग्यसार, महचंद का दोहापाहुड, देवसेन का सावयधम्मदोहा आदि ग्रन्थ इसी से सम्बद्ध हैं। सैकड़ों ग्रन्थ तो अभी भी सम्पादक विद्वानों की ओर निहार रहे हैं।

यहाँ प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषा में रचित जैन साहित्य का संक्षिप्त विवरण अथवा उल्लेख मात्र किया गया है। वस्तुतः साहित्य की हर विधाओं में जैनाचार्यों का योगदान अविस्मरणीय है। वह ऐसा भी नहीं कि किसी एक काल अथवा क्षेत्र से बंधा हो। उन्होंने तो एक ओर जहाँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखा है वहीं दूसरी ओर तमिल, तेलगू, कन्नड, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी प्रारंभ से ही साहित्य-सर्जना की है। इन सबका विशेष आकलन करना अभी शेष है। लगभग इन सभी भाषाओं और क्षेत्रों में जैन साहित्यकार ही आद्य प्रणेता रहे हैं। जैनेतर साहित्यकारों को उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से जो प्रेरणा मिली है वह भी उनके साहित्य में देखी जा सकती है।

४. अन्य भारतीय भाषाओं का जैन साहित्य

तमिल जैन साहित्य :

ई. पू. की शताब्दियों में दक्षिण भारत में जैनधर्म के पैर काफी मजबूत हो चुके थे। उसकी स्थिति का प्रमाण तमिल भाषा के प्राचीन साहित्य में खोजा जा सकता है। तोलकाप्पियम् तमिलभाषा का सर्वाधिक प्राचीन व्याकरण ग्रंथ है जिसे किसी जैन विद्वान ने लिखा था। कुरल काव्य तमिल भाषा में लिखे नीति ग्रंथों का अग्रणी रहा होगा। इसके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द अपरनाम एलाचार्य माने जाते हैं। एक अन्य जैन ग्रंथ नालडियार का नाम भी उल्लेखनीय है जो नीति ग्रंथों में महत्त्वपूर्ण है।

तमिल साहित्य में पांच महाकाव्य हैं—शिलप्पदिकारम, वलयापति, चिन्तामणि, कुण्डलकेशि और मणिमेखलै। इनमें से प्रथम तीन जैन लेखकों की कृतियां हैं और अंतिम दो बौद्ध लेखकों की देन है। नरिविरुत्तम भी संसार की दशा का चित्रण करने वाला एक उत्तम जैन काव्य है। इन वृहत् काव्यों के अतिरिक्त पांच लघुकाव्य भी हैं जो जैन कवियों की कृतियां हैं—नीलकेशि, चूड़ामणि, यशोधर कावियम्, नागकुमार कावियम् तथा उदयपान कथै। वामन-मुनि का मेरूमंदरपुराण तथा अज्ञात कवियों के श्रीपुराण और कलिंगुत्तुप्परनि जैन ग्रंथ भी उल्लेखनीय है। छन्द शास्त्र में याप्परूंगलम्कारिकै, व्याकरणशास्त्र में नेमिनाथम् और नन्नूल्, कोश क्षेत्र में दिवाकर निघण्टु, पिंगल निघण्टु और चूड़ामणि निघण्टु तथा प्रकीर्ण साहित्य में तिरुनूरन्तादि और तिरुक्कलम्बगम्, गणित साहित्य में ऐंचूवडि तथा ज्योतिष साहित्य में जिनेन्द्र मौलि ग्रंथ तमिल भाषा के सर्वमान्य जैन ग्रंथ है।

तेलगू जैन साहित्य :

तमिल और कन्नड़ क्षेत्र में जैनधर्म का प्रवेश उसके इतिहास के प्रारंभिक काल में ही हो गया था। तव यह स्वाभाविक है कि आन्ध्रप्रदेश में उससे पूर्व ही जैनधर्म पहुँच गया होगा। राजराज द्वितीय के समय में आंध्रप्रदेश में वैदिक आन्दोलन का प्रभाव यहाँ तक हुआ कि उस समय तक के समूचे कलात्मक और साहित्यिक क्षेत्र को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। तेलगू साहित्य के प्राचीनतम कवि नन्नय भट्ट ने ११ वीं शती में इस तथ्य को अप्रत्यक्ष रूप में अपने महाभारत में स्वीकार किया है। श्रीशैल प्रदेश में जैनधर्म का अस्तित्व रहा है। तेलगू के समान मलयालम में भी जैन साहित्य कम मिलता है पर जो भी मिलता है वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

कन्नड जैन साहित्य :

कर्नाटक प्रदेश में जैनधर्म प्रारंभ से ही लोकप्रिय रहा है। गंग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य आदि वंशों के राजाओं, सामन्तों, सेनापतियों और मंत्रियों को उसने प्रभावित किया तथा जन साधारण भी उसके लोकरंजक स्वरूप से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। श्रवण बेलगोला, पोदमपुर, कोपळ, पुन्नाड, हुमच आदि प्राचीन जैन स्थल इतके प्रतीक हैं। यहाँ की मूर्तिकला के क्षेत्र में जैनधर्म का विशेष योगदान रहा है।

प्रमुख जैन साहित्यकार भी इसी क्षेत्र में हुए हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी या उमास्वाति समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानंद, अनंतवीर्य, प्रभाचन्द, जिनसेन, गुणभद्र, वीरसेन, सोमदेव आदि आचार्यों के नाम अग्रगण्य हैं। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर बारहवीं शताब्दी तक जैनाचार्यों ने कन्नड साहित्य की रचना की। महाकवि कवितागुणार्णव पम्प (ई. ९४१), कविचक्रवर्ती पोन्न (ई. ९५०), कविरत्न रत्न (ई. ९९३), वीरमार्तण्ड चामुण्डराय (ई. ९७८), गद्य-पद्यविद्याधर श्रीधर (ई. १०४९), सिद्धान्तचूड़ामणि दिवाकरनन्दि (ई. १०६२), शांतिनाथ (ई. १०६८) नागचन्द्र (ई. ११००), कन्ति (ई. ११००), नयसेन (ई. १११२), राजादित्य (ई.१११०) कीर्तिवर्मा (ई. ११२५), ब्रह्मशिव (ई. ११३०), कर्णपार्य (ई. ११४०), नागवर्मा (ई. ११४५), सोमनाथ (ई. ११५०), वृत्तविलास (ई. ११६०), नेमिचन्द (ई. ११७०), बोप्पण (ई. ११८०), अग्गल (ई. ११८९), आचण्ण (ई. ११९५), बन्धुवर्मा (ई. १२००), पार्श्वनाथ (ई. १२०५), जन्न (ई. १२३०), गुणवर्मा (ई. १२३५), कमलभाव (ई. १२३५), महाबल (ई.१२५४) आदि कवियों ने कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि की। व्याकरण, गणित, ज्योतिष आयुर्वेद आदि सभी क्षेत्रों में आधुनिककाल तक जैन लेखक कन्नड भाषा में साहित्य-सृजन करते रहे हैं। समूचे जैन कन्नड साहित्य की विस्तृत रूपरेखा देना यहाँ संभव नहीं। यह उसका संक्षिप्त विवरण है।

मराठी जैन साहित्य :

मराठी साहित्य का प्रारंभ भी जैन कवियों से हुआ है। उन्होंने १६६१ ई. से लेखन कार्य अधिक आरम्भ किया। जिनदास, गुणदास, मेघराज, कामराज, सूरिजन, गुणनन्दि, पुष्पसागर, महीजन्द्र, महाकीर्ति, जिनसेन, देवेन्द्रकीर्ति, कललप्पा, भरमापन आदि जैन साहित्यकारों ने मराठी में साहित्य तैयार किया। यह साहित्य अधिकांश रूप से अनुवाद रूप में उपलब्ध होता है।

गुजराती जैन साहित्य :

गुजराती भाषा का भी विकास अपभ्रंश से हुआ है। लगभग १२ वीं शती

से अपभ्रंश और गुजराती में पार्थक्य दिखाई देने लगा। गुजरात प्रारम्भ से ही जैन धर्म और साहित्य-संस्कृति का केन्द्र रहा है। हेमचन्द आदि अनेक जैन आचार्य गुजरात में हुए जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में साहित्य-सृजन किया। लगभग १२ वीं शती में जैन कवियों ने रासो, फागु, बारहमासा, कक्को, विवाहलु, चच्चरी, आख्यान आदि विधाओं को समृद्ध करना प्रारम्भ किया। इसके पूर्व उद्योतनसूरि (७७९ ई.) की कुवलयमाला तथा धनपाल की भविस्सयत्त कहा प्राकृत तथा अपभ्रंश के प्रसिद्ध काव्य हैं जो गुजराती के लिए उपजीव्य कहे जा सकते हैं। शालिभद्रसूरि (११८५ ई.) का भरतेश्वर बाहुबलिरास प्रथम प्राप्य गुजराती कृति है। उसके बाद धम्मु का जम्बूरास, विनयप्रभ का गौतमरास, पद्मसूयी का सिरिथूलिभद्द, राजशेखरसूरि का नेमिनाथ फागु, प्राचीन गुजराती साहित्य की श्रेष्ठ कृतियां हैं। इस काल में अधिकांश लेखक जैन हुए हैं।

भक्तिकाल में १५ वीं शती में भी जैन ग्रन्थकार हुए हैं। शालिभद्ररास, गौतमपृच्छा, जम्बूस्वामी विवाहलो, जावड भावडरास, सुदर्शन श्रेष्ठिरास आदि ग्रन्थ इसी शती के हैं। लावण्यसमय १६ वीं शती के प्रमुख साहित्यकार थे। विमलप्रबन्ध भी इसी समय की रचना है। रास, चरित्र, विवाहलो, पवाड़ो आदि अन्य साहित्य भी इसी समय लिखा गया। १७ वीं शती के जैन साहित्य में नेमिविजय का शीलवतीरास, समय सुंदर का नलदमयन्तीरास, आनंदघन की आनंद चौबीसी और आनंदघन बहोत्तरी प्रमुख है। इसी समय लोकवार्ता साहित्य तथा रास और प्रबन्ध भी लिखे गये। १८-१९ वीं शती में भी साधुओं ने इसी प्रकार का साहित्य लिखा। उदयरत्न, नेमिविजय, देवचन्द, भावप्रभसूरि, जिनविजय, गंगविजय, हंसरत्न, ज्ञानसागर, भानुविजय आदि जैनसाहित्यकार उल्लेखनीय हैं। इन सभी ने गुजरातीभाषा में विविध साहित्य लिखा है।

हिन्दी जैन साहित्य :

हिन्दी साहित्य का तो प्रारम्भ ही जैन साहित्यकारों से हुआ है। उसका आदिकाल कब से माना जाय यह विवाद का विषय अवश्य रहा है पर स्वयंभू और पुष्पदंत को नहीं भुलाया जा सकता जिनके साहित्य में अपभ्रंश से हटकर हिन्दी की नयी प्रवृतियां दिखाई देती हैं। मुनिरामसिंह, महयंदिण मुनि, आनंद तिलक, देवसेन, नयनंदि, हेमचन्द्र, धनपाल, रामचन्द, हरिभद्रसूरि, आमभट्ट आदि जैन कवि उल्लेखनीय हैं। करकण्डचरिउ, सुदर्शनचरिउ, नेमिनाहचरिउ आदि अपभ्रंश साहित्य भी इसी काल का है। रासो, फागु, बेलि, प्रबन्ध आदि विधायें भी यहाँ समृद्ध हुई हैं। शालिभद्रसूरि (सन् ११८४) का बाहुबलिरास, जिनदत्तसूरि के चर्चरी, कालस्वरूप फुलकम् और उपदेश

रसायन सार, जिनपद्मसूरि (वि. सं. १२५७) का थूलिभद्दफाग, धर्मसूरि (वि. सं. १२६६) का जम्बूस्वामीचरित्र, अभयतिलक (वि. सं. १३०७) का महावीररास, जिनप्रभसूरि का पद्मावती देवी चौपई और रल्ह का जिनदत्त चौपई विशेष उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में भी जैनाचार्यों ने प्रबन्ध, चरित, कथा, पुराण, रासा, रूपक, स्तवन, पूजा, चउपई, चूनड़ी, फागु, वेलि, बारहमासा आदि सभी प्रकार का साहित्य सृजन किया। साहित्यकारों में बनारसीदास, द्यानतराय, कुशललाभ, भूधरदास, दौलतराम, रायमल्ल, जयसागर, उपाध्याय, सकलकीर्ति, लक्ष्मीवल्लभ, रूपचन्द पांडे, भैया भगवतीदास, वृन्दावन, ब्रह्मजयसागर, देवीदास, ठकुरसी आदि शताधिक जैन कवियों ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। रहस्यभावना की दृष्टि से यह काल दृष्टव्य है।[1]

इसी प्रकार बंगला, उड़िया, आसमिया, पंजाबी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी जैन साहित्य की विभिन्न परम्परायें उपलब्ध होती हैं। उन्होंनें अपनी क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में पर्याप्त योगदान दिया है।

इस प्रकार जैन साहित्य की परम्परा लगभग २५०० वर्ष से अविरल रूप से प्रवाहित होती आ रही है। उसमें सामयिक गतिविधियाँ और साहित्यिक तथा सामाजिक आन्दोलन के स्वर भी मुखरित हुए हैं। समीक्षात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि लगभग हर विधा के जन्मदाता जैनसाहित्यकार ही हुए हैं। उनके योगदान का लेखा-जोखा अभी भी शेष है। विद्वानों को इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि समूचा जैन साहित्य प्रकाश में आ जाय तो निश्चित ही नये मानों की स्थापना और पुराने प्रतिमानों का स्वरूप बदल जायेगा।

* * *

---

१. विशेष देखिए—मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्यभावना—डॉ. पुष्पलता जैन का शोध प्रबन्ध।

चतुर्थ परिवर्त

जैन तत्त्वमीमांसा

चतुर्थ परिवर्त

जैन तत्त्व मीमांसा

प्राचीन काल से ही व्यक्ति दार्शनिक समस्याओं में उलझा रहा है। उनकी समस्यायें अध्यात्मशास्त्रकी समस्यायें थी। वस्तु तत्त्व क्या है? कार्य-कारण सम्बन्ध क्या है? आत्मा है कि नहीं? ईश्वर है कि नहीं? आदि प्रश्न हर दार्शनिक के समक्ष प्रस्तुत हो जाते थे। बुद्धने ऐसे ही प्रश्नों को 'अव्याकृत' कहा था। इसी संदर्भ में प्रमाणशास्त्रीय और तर्कशास्त्रीय समस्यायें भी प्रादूभूत हुईं जिनका विशेष सम्बन्ध ज्ञान से है। दर्शन के क्षेत्र में यह तत्त्व और ज्ञान, अनुभव और तर्क पर आधारित रहा है। उनका विश्लेषण कभी आगमन (Induction) और कभी निगमन (Deduction) प्रणाली से किया गया। इन तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए धर्म को आचार और नीति तत्त्व के रूप में दर्शन और ज्ञान से अनुस्यूत कर दिया गया। अत: हमने यहाँ तत्त्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा और आचार मीमांसा को लेकर जैन संस्कृति के स्वरूप और इतिहास को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

जैन दर्शन की तत्त्व मीमांसा जीव और अजीव नामक दो प्रमुख तत्त्वों पर आधारित है। तत्त्वचिन्तन की भूमिका में पदार्थ अथवा द्रव्य का स्वरूप, आत्मा की व्याख्या और कर्म तत्त्व पर विशेष ध्यान दिया जाता है। आत्मा अथवा जीव जबतक पदार्थ के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान नहीं कर पाता तबतक वह संसार-सागर में भटकता रहता है। इस भटकाव से विमुक्त होने के लिए यह अपेक्षित है कि व्यक्ति भेदविज्ञान प्राप्त करे। स्व-पर के स्वरूप के जाने बिना वह भेदविज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता[१]। इस दिशा में तत्त्वों की व्याख्या, चिन्तन, मनन आदि जैसे साधन अधिक उपयोगी होते हैं।

द्रव्य का स्वरूप

परिणामी-नित्यत्व :

तत्त्वचिन्तन में द्रव्य का प्रमुख स्थान है। हर दर्शन ने इस पर किसी न किसी सीमा तक विचार किया है। पाणिनि ने 'द्रव्य' शब्द की सिद्धि तद्धित और कृदन्त प्रकरणों में की है। तद्धित प्रकरणों में दो व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। प्रथम

---

१. जीवाजीव विहत्ती जोइ जाणेइ शिवजिणवरमएणं।
ते सण्णाणं भणियं भवियत्थं सव्वदरिसीहिं ॥ मोक्खपाहुड, ४१.

व्युत्पत्ति में द्रु (काष्ठ या वृक्ष) के साथ य अव्यय, विकार या अवयव अर्थ में आया है और दूसरी व्युत्पत्ति में उसे तुल्य अर्थ में दिया गया है। अर्थात् काष्ठ का अवयव अथवा काष्ठ के तुल्य अनेक आकार धारण करने वाला पदार्थ द्रव्य है। कृदन्त के अनुसार गति-प्राप्ति निमित्तक द्रु धातु से कर्मार्थक य प्रत्यय का नियोजन होने पर 'द्रव्य' शब्द की सिद्धि होती है। इससे पदार्थ की अनेक अवस्थाओं की सूचना मिलती है। अकलंक ने कर्तृ-कर्म में भेद विवक्षा करके इसकी सिद्धि की है। जब द्रव्य को कर्म-पर्यायों का कर्ता बनाते हैं तब कर्म में द्रु धातु से य प्रत्यय हो जाता है और जब द्रव्य को कर्ता मानते हैं तब बहुलापेक्षया कर्ता में 'य' प्रत्यय हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि उत्पाद और विनाश आदि अनेक पर्यायों के होते रहने पर भी जो सान्ततिक द्रव्य दृष्टि से गमन करता जाय वह द्रव्य है। अथवा जैनेन्द्र व्याकरण के 'द्रव्य भव्ये' सूत्र के अनुसार इसी द्रव्य शब्दको इवार्थक निपात माना जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि जिस प्रकार बिना गांठ की सीधी लकड़ी (द्रु) बढई आदि के निमित्त से टेबिल-कुरसी आदि अनेक आकारों को प्राप्त होती है उसी तरह द्रव्य भी अन्य कारणों से उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता रहता है। जैसे "पाषाण खोदने से पानी निकलता है' यहाँ अविभक्तिकर्तृक करण है उसी तरह द्रव्य और पर्याय में भी समझना चाहिए।[१] उत्पाद-व्यय रूप द्रव्यगत अवस्थायें ही पर्याय या परिणाम के नाम से जैन दर्शन में जानी जाती हैं। अतः जैन दर्शन परिणामि-नित्यत्व को स्वीकार करता है।[१]

सदसत्कार्यवादित्व :

इसी को उमास्वामी ने सत् कहा है जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है।[२] ध्रौव्य को 'द्रव्य' कहते हैं और उत्पाद-व्यय को 'गुण' कहते है। इसलिए 'गुणपर्ययवम् द्रव्यम' भी द्रव्य की परिभाषा कही गई है।[३] ध्रौव्य नित्यता, सदृशता और एकता का प्रतीक है जब कि गुणपर्याय अनित्यता, विसदृशता और अनेकता को स्पष्ट करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अनन्त गुणों के अखण्ड पिण्ड को 'द्रव्य' कहा जाता है। उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ये तीन तत्त्व रहते हैं। जब चेतन या अचेतन द्रव्य स्वजाति को छोड़े बिना पर्यायान्तर को प्राप्त करता है तो उसे उत्पाद कहा जाता है, जैसे मृत्पिण्ड में घट पर्याय। इसी प्रकार पूर्व पर्याय के विनाश को 'व्यय' कहते हैं। जैसे घड़े की उत्पत्ति होने

१. तत्त्वार्थ वार्तिक, ५-२. १-२, सं. महेंद्र कुमार न्यायाचार्य

२. उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तं सत्, सद्द्रव्यलक्षणम्-तत्त्वार्थसूत्र, ५.२८.३०.
तद्भावाव्यं नित्यम्, ५-३३.

३. वही, ५-४१; समणसुत्तं, ६६२.

पर पिण्डाकार का नाश होता है। अनादि पारिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद नहीं होते किन्तु द्रव्य स्थित रहता है। जैसे पिण्ड और घट, दोनों अवस्थाओं में मिट्टी का बना रहना।[१] इस दृष्टि से जैन दर्शन सदसत् कार्यवादी है।

बौद्धधर्म में रूप का लक्षण दिया गया है– उपचय, सन्तति, जरता और अनित्यता।[२] उपचय एवं सन्तति उत्पत्ति का प्रतीक है, जरता स्थिति का प्रतीक है और अनित्यता भङ्ग का प्रतीक है।[३] यहाँ सम्बद्ध वृद्धि को सन्तति कहा गया है जिसका सम्बन्ध उत्पत्ति के साथ अधिक है। उत्पत्ति के बाद निष्पन्न रूपों के निरुद्ध होने से पहले ४८ क्षुद्र क्षण मात्र स्थितिकाल को जीर्ण स्वभाव होने से जरता कहा जाता है। प्रत्येक क्षण में उत्पाद, स्थिति और भङ्ग-नामक तीन क्षुद क्षण होते है। रूप का एक क्षण चित्तवीथि के १७ क्षणों के बराबर होता है। १७ क्षणों में भी क्षुद्र क्षण ५१ होते हैं जिनके बराबर रूप का एक क्षण होता है। इन ५१ क्षुद्र क्षणों मे से सर्वप्रथम उत्पाद-क्षण को और अन्तिम भङ्ग क्षण को निकाल देने पर चित्त के ४८ क्षुद्रक्षण के बराबर रूप की जरता का काल होता है। एक चित्तक्षण में ये उत्पाद-स्थिति-भंग इतनी शीघ्रता पूर्वक प्रवृत्त होते है कि एक अच्छरा काल (चुटकी बजाने या पलक मारने बराबर समय) मे ये लाखों करोड़ों बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाते है।[४] इन उत्पाद-व्यय भंग स्वभावी रूपों को 'संस्कृत' कहा जाता है।

संस्कृत पदार्थ में परिवर्तन की शीघ्रता अन्वय की भ्रान्ति पैदा करती है। उसे ही 'स्थायी' कह देते है– अन्वय वशात्। वस्तुतः प्राणी का जीवन विचार के एक क्षण तक रहता है। उस क्षण के समाप्त होते ही प्राणी भी समाप्त हो जाता है।[५] इसे 'भेदवाद' कहते है। वैभाषिक-सौत्रान्तिक इसे मानते हैं। क्षणभंगवाद उनका चरम सत्य है। वे धर्मनैरात्म्य (बाह्य पदार्थ क्षणिक और निरंश परमाणुओ का पुञ्ज है) और पुद्गलनैरात्म्य (अनात्मवाद) को मानते हैं। सारा व्यवहार सन्ततिवाद और संघातवाद पर आश्रित है। संस्कृति पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न और अनित्य हैं। जिस पदार्थ का समुत्पाद कारण पूर्वक होता है वह स्वतन्त्र नहीं। अतः माध्यामिक वादियों ने पदार्थ को शून्यात्मक कहा है।[६]

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, ५-३०.१-३.

२. रूपस्स उपचयो सन्तति जरता अनिच्चता लक्खण रूप नाम, अभिधम्म. ६.१५

३. तननं वित्थारण तति, सम्बन्धा तति पुनप्पुन वा तति संतति, प. दी. पृ. २४६.

४. एकच्छरक्खणे कोटि सतसहस्स सङ्खा उप्पज्जित्वा निरुज्झति. विम. अ.पृ. ३४

५. विसुद्धिमग्ग, ८.

६. चतुःशतकम्, ३४८.

बौद्धदर्शन में स्वलक्षण और सामान्य लक्षण ये दो तत्त्व माने गये हैं। स्वलक्षण का तात्पर्य है वस्तु का असाधारण तत्त्व[1]। इसमें प्रत्येक परमाणु की सत्ता पृथक् और स्वतन्त्र स्वीकार की गई है। इसके साथ ही वह सजातीय और विजातीय परमाणुओं से व्यावृत्त है। परमाणुओं में जब कोई सम्बन्ध ही नहीं तो अवयवी के अस्तित्त्व को कैसे स्वीकार किया जा सकता हैं? बौद्ध दर्शन में सामान्य तत्व को एक कल्पनात्मक वस्तु माना गया है। परन्तु चूंकि वह स्वलक्षण की प्राप्ति में कारण होता है अतः मिथ्या होते हुए भी उसे पदार्थ की श्रेणी में रखा गया है। मनुष्यत्व, गोत्व आदि को सामान्य तत्व कहा गया है। स्वलक्षण तत्व अर्थ क्रियाकारी है अतः परमार्थ सत् है पर सामान्य अर्थ क्रियाकारी नहीं अतः उसे संवृतिसत् माना है।[2]

जैनधर्म में द्रव्य का जो स्वरूप निर्दिष्ट है लगभग वही स्वरूप बौद्धधर्म में भी स्वीकार किया गया है। जैनधर्म के निश्चयनय और व्यवहार नय बौद्धदर्शन के परमार्थ सत् और संवृत्तिसत् हैं। स्वलक्षण और सामान्यलक्षण भी इन्हीं के नामान्तर हैं। पर अन्तर यह है कि द्रव्य को संस्कृत-स्वरूप मानते हुए भी बौद्धदर्शन, विशेषतः माध्यमिक सम्प्रदाय उसे निःस्वभाव अथवा शून्य कह देता है। इसकी सिद्धि में उसका कहना है कि संस्कृत रूप से उत्पाद आदि के स्वीकार किये जाने पर उत्पाद, स्थिति और भंग में सभी वस्तुओं की पुनः उत्पत्ति होती है और पुनः उत्पत्ति होने पर उत्पत्ति के बाद उत्पत्ति होगी। जैसे उत्पत्ति के बाद उत्पत्ति होना न्यायोचित है वैसे ही भंग का होना भी न्यायोचित है। इसलिए भंग का भी संस्कृतत्व होने के कारण उत्पाद, भंग और स्थिति से सम्बन्ध है। अतएव भंग का भी अन्य भंग का सद्भाव होने से विनाश होगा। उस भंग का भी विनाश होगा। उसके बाद होने वाले भंग का भी विनाश होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायेगा और अनवस्था होनें पर सभी पदार्थों की असिद्धि हो जायेगी। इसलिए स्वभावतः संस्कृत लक्षणों की सिद्धि नहीं हो सकती। वे शून्य और निःस्वभाव हैं। जो दिखते हैं वे माया के समान है।[3]

---

१. न्यायविनिश्चयटीका, पृ. १५.

२. प्रमाणवार्तिक, २-३.; तर्कभाषा, पृ. ११.

३. उत्पादस्थिति भङ्गानां युगपन्नास्ति संभवः।
क्रमशः संभवो नास्ति सम्भवो विद्यते कदा॥
उत्पादादिषु सर्वेषु सर्वेषां सम्भवः पुनः।
तस्मादुत्पादवद्भङ्गो भङ्गवद् दृश्यते स्थितिः॥
—चतुःशतकम्, ३६०–३६१.

द्रव्य: सामान्य और विशेष

द्रव्य के सामान्य और विशेष रूप होते हैं। सामान्य, अन्वय और गुण एकार्थक शब्द हैं। विशेष, भेद और पर्याय ये पर्यायार्थक शब्द हैं। सामान्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक है और विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिक है। सामान्य (गुण) अकेले द्रव्य में ही रहते हैं किन्तु विशेष (पर्याय) द्रव्य और गुण, दोनों में रहते हैं। सामान्य दो प्रकार का है—तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य। तिर्यक्सामान्य वह है जो एक काल में अनेक देशों में स्थित अनेक पदार्थों में समानता की अभिव्यक्ति कराये। जैसे-जीव के दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। ऊर्ध्वतासामान्य में ध्रौव्यात्मक तत्त्व पर विचार किया जाता है। जैसे जीव द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत है। यहाँ जीव का अर्थ ऊर्ध्वता सामान्य से है।

सामान्य के समान पर्याय अथवा विशेष भी दो प्रकार का है—तिर्यक्विशेष और ऊर्ध्वताविशेष। तिर्यक्सामान्य के साथ रहने वाला विशेष तिर्यक्विशेष और ऊर्ध्वतासामान्य के साथ रहने वाला विशेष ऊर्ध्वताविशेष कहलाता है।

इस प्रकार द्रव्य और पर्याय में सापेक्षिक भेद है। पर्याय की दृष्टि से उनमें भेद रहता है पर द्रव्य की दृष्टि से वे एकत्व में गुंथे हुए रहते हैं। आत्मा ही सामायिक है। यहां आत्मा द्रव्य है और सामायिक उसकी पर्याय है।[1] द्रव्य के बिना पर्याय नहीं रह सकती और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं रह सकता। आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य की इसी परिभाषा को स्पष्ट किया है—

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो॥
ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण॥[2]

इसे स्पष्ट करने के लिए साहित्य में प्रायः यह उदाहरण दिया जाता है। एक राजा के पास स्वर्ण का घड़ा है। पुत्र उसको मिटाकर मुकुट बनवाना चाहता है पर पुत्री ऐसा नहीं चाहती। राजा की दृष्टि मात्र स्वर्ण पर है। वह पुत्र का हठ पूरा कर देता है। मुकुट बनने पर पुत्र को हर्ष, पुत्री को विषाद और राजा को न हर्ष और न विषाद होता है। यहाँ स्वर्ण पुद्गल, गुण अथवा द्रव्य है। अतः वह ध्रौव्य है। मुकुट का उत्पाद और घट पर्याय का विनाश हुआ। यह उत्पाद और विनाश पर्याय का प्रतीक है।

---

१. आया णे अज्जो। सामाइए आया णे अज्जो। सामाइयस्स अट्ठे, भगवती सूत्र, १९-७९.
२. प्रवचनसार, २. ७-८.; सर्वार्थसिद्धि, १. ५.

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिस्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥[१]

इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि द्रव्य अनादिनिधन है । वह अन्वय रूप से अपनी पर्यायों में अवस्थित रहता है । परिणमन करना उसका स्वभाव है। परिणमन रूप कार्य की उत्पत्ति में कुछ कारण निमित्त रूप से काम करते हैं। राग-द्वेषादि परिणाम निमित्त रूप ही हैं । उपकार का तात्पर्य भी निमित्त होता है । घट मिट्टी की पर्याय है । घट में मिट्टी अन्वय रूप से विद्यमान है । अतः घट के निर्माण में मिट्टी उपादान है । कुम्हार निमित्त कारण हैं और चाक, जल आदि सहकारी कारण हैं । शाश्वत पदार्थ में इस प्रकार की कार्य-कारण व्यवस्था नहीं बन पाती । मिट्टी उपादान है और घट उपादेय हैं । कुम्हार निमित्त है और उसका कार्य घट नैमित्तिक है । इस प्रकार उपादान-उपादेय के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है ।

उपादान और निमित्त

साधारणतः एक प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि द्रव्य की पर्याय कब-कैसी हो, यह निमित्त पर निर्भर है, उपादान पर निर्भर नहीं । पर इसे सर्वथा ठीक नहीं कह सकते । पूर्व समय का जैसा उपादान होगा, उत्तर क्षण में उसी प्रकार का कार्य होगा । निमित्त उसमें अन्यथा परिणमन नहीं कर सकता । कार्य का नियामक उपादान ही होता है, निमित्त नहीं । कार्य की उत्पत्ति में स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म (पर पदार्थ की आवश्यकता) ये पांच कारण होते हैं । इनमें स्वभाव का सम्बन्ध द्रव्य की स्वशक्ति या उपादान से है, पुरुषार्थ का बलवीर्य से, काल का स्वकाल ग्रहण से, नियति का सम्बन्ध उपादान से और कर्म का सम्बन्ध निमित्त से है । जो भवितव्यता की बात करते हैं उनकी दृष्टि उपादान की योग्यता पर होती है । योग्यता अथवा पूर्व कर्म को दैव कहते हैं और वर्तमान पुरुषार्थ को पौरुष कहते हैं । दोनों के संबन्ध से ही अर्थसिद्धि होती है ।

अर्थ सिद्धि के सन्दर्भ में दो विचार धारायें मिलती है--एक के अनुसार सभी कार्य नियत समय पर ही होते हैं और दूसरी के अनुसार बाह्य निमित्तों के बिना कार्य हो नहीं सकते । इन दोनों में से जैनधर्म क्रमनियमित पर्याय के सिद्धान्त को स्वीकार करता है । उसके अनुसार प्रत्येक कार्य क्रम से स्वकाल में अपने उपादान के अनुसार होता रहता है । यहाँ एकान्ततः नियतिवाद का समर्थन नहीं मिलता अन्यथा कार्य कारण परम्परा को कैसे किया जायगा ? अनेक कारणों में से नियति को एक कारण अवश्य माना गया है ।

१. आप्तमीमांसा, ५९

जैनेतर दर्शनों में द्रव्य का स्वरूप

बौद्धदर्शन में द्रव्य का स्वरूप :

जैसा हम पीछेकह चुके हैं, बौद्धधर्म में द्रव्य रूप में 'रूप' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ इस रूप का विस्तार भी बहुत हुआ है। रूप को अभिधम्मत्थसंगह में पांच प्रकार से निर्दिष्ट किया गया है--समुद्देश, विभाग, समुत्थान, कलाप एवं प्रवृत्ति क्रम। समुद्देश में पृथ्वी, अप, तेज और वायु ये चार महाभूत हैं और उनका आश्रय लेकर उत्पन्न रूपों को ११ प्रकार से बताया गया है। जैनधर्म में इन महाभूतों को स्कन्ध कहा है। बौद्धधर्म इनके ही आश्रय से चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय को उत्पन्न मानता है जिन्हें उपादायरूप कहा गया है। जैन-बौद्ध धर्म में इन्हीं को पञ्चेन्द्रियां भी कहा जाता है। रूप, शब्द, गन्ध, रस, तथा अपधातुवर्जित भूतत्रय संख्यात नामक स्पृष्टव्य को 'गोचर' रूप कहा जाता है। जैनधर्म में इनमें से कुछ पुद्गल के लक्षण के रूप में आ जाते हैं और कुछ पुद्गल की पर्यायों के रूप में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

भूतरूप, प्रसादरूप, गोचररूप, भावरूप, हृदयरूप, जीवितरूप, आहाररूप, परिच्छेदरूप, विज्ञप्तिरूप, विकाररूप एवं लक्षणरूप, इस प्रकार ग्यारह प्रकार के रूप होते हैं। चार भूत रूप, पांच उपादायरूप, पांच गोचररूप. दो भावरूप, हृदयरूप, जीवितरूप और आहाररूप ये अठारह प्रकार के रूप स्वभावरूप, सलक्षणरूप, निष्पन्नरूप, रूपरूप एवं संमर्शनरूप होते है। यहाँ सभावरूप द्रव्य वाचक है। परमार्थ रूप से वह सत् स्वभावी है। परन्तु यहाँ परमार्थरूप से आकाशादि का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया। जबकि जैन दर्शन में आकाश को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है।

इन रूपों का लक्षण अनित्यता, दुःखता, अनात्मता, तथा उपचय, सन्तति, जरता एवं अनित्यता नामक उत्पाद, स्थिति और भङ्ग है। आकाशादि में ये लक्षण नहीं पाये जाते अतः बौद्धधर्म में उन्हें अलक्षण रूप माना है। जिस प्रदेश का विलेखन नहीं किया जा सकता उस प्रदेश को आकाश कहा जाता है। उसके चार भेद हैं–अजटाकाश, परिच्छिन्नाकाश, कसिणुग्घाटिमाकाश तथा परिच्छेदाकाश। जैनधर्म में आकाश के दो भेद हैं–लोकाकाश और अलोकाकाश। बौद्धधर्म में मान्य अजटाकाश जैनधर्म में मान्य अलोकाकाश है। शेष लोकाकाश है।

बौद्धदर्शन इस दृष्टि से भेदवादी और असत्कार्यवादी है। वहाँ किसी भी पदार्थ में अन्वय नहीं माना जाता। इसलिए क्षणभंगवाद और शून्यवाद जैसे

---

१. आप्तमीमांसा, ५९

सिद्धान्तों को उसमें चरम सत्य माना गया है। परन्तु जैनदर्शन में भेदाभेद-वाद को स्वीकार किया गया है। जितना सत्य भेद में है उतना ही सत्य अभेद में है। एक-दूसरे के बिना उनका अस्तित्व नहीं। पदार्थ न सामान्यात्मक है और न केवल विशेषात्मक, बल्कि सामान्यविशेषात्मक है। द्रव्य का यही वास्तविक स्वरूप है। उसका यह स्वभाव है। अनेकांतात्मिक दृष्टि से वह कथंचित् भिन्न है ओर कथंचित् अभिन्न है। अभेद द्रव्य का प्रतीक है और भेद पर्याय का। द्रव्य और पयार्यों का यह स्वाभाविक परिणमन होता रहता है। उपादान और निमित्त कारणों के माध्यम से पदार्थों का संगठन और विघटन भी होता रहता है। इसके लिए किसी ईश्वर आदि की आवश्यकता नहीं रहती।

वैदिक दर्शनों में द्रव्य का स्वरूप :

न्याय-वैशेषिक दर्शन में द्रव्यों की संख्या ९ मानी जाती है-पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, और मनस्। इन्हीं द्रव्यों और उनके विभिन्न गुणों और सम्बन्धों से समूचे संस्कार की सृष्टि होती है। इस सृष्टि में गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ सहयोगी बनते हैं।[१] जैनदर्शन इन पदार्थों को द्रव्य की ही पर्यायों के रूप में स्वीकार करता है। द्रव्य और गुण बिलकुल पृथक् नहीं होते। ये असत्कार्य-वादी हैं।

न्याय-वैशेषिक भौतिक जगत को अनेक कारणों से संबलित मानते हैं पर सांख्य-योग एकमात्र प्रकृति को उसका मूल मानते हैं। सत्, रज, और तम ये तीन गुण हैं जो पुरुष को बाँधने का काम करते हैं। प्रकृति नित्य और गतिशील है। पुरुष के संसर्ग से परिवर्तन होता है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश नहीं होता। विनाश का तात्पर्य है– मात्र आकृति में परिवर्तन होना। यह परिवर्तन आवर्ती होता है अर्थात् सर्ग और प्रलय का काल एक कें बाद एक आता है। सांख्य-योग सत्कार्यवादी हैं। उनके मत में कार्य सदैव अपने उपादान कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है।

मीमांसक बाह्यार्थवादी हैं। वे नित्य द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि द्रव्य स्थायी रहता है और उनके गुण अथवा उनकी पर्यायें परिवर्तनशील हुआ करती हैं। इसे 'परिणामवाद' कहा जाता है।[१] यहाँ भेदाभेद व्यवस्था मानी गई है तथा द्रव्य अनेक बताये गये हैं। उनके परिवर्तन में ईश्वर कारण रूप नहीं।

---

१. न्यायसूत्र भाष्य, १-१.९.

प्रारम्भ में 'द्रव्य' शब्द की जितने प्रकार से व्याख्या की गई है वह जैन दर्शन सम्मत है। जैनेतर दर्शनों में उनमें से किसी एक प्रकार को स्वीकार किया गया है। अतः मतभेद होना स्वाभाविक है। परन्तु यह मतभेद स्वीकृति पूर्वक है। बौद्धों ने गुण समुदाय को 'द्रव्य' कहा है। न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग गुण-कर्माधार अर्थ में हुआ है। द्रव्य के साथ जैन दर्शन में गुण, पर्याय अथवा परिणाम शब्दों का प्रयोग होता है उसके स्थान पर जैनेतर दर्शनों में 'गुण' शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है।

द्रव्य और गुणों के बीच सम्बन्ध की दृष्टि से बौद्ध, न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन भेदवादी हैं। जैनदर्शन में भेदवाद, अभेदवाद, और भेदाभेदवाद ये तीनों परम्परायें मिलती हैं। कुन्दकुन्द, उमास्वाति, विद्यानन्द आदि आचार्यों ने गुण और पर्याय में भेदवाद की स्थापना की। उनके अनुसार गुण वह है जो एक मात्र द्रव्य के आश्रय रहता है। जैसे—जीव में रहने वाले ज्ञानादि गुण।[1] उत्तरकाल में इसे और अधिक स्पष्ट किया गया और कहा गया कि गुण वे हैं जो द्रव्याश्रित तो हों पर स्वतः निर्गुण हों।[3] द्रव्य और गुण के आश्रित रहने वाले धर्म को 'पर्याय' कहा जाता है। गुण द्रव्य के साथ सदैव रहते हैं पर पर्यायें क्रम—क्रम से बदलती रहती हैं। द्रव्य का परिवर्तन ही 'पर्याय' है। इसे 'भेदवाद' कहा गया है। अकलंक, अमृतचन्द आदि आचार्यों ने 'अभेदवाद' की स्थापना की। इसके पूर्व सिद्धसेन तथा हरिभद्र आचार्यों ने गुण और पर्याय के बीच अभेदवाद को स्वीकार किया। वस्तुतः गुण और पर्याय को कथञ्चित्-भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न ही माना जाना चाहिए।[4]

सामान्य रूप से द्रव्य के लिए सत् अथवा सत्त्व, सत्ता, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ और विधि इन नव शब्दों का प्रयोग होता है। त्रिकालवर्ती पर्यायों के अभिन्न सम्बन्ध रूप समुदाय को भी 'द्रव्य' कहा है।[5] और द्रव्य के विकार अथवा परिवर्तन को 'पर्याय' कहा है। अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार तथा भेद, छेद और भंग ये सभी समानार्थक शब्द हैं। इस तरह जैनदर्शन सदसत्कार्यवादी है।

---

१. श्लोकवार्तिक, १२ (विगत पृष्ठ का उद्धरण)

२. एगदव्वस्सिया गुणा, उत्तराध्ययन, २८-६.

३. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः— तत्त्वार्थसूत्र, ५-४१.

४. पञ्चास्तिकाय, गाथा १२.

५. आप्तमीमांसा, १०७

पाश्चात्य दर्शनों में द्रव्य का स्वरूप :

पाश्चात्य दर्शन शास्त्र में भी द्रव्य के स्वरूप पर चर्चा हुई है। ग्रीक दार्शनिक हेराक्लिटस पदार्थ को परिवर्तनशील ही मानता है। विलियमजेम्स और बर्गसाँ भी लगभग यही विचार व्यक्त करते हैं। पाश्चात्य दर्शनों में वस्तु स्वातन्त्र्यवाद के अनेक भेद-प्रभेदों की व्याख्या की गई है। उनमें भी भेदवाद और अभेदवाद को आधार बनाया गया है। लाइबनित्से ने द्रव्य को गति, चेष्टा, क्रिया और शक्ति का केन्द्रबिन्दु माना है। देकार्ते के अनुसार द्रव्य वह है जो अपनी स्थिति के लिए अन्य पदार्थ की अपेक्षा न रखता हो। देकार्ते द्वितत्त्ववादी है, स्पिनोजा एकत्ववादी है, लाइबनित्से बहुत्ववादी है, लॉक और वर्कले तथा ह्यूम अनुभववाद का आश्रय लेकर अपना मत स्थापित करता है। कान्ट उसके परिवर्तन को पूर्वानुभव योग्यता अथवा क्षमता द्वारा बोध्य मानता है। हेमेल इन सभी मतों के समन्वय में विश्वास करता है।

द्रव्यभेद :

द्रव्य अथवा तत्त्व के मूलतः दो भेद हैं—जीव और अजीव। जीव द्रव्य अरूपी है। अजीव द्रव्य रूपी और अरूपी दोनों प्रकार के होते है रूपी द्रव्य को 'पुद्गल' कहते हैं। अरूपी द्रव्य चार प्रकार का है—धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन छः द्रव्यों में काल अनस्तिकायिक है और शेष द्रव्य अस्तिकायिक हैं। अस्तिकायिक का तात्पर्य है—प्रदेशबहुत्व और अवयवीवान् द्रव्य। काल ऐसा नहीं, अतः उसे अनस्तिकायिक कहा गया है। रूपी का अर्थ है— स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाला पदार्थ। यहाँ धर्म और अधर्म एक विशेष परिभाषा लिए हुए है। धर्म का तात्पर्य है— जो गति में सहायक हो और अधर्म का तात्पर्य है— जो स्थिति में सहायक हो।

जीव अथवा आत्मा :

प्रायः सभी दर्शनों ने जीव को केन्द्र मानकर अपने-अपने तत्त्वज्ञान का भवन खड़ा किया है। इसलिए उसके अस्तित्व के विषय में साधारणतः उनमें कोई मतभेद नहीं। मतभेद का वास्तविक विषय रहा है आत्मा का स्वरूप।

प्राचीनतम रूप :

बौद्ध साहित्य में जैनदर्शन सम्मत आत्मा के स्वरूप पर किञ्चित् प्रकाश पड़ता है। जब भगवान् बुद्ध शाक्यदेश में कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार कर रहे थे कि महानाम शाक्य उनके पास आया और बैठ गया। बुद्ध ने उससे बातचीत करते हुए कहा—महानाम! एक बार मैं राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर

विहार कर रहा था। उस समय बहुत सारे निगण्ठ ऋषि-गिरि की कालशिला पर खड़े रहने का ही व्रत लेकर आसन छोड़ने का उपक्रम करते थे। वे दुःखद, कटु व तीव्र वेदना झेल रहे थे। मैं सन्ध्याकालीन ध्यान समाप्तकर एक दिन उनके पास गया और उनसे कहा—आवुसो! निगण्ठो! तुम खड़े क्यों हो? आसन छोड़कर दुःखद व कटु तीव्र वेदना क्यों झेल रहे हो"? निगण्ठों ने मुझे तत्काल उत्तर दिया— आवुस! निगण्ठ नातपुत्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। अपरिशेष ज्ञान-दर्शन को जानते हैं। चलते, खड़े रहते, सोते, जागते, सर्वदा उन्हें ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। वे हमें प्रेरणा देते हैं; निगण्ठो! पूर्वकृत कर्मों को इस कड़ी दुष्कर क्रिया (तपस्या) से समाप्त करो। वर्तमान में तुम काय, वचन व मन से संवृत हो; अतः यह अनुष्ठान तुम्हारे भावी-पापकर्मों का अकारक है। इस प्रकार पूर्वकृत कर्मों का तपस्या से अन्त हो जाने पर और नवीन कर्मों के अनागमन से तुम्हारा चित्त भविष्य में अनाश्रव होगा; आश्रव न होने से कर्मक्षय होगा। कर्मक्षय से दुःखक्षय, दुःखक्षय से वेदनाक्षय और वेदनाक्षय से सभी दुःख नष्ट हो जायेंगे। हमें यह विचार रुचिकर प्रतीत होता है। अतः हम इस क्रिया से सन्तुष्ट हैं। (तं च पनम्हाकं रुच्चति चेव खमति चेव खमति च तेन चम्हं अत्तमना'ति)।[१]

इस उद्धरण में जैनधर्म के मूल सप्त तत्त्वों का प्रारम्भिक रूप दिखाई देता है—

i) आत्मा के अस्तित्व की स्वीकृति।
ii) सुख—दुःख पूर्वकृत कर्मों का फल है।
iii) कर्मों का आश्रव और बन्ध होता है।
iv) सम्यग्ज्ञान पूर्वक किये गये तप से कर्मों की संवर और निर्जरा होती है।
v) समस्त कर्मों की संवर—निर्जरा होने पर दुःखादि का क्षय हो जाता है। यही मोक्ष है।

ब्रह्मजालसुत्त में बासठ प्रकार की मिथ्यादृष्टियों का वर्णन मिलता है—१८ आदि सम्बन्धी और ४४ अन्तसम्बन्धी। इनमें अन्त सम्बन्धी मिथ्यादृष्टियों में उद्धमाघातनिका सञ्ञीवाद विशेष उल्लेखनीय है। इसके आत्मा सम्बन्धी सोलह मत हैं जिनपर श्रमणों और ब्राह्मणों में शास्त्रार्थ हुआ करता था।[२] निगण्ठ नातपुत्त भ. महावीर के विचार भी इनमें खोजे जा सकते हैं।

---

१. मज्झिमनिकाय, चूलदुक्खक्खन्धसुत्त, १४-२-२; पृ. १२६–१३१; देवदहसुत्तन्त, ३.१.१.
२. उदान, पृ. ६७ (रोमन); दीघनिकाय, प्रथम भाग (रो.) १९५, संयुत्तनिकाय, (रो.) द्वितीय भाग, ६०

शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद जैनधर्म के क्रमशः निश्चयनय और व्यवहारनय के प्रतीक हैं। उद्धमाघातनिका मतों में आत्मा अरूपी (अरूपी अत्ता होति अरोगो परं मरणा) और चेतनशील (एकत्तसञ्ञी अत्ता होति) होता है। यह मत निगण्ठनातपुत्त महावीर का होना चाहिए। बुद्धघोष ने भी इस मत का उल्लेख किया है।[1] पोट्ठपाद ने भी इसी सन्दर्भ में आत्मा की अरूपता और चेतनता (अरूपिं खो अहं भन्ते अत्तानं पच्चेमि सञ्ञामयं ति) का उल्लेख किया है। वसुबन्धु भी जैनों के इस मत से परिचित थे।[2] जैनदर्शन में जीव के इसी स्वरूप को स्वीकार किया गया है। वहाँ निश्चयनय और व्यवहारनय के आधार पर उसके लक्षण का विश्लेषण हुआ है।

भगवतीसूत्र में जीव के २२ नाम मिलते हैं—जीव, जीवास्तिकाय, प्राण, भूत, सत्त्व, विज्ञ, वेद, चेता, जेता, आत्मा, रंगण (रागयुक्त) हिंडुक, (गमनशील), पुद्गल, मानव, कर्ता, विकर्ता, जगत (गमनशक्ति), जन्तु, योनि, स्वयंभूत, सशरीरी, और नायक।[3] इन नामों में आत्मा के दोनों तत्त्वों का विवेचन मिलता है द्रव्य तत्त्व और भावतत्त्व। पर द्रव्यतः जीव चेतन, अरूपी, शाश्वत, अनन्त, अस्तिकायिक और अच्छेद्य है। भावतः वह गुण-पर्यायात्मक है।

आत्मा का स्वरूप :

जैनदर्शन में जीव अथवा आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। यह एक अनुभूत तथ्य है कि अहं,सुख,दुःख आदि तत्त्वों के लिए कोई एक आधार होना आवश्यक है। यदि आत्मा को स्वीकार न किया जाय तो ये तत्त्व कहाँ रहेंगे? उसके बिना जड़ तत्त्व की भी सिद्धि नहीं हो सकती। जड़ तत्त्वों से चेतन तत्त्व की उत्पत्ति हो नहीं सकती। पुनर्जन्म, स्मृति, ज्ञान, संशय आदि जैसी क्रियायें भी आत्मा को माने बिना बन नहीं सकतीं।[4] अतः आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

जीव का मूल लक्षण है उपयोग।[5] उपयोग का तात्पर्य है चेतनतत्त्व। यह चेतनतत्त्व अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य नामक अनन्तचतुष्टय गुणों से युक्त है परन्तु ज्ञानावरणादि कर्मों के कारण उसका यह स्वरूप आवृत हो जाता है। उसकी विशिष्ट शक्तियां प्रच्छन्न हो जाती

---

१. सुमंगलविलासिनी, पृ. ११०
२. विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि पृ. ७; चतुःशतकम्, १०-१०
३. भगवतीसूत्र, २०.२.
४. विशेषावश्यक भाष्य, १५४९-१५५८
५. उपयोगो लक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र, २-८; उत्तराध्ययन, २८-१०

है और वह जन्म-मरण रूप संसरण करने लगता है। इस प्रकार जीव साधारणतः दो प्रकार के होते है--संसारी और मुक्त। संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के हैं। दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं। तथा पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति कायिक जीव स्थावर कहलाते हैं।

आत्मा के इस संसारी स्वरूप का वर्णन द्रव्यसंग्रह में बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार वह उपयोगमयी है, आमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेहपरिमाणवान् है, भोक्ता है, संसारस्थ है, सिद्ध है, और उर्ध्वगति-स्वभावी है।

जीवो उवओगमओ अमुत्तिकता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥[1]

उपयोग का तात्पर्य है आत्मा जिससे ज्ञेय पदार्थ जाना जाता है। यह उपयोग दो प्रकार का है-- दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। पदार्थ को देखने की शक्ति दर्शनोपयोग है और जानने की शक्ति ज्ञानोपयोग है। आत्मा का यह दर्शन-ज्ञान स्वभाव अविनश्वर है। कर्मों के कारण वह आवृत भले ही हो जाये पर नष्ट नहीं हो सकता।

आत्मा कभी नेत्रेन्द्रिय के द्वारा पदार्थ को देखता है, कभी नेत्रों के अति-रिक्त अन्य इन्द्रियों द्वारा देख लेता है तो कभी कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार वह अवधिदर्शन और केवल दर्शन से भी पदार्थ का दर्शन कर लेता है। इसको पारिभाषिक शब्दों में क्रमशः चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल-दर्शन कहा जाता है। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है-- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ज्ञान। उपर्युक्त चार प्रकार का दर्शन और आठ प्रकार का ज्ञान जीव का सामान्य लक्षण है। यह उसका व्यावहारिक स्वरूप है। शुद्ध स्वरूप में तो वह केवल-दर्शन और केवलज्ञान मयी है।

---

१. द्रव्य संग्रह, गाथा २; प्रमाणनय तत्त्वालोक, ७.५५-५६; षड्दर्शन समुच्चय ४८-४९; पञ्चास्तिकाय, २७; भावपाहुड, १४८, धवला (१.१.१.२, पृ. ११९) मे आत्मा को वक्ता, प्राणी, भोक्ता, वेद, विष्णु, शरीर, मानव, सक्ता, जन्तु, मानी, योगी, मायी आदि अनेक शब्द आत्मा के पर्यायार्थिक रूप मे मिलते है। भगवतीसूत्र (१२.१०.४६६) में द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से आत्मा के आठ भेद किये गये हैं-- द्रव्यात्मा, कषायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चरित्रात्मा और वीर्यात्मा।

यह हम जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं– शुद्ध और कृत्रिम। शुद्ध रूप में परनिमित्त की अपेक्षा नहीं होती पर कृत्रिम रूप में यह अपेक्षा बनी रहती है। शुद्ध रूप के लिए परमार्थ, निश्चय, वास्तविक आदि नाम दिये जाते हैं और कृत्रिम रूप को अपरमार्थ, व्यवहार, अशुद्ध आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। आत्मा का वर्णन भी इन्हीं दोनों दृष्टियों से जैनागमों में मिलता है।

निश्चयनय से जीव अमूर्तिक है पर व्यवहारनय से वह कर्मों से आबद्ध होने के कारण मूर्तिक है। नवीन जीवन धारण करने की प्रक्रिया इसी तत्त्व पर अवलम्बित है। हमारे वर्तमान जीवन में सत्-असत् कर्मों के जो संस्कार बन जाते हैं वे ही भावी जन्म के कारण होते हैं। जातिस्मरण की अनेक घटनायें पुनर्जन्म को ही प्रमाणित करती हैं।

आत्मा जीव है और उपयोगमयी अथवा ज्ञानदर्शनमयी है। इन विशेषणों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। उसकी स्वतंत्र सत्ता है। चार्वाक् और बौद्ध दर्शन आत्मा के पृथक् अस्तित्व के विषय में संदिग्ध हैं। उनको उत्तर देने के लिए 'जीव' विशेषण का प्रयोग किया गया है। नैयायिक और वैशेषिक दार्शनिकों को उत्तर देने के लिए उपयोग-मयी विशेषण का प्रयोग हुआ है। वे ज्ञान-दर्शन को आत्मा का स्वभाव न मानकर उसे उसका औपधिक गुण मानते हैं जो बुद्धयादि गुणों के संयोग से उत्पन्न होता है। आत्मा और ज्ञान उनकी दृष्टि में पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं जो समवाय सम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं। जैनों के अनुसार एक तो समवाय सम्बन्ध की ही सिद्धि नहीं होती क्योंकि उसकी सिद्धि में अनवस्था दोष आता है और दूसरे, समवाय के नित्य और व्यापक मानने पर अमुक ज्ञान का सम्बन्ध अमुक आत्मा से ही है यह कैसे निश्चित किया जा सकता है? और फिर जब आत्मा को सर्वव्यापक माना गया है तो एक आत्मा का ज्ञान सभी आत्माओं में होना चाहिए। पर होता नहीं। यदि होता तो चैत्र का ज्ञान मैत्र में हो जाता। यदि आत्मा और ज्ञान में कर्तृ-करण भाव माना जाय तो कर्ता और करण के समान दोनों को बिलकुल पृथक् मानना होगा पर वे पृथक् हैं नहीं। पर्याय-भेद से ही उनमें पार्थक्य दिखाई देता है।

'अमूर्तिक' विशेषण से कुमारिल भट्ट के मत का परिहार किया गया है जो उसे मूर्तिक मानते हैं। शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में पुद्गल के गुण, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं होते इसलिए वह अमूर्तिक है। पर संसार अवस्था में पौद्गलिक कर्मों के कारण वह रूपादिवान् होकर मूर्तिक हो जाता

है। यह मूर्तत्व गुण चेतना का विकार है और विकार स्थायी रहता नहीं, अतः वह अशुद्ध है।[1]

आत्मा और कर्म :

आत्मा शुद्ध नय से अनन्तचतुष्टय रूप शुद्ध भावों का कर्ता है पर व्यवहारतः वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय रूप अष्ट द्रव्यकर्मों, आहारादि छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल रूप नोकर्मों तथा बाह्य घट-पटादि द्रव्यों का कर्ता है। सांख्य दर्शन पुरुष (आत्मा) को कर्ता नहीं मानता बल्कि उसे साक्षी मात्र मानता है।[2] उसके अनुसार आत्मा या पुरुष चैतन्य स्वरूप होते हुए भी एकान्त रूप से कूटस्थ नित्य और शाश्वत है। बन्ध-मुक्त रूप परिणाम प्रकृति में ही होते हैं। परन्तु जैन दर्शन परिणामवाद को स्वीकार करता है। कर्मों के कारण आत्मा स्वरूप को छोड़कर सुख-दुःखादिको ही अपना समझने लगता है। यह परिवर्तन आत्मा के परिणामवाद को व्यक्त करता है। यदि आत्मा अपरिणामी होगा तो उसमें ये परिवर्तन कैसे संभव होंगे? प्रकृति को बद्ध और मुक्त करने वाला कोई अन्य तत्त्व अवश्य होना चाहिए जबकि सांख्य प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व को मानता ही नहीं। प्रकृति को स्वयं बद्ध-मुक्त माना नहीं जा सकता अन्यथा बन्धन और मुक्ति में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। प्रकृति के परिवर्तन में पुरुष को कारण माना जाय तो फिर पुरुष को अपरिवर्तनशील नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वयं में परिवर्तन किये बिना दूसरे में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। अतः आत्मा को कर्ता कहा गया है।

आत्मा अपने देह के परिमाण रूप रहता है। उसमे संकोच और विस्तार होने का स्वभाव रहता है। फलतः चीटी की आत्मा चीटी बराबर और हाथी की आत्मा हाथी बराबर होगी।[3] यदि आत्मा स्वदेहपरिमाणवान् न होकर अंगुष्ठदि मात्र हो तो कष्ट की अनुभूति अंगुष्ठादि अंग को ही होनी चाहिए, अन्य अंगों को नहीं, परन्तु ऐसा होता नहीं। अतः आत्मा स्वदेहपरिमाणवान् है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि दार्शनिक आत्मा की सर्वव्यापकता को स्वीकारते हैं। पर शरीर के बाहर आत्मा कैसे रह सकती है?

---

१. द्रव्य संग्रह टीका, गाथा २.; पञ्चास्तिकाय, ३७, ताप्तर्यवृत्ति.

२. सांख्यकारिका, १९

३. प्रदेश संहार विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्, तत्त्वार्थसूत्र, ५.१६; पञ्चास्तिकाय संग्रह, गाथा ३३ में कहा गया है कि जिस प्रकार दूध मे पड़ा पद्मरागमणि अपने रंग से दूध को प्रकाशित करता है उसी प्रकार देह में रहनेवाला जीव भी अपने रूप से देह में व्याप्त रहता है।

जिसके गुण जहां उपलब्ध होंगे वह वस्तु वहीं रहेगी। आत्मा का अस्तित्व वहीं होगा जहां उसके ज्ञान, स्मृति आदि गुण, विद्यमान रहेंगे। ये सारे गुण वहीं मिलते हैं जहां शरीर रहता है। अदृष्ट की सर्वव्यापकता के समान आत्मा की सर्वव्यापकता नहीं मानी जा सकती। अन्यथा हर कार्य में अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ेगी। फिर ईश्वर की भी क्या आवश्यकता रहेगी?

आत्मा व्यवहारनय से साता-असाता आदि पुद्गल कर्मजन्य सुख-दुःख का भोक्ता है पर निश्चयनय से वह अपने ही ज्ञानानन्द स्वभाव का भोग करने वाला है। सांख्य के पुरुष में साक्षात् भोक्तृत्व नहीं बल्कि वह बुद्धि के भोग को अपना मानकर चलता है। परन्तु जैन दार्शनिक भोग का सम्बन्ध आत्मा से जोड़ते हैं। आत्मा रूप आश्रय के बिना भोग-क्रिया नहीं हो सकती।

आत्मा जबतक कर्मों से सम्बद्ध रहता है तबतक वह संसार में जन्म-मरण की क्रियाओं में ही भटकता रहता है। कर्मों के समूल नष्ट होने पर आत्मा मोक्ष पहुँच जाता है। चार्वाक दर्शन में कर्म का अस्तित्व ही नहीं। परन्तु सुख-दुःख के वैषम्य का कोई न कोई कारण तो मानना ही पड़ेगा। यह कारण न ईश्वर हो सकता है और न पंचभूत हो सकते हैं। यह कारण हमारे पूर्वकृत कर्म हैं। उनका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष भले ही न हो पर अतीत-अनागत वस्तु के समान उसका अनुभव अवश्य होता है। यदि मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय होने से ही उसकी सत्ता को नकार दिया जाये तो परमाणु की सत्ता रूप घटादि कार्यों को कैसे स्वीकार किया जा सकेगा? पर घटादि कार्य प्रत्यक्ष दिखाई देते ही हैं। अतः कर्मों की सत्ता अविश्वसनीय नहीं।

जैन दर्शन में कर्म को 'कार्माण शरीर' कहा गया है और उसे पौद्गलिक माना गया है। मूर्त सुख-दुःखादि का वेदन या अनुभव करानेवाला कोई मूर्तिक पदार्थ ही होना चाहिए। यह मूर्तिक पदार्थ हमारा कर्म ही है। उसके संयोग से हमारी कार्मिक वृद्धि होती है, उनका परिवर्तन (परिणामत्व) उनके कार्य रूप शरीरादि के परिवर्तन से स्पष्टतः प्रतीत होता है। मूर्त कर्म का अमूर्त आत्मा के साथ यह संयोग अनादिकालीन है। कर्म से आबद्ध आत्मा को भी कथञ्चित् मूर्त कहा गया है। आत्मा और कर्म का यह अनादि संयोग समाप्त होते ही आत्मा का परम विशुद्ध स्वरूप प्रगट हो जाता है। इसी को मोक्ष कहते हैं। यहाँ से फिर उसका संसार में आवागमन नहीं होता। इसी को सिद्धावस्था भी कहा जाता है।

जीव दो प्रकार के होते हैं—संसारी और मुक्त। संसारी जीव के भी दो भेद हैं— त्रस और स्थावर। रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इन चार इन्द्रियों

तथा मन से युक्त जीव त्रस कहलाते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में कोई संज्ञी (समनस्क) रहते हैं और कोई असंज्ञी (अमनस्क)। पंचेन्द्रियों के अतिरिक्त शेष सभी जीव असंज्ञी होते हैं। स्थावर जीव पांच प्रकार के होते हैं–पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। पृथ्वीकायिक जीव भी कुछ बादर (स्थूल) होते हैं और कुछ सूक्ष्म। इस प्रकार एकेन्द्रिय दो, विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) तीन, और पंचेन्द्रिय दो, कुल सात भेद हुए। ये सातों प्रकार के जीव पर्याप्तक, और अपर्याप्तक होते हैं। अतः जीवों के कुल चौदह भेद हुए। इन्हें ही जीवसमास कहते हैं। समूची[1] जीवराशि इन्हीं भेदों के अन्तर्गत संयोजित कर दी गई है।

संसारी जीव अष्ट कर्मों से विमुक्त होकर सिद्ध हो जाता है। अष्ट कर्मों के विनाश से उसे अष्ट गुणों की उपलब्धि होती है। ज्ञानावरण के नाश से केवलज्ञान, दर्शनावरण के नाश से केवलदर्शन, वेदनीय के नाश से अव्याबाधसुख, मोहनीय के नाश से सम्यक्त्व गुण, आयु के नाश से अवगाहना, नाम के नाश से सूक्ष्मत्व, गोत्र के नाश से अगुरुलघुत्व और अन्तरायकर्म के नाश से अनन्तवीर्य गुण प्रगट होते हैं। ये सिद्धजीव जन्ममरणादि प्रक्रिया से दूर और उत्पाद-व्यय रूप होते हुए भी मुक्तत्व रूप से ध्रौव्य स्वभावी हैं।

सिद्ध हो जाने पर यह जीव प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश इन चार प्रकार के बंधों से विमुक्त होकर ऊर्ध्वगमन करता है। जिस प्रकार ऊपर के छिलके के हटते ही एरण्डबीज छिटककर ऊपर जाता है तथा जैसे मिट्टी का लेप घुलते ही तूंबड़ी पानी के ऊपर आ जाती है उसी प्रकार कर्मों के कारण संसार में भटकने वाला आत्मा कर्मबन्धन के मुक्त होते ही ऊर्ध्वगति स्वभाव वाला होता है। यह सिद्ध आत्मा लोक के अन्तभाग में स्थित रहता है क्योंकि उसके आगे धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव होता है।

आत्मा का अस्तित्व :

इस शास्त्रीय विवेचन से आत्मा, कर्म और संस्कार का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इसके बावजूद आत्मा के अस्तित्व पर विशेष प्रश्नचिन्ह खड़ा किया जाता है। वस्तुतः उसका अस्तित्व प्रत्यक्ष से भले ही सिद्ध न हो पर अनुमानादि प्रमाणों से उसके स्वरूप को असिद्ध नहीं किया जा सकता। 'अहं प्रत्यय' से मानस प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता

१. तत्त्वार्थ सूत्र, २.१०–१४.; पञ्चास्तिकाय, ११९–१२०. आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के व्यापारों अर्थात् प्रवृत्तियों में परिणमन करने की जिन जीवों मे शक्ति होती है वे पर्याप्तक कहलाते हैं और जिनमें यह शक्ति नहीं होती वे अपर्याप्तक कहलाते हैं।

है। उसमें 'अनैकान्तिक दोष भी नहीं' आता क्योंकि मैं दुःखी हूँ। इस प्रकार का अन्तरंग ज्ञान आत्मा के ही आधार से होता है। तथा "मैं गोरा-काला हूँ" इत्यादि रूप से जो बहिर्मुख ज्ञान होता है वह इसी आत्मा का उपकार होने से शरीर के विषय में प्रयुक्त होता है।

अहं प्रत्यय का कादाचित्कत्व (अनित्यत्व) सिद्ध होता है। आत्मा का लक्षण उपयोग है जो साकार या अनाकार होता है। जिस प्रकार सहकारी सामग्री के होने पर बीज में उत्पादन की क्षमता होती है और उसके न होने पर नहीं होती उसी तरह आत्मा के सदा विद्यमान रहने पर भी कर्मों के क्षय और उपशम की विचित्रता से इन्द्रिय-मन आदि का सहकार मिलने पर ही 'अहं' प्रत्यय होता है। उसे कादाचित्क (अनित्य) कहा गया है।

आत्मा को सिद्ध करने वाले व्यभिचारी हेतु का भी अभाव नहीं। रूपादि जानने की क्रिया का जो कर्ता है वही आत्मा है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ कर्ता नहीं हो सकती क्योंकि वे स्वयं कारण और परतन्त्र हैं। तथा इन्द्रियाँ स्वयं पौद्गलिक और अचेतन हैं। दूसरे की प्रेरणा से कार्य करने के कारण इन्द्रियाँ करण हैं। इन्द्रियाँ यदि जानने की क्रिया की कर्ता होती तो उनके नष्ट होने पर पदार्थों का स्मरण नहीं होता। रूप-रस का एक साथ अनुभव करनेवाला आत्मा ही है।

आत्मा की अस्तित्त्व सिद्धि में इनके अतिरिक्त और भी अनेक प्रमाण हैं। हर क्रिया प्रयत्न पूर्वक होती है। शरीर को नियत दशा में ले जाने वाली चेष्टा आत्मा के प्रयत्न से ही होती है। वही कर्ता है। श्वासोच्छ्वास रूप वायु से शरीर रूपी धोंकनी को फूंकने वाला शरीर का अधिष्ठाता आत्मा है। शरीर रूपी यन्त्र का कर्ता आत्मा है। शरीर की वृद्धि, हानि, घाव का भरना आदि भी आत्मा के स्वीकार करने पर ही संभव होगा। मन का प्रेरक आत्मा है। पर्यायों का आश्रय आत्मा है। शुद्ध पर्यायों द्वारा आत्मा वाच्य भी है। सुखादि गुणों का आश्रय और उत्पादन का आधार भी आत्मा ही है। संशय तथा ज्ञानादि गुणों का अधिष्ठाता भी आत्मा ही है। अतः आत्मा के अस्तित्त्व पर किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता।[1]

आत्मा की शक्ति :

आत्मा या जीव के स्वभावों और शक्तियों का भी वर्णन साहित्य में मिलता है। अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, एक, अनेक, भव्य, अभव्य और परम ये ग्यारह

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, १५४९–१५६०; तत्वार्थ राजवर्तिक, २.८.२०, स्याद्वाद मंजरी, १७. (वृत्तिसहित) आदि ग्रन्थ देखिये।

सामान्य स्वभाव हैं तथा चेतन, अचेतन, मूर्त, अमूर्त, एक प्रदेश, अनेक प्रदेश, विभाव, शुद्ध, अशुद्ध और उपचरित ये दस विशेष स्वभाव हैं। इसी तरह जीव की शक्तियों के जो भी उल्लेख मिलते हैं उनसे उस की विशेषताओं का पता चलता है। ऐसी शक्तियों की संख्या ४७ है– १. जीवत्व शक्ति, २. चितिशक्ति, ३. दृशिशक्ति, ४. ज्ञान, ५. सुख, ६. वीर्य, ७. प्रभुत्व, ९. सर्वदर्शित्व, १०. सर्वज्ञत्व, ११. स्वच्छत्व, १२. प्रकाश, १३. असंकुचितविकाशत्व, १४. अकार्यकारणत्व, १५. परिणम्य पारिणामकत्व, १६. त्यागोपादानशून्यत्व, १७. अगुरुलघुत्व, १८. उत्पाद-व्यय ध्रौव्यत्व, १९. परिणाम, २०. अमूर्तत्व, २१. अकर्तृत्व, २२. अभोक्तृत्व, २३. निष्क्रियत्व, २४. नियतप्रदेशत्व, २५. सर्वधर्मव्यापकत्व, २६. साधारण, असाधारण, साधारणासाधारण-धर्मत्व, २७. अनन्तधर्मत्व, २८. विरुद्धधर्मत्व, २९. तत्त्व, ३०. अतत्त्व, ३१. एकत्व, ३२. अनेकत्व, ३३. भाव, ३४. अभाव, ३५. भावाभाव, ३६. अभावभाव, ३७. भावभाव, ३८. अभावभाव, ३९. भाव, ४०. क्रिया, ४१. कर्म, ४२. कर्तृ, ४३. करण, ४४. सम्प्रदान, ४५, अपादान, ४६. अधिकरण, और ४७. सम्बन्धशक्ति।[१]

जीव असंख्यात प्रदेशी भी है। संकोच विस्तार के होने पर भी वह लोकाकाश तुल्य असंख्य प्रदेशों को नहीं छोड़ता क्योंकि कार्माण शरीर के साथ उसका एकत्व होता है। जैसे ही समस्त योग (मन-वचन-कायिक क्रियायें) नष्ट हो जाते हैं, प्रदेशों का यह संकोच-विस्तार अवस्थित हो जाता है। अयोग केवली और सिद्धों के सभी प्रदेश इसलिए अवस्थित होते हैं। वे वहाँ से चलते-फिरते नहीं।[२]

इस प्रकार जीव अथवा आत्मा एक नित्य तथा विशुद्ध रूप को लिए हुए रहता है परन्तु मिथ्यात्व और अज्ञानता के कारण उसका यह स्वरूप धूल धूसरित हो जाता है। योग-निरोध से उस विशुद्ध मूल रूप को पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

आत्मा और ज्ञान :

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख, दुःख, वीर्य, शक्ति, भव्यत्व (मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता), अभव्यत्व, सत्त्व, प्रमेयत्व, द्रव्यत्व, प्राणधारित्व, क्रोधादिपरिणतत्व, संसारित्व, सिद्धत्व, परवस्तु व्यावृत्तत्व आदि रूपसे जीव की अनेक पर्यायें होती हैं। यें पर्यायें कुछ स्वनिमित्तक होती हैं और कुछ

---

१. समयसार, आत्मख्याति

२. धवला, १.१.१, ३३,

परनिमित्तक। इन्हीं पर्यायों को ज्ञानादि धर्म कहते हैं। ये ज्ञानादिधर्म पर्याय जीव से न तो अत्यन्त भिन्न ही हैं और न सर्वथा अभिन्न ही, बल्कि कथञ्चित् भिन्न-अभिन्न रूप हैं।[१] जीव धर्मी है और ज्ञान धर्म है। जीव गुणी है और ज्ञान गुण है। गुणी शक्तिमान् है और गुण शक्ति है। गुणी कारण है और गुण कार्य है। यदि यह भेद न हो तो "जो जानता है वह ज्ञान है" ऐसा भेद कैसे हो सकता है?[२] अतः परिणाम, स्वभाव, संज्ञा, संख्या, और प्रयोजन आदि की दृष्टि से द्रव्य और गुण कथञ्चित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न हैं।

नैयायिक और सांख्य आत्मा और ज्ञान को सर्वथा पृथक् तत्त्व मानते हैं। फिर भी उनमें गुण-गुणी भाव स्वीकार करते हैं। परन्तु सर्वथा भिन्न पदार्थों में गुण-गुणी भाव बन नहीं सकता। गुण गुणी को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता। यदि दोनों को सर्वथा भिन्न माना जाय तो जल का स्वभाव शीतत्व और अग्नि का स्वभाव उष्णत्व नहीं माना जायगा और गुण-गुणी भाव नष्ट हो जायगा। आत्मा की सिद्धि में यह भी एक विशेष तत्त्व है जो आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध कर देता है।

यहाँ एक तथ्य और समझ लेना चाहिए। यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्त है परन्तु यह संसारी जीव अनादिकाल से अष्ट कर्मों से बंधा हुआ है और उसमें कार्माण शरीर लगा हुआ है। इस कार्माण शरीर के साथ सदैव रहने के कारण अमूर्त आत्मा भी मूर्त हो जाता है। अतः जैन दर्शन में आत्मा को कर्मबन्ध के कारण सशरीर तथा मूर्त भी मानते हैं।

जीव के पांच स्वतत्त्व (भाव) :

जीव के दो भेद हैं—द्रव्य जीव और भाव जीव। द्रव्य जीव नित्य है, पर कूटस्थ नित्य नहीं, परिणामी नित्य है, जैसा हम अभी पीछे देख चुके है। और भाव जीव उसकी गुण-पर्यायें हैं। जीव में भिन्न-भिन्न प्रकार के सुख-दुःख, हिंसा-अहिंसा, भय-अभय आदि रूप से भाव आते हैं। इन भावों का कारण होता है कर्म। जीव की कर्म से बद्ध अवस्था को ही भाव अवस्था कहते हैं।[३]

इस भाव अवस्था को ही पांच भागों में विभाजित किया गया है—औदयिक, पारिणामिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक। पारिणामिक भाव को छोड़कर जीव के साथ शेष भावों का संयोग सम्बन्ध होता है।

१. **औदयिक**—कर्म जब परिपाक अवस्था में आते हैं और फल देने की

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय, का. ४९ की वृत्ति.

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा, १८०., आप्तमीमांसा, ७१-७२.

३. भावविवक्षतोऽथ उच्यते, परमात्म प्रकाश, १.१२१

स्थिति में होते हैं तो उसे उदय कहा जाता है। उदय निमित्तक भाव ही औदयिक कहलाते हैं। इन भावों-परिणामों के कारण जीवों को संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। यह परिभ्रमण इक्कीस प्रकार का होता है–

i) चार गति–नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव।
ii) चार कषाय–क्रोध, मान, माया और लोभ।
iii) तीन लिङ्ग–स्त्री, पुरुष और नपुंसक।
iv) मिथ्यादर्शन–तत्त्वार्थ में अरुचि या अश्रद्धान होना।
v) अज्ञान–आत्मा का ज्ञान रूप स्वभाव प्रगट न होना।
vi) असंयम–हिंसादि और इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्ति।
vii) असिद्धत्व–कर्मों का समूल विनाश न होना।
viii) छह लेश्यायें–कषाय के योग से मन वचन काय रूप त्रियोग में होनेवाली प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। वे छह हैं–कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।

द्रव्यकर्म के साथ औदयिक भावों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। कर्म का जितने अंश में आवरण होता है वह निमित्त कहलाता है और उसका फल नैमित्तिक कहलाता है। उदाहरणार्थ–ज्ञानावरणकर्म का आवरण निमित्त है और तदनुकूल ज्ञान की अभिव्यक्ति नैमित्तिक है।

२. पारिणामिक भाव–जो भाव द्रव्य जीव में पर के सम्बन्ध के बिना स्वयमेव आते हैं उन्हें पारिणामिक भाव कहा जाता है। चैतन्य भाव ही जीव का पारिणामिक भाव होता है। उसका सदैव अस्तित्व रहता है। यह भाव तीन प्रकार का होता है–जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। जीवत्व जीव का निज-परिणाम है। जिसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करने की क्षमता होती है वह भव्य कहलाता है और जिसमें यह क्षमता नहीं होती वह अभव्य कहलाता है।

३. औपशमिक भाव–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से कर्म की शक्ति का प्रगट न होना उपशम कहलाता है। मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, और सम्यक्त्व, इन तीन दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार चारित्रमोह, इस प्रकार सात कर्म प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। जैसे निर्मली के डालने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और स्वच्छ पानी ऊपर आ जाता है। उसी प्रकार परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का प्रगट न हो पाना उपशम है और उपशम के

लिए जो भाव है वे औपशमिक हैं। इसके दो भेद हैं—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र। मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, और सम्यक्त्व, इन तीन दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ ये चार चरित्रमोह, इस प्रकार सात कर्म प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्दर्शन होता है। इसके बाद ही औपशमिक चारित्र होता है। यह सम्यक्-दर्शन चारों गतियों में होता है।

४. क्षायोपशमिक भाव—जैसे कोदों को धोने से कुछ कोदों की मद-शक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ की क्षीण नही होती। उसी प्रकार परिणामों की निर्मलता से कर्मों के एक देश का क्षय और एकदेश का उपशम होना क्षायोपशमिक भाव है। इसके अठारह भेद है—

i) चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय
ii) तीन अज्ञान--कुमति, कुश्रुत और कुअवधि
iii) तीन दर्शन--चक्षु, अचक्षु और अवधि
iv) पांच लब्धियाँ—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य
v) सम्यक्त्व—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन पाँच लक्षणों से सम्यक्त्व की पहिचान होती है। (योगशास्त्र, २.१५)
vi) चारित्र—अहिंसा की साधना, और
vii) संयमासंयम

५. क्षायिक भाव—जिस प्रकार निर्मली के डालने से ऊपर आये स्वच्छ जल को यदि बर्तन में अलग रख दिया जायं तो वह अत्यन्त निर्मल दिखाई देता है उसी प्रकार कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति से जो आत्यन्तिक विशुद्धि होती है वह क्षय है और कर्मक्षय के लिए जो भाव होते हैं वे क्षायिक भाव कहलाते हैं। इसके नव भेद हैं—केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, और क्षायिक चारित्र।

जीव के पांचों भाव यह व्यक्त करते हैं कि जीव के अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यभाव है जिसे पारिणामिक भाव कहा जाता है। कर्ममल के कारण जीव का वह स्वभाव धूमिल हो जाता है और वह संसार की ओर झुक जाता है। इसी को औदयिक भाव कहते हैं। संसार में रमण करने पर भी उसका विवेक जब जाग्रत होता है तब वह अपने पुरुषार्थ से कषायादि को वश में कर लेता है और भेदविज्ञान पा लेता है। इस अवस्था को यहाँ औपशमिक कहा गया है। इस स्थिति तक आते-आते जीव अपने विकार भावों को नष्ट करता

जाता है और विशुद्ध अवस्था की ओर बढ़ता जाता है। उसके कर्मों का आंशिकक्षय और आंशिक उपशम होता है। इसी को क्षायोपशमिक कहा गया है। इसके बाद जीव की मूल विशुद्ध अवस्था प्रगट हो जाती है जिसे क्षायिकभाव कहा गया है। इसमें उसे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।[१]

इस प्रकार जीव और कर्म की अवस्था को स्पष्ट रूप से समझने के लिए भावों का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ये भाव मोक्ष की ओर जानेवाले संसारी जीवों की अवस्थाओं के सूचक हैं। इसे इस प्रकार भी कहा जाता है कि जीव की तीन अवस्थायें होती हैं– बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा में जीव शरीर को ही आत्मा समझता है और उसके नष्ट होने पर अपने को नष्ट मानता है। पंचेन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहकर वह संसार भ्रमण करता रहता है।[२] अन्तरात्मावस्था में जीव आत्मा और देह को पृथक्-पृथक् मानने लगता है और निरासक्त होकर भवबन्धन को काटने में संनद्ध हो जाता है। परमात्मावस्था जीव की चरम विशुद्धास्था है जिसमें उसके विकार भाव नष्ट हो जाते हैं और अनन्तचतुष्टय की प्राप्ति हो जाती है।[३]

जैनेतर दर्शनों में आत्मा :

i) भारतीय दर्शन :

चार्वाक् दर्शन पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों से आत्मा की उत्पत्ति बताता है और उनके विनाश से आत्मा का विनाश कहता है। पर यह नितान्त भूल है। क्योंकि भूत आचेतन है और आत्मा का गुण चेतन है। अचेतन तत्त्व चेतन तत्त्व की उत्पत्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता। यदि पंचभूतों में चेतन तत्त्व को उत्पन्न करने का सामर्थ्य मान भी लिया जाय तो मृतक शरीर में भी पांचों भूत रहते हैं पर उसमें आत्मा नहीं रहता। अतः आत्मा पंच भूतों से उत्पन्न नहीं होता। वह तो एक स्वतन्त्र द्रव्य है जो प्रत्येक व्यक्ति में पृथक्-पृथक् रहता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से भी यह अनुभवगम्य है।

वेदान्ती आत्मा को एक मानते हैं, वैशेषिक उसे सर्वव्यापी और अन्य दार्शनिक उसे अणु बराबर मानते हैं, नित्य मानते हैं और क्षणिक मानते हैं। पर आत्मा न सर्वथा नित्य है, न क्षणिक है, न एक है और न सर्वव्यापी है। वह तो

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, २.१; पञ्चास्तिकाय, ५६.

२. समाधिशतक, ६८.

३. मोक्षपाहुड, ५.६; परमात्मप्रकाश, १–१३–१७.

कथञ्चित् नित्य है और कथञ्चित् अनित्य। सभी का आत्मा पृथक्-पृथक् है और शरीर के अनुसार वह संकुचन-विसर्पणशील है। यदि हम उसे सर्वथा नित्यादि रूप मानने लगें तो सारे लोक व्यवहार समाप्त हो जायेंगे। वह तो वस्तुत: स्वभावत: सिद्ध, बुद्ध, शुद्ध और अनन्तज्ञानादि गुणों से समृद्ध है किन्तु अनादिकाल से कर्म परम्परा से आबद्ध होने के कारण जन्म-जन्मान्तरण कर रहा है। कर्म-परम्परा समाप्त होते ही आत्मा अपने मूल विशुद्धादि स्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद अथवा निरात्मवाद अनेक विकासात्मक सोपानों को पार कर स्थिर हो पाया है। फिर भी समीक्षात्मक दृष्टि से कहा जा सकता है कि वहाँ आत्मा के स्थान की पूर्ति चित्त, नाम, संस्कार अथवा विज्ञान ने की और उपस्थित प्रश्नों का उत्तर सन्तानवाद ने दिया। उससे कर्मों का संबन्ध जोड़कर पुनर्जन्म की भी व्यवस्था कर दी गई है।[1]

बौद्धदर्शन में विज्ञानवादी बौद्ध आत्मा और ज्ञान का अभेद मानते हैं तथा ज्ञानमात्र को स्वप्रत्यक्ष कहते हैं। सांख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शन भी इसी मत के हैं। परन्तु कुमारिल ज्ञान को परोक्ष मानते हैं और आत्मा को स्वप्रकाशक।[2] कुछ दर्शन ऐसे हैं जो ज्ञान को आत्मा से भिन्न मानते हैं। उनमें कुछ ऐसे हैं जो ज्ञान को आत्मा का गुण मानते हुए भी स्वप्रकाशक मानते हैं, जैसे प्रभाकर। और कुछ ऐसे हैं जो उसे परप्रकाश का मानते हैं जैसे नैयायिक। ये दर्शन आत्मा को स्वप्रत्यक्षगम्य मानते हैं पर न्याय-वैशेषिक उसे पर प्रत्यक्षगम्य कहते हैं। जैनदर्शन आत्मा और ज्ञान को कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न मानता है और साथ ही उसे स्वपरावभासी भी कहता है।

ii) पाश्चात्य दर्शन :

चार्वाक् को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन आत्मा के अस्तित्व को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते ही हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी उसके अस्तित्व को प्राय: स्वीकार किया है। प्लेटो ने तो यह भी कहा है कि आत्मा में ज्ञान संस्कार रूप से रहता है। आत्मा को शुद्ध स्वरूप श्रेय का ज्ञान है। वही परम पद की प्राप्ति में कारण होता है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का जन्मदाता और द्वितत्त्ववाद का प्रवर्तक देकार्त भी प्लेटो और अरस्तु का अनुकरण करता है। उसके अनुसार आत्मा सरल, एकत्वपूर्ण, विस्तारहीन या अप्रसारित, आकाशरहित, अविभाज्य, अभौतिक, सक्रिय, चेतन, अद्वतीय,

---

१. देखिये, लेखक का ग्रन्थ बौद्ध संस्कृति का इतिहास, परिवर्त ४, पृ. ८८.

२. श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, १४२.

गतिशील, प्रयोजनात्मक, नित्य, अमर, शाश्वत, स्वतन्त्र तथा निरन्तर द्रव्य है। ह्यूमने किसी नित्य आत्मा को तो नहीं माना पर कान्ट ने उसके अस्तित्व को अवश्य स्वीकार किया है और उसे अमूर्त एकता (abstract unity) माना है। लॉक और वर्कले ने भी आत्मा के इसी स्वरूप को स्वीकार किया है। ये सभी दार्शनिक जैन दर्शन के समीप बैठते हैं। ह्यूम, विलियम जेम्स और ब्रेडले आत्मा को अनित्य और परिवर्तनशील मानते हैं। जैन दर्शन के समान अरस्तु के मत में भी आत्मा की वास्ताविक शक्ति के रूप में ज्ञान को स्वीकार किया गया है।

जैनदर्शन ने आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है और उसके नित्यत्व और अनित्यत्व के संघर्ष में अनेकान्तवाद के आधार पर विचार किया है। दार्शनिकों ने जो भी विचार रखे हैं उनका अन्तर्भाव प्राय: इन दोनों पहलुओं में हो जाता है।

२. पुद्गल (अजीव)

स्वरूप और पर्याय :

पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश और काल ये पांच द्रव्य अजीव अथवा अचेतन हैं। ये पांचों द्रव्य एक साथ रहते हैं और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखते हैं। काल को छोड़कर सभी द्रव्य अस्तिकायिक हैं।

पुद्गल और अजीव समानार्थक हैं। पुद्गल का अर्थ है पुं गलनाद् पूरणगलनाद्वा पुद्गलः अर्थात् जो टूट सकें, बिखर सके और जुड़ सके वह 'पुद्गल' है। उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण पाये जाते हैं और सभी के संघात रूप में वह दृश्य और स्पृश्य रहता है। सारी सृष्टि पुद्गलों के परिणमन का ही प्रतीक है।

भगवतीसूत्र में पुद्गल का अर्थ 'ग्रहण' किया गया है—गहणलक्खणे णं पोग्गलत्थिकाए। पोग्गलत्थिकाए णं जीवाणं ओरालिय-वेउव्विय-आहारए तेयाकम्मए सोइंदिय-चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिदिय-फासिंदिय-मणजोग-वय-जोग-कायजोग-आणापाणूणं च गहणं पवत्तति गहणलक्खणे णं पोग्गलत्थिकाए।[१] जीव अपने शरीर, इन्द्रिय, योग और श्वासोच्छवास रूप से पुद्गलों का ग्रहण करता है। यह ग्रहण-शक्ति जीव के साथ प्रतिबद्ध हाने का प्रतीक है। पुद्गल के स्वरूप की यह प्रथम अवस्था है।

---

१. भगवतीसूत्र, १३-४-४८१; गुणओ गहणगुणे, २-१०-११७; ठाणांग, सू. ४४१; तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ५-१-२४,२५.

आगे चलकर उत्तराध्ययन में पुद्गल की और अधिक स्पष्ट व्याख्या मिलती है। वहाँ पुद्गल के अन्तर्गत शब्द, अन्धकार, प्रकाश, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श आदि का भी समावेश कर दिया गया है।

सद्दन्धयारउज्जोओ पहा छायातवेइ वा ।
वण्णरसगन्धफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥[1]

पुद्गल के स्वरूप-बोध की तृतीय विकासात्मक स्थिति उमास्वामी के तत्त्वार्थ सूत्र में दिखाई देती है जहाँ वे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले तत्त्व को 'पुद्गल' कहते हैं। शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत आदि उसकी पर्यायें है।[2] यह गुणों की अपेक्षा से पुद्गल का स्वरूप-कथन है।

उमास्वामी की व्याख्या को उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने और अधिक विश्लेषित करने का प्रयत्न किया। अकलंक उनमें प्रमुख हैं। उन्होंने तत्त्वार्थ-वार्तिक में बड़ी सूक्ष्मता से उसपर विचार किया है। तदनुसार स्पर्श के आठ भेद हैं—मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। रस पांच प्रकार का होता है-- तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेद से गन्ध दो प्रकार की है और नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और लोहित के भेद से रूप पाँच प्रकार का है। इस प्रकार पुद्गल के बीस भेद होते हैं। इन स्पर्शादि के भी संख्यात, असंख्यात, और अनन्त गुण परिणाम होते हैं। ये पुद्गल के विशेष गुण हैं।

पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक होता है। वह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहणीय है। शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास पुद्गल के उपकार हैं। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर पौद्गलिक हैं। कार्माण शरीर निराकार होने पर भी पौद्गलिक है क्योंकि वह मूर्तिमान पुद्गलों के सम्बन्ध से अपना फल देता है। जैसे धान्य, पानी, धूप आदि मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्यों के सम्बन्ध से कर्मों का विपाक होता है अतः ये पौद्गलिक हैं। कोई भी अमूर्त पदार्थ मूर्तिमान् पदार्थ के सम्बन्ध से नहीं पकता।

शब्द भी मूर्तिमान् इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होता है। पानी की तरह उसे रोका भी जा सकता है। वायु के द्वारा रुई की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रेरित भी किया जा सकता है। मन द्रव्य दृष्टि से स्थायी है और पर्याय

---

1. उत्तराध्ययन, २८-१२
2. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः, तत्त्वार्थसूत्र, ५-२३; शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च, वही, ५.२४; उत्तराध्ययन, का. २८.८; [illegible], २-१५.

दृष्टि से अस्थायी है। आत्मा के साथ उसका संयोग सम्बन्ध है, अनादि सम्बन्ध नहीं। यदि अनादि सम्बन्ध होता तो उसका परित्याग नहीं होना चाहिए था। जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध होने पर भी कर्म का परित्याग इसलिए हो जाता है कि कर्मबन्ध सन्तति की दृष्टि से अनादि होकर भी सादिबन्ध भी है। अतः जब सम्यग्दर्शन आदि रूप से परिणमन होता है तब उनका सम्बन्ध छूट जाता है, पर मन में ऐसी बात नहीं। इसी तरह श्वासोच्छ्वास भी पौद्गलिक है। सुख, दुःख, जीवन और मरण भी पुद्गल के अन्तर्गत माने जाते हैं। शब्द बन्ध सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत भी पुद्गल के ही कार्य हैं। पुद्गल के सामान्य-विशेष स्वभावों का भी उल्लेख मिलता है। उनकी संख्या २१ बतायी गई है--अस्ति, नास्ति, नित्य, अनित्य, एक, अनेक, भेद, अभेद, भव्य, अभव्य और परम ये उसके सामान्य स्वभाव हैं। चेतन, अचेतन, मूर्त, अमूर्त, एकप्रदेश, अनेकप्रदेश, विभाव, शुद्ध, अशुद्ध और उपचरित ये उसके विशेष स्वभाव हैं।[1]

शब्द :

जो अर्थ को व्यक्त करे वह शब्द है। यह शब्द दो प्रकार का होता है--भाषात्मक और अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द के भी दो भेद हैं--अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक शब्दों से शास्त्र की अभिव्यक्ति होती है तथा वे दैनिक व्यवहार का कारण भी बनते हैं। अनक्षरात्मक शब्द दो इन्द्रिय आदि जीवों के होते हैं। ये प्रायोगिक और वैस्रसिक (स्वाभाविक) के भेद से दो प्रकार के हैं। इनके भी अनेक भेद-प्रभेद होते हैं।[2]

स्फोटवादी मीमांसकों का मत है कि ध्वनियाँ क्षणिक हैं, क्रमशः उत्पन्न होती हैं और अनन्तर क्षण में विनष्ट हो जाती हैं। ये स्वरूप का बोध कराने में समर्थ नहीं। अतः उन ध्वनियों से अभिव्यक्त होनेवाला, अर्थप्रतिपादन में समर्थ, अमूर्त, नित्य, अतीन्द्रिय, निरवयव, और निष्क्रिय शब्दस्फोट स्वीकार करना चाहिए। परन्तु जैन यह नहीं मानते। उनका मत है कि ध्वनि और स्फोट में व्यंग्यव्यञ्जकभाव नहीं बन सकता। जिस शब्दस्फोट को व्यंग्य माना जाता है वह स्वरूपतः स्थित ही नहीं। अस्थित मानने पर न तो वह व्यंग्य हो सकता है और न ध्वनियाँ व्यंजक, किन्तु ध्वनियों से स्वरूपलाभ करने के कारण उसे कार्य मानना होगा। ध्वनियाँ यदि स्फोट की व्यञ्जक होती हैं तो

---

१. आलापपद्धति, ४.; बृहन्नयचक्र, गाथा ७० की टीका.

२. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ. २४.

वे स्फोट का उपकार करेंगी या स्रोत्र का या दोनों का ? वे तीनों का उपकार नहीं कर सकतीं क्योंकि अमूर्त, नित्य और अभिव्यङ्ग्य स्फोट में विकार हो नहीं सकता। और फिर जब ध्वनियाँ उत्पत्ति के बाद ही नष्ट हो जाती हैं तब वे स्फोट की अभिव्यक्ति कैसे करेंगी। अतः शब्द ध्वनि रूप ही है और वह नित्यानित्यात्मक है। वह पुद्‌गल द्रव्य की दृष्टि से नित्य है, श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा सुनने योग्य पर्याय सामान्य की दृष्टि से कालान्तर स्थायी है और प्रतिक्षण की पर्याय की अपेक्षा क्षणिक है।

बन्ध दो प्रकार का है—प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिक बन्ध प्रयोगजन्य होता है। उसमें मन, वचन और काय का संयोग होता है। प्रायोगिक बन्ध दो प्रकार का होता है—अजीवविषयक और जीव विषयक। ज्ञानावरणादि कर्म और औदारिक शरीर आदिरूप नोकर्म बन्ध जीव और अजीव विषयक हैं। वैस्रसिक बन्ध दो प्रकार का है—आदिमान् और अनादिमान्। स्निग्ध रूक्ष गुणों के निमित्त से बिजली, उल्का, जलधारा, इन्द्रधनुष आदि रूप पुद्‌गलबन्ध आदिमान् है। धर्म, अधर्म आकाश और काल का कभी भी परस्पर वियोग नहीं होता अतः इनका अनादिबन्ध है।

सौक्ष्म्य और स्थौल्य :

ये दो दो प्रकार के हैं—एक अन्त्य और दूसरा आपेक्षिक। अन्त्य सौक्ष्म्य परमाणुओं में है और आपेक्षिक सौक्ष्म्य बेर, आँवला आदि में है। इसी तरह अन्त्य स्थौल्य जगद्‌व्यापी महास्कन्ध में तथा आपेक्षिक सौक्ष्म्य बेर, आँवला, बेल आदि में है।

संस्थान और भेद :

संस्थान (आकृति) दो प्रकार का है—इत्थंलक्षण और अनित्थंलक्षण। गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि रूप से जिसका वर्णन किया जा सके वह इत्थंलक्षण है। तथा उससे भिन्न मेघ आदि का संस्थान जिसे निरूपित न किया जा सके वह अनित्थंलक्षण है।

भेद छः प्रकार का है—उत्कर (चीरना), चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका (दाल बनाना), प्रतर (अभ्रपटल), और अणुचटन (स्फुलिङ्ग)।

अन्धकार, छाया और आतप :

दृष्टि का प्रतिबन्धक अन्धकार है। वह प्रकाश का अभाव मात्र नहीं जैसा नैयायिक मानते हैं, बल्कि वह प्रकाश के समान ही भाव रूप द्रव्य है।

प्रकाश के आवरणभूत शरीर आदि से छाया होती है। वह दो प्रकार की है--तद्वर्णपरिणता और प्रतिबिम्ब। स्वच्छ दर्पण में मुखादि का दिखना तद्वर्णपरिणता है और अस्वच्छ दर्पण आदि में मात्र प्रतिबिम्ब पड़ना प्रतिबिम्ब छाया है। मीमांसकों की दृष्टि में दर्पण में छाया नहीं पड़ती बल्कि नेत्र की किरणें दर्पण से टकराकर वापिस लौटती हैं और अपने मुख को ही देखती हैं।

सूर्यादि के उष्ण प्रकाश को आतप कहते हैं। चन्द्र, मणि, जुगुनु आदि के प्रकाश को उद्योत कहते हैं।[1]

पुद्गल और मन :

पुद्गल और आत्मा का अनादिकालीन सम्बन्ध है। जब तक आत्मा संसार में संसरण करता है तब तक उसके साथ पुद्गल का सम्बन्ध बना रहता है। पुद्गल से ही शरीर की संरचना होती है। मन, वचन, श्वासोच्छ्वास आदि कार्य पुद्गल के ही हैं। शरीर के पांच भेद कहे गये हैं--औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। औदारिक शरीर स्थूल शरीर है जो मनुष्य और तिर्यञ्चों के होता है। वैक्रियक शरीर अदृश्य रहता है जो देवों और नारकियों के होता है। लब्धि प्राप्त मनुष्य और तिर्यञ्च भी उसे प्राप्त कर सकते हैं। आहारक शरीर वह है जिसकी रचना प्रमत्तसंयत (मुनि) अपनी शंका-समाधान के लिए करते हैं। अपने इष्ट स्थान तक पहुँचकर वह पुनः वापिस आ जाता है। आहारक वर्गणा से इन तीनों प्रकार के शरीरों का निर्माण होता है तथा श्वासोच्छ्वास का संयोजन होता है। तेजो वर्गणा से तैजस शरीर बनता है। जठराग्नि की शक्ति इसी शरीर की शक्ति है। भाषा वर्गणा और मनोवर्गणा से क्रमशः भाषा और मन का निर्माण होता है। कर्मवर्गणा से कार्माण शरीर बनता है जो सूक्ष्म होता है। मानसिक, वाचिक और कायिक आदि सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का मूल कारण यही शरीर है।[2]

जैन दर्शन के अनुसार मन स्कन्धात्मक है। उसे अणु प्रमाण नहीं माना जा सकता अन्यथा संपूर्ण इन्द्रियों से अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता। वह तो एक सूक्ष्म आभ्यन्तरिक इन्द्रिय है जो सभी इन्द्रियों के सभी विषयों को ग्रहण कर सकती है। सूक्ष्मता के कारण ही उसे 'अनिन्द्रिय' भी कहा गया है। उसका कोई बाह्याकार भी नहीं। मनके दो भेद हैं--द्रव्यमन जो पौद्गलिक है और भावमन जो इन्द्रिय के समान लब्धि और उपयोगात्मक (ज्ञानस्वरूप) है।

पाश्चात्य विचारकों में देकार्त ने मन और शरीर को भिन्न-भिन्न माना है। स्पिनोजा ने उन दोनों के बीच अद्वैतवाद की स्थापना की है। इन द्वैतवाद या

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ. २४ २. गोमट्टसार जीवकाण्ड, गाथा, ६०६-८.

अन्तर्क्रियावाद (Inter-actionism) और अद्वैतवाद या समानान्तरवाद (parallelism) के अतिरिक्त मलब्रांश का अवसरवाद (occasionalism) उपजवाद (Epiphenomenalism), उपयोगितावाद (Pragmetic theory), नव्य यथार्थवाद (Neo-Realism), प्राणात्मकतावाद (Animistic theory) आदि अनेक सिद्धान्त हैं जो मन की व्याख्या करते हैं तथा मन और शरीर का सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं।

अणु और स्कन्ध :

पुद्गल के दो प्रकार होते हैं--अणु और स्कन्ध। अणु अत्यन्त सूक्ष्म और सतत परिणमनशील होता है। उसका आदि, मध्य और अन्त एक ही स्वरूप वाला अविभागी अंश होता है। सूक्ष्मता के कारण वह इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है। स्कन्ध स्थूल और ग्रहणीय होता है। परमाणु स्कन्धों के भेदपूर्वक उत्पन्न होता है अतः वह कारण के साथ ही कार्यरूप भी है। उसमें स्नेह आदि गुण उत्पन्न और विनष्ट होते हैं। अतः कथञ्चित् वह अनित्य भी है।

परमाणु निरवयव है अतः उसमें एक रस, एक गन्ध और एक वर्ण है। शीत उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक, इस तरह अविरोधी दो स्पर्श होते हैं। गुरु, लघु, मृदु और कठिन स्पर्श परमाणु में नहीं पाये जाते क्योंकि वे स्कन्धगत हैं। शरीर इन्द्रिय और महाभूत आदि स्कन्ध रूप कार्यों से परमाणु का अस्तित्व सिद्ध होता है। वह अविभागी होता है। अणु-परमाणु के चार प्रकार होते हैं--द्रव्य (पुद्गल), क्षेत्र (आकाश), काल (समय) और भाव (गुण)। इनके और भी भेद-प्रभेद मिलते हैं।

परमाणुओं के परस्पर बन्ध को स्कन्ध कहते हैं। वे तीन प्रकार के हैं--स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश। स्कन्ध के अर्धभाग को स्कन्धदेश और स्कन्धदेश के अर्धभाग को स्कन्धप्रदेश कहा जाता है।[1] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि स्कन्ध के ही भेद हैं। स्पर्शादि और शब्दादि उसी की पर्याय हैं। इन्हीं स्कन्धों के परस्पर भेद, संघात और भेदसंघात से द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी आदि स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। ये स्कन्ध कभी दिखाई देते हैं और कभी नहीं। परमाणुओं के परस्पर बन्ध में स्निग्धता और रूक्षता कारण होती है और इन्हीं कारणों से पुद्गल अथवा सृष्टि समुदाय का सृजन होता है। आधुनिक विज्ञान भी इसे स्वीकार करता है।[2]

---

१. भगवतीशतक, २.१०.४६

२. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान, पृ. २७-७२.

स्कन्ध के साधारणतः छः भेद किये जाते हैं– i) स्थूल (दूध, घी, आदि); ii) स्थूल-स्थूल (लकड़ी, पत्थर, पर्वत आदि), iii) सूक्ष्म (कार्माणवर्गणा आदि); iv) सूक्ष्म-सूक्ष्म (द्वयणुक स्कन्ध आदि), v) सूक्ष्म-स्थूल (स्पर्श, रस, गन्ध, आदि), vi) और, स्थूलसूक्ष्म (छाया, प्रकाश, आतप आदि)।[१]

जैनदर्शन स्कन्ध-निर्माण की प्रक्रिया को इस प्रकार प्रदर्शित करता है–[२]

१. स्निग्धता और रूक्षता का 'सम्बन्ध'।
२. स्निग्ध परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ सम्बन्ध, पर उनकी स्निग्धता में दो अंशों से अधिक अन्तर न हो।
३. रूक्ष परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ सम्बन्ध, पर उनकी रूक्षता में दो अंशों से अधिक अन्तर न हो।
४. जघन्य गुणवान् अवयवों का बन्ध नहीं होगा।
५. सदृश-स्निग्ध से तथा स्निग्ध और रूक्ष से रूक्ष अवयवों का भी समान गुण होने पर बन्ध नहीं होगा।
६. दो से अधिक गुणवाले अवयवों का भी बन्ध नहीं होगा।

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में बन्ध की प्रक्रिया में कुछ मतभेद है। उसे संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं–[३]

गुण	सदृश		विसदृश	
	दि. परम्परा	श्वे. पर.	दि. पर.	श्वे. पर.
१. जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२. जघन्य + एकाधिक	नहीं	नहीं	नहीं	है
३ जघन्य + द्वयधिक	नहीं	है	नहीं	है
४. जघन्य + त्र्यधिक	नहीं	है	नहीं	है
५. जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं	नहीं	है
६. जघन्येतर + द्वयधिकजघन्येतर	नहीं	नहीं	नहीं	है
७. जघन्येतर + द्वयधिकजघन्येतर	है	है	है	है
८. जघन्येतर+त्र्यधिकादिजघन्येतर	नहीं	है	नहीं	है

पुद्गलों का बन्ध हो जाने पर अधिक गुण वाला न्यून गुण वाले को अपने रूप परिणमन करा लेता है। जैसे अधिक मीठा गुड़ धूलि आदि को मीठे रूप में बदल देता है। बन्ध होने पर वह एक स्कन्ध बन जाता है।[४]

---

१. गोमट्टसार, जीवकाण्ड, गाथा, ६०२.

२. स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः, न जघन्य गुणानाम्, गुण साम्ये सदृशानाम्, द्वयधिकादिगुणानां तु,–तत्त्वार्थसूत्र, ५. ३३-३६.

३. विशेष देखिये–जैन–धर्म–दर्शन, पृ. १९५

४. बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च, तत्त्वार्थवार्तिक, ५.३७

जैन दर्शन में पुद्गलों का विभाजन आठ वर्गणाओं के रूप में मिलता है। वर्गणा का तात्पर्य है वर्ग अथवा श्रेणी। पुद्गल के ये आठ वर्ग हैं–

१. औदारिक वर्गणा–	स्थूल शरीर के रूप में पृथ्वी, पानी, तथा मनुष्य, पशु, पक्षी के शरीर।
२. आहार वर्गणा–	किसी विशिष्ट ऋषि के विचार के संक्रमण के रूप में परिणत परमाणु।
३. भाषा वर्गणा–	शब्द रूप परमाणु।
४. वैक्रियक वर्गणा–	देवों और नारकियों का परमाणुमय शरीर।
५. मनो वर्गणा–	मनोभाव रूप परमाणु।
६. श्वासोच्छवास वर्गणा–	आत्मा अथवा प्राणवायु के रूप में परिणत परमाणु।
७. तैजस वर्गणा–	तैजस रूप परमाणु।
८. कार्माण वर्गणा–	कर्म रूप वर्गणा।

पुद्गल का अर्थ ही है पूरण (पुद्) और गलन (गल्) इन दो धर्मों से संयुक्त पदार्थ। ये दोनों धर्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों में विद्यमान हैं। अणु और पृथ्वी में भी यह पूरण-गलनात्मक परिवर्तन होता रहता है। उसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों गुण पाये जाते हैं जो नष्ट नहीं होते। अतः वह सत् है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है। परमाणुवाद और स्कन्धवाद इसी की देन है। भेद, संघात और भेदसंघात इन तीन प्रक्रियाओं से बन्ध सदैव होता रहता है।

भौतिकवादी दर्शनों में पुद्गल :

भौतिकवादी दर्शन भी संसार की सृष्टि पुद्गल द्वारा निर्मित मानते हैं। डिमोक्रिटस ने परमाणु को अविभाज्य (indivisible) और अविनाशी (Indestructable) कहा है। इन असंख्य परमाणुओं से ही सृष्टि की सर्जना होती है। इपीक्यूरस ने परमाणुओं को गतिशील माना है। परमाणुवाद और प्रकृतिवाद भौतिकवादी हैं। यन्त्रवाद (mechanism) के अनुसार सारी सृष्टि कार्यकारण सम्बन्ध से स्वतः संचालित होती है। कुल मिला कर हम यह कह सकते हैं कि भौतिकवादी दर्शनों में पुद्गल उसे कहा जाता है जिसमें स्थान या दिक् (space) घेरने की क्षमता हो और जिसमें चलत्व (mobilitiy) और अचलत्व (intertia) गुण विद्यमान हों।

पुद्गल और आधुनिक विज्ञान :

पुद्गल का यह सिद्धान्त आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों से मिलता-जुलता है। आधुनिक विज्ञान भी तत्त्व को परिवर्तनशील मानता है। अणुबम अणुओं के विभाजन का परिणाम है और उद्जनबम उनके संयोग का। ये दोनों पुद्गल की पर्यायें हैं। जैनदर्शन ने शब्द को पौद्गलिक माना है और इसी के फलस्वरूप रेडियो, टेलिग्राम, बेतार का तार, टेप रिकार्डर आदि बन सके हैं। सारा जगत पुद्गल द्रव्य की पर्यायों का परिणाम है। घन-विद्युत और ऋणविद्युत के रूप में स्निग्ध और रूक्ष का संयोग होता है। परमाणु की गतिशीलता विज्ञान में ऋणाणु (इलेक्ट्रॉन) के रूप में विद्यमान है जो प्रति सेकन्ड लगभग २००० किलो मीटर की गति से चक्कर लगाता है। अन्धकार, प्रकाश आदि को विज्ञान भी शक्ति के रूप में स्वीकार करता है जो पुद्गल का ही रूपान्तर है। धर्म और अधर्म द्रव्य को वैज्ञानिक शब्दावली में 'ईथर' कहा जा सकता है। आकाश और काल को भी स्वतन्त्र द्रव्यों के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है।

सृष्टि सर्जना :

जैसा ऊपर कहा गया है, स्कन्धों के परस्पर भेद, मिलन आदि से पुद्गलों की उत्पत्ति होती है। उसी को हम जगत-सृष्टि भी कहते हैं। शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छवास पुद्गल के ही परिणमन हैं। ये दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार के होते हैं।

कार्माण शरीर निराकार होते हुए भी चूंकि मूर्तिमान पुद्गलों के सम्बन्ध से अपना फल देता है अतः वह पौद्गलिक है। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय के विषय होते हैं। वायु के द्वारा वह रुई की तरह एक-एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रेरित किया जाता है। नल, बिल, रिकार्ड, रेडियो आदि में पानी की तरह शब्द रोके जाते हैं। अतः पौद्गलिक हैं।

इसी प्रकार गुण-दोष विचार और स्मरणादि व्यापार में लगा मन भी पौद्गलिक है। श्वासोच्छवास रूप कार्य से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। सुख, दुःख जीवन और मरण भी पुद्गलों के ही परिणमन से होते हैं। शब्द, अन्धकार, छाया, आतप, प्रकाश आदि रूप पुद्गल भी स्कन्धों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, जैसा पहले कहा जा चुका है।

लोक-सृष्टि भी एक विवाद का विषय बना रहा है। यह संसार सादि है या अनादि, अन्त है या अनन्त, ईश्वर द्वारा निर्मित है या स्वाभाविक, आदि

जैसे प्रश्न प्रारम्भ से ही उठते आये हैं। प्रायः सभी दर्शनों ने इन प्रश्नों पर विचार किया है। भ. महावीर ने इसका समाधान किया कि लोक द्रव्य की अपेक्षा सान्त है किन्तु भाव की अपेक्षा अनन्त है। द्रव्य संख्या में एक है इसलिए सान्त है और वह पर्यायों की अपेक्षा से अनन्त है। काल की दृष्टि से शाश्वत है पर क्षेत्र की दृष्टि से सान्त है।[१] लोक पंचास्तिकायिक है। वह अनेकान्त की दृष्टि से शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।[२] लोक-सृष्टि ब्रह्मा आदि किसी ईश्वर की कृति नहीं। वह तो द्रव्यों का एक स्वाभाविक परिणमन है।

वैदिक दर्शन में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता माना जाता है। इस सन्दर्भ में उसके प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं–[३]

i) पृथ्वी आदि का कर्ता कोई बुद्धिमान् है क्योंकि वह घट के समान कार्य है। जो कार्य होता है उसका कोई कर्ता अवश्य होता है।

ii) कार्यत्व हेतु की व्याप्ति केवल बुद्धिमत्कर्तृत्व के साथ ही मानना चाहिए, अशरीरी सर्वज्ञ, कर्ता के साथ नहीं। ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न के साथ ही कार्य होते हैं। ईश्वर सभी कार्यों का कर्ता है अतः उसे सर्वज्ञ भी होना चाहिए।

iii) वह ईश्वर एक है और अनेक कर्ता उस एक अधिष्ठाता के नियन्त्रण में ही कार्य करते हैं।

iv) बनस्पति आदि का कर्ता दृश्य नहीं, अतः उसे दृश्यानुपलब्धि हेतु से असिद्ध नहीं किया जा सकता।

v) ईश्वर धर्म-अधर्म की सहायता से ही परम दयालु होकर तदनुसार सुख-दुःख रूप शरीरादि की रचना करता है।

vi) धर्म-अधर्म तो अचेतन हैं। अतः ईश्वर रूप चेतन से अधिष्ठित होकर वह कार्य करते हैं। आत्मा यह काम कर नहीं सकता क्योंकि उसमें अदृष्ट तथा परमाणु का ज्ञान नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्द के बाद समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानंद आदि जैन दार्शनिकों ने सृष्टि के सन्दर्भ में वैदिक दार्शनिकों के उपर्युक्त तर्कों का इस प्रकार खण्डन किया–

i) कार्यत्व हेतु युक्तियुक्त नहीं क्योंकि उसके मानने पर ईश्वर भी कार्य हो जायेगा। फिर ईश्वर का भी कोई निर्माता होना चाहिए। इस तरह अनवस्था दोष हो जायेगा।

---

१. भगवतीसूत्र, २.१.९०
२. वही, १३.४.४८१
३. देखिये–प्रशस्तपाद भाष्य व्योमवतीटीका, न्यायमंजरी, प्रमाण प्रकरण, न्यायवार्तिक आदि ग्रन्थ।

ii) जगत यदि कृत्रिम है तो कूपादि के रचयिता के समान जगत का रचयिता ईश्वर भी अल्पज्ञ और असर्वज्ञ सिद्ध होगा। असाधारण कर्ता की प्रतीति होती नहीं। समस्त कारकों का अपरिज्ञान होने पर भी सूत्रधार मकान बनाता है। ईश्वर भी वैसा ही होगा।

iii) एक व्यक्ति समस्त कारकों का अधिष्ठाता हो नहीं सकता। एक कार्य को अनेक और अनेक को एक करते हैं।

iv) पिशाचादि के समान ईश्वर अदृश्य है, यह ठीक नहीं। क्योंकि जाति तो अनेक व्यक्तियों में रहती है पर ईश्वर एक है। सत्ता मात्र से ईश्वर यदि कारण है तो कुम्भकार भी कारण हो सकता है। अशरीरी व्यक्ति सक्रिय और तदवस्थ नहीं हो सकता।

v) ईश्वर की सृष्टि यदि स्वभावतः रुचि से या कर्मवश होती है तो ईश्वर का स्वातन्त्र कहाँ रहेगा? उसकी आवश्यकता भी क्या? वीतरागता उसकी कहाँ? और फिर संसार का भी लोप हो जायगा।

vi) स्वयंकृत कर्म का फल उसका विपाक हो जाने पर स्वयं ही मिल जाता है। उसे ईश्वर रूप प्रेरक चेतन की आवश्यकता नहीं रहती। कर्म जड़ है अवश्य पर चेतन के संयोग से उसमें फलदान की शक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है। जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल यथासमय मिल जाता है।

अतः ईश्वर को न तो जगत का सृष्टिकर्ता कहा जा सकता है और न कर्मफलप्रदाता। सृष्टि तो अणु-स्कन्धों के स्वाभाविक परिणमन से होती है। उसमें चेतन-अचेतन अथवा अन्य कारण जब कभी निमित्त अवश्य बन जाते हैं पर उनके संयोग-वियोग में ईश्वर जैसा कोई कारण नहीं हो सकता। अपनी कारण-सामग्री के संवलित हो जाने पर यह सब स्वाभाविक परिणमन होता रहता है। आचार्य अकलंक, हरिभद्र, विद्यानंदि, प्रभाचन्द्र आदि दार्शनिकों ने इस विषय को बड़ी गंभीरता से प्रस्तुत किया है।

पाश्चात्य दर्शन में सृष्टि विचार :

पाश्चात्य दार्शनिकों में कुछ ईश्वरवादी हैं, कुछ अनीश्वरवादी हैं और कुछ विकासवादी हैं। प्लेटो ईश्वर को शिव प्रत्यय के रूप में, अरस्तु आदि संचालक के रूप में, स्टोइक्स भविष्य के रूप में, देकार्ते सभी वस्तुओं के निर्माता के रूप में, स्पिनोजा सार्वभौम के रूप में, लेबनित्ज चिद्बिन्दुसम्राट्

के रूप में, बर्कले महाप्रयोजन के रूप में तथा हेगेल निरपेक्ष चैतन्य के रूप में ईश्वर को देखते हैं। विकासक्रम की दृष्टि से प्राणवाद, (arunism),जीववाद (fetishism), द्वैतवाद (Ditheism), एकेश्वरवाद (monotheism), देववाद (deism), सर्वेश्वरवाद(Pantheism),सर्वचेतनावाद आदि सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। धर्मनिरपेक्षता(secularism)की दृष्टि से ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार भी किया गया है और यह कहा गया है कि कार्य-कारण नियम का ईश्वर से कोई सम्बन्ध नहीं। इस संदर्भ में एकतत्ववाद(causal monism) के स्थानपर बहुतत्ववाद (Causal pluralism) को प्रस्तुत किया गया जो जैन दर्शन से कुछ मेल खाता है।

कर्मसिद्धान्त

स्वरूप और विश्लेषण :

ईश्वर की परतन्त्रता से छुटकारा पाना और आत्मा की स्वतन्त्रता को ऊपर लाकर सत्कर्मों की प्रतिष्ठा करना कर्म सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य रहा है। प्रत्येक व्यक्ति में आत्मा की परम शक्ति को प्राप्त करने की क्षमता रहती है जो अविद्या, प्रकृति, अज्ञान, अदृष्ट, मोह, वासना, संस्कार आदि के कारण प्रच्छन्न हो जाती है। जीव अनादि काल से मिथ्याज्ञान के कारण मोहाविष्ट रहता है। कषाय और योगों से वह स्वतन्त्र नहीं हो पाता। फलतः संसार में वह संसरण करता रहता है। कर्मबन्ध और पुनर्जन्म से मुक्त होने के लिए संवर और निर्जरा करनी पड़ती है। यह कर्म सिद्धान्त सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में पवित्रता, शान्ति, सहयोग, सौहार्द, और समता जैसे मानवीय गुणों को उद्भूत करने और उनको स्थिर बनाये रखने में पूर्ण सक्षम है। अन्यथा भौतिकवाद के चकाचौंध में जीवन अशान्त और अप्रिय बन जायेगा।

कर्म के क्षेत्र में विशेषतः दो पक्ष दिखाई देते हैं एक प्रवर्तक पक्ष और दूसरा निवर्तक पक्ष। प्रवर्तक पक्ष जन्मान्तर और सुख-दुख का कारण कर्म को अवश्य मानता था पर वह मात्र स्वर्गवादी था। धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ उसके सिद्धान्त में थे। मोक्ष का कोई स्थान उसमें नहीं था। यज्ञादि अनुष्ठानों का फल स्वर्ग तक ही सीमित था।

इसके विपरीत दूसरा पक्ष निवर्तकवादी था। उसके अनुसार पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है पर उसके मन में स्वर्ग से आगे परम सुख रूप मोक्ष की कल्पना है जिसे उसने चतुर्थ पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार की। इसमें पुण्य, दया आदि जैसे सत्कर्म अथवा शुभोपयोगी कर्म स्वर्ग-प्राप्ति के लिए तो ठीक

हैं परन्तु मोक्ष-प्राप्ति के लिए उनको भी छोड़कर शुद्धोपयोगी होना अपेक्षित है। प्रथम परम्परा समाजोन्मुख थी और द्वितीय परम्परा व्यक्ति-विकासोन्मुखी थी। जैन-बौद्ध परम्परा द्वितीय परम्परा की अनुगामिनी रही है।

द्वितीय परम्परा के प्रभाव से प्रवर्तनवादी परम्परा कुछ निवर्तन की ओर झुकी और उसमें दो पक्ष हुए। प्रथम पक्ष ने प्रवर्तन पक्ष को सर्वथा हेय नहीं माना। इस परम्परा को न्याय-वैशेषिक दर्शनों का नेतृत्व मिला। और द्वितीय पक्ष ने प्रवर्तक परम्परा की तरह श्रौत-स्मार्त कर्म को भी हेय मानकर कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति रूप मोक्ष की प्रतिष्ठा की। इसे सांख्य-योग दर्शन ने प्रारम्भ किया। वेदान्त दर्शन का भी विकास इसी दर्शन की पृष्ठभूमि में हुआ।

न्याय-वैशेषिक परमाणुवादी हैं, सांख्य-योग प्रधानवादी हैं और जैन-बौद्ध-दर्शन परिणामवादी हैं। परमाणुवादी कर्म को चेतन-निष्ठ मानकर उसे चेतनधर्म मानते हैं, प्रधानवादी उसे जड़धर्म कहते हैं और परिणामवादी चेतन और जड़ के परिणाम रूप से उभयवादी हैं।

कर्म सिद्धान्त की प्राचीनता :

परिणामवादी जैन दर्शन का कर्म सिद्धान्त काफी प्राचीन है। महावीर के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कर्मप्रवाद पूर्व का उल्लेख आता है। इस से पता चलता है कि कर्म ग्रन्थों की भी एक परम्परा रही होगी। जैन कर्म-परम्परा की प्राचीनता की दृष्टि से पालि-प्राकृत साहित्य का यहां उल्लेख किया जा सकता है।

पालि साहित्य में जैनधर्म का कर्म सिद्धान्त विस्तार से नहीं मिलता। एक हल्की-सी झांकी अवश्य दिखती है। चूल-दुक्खक्खन्धसुत्त तथा देवदहसुत्त के आधार पर भ. महावीर के कर्मसिद्धान्त का नामतः पता चलता है। उसके भेद-प्रभेदों का ज्ञान नहीं हो पाता। जैनधर्म में त्रियोग (मन, वचन और काय) का बहुत महत्त्व है। आश्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जरा का मूल कारण त्रियोग का हलन-चलन तथा उसका संवरण है। बौद्धधर्म में इसे त्रिदण्ड कहा गया है। महावीर नें कायदण्ड को पाप का सर्वाधिक कारण माना पर बुद्ध ने मनोदण्ड पर अधिक जोर दिया।[१] बुद्धने इसकी व्याख्या अपने ढंग से की है और महावीर की आलोचना भी की है। तथ्य यह है कि महावीर ने भी मनोदण्ड को मुख्य माना है। उसके साथ यदि कायदण्ड भी हो गया तो वह पाप अपेक्षाकृत अधिक गहरा हो जाता है। कर्म के आश्रव और संवर में भाव की भूमिका काय से कहीं अधिक होती है।

---

१. मज्झिम निकाय, प्रथम भाग (रो.), पृ. ३७२

अंगुत्तरनिकाय में महावीर ने स्वयं को क्रियावादी कहा और बुद्ध को अक्रियावादी के रूप में व्यक्त किया।[1] सूत्रकृतांग में शीलांक ने भी बुद्ध को अनात्मवादी होने के कारण अक्रियावादियों में ही सम्मिलित किया है पर बुद्ध ने स्वयं को क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों कहा। वे कुशल कर्म करने के पक्षपाती होने के कारण क्रियावादी और अकुशल कर्म को रोकने के उपदेष्टा होने के कारण अक्रियावादी हैं।[2]

अंगुत्तर निकाय में ही वप्प श्रावक के माध्यम से निग्गण्ठ नातपुत्त के अनुसार कर्मों का आश्रव और उसकी निर्जरा का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।[3]

इसी निकाय में पूर्ण कश्यप के नाम से छः प्रकार की अभिजातियों का भी उल्लेख मिलता है—कण्ह (कृष्ण), नील, लोहित, हलिद्द, सुक्क (शुक्ल) और परमसुक्क (परमशुक्ल)।[4] जैनधर्म में उनका वर्णन लेश्याओं के रूप में किया गया है। भावों की अशुद्धता और विशुद्धता के आधार पर जीवों का यहाँ वर्गीकरण हुआ है।

इन उद्धरणों से निगण्ठ नातपुत्त के कर्म सिद्धान्त का विस्तृत ज्ञान नहीं हो पाता। संभव है, उस समय तक कर्मों का वर्गीकरण न किया गया हो और त्रियोग के माध्यम से ही अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता रहा हो। आज जो कर्मों का वर्गीकरण मिलता है वह उत्तरकालीन विकास का परिणाम होगा।

कर्मबन्ध :

आध्यात्मिक क्षेत्र में कर्म का तात्पर्य है—जीवं परतन्त्री कुर्वन्ति इति कर्माणि अर्थात् जीव को जो परतन्त्र कर दे वे कर्म हैं। अथवा जीवेन मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः क्रियन्ते इति कर्माणि अर्थात् मिथ्यादर्शनादि परिणामों से संयुक्त होकर जीव के द्वारा जिन का उपार्जन किया जाता है वे कर्म कहलाते हैं।

इन व्युत्पत्तियों से यह स्पष्ट है कि जीव मिथ्यादर्शनादि कारणों से कर्मों में बंध जाता है। बंधने और बांधने का जीव और कर्म का स्वभाव है। आत्मा और कर्म दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं। एक चेतन है, दूसरा जड़। चेतन और जड़ का सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु दोनों पदार्थों में एक वैभाविकी शक्ति विद्यमान है जो पर का निमित्त पाकर वस्तु का विभाव रूप परिणमन कर देती है। इसी से जीव अनादिकाल से कर्मों से बंधा है। पुद्गल द्रव्य के साथ एक

---

1. अंगुत्तर निकाय, चतुर्थ भाग (रो.), पृ. १८२
2. Jainism in Buddhist Literature, पृ. ७३-८४.
3. वप्पसुत्त, ४-२०-५
4. अंगुत्तर निकाय, तृतीय भाग (रो.), पृ. ३८३

कार्माण वर्गणा होती है जो राग-द्वेषादि से युक्त जीव में ज्ञानावरणादिरूप से प्रविष्ट कर जाती है। भावों का निमित्त पाकर यही कार्माण-वर्गणा कर्म बन जाती है। जीव और पुद्गल रूप कर्म एक दूसरे का निमित्त पाकर परिणमन करते हैं पर वस्तुतः दोनों अपनी-अपनी पर्यायों के कर्ता हैं। समस्त चराचर जिसका स्वयं अपने स्वभाव का कर्ता है। दूसरे तो उसमें निमित्त मात्र हैं। जैसे जल में स्वयं बहने की शक्ति है किन्तु नाली उसके बहने में निमित्त मात्र है।[1]

जीव और कर्म का यह सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। जीव यद्यपि स्वभावतः विशुद्ध माना जाता है पर कर्मों के कारण उसकी विशुद्धता धूमिल होती जाती है। यह स्थिति तब तक बनी रहती है जबतक जीव और कर्म का सम्बन्ध पृथक् नहीं हो जाता तथा जीव मुक्त नहीं हो जाता। यदि जीव के साथ यह कर्मबन्धन अनादि नहीं होता तो फिर तपस्या आदि करने की आवश्यकता ही नहीं होती और फिर न संसार का भी अस्तित्व होता।

अतः यह स्वतः सिद्ध है कि संसारी जीव अनादिकाल से जन्म-मरण के चक्कर में भटक रहा है। राग-द्वेषादि परिणामों के कारण उसे कर्मबन्ध होता है और फलतः चतुर्गतियों के तीव्र दुःखों का भागी होना पड़ता है। जन्म-ग्रहण से शरीर मिलता है। शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियों से विषय-ग्रहण होता है। विषयग्रहण से राग-द्वेष उत्पन्न होता है और राग-द्वेषादिक कर्मों का सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। भव्य जीवों की दृष्टि से यह सम्बन्ध अनादि है पर अनन्त नहीं। वह सम्यक् साधना से दूर किया जा सकता है परन्तु अभव्य जीव के लिए तो वह अनादि-अनन्त है। उससे वह सम्बन्ध कभी दूर नहीं हो सकता–

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसार चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥[2]

जीव कर्म को प्रेरित करता है और कर्म जीव को। इन दोनों का सम्बन्ध नौका और नाविक के समान है। कोई तीसरा इन दोनों का प्रेरक नहीं है।

---

१. उपासकाध्ययन, २४६–९.
२. पञ्चास्तिकाय, १२८-१३०

जैसे मन्त्र में कुछ नियत अक्षर होते हैं फिर भी उसकी अचिन्त्य शक्ति रहती है। इसी तरह यद्यपि आत्मा शरीर परिमाण वाला है फिर भी वह स्वभाव से अचिन्त्य शक्तिवाला है अतः शरीर से अन्यत्र उसका अस्तित्व प्रमाणित नहीं।[1]

आत्मा और कर्म का अन्योन्यानुप्रवेश रूप बन्ध होता है अर्थात् आत्मा और कर्म के प्रदेश परस्पर मिल जाते हैं। स्वर्ण और कालिमा के बन्ध की तरह यह बन्ध अनादि और सान्त होता है। अर्थात् जैसे स्वर्ण में खान से ही मैल मिला होता है और मैल को बाद में दूर करके शुद्ध कर लिया जाता है वैसे ही जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि होने पर भी सान्त होता है।[2] जैसे अग्नि का लक्षण स्वभावतः उष्णता है वैसे ही जीव और पुद्गल कर्म का बन्ध भी अनादि और स्वतः सिद्ध है। वह किसने, कहाँ पर, कैसे किया, ये प्रश्न आकाश पुष्प के समान हैं।[3]

कर्म के दो भेद हैं– द्रव्यकर्म और भावकर्म। जीव से संबद्ध पुद्गल कर्म को द्रव्यकर्म (कार्माण शरीर) और उससे उत्पन्न होने वाले राग-द्वेषादिक विकारी भावों को भावकर्म कहते हैं।[4] अन्य प्रकार से उसके आठ भेद भी किये जाते हैं–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तराय। इनसे जीव की वैभाविक दशा प्रगट होती है और इनके अभाव में वह अपने भावों से ही स्वयं स्वाभाविक रूप परिणमन करती है। अतः स्वाभाविकी और वैभाविकी ये पदार्थ की दो शक्तियाँ अवस्था भेद से ही हैं, तत्त्वतः नहीं।

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पाँच कारणों से कर्म का बन्ध होता है। बन्ध के तीन भेद हैं– द्रव्यबन्ध, भावबन्ध और उभय-बन्ध। जीव प्रदेश और कर्म परमाणुओं का परस्परबन्ध द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध के कारण राग-द्वेषादि रूप परिणाम भावबन्ध कहलाता है। द्रव्यबंध और जीव की अशुद्ध परिणति, यह सब मिलकर उभयबन्ध कहलाता है। जैन कर्मशास्त्र में कर्म की ग्यारह अवस्थाओं का वर्णन मिलता है– बन्धन, सत्ता, उदय, उदीरणा, उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण, उपशमन, निधत्ति, निकाचन और अबाध।[5]

---

१. उपासकाध्ययन, १०६–७.
२. वही, १११-११२.
३. पञ्चाध्यायी, २–९५
४. सर्वार्थसिद्धि, २–२५
५. आप्तमीमांसा, पृ. १२८–१३१.

कर्मबन्ध चार प्रकार का भी कहा गया है– प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध । प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगों से होते हैं । तथा स्थिति और अनुभागबन्ध कषायों से । जीव के योग और कषाय रूप, भावों का निमित्त पाकर जब कार्माण वर्गणायें कर्मरूप परिणत होती हैं तो उनमें चार बातें होती हैं–स्वभाव, स्थिति, फलदानशक्ति और अमुक परिमाण में उसका जीव के साथ सम्बद्ध होना । इनको ही बन्ध कहते हैं । सभी जीवों के दसवें गुणस्थान तक ये चारों प्रकार के बन्ध होते हैं । आगे कषाय का उदय न होने से स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं होता । चौदहवें गुण-स्थान में योग के भी न रहने से कोई बन्ध नहीं होता ।

प्रकृतिबन्ध :

कर्मों में ज्ञानादि गुणों को घातने का जो स्वभाव रहता है उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं । इसमें प्रत्येक कर्म की प्रकृति (स्वभाव) का वर्णन किया जाता है । ज्ञानावरण की प्रकृति है–अर्थ–ज्ञान नहीं होने देना । दर्शनावरण की प्रकृति अर्थ का दर्शन न होने देना, वेदनीय की प्रकृति सुख-दुःख संवेदन, मोहनीय में दर्शनमोहनीय की प्रकृति तत्त्वार्थ का अश्रद्धान और चारित्र मोहनीय की प्रकृति परिणामों में असंयमन, आयु की प्रकृति भवधारण, नाम की प्रकृति नाम व्यवहार कराना, गोत्र की प्रकृति ऊँच-नीच व्यवहार और अन्तरायकर्म की प्रकृति दानादि में विघ्न उपस्थित करना है ।

प्रकृतिबन्ध के दो भेद हैं–मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति । ज्ञानावरणादि के भेद से मूलप्रकृति आठ प्रकार की है और उत्तरप्रकृति ९७ प्रकार की । उत्तरप्रकृतिबन्ध के भेद इस प्रकार हैं–

१. ज्ञानावरणीय ५–मत्यावरण, श्रुतावरण, अवध्यावरण, मनःपर्ययावरण, और केवलज्ञानावरण

२. दर्शनावरणीय ९–चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण. अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला तथा स्त्यानगृद्धि ।

३. वेदनीय २– साता वेदनीय और असातावेदनीय

४. मोहनीय २८– मूलभेद दो हैं–दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीय के तीन भेद हैं–मिथ्यात्व, सम्य-ग्मिथ्यात्व और सम्यग्प्रकृति । चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं–कषाय और नोकषाय । कषाय के १६

	भेद हैं–क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चार मूल कषाय हैं और उनमें प्रत्येक के चार भेद हैं–अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन। नोकषाय (मनोवृत्तियाँ) के ९ भेद हैं–हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा. स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसकवेद।
५. आयु ४–	नारक, तिर्यंक्, मनुष्य और देव।
६. नाम ४२–	गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, त्रस, स्थावर, वादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक शरीर, साधारणशरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, निर्माण तथा तीर्थंकरत्व।
गोत्र २–	उच्च और नीच।
अन्तराय ५–	दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य।

इन पारिभाषिक शब्दों के स्पष्टीकरण के लिए तत्त्वार्थ राजवार्तिक (८.५–१३) आदि ग्रन्थ दृष्टव्य हैं। विस्तार के भय से उसे यहाँ प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं।

२. स्थितिबन्ध

स्थितिबन्ध में कर्मों की स्थिति पर विचार किया जाता है कि कौन कर्म अधिक से अधिक कितने और कम से कम कितने समय तक जीव के साथ रहते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि-कोटि सागर प्रमाण है। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटि-कोटि सागर, चारित्रमोहनीय की चालीस कोटि-कोटि सागर, आयु कर्म की तेंतीस सागर और नाम कर्म तथा गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटि-कोटि सागर प्रमाण है। उनकी जघन्य स्थिति इस प्रकार है–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, आयु तथा अन्तरायकर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त, वेदनीय की बारह मुहूर्त तथा नाम और गोत्र कर्म की आठ मुहूर्त है।

३. अनुभागबन्ध

कहीं-कहीं इसे अनुभव बन्ध भी कहा गया है।[१] इसके अन्तर्गत कर्म पुद्गलों की फलदान शक्ति बतायी गई है। इसी को विपाक कहा गया है। जब शुभ परिणामों की प्रकर्षता होती है तो शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट और अशुभ प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभाग बन्ध होता है और जब अशुभ परिणामों की प्रकर्षता होती है तब अशुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट और शुभ प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभाग बन्ध होता है।

ये कर्म प्रकृतियाँ दो प्रकार की होती हैं--घाती और अघाती। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार प्रकृतियाँ घाती कहलाती हैं क्योंकि इनसे आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप चार मूल गुणों का घात होता है। शेष चार प्रकृतियाँ अघाती हैं क्योंकि ये किसी भी आत्मगुणों का घात नहीं करतीं। घाती प्रकृतियों के भी दो भेद होते हैं--सर्वघाती और देशघाती। केवलज्ञानावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, केवलदर्शनावरण, बारह कषाय और दर्शनमोह ये बीस प्रकृतियाँ सर्वघाती हैं। शेष चार ज्ञानावरण, तीन दर्शनावरण, पांच अन्तराय, संज्वलन और नव नोकषाय ये देशघाती प्रकृतियाँ हैं। शेष प्रकृतियाँ अघाती हैं।

घातिक कर्मों का अनुभाग क्रमशः लता, दारु (काष्ठ), अस्थि तथा शिला के समान चार प्रकार का है। अघाति कर्मों की अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग क्रमशः नीम, कांजीर, विष और हालाहाल के समान चार प्रकार का तथा शुभ प्रकृतियों का अनुभाग गुड़, खांड, शर्करा एवं अमृत के समान चार प्रकार का है।[२]

४. प्रदेशबन्ध

प्रदेशबन्ध में कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों की गणना की जाती है। उनकी संख्या अनन्तानन्त है। वे पुद्गल स्कन्ध अभव्यों के अनन्तगुणों और सिद्धों के अनन्तवें भाग हैं। वे कर्म योगक्रिया से आते हैं और आत्मप्रदेशों पर ठहर जाते हैं।

कर्म दो प्रकारों में भी विभाजित किया गया है--शुभ और अशुभ, अथवा पुण्य और पाप।[१] उमास्वामी ने इन्हें आश्रव के भेद के रूप में स्वीकार किया

---

१. विपाकोऽनुभवः, तत्वार्थसूत्र, ८.२१

2. कर्मप्रकृति, पृ. ४५-४६

३. सूत्रकृतांग, 2-५-१६; पञ्चास्तिकाय, 2-१३८,

है ।[१] इन भावों की उत्पत्ति अथवा ज्ञान की तरतमता निष्कारण नहीं होती। उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। वह कारण कर्म ही है। वह कर्म भी अहेतुक नहीं होता अन्यथा उसका विनाश नहीं हो सकेगा। पर विनाश होता है और उसके फलस्वरूप मोक्ष होता है। अतः कर्म के विद्यमान रहने पर संसार और उसके विनष्ट हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होना सिद्ध होता है। कर्मवाद की विरोधी मान्यताओं--कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद आदि का भी कर्मवाद में अन्तर्भाव हो जाता है। ये सहकारी कारणों के रूप में कार्य करते हैं।

समूचा पुद्गल द्रव्य जीव का अनेक प्रकार से उपकार करता है। सुख-दुःख देना, औदारिकादि शरीर की रचना करना, पंचेन्द्रियों का निर्माण करना, तत-वितत आदि शब्दों का बनाना, श्वास, निश्वास आदि की संरचना करना आदि कार्य पुद्गल के द्वारा ही होते हैं। कर्म निराकार होने पर भी पौद्गलिक हैं। उनका विपाक मूर्तिमान द्रव्य के सम्बन्ध से ही होता है। जैसे धान आदि द्रव्य जल, वायु, धूप आदि मूर्तिक पदार्थों के सम्बन्ध से पकते हैं अतः वे मूर्तिक हैं वैसे ही पैर में काँटे चुभने से असाता वेदनीय कर्म का विपाक होता है और मिष्टान्न भोजन मिलने पर साता वेदनीय कर्म का विपाक होता है। मन और वचन को भी पौद्गलिक माना गया है।[२]

ग्रन्थों में कर्म की दश अवस्थाओं का वर्णन मिलता है--

१. बन्ध--कर्मों का आत्मा के साथ बंधना।

२. उत्कर्षण--बद्ध कर्मों की कालमर्यादा और फलवृद्धि होना।

३. अपकर्षण--काल और फल में शुभ कर्मों के कारण न्यूनता होना।

४. सत्ता--कर्मबन्ध होने और फलोदय होने के बीच आत्मा में कर्म की सत्ता (अस्तित्व) होना।

५. उदय--कर्म का फलदान।

६. उदीरणा--समय से पूर्व कर्म को जल्दी उदय में ले आना।

७. संक्रमण--सजातीय कर्मों में संक्रमण होना।

८. उपशम--कर्मों को उदय में आने के लिए अक्षम बना देना।

९. निधत्ति--कर्मों का संक्रमण और उदय न हो सकना।

१०. निकाचना--कर्मों का प्रगाढ़ बंधन।

---

१. शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य, ६--३.

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २०८--२०९.

कषाय और लेश्या :

कर्माश्रव का मूल कारण मोहनीय कर्म है जिसके अन्तर्गत क्रोधादि चार कषायें आती हैं। क्रोध मिटता नहीं, मान मुड़ता नहीं, माया में वक्रता होती है और लोभ का स्वभाव चिपकना है। इनके स्वभाव की तरतमता और स्थायित्व के आधार पर आचार्यों ने अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोधादि कषायों के लिए कुछ उपमायें दी हैं--

१. क्रोध--क्रमशः पाषाण, पंक, धूलि और जल रेखा के समान।

२. मान--क्रमशः पाषाण, अस्थि, लकड़ी और बेंत के समान।

३. माया--क्रमशः बाँस की जड़, भैंस के सींग, गोमूत्र की धारा और बाँस के छिलके समान।

४. लोभ--मंजीठिया रंग, औंगन, कीचड़ और हलदी के लेप के समान।

इन कषायों में अनन्तानुबन्धी कषाय संसार में परिभ्रमण का कारण बनती है। शेष कषायें क्रमशः हीन होती है। कषायों के समान ही मानसिक वृत्तियों का भी वर्गीकरण किया गया है। जिन्हें 'लेश्या' की संज्ञा दी गई है। शुभाशुभ परिणामों का प्रतीक भी कह सकते हैं। इनसे आत्मा कर्मों से लिप्त हो जाता है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये लेश्या हैं। इनकी छः श्रेणियाँ रंग के आधार पर की गई हैं, जो क्रमशः उत्तरोत्तर हीन और विशुद्ध होती गई हैं--

१. कृष्ण लेश्या--तीव्रकषायी, दुराग्रही, हिंसक, कलहप्रिय आदि।

२. नील लेश्या--विषयासक्त, मन्द, आलसी; परवंचन में दक्ष आदि।

३. कापोत लेश्या--मात्सर्य, पैशून्य, परनिन्दा, युद्ध आदि करने वाला

४. पीत लेश्या--दृढ़ता, मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलता आदि।

५. पद्म लेश्या--सत्यवाक्, क्षमा, सात्विकदान, पाण्डित्य आदि।

६. शुक्ल लेश्या--निर्वैर, वीतरागता, गुण दृष्टि आदि।

कषायानुविद्ध योग प्रवृत्ति रूप लेश्या में कषाय का उदय छह प्रकार से होता है--तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते हैं। पीतलेश्या और पद्मलेश्या वाले जीव संज्ञी मिथ्या दृष्टि से लेकर सयोगि केवली गुणस्थान तक होते हैं। तेरहवें गुणस्थान के आगे के सभी जीव लेश्या रहित हैं। [५१]

३–४. धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य :

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य जैनदर्शन के विशिष्टि पारिभाषिक शब्द हैं। उनका सम्बन्ध साधारण तौर पर प्रचलित धर्म और अधर्म के अर्थ से नहीं है, बल्कि वे जीव और पुद्गलों की गति और स्थिति में सहकारी कारण हैं। जैसे मछली के तैरने में जल उपकारक होता है, जल के अभाव में मछली तैर ही नहीं सकती। उसी प्रकार आकाश सर्वव्यापक है पर धर्म-अधर्म के बिना उसमें जीव और अजीव (पुद्गल) चलने और ठहरने में समर्थ नहीं हो सकते।

यहाँ यह दृष्टव्य है कि जिस प्रकार लाठी और दीपक व्यक्ति के लिए उपकारक कारण हैं, प्रेरक नहीं, उसी प्रकार ये धर्म और अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गल की गति और स्थिति में मात्र उपकारक कारण हैं, प्रेरक नहीं। पक्षियों के गमन में आकाश को निमित्त नहीं माना जा सकता क्योंकि आकाश का कार्य तो अवकाश देना मात्र है।

ये दोनों द्रव्य अमूर्तिक, निष्क्रिय, अखण्ड, व्यापक नित्य और असंख्यात प्रदेशी हैं। अपने अनन्त अगुरुलघुगुणों से उत्पाद, व्यय करते हुए भी वे द्रव्य अनादिकालीन हैं। अलोकाकाश में तो वे साधारणतः रहते हैं पर उनके अस्तित्व का विशेष आभास आकाश में वहाँ होता है जहाँ जीव एक निश्चित सीमा के बाद गमन नहीं कर पाते।[1] जीव और पुद्गल अपने गमन और स्थगन में स्वयं ही उपादान कारण हैं तथा धर्म और अधर्म द्रव्य उसमें सहकारी कारण बन जाते हैं।

कारण तीन प्रकार के होते हैं–१. परिणामी कारण अर्थात् जो कारण स्वयं कार्य रूप से परिणमन करे। इसे उपादान कारण भी कहते हैं। जैसे मिट्टी जो घड़े रूप कार्य में बदल जाती है। २. निमित्तकारण अर्थात् जो स्वयं कार्य रूप से परिणत तो न हों पर कर्ता को कार्य की उत्पत्ति में सहायक हों। जैसे-घड़े की उत्पत्ति में दण्ड, चक्र आदि निमित्त कारण होते है। और ३. निवर्तक कारण अर्थात् जो कार्य का कर्ता होता है। जैसे घड़े का कर्ता कुम्हार। धर्म और अधर्म द्रव्य कारणों में से निमित्तकारण अथवा सहकारी कारण के रूप में प्रतिष्ठित हैं।[2] आधुनिक विज्ञान की शब्दावली में इसे Ether कह सकते है।

---

१. पञ्चास्तिकाय, ८३–८४.; उत्तराध्ययन, ८.९; २८.९

२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २१२; षड्दर्शनसमुच्चय, का. ४९ की टीका. तत्त्वार्थसार, ३.२३

५. आकाश द्रव्य :

आकाश का कार्य अवगाहन करना है, स्थान देना है।[१] वह अमूर्तिक, अखण्ड, नित्य, सर्वव्यापक और अनन्तप्रदेशी द्रव्य है। उसमें जीव और पुद्गल को एक साथ अवकाश देने की क्षमता है। उसकी यह क्षमता कभी भी समाप्त नहीं होती। आकाश के दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में जीवादि पाँच द्रव्यों का अस्तित्व रहता है पर अलोकाकाश द्रव्य हीन है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है और अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है।

भारतीय दर्शन में आकाश :

न्याय-वैशेषिक दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं पर यह ठीक नहीं। शब्द तो पौद्गलिक हैं। उसे रेडियो आदि के रूप में रोका और भरा जा सकता है। तब शब्द के आधार पर आकाश को नहीं पहचाना जा सकता।

सांख्य आकाश को प्रधान का विकार मानते हैं। सत्, रज, और तम गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान में उत्पादन का स्वभाव है और आकाश भी उसी स्वभाव का अंग है। पर उनका कथन सही नहीं दिखता। क्योंकि जिस प्रकार घड़ा प्रधान का विकार होकर अनित्य, मूर्त और असर्वगत है उसी प्रकार आकाश को भी होना चाहिए। अथवा आकाश की तरह घट को नित्य, अमूर्त और सर्वगत होना चाहिए पर है नहीं।

बौद्धदर्शन आकाश को 'असंस्कृत' पदार्थ मानता है जिसमें उत्पादादि नहीं होते। पर आकाश को हम अभाव रूप नहीं मान सकते। उसमें अगुरुलघु गुणों की हानि–वृद्धि देखी जाती है। उसे आवरणाभाव रूप भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि जिस प्रकार नाम और वेदना आदि अमूर्त होने से अनावरण रूप होकर भी सत् है उसी प्रकार आकाश को भी सत् मानने में कौनसी आपत्ति हो सकती है?

पाश्चात्य दर्शन में आकाश :

पाश्चात्य दर्शन में इस संदर्भ में दो मत प्रचलित हैं। कुछ दार्शनिक आकाश को बाह्यगत (objective space) मानते है और कुछ उसे विषयीगत (subjective space) मानते हैं। प्रथम पक्ष में न्यूटन और देकार्त का नाम उल्लेखनीय है और द्वितीय पक्ष में लाइबनीज, बर्कले, ह्यूम, आदि दार्शनिक आते हैं। कान्ट अतिवादी हैं और हेगल समन्वयवादी हैं।

---

१. आकाशस्यावगाहः, तत्वार्थसूत्र, ५.१८.; भगवतीसूत्र,-१३.१४,

६. कालद्रव्य :

काल द्रव्य पदार्थ के वर्तना, परिणाम, क्रिया और परत्वापरत्व व्यवहार में उपकारक है। पदार्थ में प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूपात्मक परिणमन का जो अनुभव होता है वही वर्तना है। शिशु अवस्था से वृद्धावस्था तक पहुँचने में जो परिवर्तनादि होते हैं उन्हें वर्तना कहा जाता है। यह वर्तना प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ में होती रहती है। इसे अनस्तिकायिक द्रव्य कहा गया है।

पदार्थ में जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है उसे परिणाम कहते हैं। इसमें पदार्थ का मूल रूप स्थिर रहता है। बाह्य और आभ्यन्तर निमित्तों से द्रव्य में होनेवाला परिस्पन्दात्मक परिणमन क्रिया है। वह दो प्रकार की है—बैलगाड़ी आदि में प्रायोगिक तथा मेघ आदि में स्वाभाविक क्रिया होती है। परत्व और अपरत्व का सम्बन्ध क्षेत्र और काल से है। पदार्थ का स्थानान्तरण होना क्रिया है। इनमें वर्तना तत्त्व निश्चयकाल को व्यक्त करता है और शेष उपकारक तत्त्व भूत, वर्तमान और भविष्य रूप व्यवहारकाल से सम्बद्ध हैं। प्रत्येक लोकाकाश के प्रदेश पर एक कालाणुद्रव्य अवस्थित है। उनका कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं।

काल भी अमूर्तिक है और निष्क्रिय है। घड़ी, घण्टा, पल, दिन, रात आदि के रूप में उसका अस्तित्व प्रमाणित होता है। वे भूत, वर्तमान, और भविष्य काल के ही प्रतिरूप हैं। द्रव्यों के परत्व और अपरत्व (प्राचीनता और नवीनता) जानने का माध्यम भी काल है। अतः काल मात्र व्यवहार के लिए नहीं है। वह तो एक स्वाभाविक सिद्ध पदार्थ है। वह सदा बदलता रहता है।

जैनदर्शन में दो परम्परायें हैं— कुछ आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर उसे जीव—अजीव की पर्याय मानते हैं तथा उपचार में उसे द्रव्य कहते हैं।[१] उमास्वामी भी काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हुए नहीं दिखाई देते, पर भगवतीसूत्र,[२] पञ्चास्तिकाय[३] आदि ग्रन्थों में उसे स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में ही स्वीकार किया गया है। प्रायः इसी परम्परा को सभी जैनाचार्यों ने माना है।

भगवतीसूत्र में काल के भेदों का वर्णन किया गया है। जिसके दो भाग न हों उस कालांश को समय कहते हैं। असंख्येय समयों के समुदाय की आवलिका

---

१. उवयारा दव्वपज्जाओ, (देवेन्द्रसूरि) नवतत्त्वप्रकरण

२. भगवती, २५.४

३. पञ्चास्तिकाय, १.२३,२४

होती हैं। असंख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास, संख्यात आवलिका का एक निःश्वास, हृष्ट, अनवकल्प, और व्याधिरहित एक जन्तु का एक उच्छ्वास और निःश्वास एक प्राण कहलाता है। सात प्राण का स्तोक, सात स्तोक का एक लव, ७७ लव का एक मुहूर्त, तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास, दो मास की एक ऋतु, तीन ऋतु का एक अयन, दो अयन का एक संवत्सर, पाँच संवत्सर का एक युग, बीस युग का सौ वर्ष, दस सौ वर्ष का एक हजार वर्ष, सौ हजार वर्ष का एक लाख वर्ष, चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग, चौरासी लाख पूर्वाङ्ग का एक पूर्व और इसी तरह त्रुटितांग, त्रुटित, अडडांग, अडड, अववांग, अवव, हुहुकांग, हुहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलितांग, नलिन, अर्थनियूरांग, अर्थनियूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्ष-प्रहेलिकांग, और शीर्षप्रहेलिका होती है। यहाँ तक गणित है—उसका विषय है। उसके बाद औपमिक काल है।

औपमिक काल दो प्रकार का है—पल्योपम और सागरोपम। सुतीक्ष्ण शस्त्र द्वारा जिसे छेदा—भेदा न जा सके वह परमाणु है। केवलियों ने उसे आदिभूत प्रमाण कहा है। अनन्त परमाणु समुदाय के समूहों के मिलने से एक उच्छलक्ष्णश्लक्ष्णिका, आठ उच्छलक्ष्णश्लक्ष्णिका के मिलने से श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका के मिलने से एक ऊर्ध्वरेणु, आठ ऊर्ध्वरेणु के मिलने से एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणु के मिलने से एक रथरेणु, आठ रथरेणु के मिलने से देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्यों का एक बालाग्र, आठ बालाग्र मिलने से हरि वर्ष के और रम्यक के मनुष्य का एक बालाग्र, हरिवर्ष के और रम्यक के आठ बालाग्र मिलने से हैमवत के और ऐरावत के मनुष्य का एक बालाग्र, और हेमवत के और ऐरावत के मनुष्य के आठ बालाग्र मिलने से एक लिक्षा, आठ लिक्षा का एक यूक, आठ यूक का एक यवमध्य, आठ यवमध्य का एक अंगुल, छः अंगुल का एक पाद, बारह अंगुल की एक वितस्ति, चौबीस अंगुल की एक रत्नि (हाथ), अडतालीस अंगुल की एक कुक्षि, छानबे अंगुल का एक दण्ड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष अथवा मूसल होता है। इस धनुष के माप से दो हजार धनुष का एक गव्यूत और चार गव्यूत का एक योजन होता है।

इस योजन के प्रमाण से आयाम और विष्कम्भ में एक योजन, ऊँचाई में एक योजन और परिधि में सविशेष त्रिगुण एक पल्य हो, उस पल्य में एक दिन, दो दिन, तीन दिन और अधिक से अधिक सात दीन के उगे करोड़ों बालाग्र किनारे तक ठूसकर इस तरह भरे हों कि न उन्हें अग्नि जला सकती हो, न उन्हें वायु हर सकती हो, जो न कुत्थित हो सकते हों, न विध्वंस हो

हो सकते हों, न पूतिभाव—सड़न को प्राप्त हो सकते हों। उसमें से सौ-सौ वर्ष के बाद एक एक बालाग्र निकालने से वह पल्य जितने काल में क्षीण, नीरज, निर्मल, निष्ठित, निर्लेप, अपहृत और विशुद्ध होगा उतने काल को पल्योपम कहते हैं। ऐसे कोटाकोटि पल्योपमकाल को जब दस गुना किया जाता है तो एक सागरोपम होता है। इस सागरोपम के प्रमाण से चार कोटाकोटि सागरोपम काल का एक सुषमसुषमा आरा, तीन कोटाकोटि सागरोपमकाल का एक सुषमा, दो कोटाकोटि सागरोपम काल का एक सुषमसुषमा, बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम काल का एक दुःषमासुषमा, इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमा, इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमदुःषमा आरा होता है। इन छः आरों के समुदायकाल को अवसर्पिणी कहते हैं। फिर इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का दुःषमा-सुषमा, दो कोटाकोटि सागरोपम का सुषमा-दुःषमा, तीन कोटाकोटि सागरोपम का सुषमा, और चार कोटाकोटि सागरोपम का सुषमा-सुषमा आरा होता है। इन छः आरों के समुदाय को उत्सर्पिणी काल कहते है। दस कोटाकोटि सागरोपम काल की एक अवसर्पिणी होती है और बीस कोटाकोटि सागरोपम काल का अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालचक्र होता है।[१]

काल का क्षेत्र ढाई द्वीप है। ढाई द्वीप में अनन्त जीव रहते है। उनपर काल वर्तन करता है। उनमें जो अनन्तपरिणाम पर्यायें उत्पन्न होती हैं वे काल द्रव्य के निमित्त से होती हैं। अनन्त द्रव्यों पर वर्तन करने से काल की पर्याय संख्या अनन्त कही गई है।[२]

पाश्चात्य दर्शन में काल :

पाश्चात्य दार्शनिकों में भी कालवाद प्रचलित रहा है। न्यूटन, देकार्ते, लाइबनीज आदि विद्वान इस संदर्भ में अन्तर्निरीक्षणवादी (intuitionist) तथा यथार्थवादी (Realist) हैं। वर्कले, ह्यूम मिल आदि दार्शनिक काल की बाह्यगत सत्ता को अस्वीकार करते हैं तथा उसे अमूर्त विचार मात्र (abstract Idea) मानते हैं। कान्ट ने काल को बुद्धिनिहित, अनुभव से पूर्व प्रत्यय (a priori form) माना है। हेगेल ने द्वन्द्वात्मक (Dialectic) दृष्टिकोण से उपर्युक्त मतों का समन्वित करने का प्रयत्न किया है। एलेक्जेन्डर, आइन्स्टीन, ब्राड आदि दार्शनिक दिक् और काल को अभिन्न मानते हैं।

लोक का स्वरूप :

लोक का तात्पर्य है विश्व। यह समूचा विश्व षड्द्रव्यों का समुच्चय

---

१. भगवतीसूत्र, ६.७; नवपदार्थ, पृ. ९३-९४,

2. सोऽनन्तसमय, तत्त्वार्थसूत्र, पृ. ४०; नवपदार्थ, पृ. ९४

है जो अनादि-अनन्त हैं। उसका न कोई निर्माता है और न विध्वंसक। वह तो स्वयं परिवर्तनशील है। उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य उसमें स्वयं विद्यमान हैं।

जैन परम्परा में लोक (विश्व) को तीन भागों में विभाजित किया गया है—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। उसकी कुल ऊँचाई चौदह रज्जु मानी जाती है। उसका आकार उसी प्रकार का है जिस प्रकार कमर पर दोनों हाथ रखकर पैर फैलाये पुरुष का आकार होता है। अधोलोक सात राजू प्रमाण नीचे है जिसमें क्रमशः सात नारकीय भूमियाँ अवस्थित हैं रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा। इन भूमियों के बीच काफी अन्तर है। यह पृथ्वी घनोदधि, घनवात और तनुवात वलय के आधार पर टिकी हुई है। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। उनके बीच जम्बूद्वीप है जो लवण समुद्र से परिवेष्टित है। उसे थाली के आकार का माना गया है। जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं—हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। उनका विभाजन करने वाले छह पर्वत हैं—हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी। गंगा, सिन्धु आदि चौदह नदियाँ हैं। इसके बाद जम्बूद्वीप से बड़ा धातकीखण्ड और पुष्करार्ध द्वीप हैं। पुष्कर द्वीप में मानुषोत्तर पर्वत है। मनुष्य यहीं तक पहुँच सकता है, आगे नहीं। जन्म-मरण भी यहीं होता है। इसी को अढाई द्वीप कहा जाता है।

मेरु पर्वत से ऊपर ऊर्ध्वलोक है जिसमें सोलह स्वर्ग हैं—सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, और अच्युत। इनमें रहने वाले देव कल्पोपपन्न कहे जाते हैं। कल्पों के ऊपर अनुक्रम से ९ कल्पातीत विमान रहते हैं जिन्हें 'ग्रैवेयक' कहा जाता है। उनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच कल्पातीत विमान रहते हैं जिन्हें 'अनुत्तर' कहा गया है। सर्वार्थसिद्धि के ऊपर ईषत्प्रलभार पृथ्वी है जिसे 'सिद्धशिला' कहा गया है। मुक्त आत्मायें अनन्त काल तक यहीं रहती हैं। इसके बाद अलोकाकाश प्रारम्भ हो जाता है।

लोक का स्वरूप विस्तार से तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थों में दृष्टव्य है। देवों के भी भेद-प्रभेदों का वर्णन वहाँ मिलता है। यहाँ हम जम्बूद्वीप का कुछ विशेष विवरण तथा तारामण्डल का परिभ्रमण निम्नोक्त प्रकार से समझ सकते हैं—

जम्बुद्वीप का तारामण्डल

क्रमांक	सामान्य तारामण्डल	जम्बुद्वीप से ऊँचाई	व्यास (योजनों में)
1	सामान्य तारामंडल	790	१/४ से १ कोश तक
2	सूर्य	800	४८/६१ योजन
3	चंद्र	880	५६/६१ ,,
4	नक्षत्र	884	१ कोश
5	बुध	888	१/२ ,,
6	शुक्र	891	१ ,,
7	गुरु	894	एक कोश से कम
8	मंगल	897	१/२ कोश
9	शनि	900	१/२ ,,
10	राहु	...	एक योजन से कम
11	केतु	...	,, ,, ,, ,,

१ कोश	=1000 मील
१ योजन	=४ कोश =4000 मील

दस हजार योजन व्यास वाले सुदर्शन मेरु को तारामण्डल ११२ योजन दूरी पर प्रदक्षिणा करता है। दो चन्द्र और दो सूर्य परस्पर विरोधी दिशा में सुमेरु पर्वत के मध्य से ४९८२० और ५०३३० योजन दूरी पर दो दिनों में एक प्रदक्षिणा देते हैं तथा सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायण और दक्षिणायण से उत्तरायण (४९८२० व ५०३३० योजनों के मध्य) १८६ दिन में भ्रमण करते हैं। इस प्रकार सौरवर्ष ३६६ दिन का होता है। स्वर्ग और मोक्ष जम्बू-सुमेरु पर्वत के ऊपर स्थित है तथा नरक जम्बूद्वीप के नीचे अवस्थित हैं। विशेष विवरण के लिए जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, त्रिलोक-सार, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश आदि ग्रन्थ दृष्टव्य हैं।

जम्बूद्वीप (एक लाख योजन व्यास) का विशेष विवरण (योजनों में)

क्रमांक	प्रदेश और पर्वत	Width–North–South विष्कंभ–उत्तर-दक्षिण	Depth बाण	Perpendcular लंब भुज्या	Radius त्रिज्या-करण
१	ऐरावत क्षेत्र	526 6/19	526 6/19	49473 13/19	50000
२	शिखरी पर्वत	1052 12/19	1578 18/19	48421 1/19	50000
३	हैरण्यवत क्षेत्र	2105 5/19	3684 04/19	46315 15/19	50000
		4210 10/19	7894 14/19	42105 5/19	50000
४	रुक्मि पर्वत	8421 1/19=1388	9613	40717	50330
५	रम्यक क्षेत्र	+7033 1/19	16315 15/19	33684 4/19	50000
	मकर वृत्त स्थिति	16842 2/19 = 4400	20536	29284	49820
६	नील पर्वत	+12442 2/19	33157 17/19	16842 2/19	50000
		+16842 2/19	50000		
	कर्क वृत्त स्थिति	33684 4/19=		00000	00000
	उत्तर	+16842 2/19	50000		
७	विदेह क्षेत्र	+12442 2/19	33157 17/19	16842 2/19	50000
	दक्षिण	16842 4/19 =4400	20536	29284	49820
८	निषध पर्वत	+7033 1/19	16315 15/19	33684 4/19	50000
		8421 1/19 =1388	9613	40717	50330
	कर्क वृत्त स्थिति	4210 10/19	7894 14/19	42105 5/19	50000
९	हरि क्षेत्र	2105 5/19	3684 4/19	46315 15/19	50000
	मकर वृत्त स्थिति	1052 12/19	1578 18/19	48421 1/19	50000
१०	महाहिमवन पर्वत	526 6/19	526 6/19	49473 13/19	50000
११	हैमवत क्षेत्र				
१२	हिमवन पर्वत				
१३	भरत क्षेत्र				

कृपया (पीछे देखिये)

Cos	अंश	Arc. धनुष	Chord जीवा	Time at noon i.e.t. East end	West end
0·98947	16·6°	14582	14453	13·06	10·54
0·96842	28·9°	25218	24916	13·55	10·05
0·92632	44.3°	38639	37669	14·57	9·03
0·84211	65·3°	56981	53945	16·21	7·39
0·80900	72·0°	63244	59168	16·48	7·12
0 67368	95·3°	83159	73905	18·21	5·39
0.58780	108·0°	93910	80608	19·12	4·48
0·33684	140·6°	123071	94156	21·22	2·38
0·00000	180·0°	157080	100002	00·00	00·00
0·33684	140·6°	123071	94156	2·38	21·22
0·58780	108·0°	93910	80608	4·48	19·12
0·67368	95·3°	83159	73905	5·29	18·21
0·80900	72·0°	63244	59168	7·12	16·48
0·84211	65·3°	56981	53945	7·39	16·21
0·92632	44·3°	38639	37662	9·03	14·57
0·96842	28·9°	25218	24916	10·05	13·55
0·98947	16·6°	14582	14453	10·54	13.06

क्रमांक	2	और	12	100	योजन	ऊँचे	है
,,	4	,,	10	200	,,	,,	,,
,,	6	,,	8	400	,,	,,	,,

* * *

पञ्चम परिवर्त

जैन ज्ञान मीमाँसा

पञ्चम परिवर्त

जैन ज्ञान मीमांसा

क्षेत्र और स्वरूप :

ज्ञान मीमांसा वस्तुतः दर्शनशास्त्र की ही एक अभिन्न शाखा है जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध, ज्ञान की प्रक्रिया, सीमायें, परिस्थितियाँ, भेद-प्रभेद, प्रामाणिकता, स्रोत आदि विषयों पर विचार किया जाता है। इन प्रश्नों का विवेचन ही ज्ञान मीमांसा का अभिधेय बनता है। इस विवेचन में आगमन, निगमन, संश्लेषण, विश्लेषण आदि जैसी दार्शनिक विधियाँ तो प्रयुक्त होती ही हैं, साथ ही ऐसा तटस्थ और उदार दृष्टिकोण भी अपेक्षित रहता है जिसमें स्वानुभव और ज्ञान का समन्वित रूप आपूरित हो। यहाँ वस्तुवाद, प्रत्ययवाद, अनुभववाद जैसे वादों को समीक्षात्मक दृष्टि से परखकर विशुद्ध ज्ञान-दर्शन और चारित्र में प्रतिष्ठित होकर चिन्तन प्रस्तुत किया जाता है।

ज्ञानशास्त्र का यह एक मूलभूत प्रश्न है कि ज्ञान की उत्पत्ति हमारे मन में किस प्रकार होती है? वह अर्जित है या जन्मजात? पाश्चात्य दार्शनिक क्षेत्र में इन्हीं प्रश्नों को लेकर अनुभववाद और बुद्धिवाद इन दो विरोधी विचारधाराओं का उद्‌गम हुआ। समन्वय की दृष्टि से कान्ट का समीक्षावाद भी उल्लेखनीय है। अनुभववाद के प्रस्थापक जॉन लॉक के अनुसार समस्त ज्ञान का मूल जनक अनुभव ही है, वह जन्मजात नहीं होता। ज्ञान की प्राप्ति के लिए उसने मन, बाह्य पदार्थ और मन के अन्तर प्रत्यय को आवश्यक बताया। बर्कले और ह्यूम ने इस अनुभववाद को और आगे बढ़ाया।

अनुभववाद के विरोध में बुद्धिवाद खड़ा हुआ। इसके मूल विचारक सुक़रात प्लेटो और अफलातून थे। उन्होंने कहा था कि इन्द्रियजन्य ज्ञान असत् एवं अस्थायी होता है। देकार्ते ने इस तथ्य की निर्णायिका के रूप में बुद्धि को माना। स्पिनोजा और लाइबनित्ज ने इस दर्शन का विकास किया। आधुनिक जर्मन दार्शनिक कान्ट ने इन दोनों मतों का समन्वय कर परीक्षावाद (criticism) की स्थापना की। उसके अनुसार ज्ञान की सामग्री अनुभव और बुद्धि दोनों से प्राप्त होती है। ज्ञान के लिए दोनों अनिवार्य तत्त्व हैं। बर्कले का प्रत्ययवाद, ह्यूम का संदेहवाद तथा ब्रेडले का सहजसम्बोधिज्ञानवाद भी ज्ञानमीमांसा से सम्बद्ध है।

परीक्षावादी महावीर :

भ. महावीर परीक्षावादी थे। वे शंकराचार्य के समान प्रत्ययवादी नहीं थे। उनके चिन्तनशील व्यक्तित्व ने साधना काल में गहन चिन्तन, मनन और अनुप्रेक्षण किया जिसके फलस्वरूप उन्हें विशुद्ध आत्मज्ञान के रूप में केवलज्ञान की अजस्र ज्योति प्राप्त हुई। देशनाकाल में परंपराश्रित उनके ज्ञान-चिन्तन की अभिव्यक्ति हुई और संसार को एक नया प्रकाश मिला। साधक महावीर तीर्थंकर महावीर बने और उन्होंने लगभग तीस वर्षों तक लगातार स्वानुभूतिजन्य ज्ञान-प्रकाश से प्राणियों के अज्ञानान्धकार को प्रच्छन्नकर उनकी भवबाधा को दूर करने का यथाशक्य प्रयत्न किया।

कालान्तर में भ. महावीर के अनुयायी शिष्य-प्रशिष्यों ने यथासमय उनके चिन्तन को आगे बढ़ाया। फलतः जैनेतर सम्प्रदायों के सन्दर्भ में जैन दार्शनिक तथ्य विकसित होते चले गये। इस विकास में यह विशेषता थी कि चिन्तन ने अपने मूल स्वर को कतई त्यागा नहीं। इसी विशेषता ने जैनधर्म को जीवनदान दिया और उसकी स्थिति को बौद्धधर्म से बिलकुल भिन्न कर दिया। जैनधर्म की सरस-सरिता का प्रवाह अविच्छिन्न गति से चलता रहा। उसे कभी कठोर पर्वतों पर चलना पड़ा तो कभी दुरवगाह्य वनों के टेढ़े-मेढ़े मार्गों से जूझना पड़ा और कभी मरुस्थलों की तेज आंधी और कठोर तूफान भी सहने पड़े। पर उसकी सहन-शक्ति, साहस गरिमा, अहिंसाशीलता तथा समन्वयवृत्ति कभी पददलित नहीं की जा सकी। उसने अपने घनघोर विपदा-क्षणों में भी विशुद्ध नैतिक और आध्यात्मिक प्रतिष्ठा बनाये रखी।

श्रामणिक धर्म और दर्शन स्वानुभूतिगम्य साधना की परीक्षावादी प्रबल भूमिका पर प्रतिष्ठित एक ऐसी विचारधारा है जिसे भ. महावीर और महात्मा बुद्ध जैसे चिन्तकों की सूक्ष्म मनन-प्रक्रिया का अवलम्बन मिला। इतिहास के धरातल पर उसे अनेक थपेड़े खाना पड़े फिर भी वह अपने विकास-पथ से पीछे नहीं हटा। लोकसंग्रह की भावना ने उसे जनता का धर्म बना दिया। उसका हर चरण व्यक्ति किंवा प्राणि मात्र के हित की भावना से अनुप्राणित रहा।

साध्य की प्राप्ति का मूल मन्त्र—रत्नत्रय :

भ. महावीर ने आध्यात्मिक, राजनीतिक एवं व्यावहारिक जीवन के मूल्यों को पृथक्-पृथक् न कर उन्हें एक ही सूत्र में गूंथ दिया। वह सूत्र है—सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।[१] सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र का परिपालन ही साध्य की प्राप्ति का प्रमुख साधन है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, १.१.

यहाँ दर्शन का तात्पर्य है तत्त्वश्रद्धा, दृष्टि अथवा आत्मविश्वास। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र इन्हीं तीनों तथ्यों पर आधारित है। यहाँ यह दृष्टव्य है कि इन तीनों तत्त्वों में सम्यक् विशेषण संयोजित है। इससे साधनों की निर्मलता की ओर संकेत किया गया है। साध्य की विशुद्धि साधनों की विशुद्धि पर ही अवलम्बित होती है।

उत्तराध्ययन में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि सम्यक्त्व रहित व्यक्ति को ज्ञान नहीं होता और ज्ञान बिना चारित्र के गुण नहीं होते। चारित्र विरहित व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त नहीं होता और बिना मुक्त हुए निर्वाण नहीं मिलता।[1] तत्त्वार्थ राजवार्तिक में अकलंक ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र के अविनाभावसम्बन्ध पर सुन्दर प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार मात्र रसायन के ज्ञान या आचरण मात्र से रसायन का फल रूप आरोग्य नहीं मिलता, पूर्णफल की प्राप्ति के लिए रसायन का विश्वास, ज्ञान, और उसका सेवन आवश्यक है ही, उसी प्रकार संसार-व्याधि की निवृत्ति भी तत्त्व-श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना से ही हो सकती है। अतः तीनों को समवेत अवस्था में ही मोक्षमार्ग मानना उचित है।

'अनन्ताः सामायिकसिद्धाः' वचन भी तीनों के मोक्षमार्ग का समर्थन करता है। ज्ञान रूप आत्मा के तत्त्वश्रद्धान पूर्वक ही सामायिक—समताभाव रूप चारित्र हो सकता है। सामायिक का तात्पर्य है— समस्त पाप-योगों से निवृत्त होकर अभेद, समता और वीतरागता में प्रतिष्ठित होना। कहा भी है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः॥ १॥

संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञाः
न ह्येक चक्रेण रथः प्रयाति।
अन्धश्च पङ्गुश्च वने प्रविष्टौ
तौ संप्रयुक्तौ नगरे प्रविष्टौ॥

यदि ज्ञान मात्र से मोक्ष माना जाय तो पूर्णज्ञान प्राप्ति के द्वितीय क्षण में ही मोक्ष हो जायेगा। एक क्षण भी पूर्णज्ञान के बाद संसार में ठहरना संभव नहीं हो सकेगा। उपदेश, तीर्थप्रवृत्ति आदि कुछ भी नहीं हो सकेंगे। यह संभव ही नहीं कि दीपक भी जल जाये और अंधेरा भी बना रहे। उसी

---

१. नादंसिणस्स णाणं, नाणेण विणा न होंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं॥
—उत्तराध्ययन, २८.३०

तरह ज्ञान से यदि मोक्ष हो तो यह संभव ही नहीं हो सकता कि ज्ञान भी हो जाये और मोक्ष न हो। पूर्णज्ञान होने पर भी कुछ संस्कार ऐसे रह जाते हैं जिनका नाश हुए बिना मुक्ति नहीं होती और जबतक उन संस्कारों का क्षय नहीं होता तबतक उपदेश आदि हो सकते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि संस्कारक्षय से मुक्ति होती है, ज्ञान मात्र से नहीं। यदि संस्कार क्षय के लिए अन्यकारण अपेक्षित है तो वह चारित्र हो सकता है, अन्य नहीं।

अतः दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का अविनाभाव सम्बन्ध है। तीनों का सम्यक् परिपालन ही मोक्ष का मार्ग है। साध्य की विफलता और टकराव का प्रमुख कारण इन तीनों तत्त्वों का अलगाव होना है। इन तीनों में यद्यपि लक्षण भेद है फिर भी ये मिलकर एक ऐसी आत्मज्योति पैदा करते हैं जो अखण्ड भाव से एक मार्ग बन जाती है। यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार दीपक, वत्ती, तैल, आदि विलक्षण पदार्थ मिलकर एक दीपक बन जाते हैं।

यहाँ यह बात भी दृष्टव्य है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में पूर्व की प्राप्ति होने पर उत्तर की प्राप्ति भजनीय है अर्थात् हो भी और न भी हो, किन्तु उत्तर की प्राप्ति में पूर्व का लाभ निश्चित है। वह होगा ही। जैसे जिसे सम्यक्चारित्र होगा उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होंगे ही। पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे पूर्ण सम्यग्ज्ञान, ज्ञान सामान्य नहीं, और सम्यक्चारित्र का होना आवश्यक नहीं। वह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता।[१] यहाँ यह दृष्टव्य है कि कहीं-कहीं रत्नत्रय का प्रारम्भ ज्ञान से भी होता है।[२]

जैन दर्शन की दृष्टि से आत्मा में स्वभावतः अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य ये चार तत्त्व संनिहित रहते हैं। दर्शन और ज्ञान की परिपूर्ण अभिव्यक्ति ही अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की प्राप्ति में कारण होती है। ये तत्त्व तभी प्राप्त होते हैं जब आत्मा अपने अनादिकालीन कर्मबन्ध से विमुक्त होकर स्वस्वभाव रूप विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर ले।

ज्ञान और दर्शन

ज्ञान और दर्शन प्रारम्भ से ही दार्शनिकों के बीच विवाद का विषय रहा है। महात्मा बुद्ध ने ऐसे दार्शनिकों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है— प्रथम वह है जो परम्परा के आधार पर अपने-अपने ज्ञान और दर्शन की बात करते हैं, जैसे त्रैविद्य ब्राह्मण। उन्हें 'अनुस्साविका' कहा गया है, ii) द्वितीय

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, १.४७-६८

२. उत्तराध्ययन, २८.३५; कल्पसूत्र; मूलाचार_८९८

वे हैं जो केवल तर्क के बल पर ज्ञान-दर्शन की सिद्धि कराते हैं। ऐसे दार्शनिक 'तक्की' अथवा 'वीमंसी' कहे जाते हैं, और iii) तीसरे वे हैं जो स्वयमेव (समंयेव) अन्तर्ज्ञान और अन्तर्दर्शन को पहले प्राप्त करते हैं और बाद में ही उसका व्याख्यान करते हैं। निगण्ठ (जैन) बौद्ध और आजीविक सम्प्रदाय इस श्रेणी में आते हैं।[१]

निग्गण्ठ नातपुत्त (महावीर) ने स्वयं के पुरुषार्थ से आत्मा के स्वभाव रूप विशुद्ध ज्ञान और दर्शन को प्राप्त किया था। इसलिए उन्होंने श्रद्धा की अपेक्षा ज्ञान को प्रणीततर माना था (सद्धाय खो गहपति ञानं येव पनीततरं)[२]। यह अन्तर्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र के परिपालन से ही प्राप्त किया जा सकता है।

सम्यग्दर्शन :

जीव, अजीव आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान होना सम्यग्दर्शन है।[३] सोमदेव ने इस परिभाषा को और अधिक दार्शनिक बना दिया। उन्होंने कहा कि अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थों का तीन मूढ़ता रहित और आठ अंग सहित जो श्रद्धान होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।[४] यहाँ अन्तरंगकारण है– दर्शन मोहनीयकर्म का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम जिसके प्रगट होने पर आत्मा में विशुद्धता प्रगट हो जाती है। इसके होने पर प्रशम (क्रोधादि विकारों की शान्ति), संवेग (धर्म का सहज परिपालन), अनुकम्पा (भ्रातृत्व) और आतिथ्य (आत्मा और कर्म का सम्बन्धज्ञान) जैसी भावनायें उसमें पैदा हो जाती हैं। काललब्धि आने पर उपशम सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है। इसमें पूर्वजन्मस्मरण आदि बाह्यनिमित्त होते हैं।

यहाँ आप्त के स्वरूप को जानना भी आवश्यक है। स्वामी समन्तभद्र ने उसका लक्षण इस प्रकार किया है–

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥[५]

---

१. मज्झिम निकाय, २. पृ. २११

२. वही, १, पृ. ९२–३; अंगुत्तर निकाय, १, पृ, 220–1

३. तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्, तत्त्वार्थसूत्र, 1–2

४. उपासकाध्ययन, ४८. पृ. १३

५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५

अकलंक ने आप्त को अविसंवादी होना आवश्यक माना है ।[1] सोमदेव ने सर्वज्ञता के साथ-साथ उसे जगत का उद्धारक, निर्दोषी, वीतरागी तथा समस्त जीवों का हितकारी होना भी बताया है और यह कहा है कि ऐसा व्यक्ति भूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता, मोह, राग, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा, और विषाद इन अठारह दोषों से रहित होता है ।[2]

सम्यक्त्व व्यक्ति का एक देवता की तरह रक्षक है । यदि अपने यथोक्त गुणों से समन्वित सम्यग्दर्शन उसे एक बार भी प्राप्त हो जाता है तो समस्त पापों से कलुषित मति होने के कारण जिन पुरुषों ने नरकादिक गतियों में से किसी एक की आयु का बन्ध कर लिया है उन मनुष्यों का नीचे के छः नरकों में, आठ प्रकार के व्यन्तरों में, दस प्रकार के भवनवासियों में, पाँच प्रकार के ज्योतिषी देवों में, तीन प्रकार की स्त्रियों में, विकलेन्द्रियों में, पृथिवीकाय, जलकाय, तैजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय में जन्म नहीं होने देता । वह संसार को सान्त कर देता है । कुछ समय के पश्चात् उस आत्मा के सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य प्रगट हो जाते हैं । जैसे बीजों में अच्छी तरह से किया गया संस्कार बीजों की वृक्ष रूप पर्यायान्तर होने पर भी वर्तमान रहता है, उसी तरह सम्यक्त्व जन्मान्तर में भी आत्मा का अनुसरण करता है, उसे छोड़ता नहीं । सिद्ध चिन्तामणि के समान असीम मनोरथों को पूर्ण करता है । व्रत तो औषधिवृक्षों (जो वृक्ष फलों के पकने के बाद नष्ट हो जाते हैं उन्हें औषधिवृक्ष कहा जाता है) की तरह मोक्ष रूपी फल के पकने तक ही ठहरते हैं तथा कलेवा की तरह नियतकाल तक ही रहते हैं, किन्तु सम्यक्त्व ऐसा नहीं है । पारे और अग्नि के संयोग मात्र से उत्पन्न होने वाले स्वर्ण की तरह पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानकर उनमें मन को लगाने मात्र से प्रगट होने वाले सम्यक्त्व के लिए न तो समस्त श्रुत को सुनने का परिश्रम ही करना आवश्यक है, न शरीर को ही कष्ट देना चाहिए, न देशान्तर में भटकना चाहिए । अर्थात् सम्यक्त्व के लिए किसी काल विशेष या देश विशेष की आवश्यकता नहीं है । सब देशों और सब कालों में वह हो सकता है। इसलिए जैसे नींव को प्रासाद का, सौभाग्य को रूप सम्पदा का, जीवन को शारीरिक सुख का, मूल बल को विजय का, विनम्रता को कुलीनता का, और नीति पालन को राज्य की स्थिरता का मूल कारण माना जाता है, वैसे ही महात्मागण सम्यक्त्व को ही समस्त पारलौकिक अभ्युन्नति का अथवा मोक्ष का प्रथम कारण कहते हैं ।[3]

---

१. अष्टशती–अष्टसहस्री, पृ. २३६

२. उपासकाध्ययन, ४९–५०

३. वही, पृ. १२–१३.

शंका, कांक्षा, विनिन्दा और मन तथा वचन से सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा करना से सम्यग्दर्शन की हानि के कारण हैं।[1] निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और मार्गप्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं जिनसे वह दृढ़ होता चला जाता है। इसके दो भेद होते हैं– निसर्गज जो स्वभावतः उत्पन्न हो जाता है और अधिगमज जो उपदेशादिक बाह्य कारणों से उत्पन्न होता है।

सम्यग्दर्शन धारक जीवों की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दो भेद किये गये हैं—सरागसम्यग्दर्शन जो दसवें गुणस्थान तक रहता है और वीतराग सम्यग्दर्शन जो उसके ऊपर के गुणस्थानों में रहता है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद भी सम्यक्त्व के किये जाते हैं जिनके विषय में आगे वर्णन किया गया है। ये भेद अन्तरंग कारणों की अपेक्षा से किये गये हैं। जो सम्यग्दर्शनमिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सात प्रकृतियों के उपशम से होता है उसे 'औपशमिक सम्यक्त्व' कहते हैं। जो इन सात प्रकृतियों के क्षय से होता है उसे 'क्षायिकसम्यक्त्व' कहते हैं और जो इनके क्षयोपशम से होता है उसे 'क्षायोपशमिक सम्यक्त्व' कहते हैं। ये तीनों सम्यग्दर्शन सब गतियों में पाये जाते हैं। बाह्यनिमित्तों की दृष्टि से सम्यक्त्व के दस भेद किये गये हैं—आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, बिस्तार, अर्थ, अवगाढ़, और परमावगाढ़।[2]

सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के लिए आप्त की पहिचान होना आवश्यक है। आप्त वीतराग ही सच्चा देव, सच्चा गुरु और सच्चा शास्त्र हो सकता है। देव मूढता, गुरु मूढता और लोक मूढता ये तीन मूढतायें हैं। ज्ञान, आदर-सम्मान, कुल, जाति, बल, ऐश्वर्य, तप और शरीर इन आठ विषयों का अभिमान करना आठ मद हैं। कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्र तथा उनके धारकों को मानना ये छः अनायतन हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि आठ दोष हैं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव इन पच्चीस दोषों से विरहित होता है।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र :

यह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की आधार शिला है। वस्तुओं को यथारीति जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। इसे मनुष्यों का तृतीय नेत्र कहा गया है। हेयोपादेय का विवेक कराना इसका मूल कार्य है। सम्यग्दर्शन और

---

१. शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः,
तत्त्वार्थसूत्र, ७.२३

२. उपासकाध्ययन, २३४

सम्यग्ज्ञान प्रयत्नों की विशुद्धता पर निर्भर करते हैं। प्रयत्नों की विशुद्धता को ही दार्शनिक परिभाषा में 'सम्यक्चारित्र' कहते हैं। सम्यक्चारित्र होने पर दर्शनमोह विगलित हो जाता है और केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञत्व प्रगट हो जाता है। पालि त्रिपिटक में महावीर को 'ज्ञानवादिन्' कहा गया है।[१]

ज्ञान और दर्शन की युगपत् अवस्था :

जैनधर्म के अनुसार आत्मा का स्वभाव उपयोग है और उपयोग का लक्षण ज्ञान और दर्शन है। 'जाणदि पस्सदि' और 'जाणमाणे पासमाणे' जैसे शब्दों के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ से ही आत्मा के गुणों के रूप में ज्ञान और दर्शन का प्रयोग होता रहा है।[२] यह उपयोग दो प्रकार का है–साकार और निराकार। साकार उपयोग ज्ञान है और निराकार उपयोग दर्शन है। साकार उपयोग में पाँच प्रकार का ज्ञान होता है–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। निराकार उपयोग के चार भेद हैं--चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, और केवलदर्शनावरण। चेतना अथवा उपयोग का विकास ज्ञानाकार अथवा ज्ञेयाकार के रूप में होता है। हम यह सकते हैं कि ज्ञान साकार ज्ञान है और दर्शन निराकार ज्ञान है। प्रज्ञापनासूत्र में भी उपयोग को साकार और निराकार के रूप में बताया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शन को 'दिट्ठी अप्पपयासयाचेव' कहकर उसे आत्मा का उद्घाटक कहा है और आत्मा, ज्ञान और दर्शन को समानार्थक बताया है।[३] वीरसेन के अनुसार ज्ञान पदार्थ के बाह्य तत्त्व को प्रकाशित करता है जबकि दर्शन आन्तरिक तत्त्व को।[४] सिद्धसेन दिवाकर दर्शन को सामान्य का ग्राहक और ज्ञान को विशेष का ग्राहक बताते हैं।[५] इस समय तक दर्शन का अर्थ पदार्थ के सामान्य तत्त्व का ग्रहण हो गया था।

इससे स्पष्ट है कि दर्शन का तात्पर्य मूलतः आत्मप्रकाशक था। यही कारण है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान जब कभी गलत भी हो सकते हैं जबकि उनसे पूर्व उत्पन्न होने वाले चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन

---

१. अहं अनन्तेन ञानेन अनन्तं लोकं जानं पस्सं विहरामि, अंगुत्तरनिकाय, ४, पृ. ४२९.

2. समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति–प्रकृति अनु.; जाणमाणे एवं च णं विहरइ–आचारांग, श्रुतस्कन्ध, २. च. ३.

३. नियमसार. १६०

४. धवला, १.१.४

५. सम्मतितर्क प्रकरण, २.१

गलत नहीं हो सकते । यदि विशेष को पदार्थ के सामान्य तत्त्व का ग्राहक माना जाय तो उसके दर्शन में निश्चित ही संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय दोष उत्पन्न होंगे और दर्शन को, ज्ञान के समान, दर्शन-अदर्शन आदि रूप में विभाजित करना पड़ेगा । यदि दर्शन को आत्मप्रकाशक स्वीकार कर लिया जाय तो हम इस दोष से मुक्त हो जायेंगे ।

पूज्यपाद देवनन्दी ने सर्वार्थसिद्धि में इस आशय को तार्किक शब्दावली में प्रस्तुत किया है । उन्होंने दर्शन को प्रमाणकोटि में रख दिया । दर्शन को प्रमाण माना जाय या नहीं, यह विद्वानों के समक्ष एक समस्या थी । अभयदेवसूरि ने कहा कि ज्ञान के समान दर्शन को भी प्रमाणकोटि में रखा जाना चाहिए ।[१] माणिक्यनन्दी[२] और वादिदेवसूरि[३] ने उसे प्रमाणाभास माना है ।

पालि साहित्य में, जैसा हम पीछे देख चुके हैं, महावीर को अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञानवान् कहा गया है । जैनागमों में भी 'जाणमाणे पासमाणे', 'जाणदि पस्सदि' जैसे अनेक उद्धरण मिलते हैं । इससे यह स्पष्ट है कि किसी एक विषय में दर्शन और ज्ञान युगपत् हो सकता है ।

उत्तरकाल में श्वेताम्बर आचार्यों ने यह अभिमत व्यक्त किया कि ज्ञान और दर्शन चूंकि चेतना के कार्य हैं और चेतना के दो कार्य युगपत् हो नहीं सकते अतः ज्ञान और दर्शन क्रमशः प्रगट होते हैं ।

दिगम्बर आचार्य एक स्वर में ज्ञान और दर्शन को युगपत् मानते हैं । आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार सूर्य में प्रकाश और उष्णता युगपत् होती है उसी प्रकार केवली में ज्ञान और दर्शन युगपत् प्रगट होता है ।[४] उमास्वामि[५], पूज्यपाद[६], अकलंक[७], विद्यानन्द[८] आदि आचार्य भी उनके मत को निर्विरोध रूप से स्वीकार करते हैं ।

ज्ञान और दर्शन की उत्पत्ति युगपत् होती है अथवा क्रमशः इस विवाद में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने 'अभेदवाद' की स्थापना की है । उनका मन्तव्य है कि दर्शन सामान्यग्राही है और ज्ञान विशेषग्राही । पदार्थ के विशेष तत्त्व

---

१. सन्मतितर्क प्रकरण, पृ. ४५८
२. परीक्षामुख, ६.१
३. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ६.२५
४. नियमसार, १५९
५. तत्त्वार्थसूत्र, २.९
६. सर्वार्थसिद्धि, २.९
७. तत्त्वार्थवार्तिक, २.९
८. अष्टसहस्री, पृ. ५१

का जब ज्ञान होता है तब सामान्य के रहते हुए भी वह भासित नहीं होता और जब सामान्य तत्त्व का दर्शन होता है तब विशेष रहते हुए भी वह प्रतीत नहीं होता। यह ज्ञान और दर्शन का कालभेद मनःपर्ययज्ञान तक है पर केवल ज्ञान में वे युगपत् हो जाते हैं। सिद्धसेन ने इसी सन्दर्भ में दोनों मतों में दोष बताते हुए दर्शन और ज्ञान में अभेदवाद की स्थापना की है।[1]

बाद में तार्किक क्षेत्र में दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति को युगपत् स्वीकार किया गया। आचार्यों ने उसके पीछे यह तर्क दिया कि पदार्थ में सामान्य और विशेष ये दो गुण होते हैं। दर्शन का विषय सामान्य है और ज्ञान का विषय विशेष है। यहाँ ज्ञान और दर्शन पृथक् हो जाते हैं। सम्भवतः यही कारण है कि अभयदेवसूरि ने दोनों को प्रमाण रूप में स्वीकार किया है।

ज्ञान आत्मा का गुण है और ज्ञेय पदार्थ समूह है। दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं। उनकी उत्पत्ति एक दूसरे से नहीं होती। पदार्थ को जानने में ज्ञान का प्रयोग किया जाता है। पदार्थ-ज्ञान हमारी इन्द्रियों और मन के माध्यम से होता है। अतः ज्ञान-ज्ञेय का सम्बन्ध विषय-विषयीभाव का सम्बन्ध माना जाता है।

ज्ञान अथवा प्रमाण का स्वरूप :

ज्ञान का स्वरूप पदार्थ के सभी पक्षों को प्रकाशित करता है। यदि वह पदार्थ के सभी पक्षों को प्रकाशित नहीं करता तो वह सम्यग्ज्ञान नहीं कहला सकता। यह सम्यग्ज्ञान तबतक प्राप्त नहीं होता जब तक आत्मा में विशुद्ध अवस्था प्राप्त नहीं होती। उसकी प्राप्ति के लिए समस्त कर्मों का निर्जीर्ण होना आवश्यक है। तभी केवलज्ञान प्राप्त होता है। कुन्दकुन्द ने 'दिट्ठी अप्पयासया चेव' कहकर ज्ञान को आत्मप्रकाशक बताया है।[2] आत्मप्रकाशक होने पर दीपक के समान उसका पर-प्रकाशक होना स्वाभाविक है। अतः ज्ञान का स्वरूप 'स्वपरप्रकाशक' है। केवलज्ञानी का ज्ञान इसी प्रकार का स्वपरप्रकाशक होता है। तभी वह समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् जानने में समर्थ होता है। ऐसे ही ज्ञाता-आप्त सर्वज्ञ के कथन को प्रामाणिक माना गया है।[3]

---

१. सन्मतिप्रकरण, २.२२. नन्दिचूर्णि में केवलज्ञान और केवलदर्शन के सम्बन्ध में तीन मतों का उल्लेख किया है– i) दोनों का यौगपद्य, ii) दोनों का क्रमिकत्व, और iii) दोनों का अभेदत्व। कषाय पाहु (भाग १, पृ. ३५६-७) ने यौगपद्य वाले मत को स्वीकार किया है।

२. नियमसार, १६०

३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५

आगमों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में ज्ञान और प्रमा में कोई भेद नहीं था। अथवा यह कहा जा सकता है कि प्रमा जैसा तत्त्व उस समय 'ज्ञान' में ही अन्तर्भूत था। ज्ञान के ही सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के रूप में भेद कर दिये जाते थे और उन्हें प्रमाण-अप्रमाण कोटि में व्यवस्थित कर देते थे।

दार्शनिक युग में आकर ज्ञान शब्द ने प्रमाण का रूप ले लिया और ज्ञान के स्थानपर प्रमाण की व्याख्या की जाने लगी। प्रमाण का सीधा-साधा अर्थ है– ऐसा कारण जिससे पदार्थ का संशयादि रहित ज्ञान हो–प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेनेति प्रमा, प्रमिति मात्रं वा प्रमाणम्।[1] अथवा प्रकर्षेण संशयादि व्यवच्छेदेन मीयते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणं, प्रमायां साधकतमम्।[2]

जैन परम्परा ज्ञान को 'स्वपरप्रकाशक' स्वीकार करती है। इसी आधार पर आचार्य समन्तभद्र[3] और सिद्धसेन[4] ने स्वपरावभासी ज्ञान को ही प्रमाण माना है। अकलंक ने उसमें 'अविसंवादकता' जोड़कर सन्निकर्ष, और संशयादि दोषों का व्यवच्छेद किया है।[5] इसमें और भी स्पष्टता लाने के लिए विद्यानन्द ने 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाण माना और 'स्वार्थ व्यवसायात्मक' ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा।[6] मीमांसकों द्वारा सम्मत धारावाहिकज्ञान को प्रमाणकोटि से बहिष्कृत करने की दृष्टि से माणिक्यनन्दि ने विद्यानन्द के प्रमाण-लक्षण में 'अपूर्व' शब्द और जोड़ दिया और उसका अर्थ 'अनिश्चित' कर दिया।[7] उत्तरकालीन आचार्यों ने प्रमाण के निर्धारण में प्रायः अकलंक और विद्यानन्द का अनुकरण किया है।

जैन परम्परा में मान्य प्रमाण के उपर्युक्त लक्षणों में साधारणतः यह देखा जाता है कि वे 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाण का स्वरूप स्वीकारते हैं और उसे 'स्व-पर-प्रकाशक' मानते हैं।

जैनेतर दार्शनिक क्षेत्र में कुछ दर्शन स्वप्रकाशवादी हैं और कुछ दर्शन परप्रकाशवादी हैं। विज्ञानवादी बौद्ध ज्ञान से भिन्न अर्थ का अस्तित्व ही नहीं

---

१. सर्वार्थसिद्धि, १-१2
२. प्रमाणमीमांसा, पृ. 2
३. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं बुद्धिलक्षणम्, बृहत् स्वयम्भूस्तोत्र, ६३.
४. प्रमाणं स्वपरावभासिज्ञानं बाधविवर्जितम्–न्यायावतार, श्लोक १.
५. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थलक्षणत्वात्–अष्टशती–अष्टसहस्री, पृ. १७४
६. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्——स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्, प्रमाणपरीक्षा, ५३
७. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्–परीक्षामुख, १.१.;
अनिश्चितोऽपूर्वार्थः, वही।

स्वीकारते ।[१] प्रभाकर की दृष्टि में बाह्यार्थ का अस्तित्व है और उसका संवेदन होता है ।[२] वेदान्त उसे ब्रह्मरूप और नित्यरूप मानता है ।[३] ये सभी दर्शन ज्ञान को स्वप्रत्यक्ष कहते हैं अर्थात् उनके अनुसार ज्ञान स्वतः प्रत्यक्षरूप से भासित होता है । जैन भी स्वप्रकाशवादी हैं ।[४] सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक[५] परप्रकाशवादी हैं । उनके अनुसार ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष होने का तो है पर वह स्वयं प्रत्यक्ष न होकर अपनी प्रत्यक्षता के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है । यहाँ पर प्रत्यक्षता के रूप में एकरूपता होते हुए भी पर के अर्थ में मतभेद है । न्याय-वैशेषिक पर का अर्थ 'अनुव्यवसाय' करते हैं और सांख्य-योग 'पुरुष का सहज स्वरूप चैतन्य' करते हैं । परप्रकाशवादियों में कुमारिल ही ऐसे दार्शनिक हैं जो ज्ञान को अत्यन्त परोक्ष मानते हैं और उसका तज्जन्यज्ञातता रूप लिङ्ग के द्वारा अनुमान करते हैं ।[६]

प्रमाण की यह लक्षण-परम्परा कणाद से प्रारम्भ होती है और उसी का विकास दर्शनान्तरों में हुआ है । कणाद ने 'अदुष्टं विद्या' कहकर प्रमाण में कारण शुद्धि पर बल दिया । बाद में अक्षपाद ने 'प्रमाण' और वाचस्पतिमिश्र ने 'अर्थ' शब्द का संयोजनकर उसे विषयबोधक बनाया । प्रभाकर मतानुयायी मीमांसकों ने 'अनुभूति' को प्रमाण माना तथा कुमारिल मतानुयायी मीमांसकों ने कणाद का खण्डन करते हुए 'निर्बाधत्व' और अपूर्वार्थत्व' विशेषणों से बौद्ध परम्परा को समाहित किया ।[७]

बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग ने 'संवित्ति'[८] और धर्मकीर्ति[९] ने 'अविसंवादित्व' विशेषणों को जन्म दिया । अन्य बौद्ध दार्शनिकों ने अपने प्रमाण लक्षणों में किसी न किसी रूप से इन विशेषणों को नियोजित किया है ।[१०]

जैन दार्शनिकों ने उपर्युक्त दोनों परम्पराओं को अपने ढंग से समाहित किया है । जैसा हम पीछे देख चुके हैं, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, माणिक्य-

---

१. प्रमाणवार्तिक, ३.३२९.
२. बृहती, पृ. ७४
३. भामती, पृ. १६.
४. योगसूत्र, ४. १८–१९।
५. कारिकावली, ५७
६. दर्शन और चिन्तन, पृ. १११–११2
७. तत्रापूर्वार्थ विज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ।। कुमारिल
८. प्रमाणसंग्रह, १.१०
९. प्रमाणवार्तिक, २-१
१०. तत्त्वसंग्रह, कारिका १३४४

नन्दी आदि सभी जैनाचार्यों ने प्रमाण को 'स्वपरावभासक' माना है। इनमें सिद्धसेन ने मीमांसकों का 'बाधविवर्जित' (बाधवर्जित) और अकलंक ने धर्मकीर्ति का 'अविसंवादि' विशेषण स्वीकार किया। इन्हीं दोनों परम्पराओं मे विद्यानन्द, हेमचन्द्र आदि की प्रमाण विषयक परम्परायें गुथी हुई हैं। ऐसी चार परम्पराओं को जैन दार्शनिक क्षेत्र में देखा जा सकता है–

१. स्वपरावभासक परम्परा–सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि।

२. अविसंवादि परम्परा–अकलंक, माणिक्यनन्दी आदि।

३. व्यवसायात्मक परम्परा–विद्यानंद, अभयदेव आदि।

४. सम्यगर्थनिर्णयात्मक परम्परा–हेमचन्द्र आदि।

सन्निकर्ष :

वैदिक दार्शनिक ज्ञान को प्रमाण न मानकर जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है उन कारणों को वे प्रमाण मानते हैं और ज्ञान को प्रमाण का फल स्वीकार करते हैं। नैयायिक सन्निकर्ष को ज्ञानप्राप्ति में साधकतम करण मानते हैं पर जैनदर्शन उसके पक्ष में नहीं। उसके अनुसार साधकतम वही है जिसके होने पर ज्ञान हो और न होने पर ज्ञान न हो। सन्निकर्ष को साधकतम नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके होने पर कभी ज्ञान होता है और कभी नहीं होता। जैसे घट की तरह आकाश के साथ चक्षु का संयोग होता है फिर भी आकाश का ज्ञान नहीं होता। काल, दिशा, मन आदि भी सन्निकर्ष के सहकारी कारण नहीं हो सकते क्योंकि उनके रहते हुए भी आकाश का ज्ञान नहीं होता।

नैयायिकों की दृष्टि में चक्षु ज्ञान-प्राप्ति में साधकतम करण है। जबतक पदार्थ से उसका संयोग नहीं होता तबतक ज्ञान नहीं होता। अप्रत्यक्ष वस्तु इसीलिए अज्ञात रह जाती है। इन्द्रिय कारक है और कारक दूर रहकर कार्य कर नहीं सकता। बिना स्पर्श किये पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता यह एक अनुभूत तथ्य है। यह सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है-संयोग, समवाय, संयुक्तसमवाय संयुक्तसमवेत समवाय, समवेत समवाय और विशेषणविशेष्यभाव। बाह्य रूपादि का प्रत्यक्ष चार प्रकार के सन्निकर्ष से होता है– आत्मा मन से सन्निकृष्ट होता है, मन इन्द्रियसे और इन्द्रिय पदार्थ से। सुखादि के प्रत्यक्ष में चक्षु को छोड़कर शेष तीन प्रकार का सन्निकर्ष होता है और योगी मात्र आत्मा और मन के ही सन्निकर्ष से पदार्थ का ज्ञान कर लेते हैं।[1]

---

१. न्यायमञ्जरी, पृ. ७४

जैन दर्शन ज्ञान को ही साधकतम करण मानता है। बिना किसी व्यवधान के ज्ञान ही पदार्थज्ञान कराने का सामर्थ्य (योग्यता) रखता है, इन्द्रियादिक नहीं। अदृष्ट और कर्म भी सहकारी कारण नहीं क्योंकि आकाश और इन्द्रिय के सन्निकर्ष काल में भी चक्षु का उन्मीलन-निमीलन बना रहता है। अतः यही माना जाना चाहिए कि ज्ञाता की अर्थग्रहण-शक्ति ही ज्ञान का साधकतम करण है।

इसी सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जैन दर्शन में चक्षु को 'अप्राप्यकारी' बताया गया है। उसका मन्तव्य है कि यदि चक्षु पदार्थ का स्पर्श कर ज्ञान प्राप्त करती होती तो उसे स्वयं में लगे अञ्जन को देख लेने की सामर्थ्य होनी चाहिए। पर दर्पण में देखे बिना वह दिखाई नहीं देता। आवृत वस्तु को चक्षु नहीं देख पाती, यह तर्क भी असंगत है क्योंकि कांच, अभ्रक, स्फटिक आदि से आवृत पदार्थ दृश्य होते हैं। चुम्बक आवृत पदार्थ को आकृष्ट नहीं कर पाता पर निरावृत लोहे को समीप से अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। अतः आवृत वस्तु को ग्रहण करने में जो समर्थ न हो वह प्राप्यकारी होता है, यह नियम निर्दोष नहीं। जब चक्षु अग्नि की तरह तैजस रूप है तो उसे प्रकाश की आवश्यकता क्यों होती है? और फिर यदि सन्निकर्ष को प्रमाण मानेंगे तो सर्वज्ञ का अभाव हो जायेगा। वह दूरवर्ती और सूक्ष्मवर्ती पदार्थों के साथ अपने मन और इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं कर पायगा। अतः सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता।[१]

इसी प्रसंग में जैन दार्शनिकों ने मीमांसकों के विवेकख्यातिवाद, चार्वाक् के अख्यातिवाद, बौद्धों के असत्ख्यातिवाद, सांख्यों के प्रसिद्धार्थख्यातिवाद, योगाचार बौद्धों के आत्मख्यातिवाद, ब्रह्माद्वैतवादियों के अनिर्वचनीयख्यातिवाद आदि का भी खण्डन किया है।

जैसा ऊपर कहा गया है, ज्ञान 'स्वपरप्रकाशक' होता है, अतः उसे पदार्थ के ज्ञान करने में अन्य ज्ञानों की सहायता नहीं लेनी पड़ती। चूंकि वह 'स्व' को जानता है इसलिए 'पर' रूप घट, पट आदि को भी जानता है। यदि 'स्व' को नहीं जानता तो 'पर' को कैसे जान सकता?

मीमांसक ज्ञान को 'स्वसंवेदी' न मानकर परोक्ष रूप मानते हैं। इसका मुख्य कारण उनकी दृष्टि में यह है कि उसकी कर्मरूप से प्रतीति नहीं होती। नैयायिक ज्ञान को 'ज्ञानान्तरवेद्य' मानते हैं और सांख्य ज्ञान को 'अचेतन' स्वीकार करते हैं क्योंकि वह प्रधान का ही परिणाम है। आत्मा चेतन है क्योंकि वह

१. तत्त्वार्थवार्तिक, १.१०. पृ. ५१; न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ७५-८२

प्रधान का परिणाम नहीं है । जैनदर्शन में इन सभी मतों का खण्डन कर यह व्यवस्थित किया गया है कि ज्ञान चैतन्य स्वरूप है और वह स्वपरप्रकाशक है ।

नैयायिकों ने 'कारकसाकल्य' (समग्रकारक) को ज्ञान की उत्पत्ति में कारण माना है ।[१] सांख्य 'इन्द्रियवृत्ति' (इन्द्रियों का विषयाकार होना) को प्रमिति में साधकतम मानते हैं ।[२] प्रभाकरवादी मीमांसक ज्ञातृव्यापार (आत्मा, इन्द्रिय, पदार्थ और मन के सम्मिलित होने पर ज्ञाता का व्यापार) को प्रमाण मानते हैं और बौद्ध जैनों के समान 'ज्ञान' को ही प्रमाण मानते हैं। पर उनकी मान्यता में कुछ अन्तर है । वे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण की कोटि में रखते हैं जबकि जैन सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं ।

प्रमाण और नय :

प्रमाण वस्तु को समग्र रूप से ग्रहण करता है और नय उसके अखण्ड रूप को खण्ड-खण्डकर के मुख्य रूप से ग्रहण करता है । प्रमाण में भी मुख्य-गौण भाव रहता है पर जिसकी मुख्यता रहती है उसी के द्वारा वस्तु के समस्त रूप को जान लिया जाता है । उदाहरणतः प्रमाण घट को 'घटोऽयम्' के रूप में ग्रहण करता है पर नय उसे 'रूपवान् घटः' के रूप में देखता है ।[३]

नय प्रमाण का ही कार्य करते हैं अतः उपचार से उनमें प्रमाणत्व स्थिर करने में कोई विरोध नहीं । पर अन्तर यह है कि नय एकान्त को ग्रहण करता है और प्रमाण अनेकान्त को । प्रमाण का विषय वस्तु के संपूर्ण धर्मों की अखण्ड सत्ता को ज्ञापित करना है जबकि नय उसके किसी एक अंश को जानता है । इसी तरह प्रमाण सब धर्मों को युगपत् ग्रहण करता है जबकि नय क्रम से एक-एक को । अतः नय को 'ज्ञेय' कहा गया है, 'उपादेय' नहीं । वे सम्यक् भी हैं और मिथ्या भी सम्यक् एकान्त को 'नय' कहा जाता है और मिथ्या एकान्त को 'नयाभास' ।[४]

प्रामाण्य विचार :

प्रमाण किन कारणों से उत्पन्न होता है, यह भी एक विवाद का प्रश्न रहा है । यह विवाद प्रारम्भ में वेद तक सीमित था । बाद में दर्शन के अन्य क्षेत्रों में पहुँच गया । प्रश्न यह था कि प्रमाण को स्वतः माना जाय अथवा परतः ?

---

१. न्यायमञ्जरी, पृ. १२
२. सांख्यकारिका, २८
३. सकलादेशः प्रमाणाधीनः विकलादेशो नयाधीनः—सर्वार्थसिद्धि, १.६
४. समयसार, १४२; नयचक्रवृत्ति, ७१

पदार्थ की यथावत् जानकारी करा देनेवाली शक्ति को प्रामाण्य कहा जाता है। इस दृष्टि से यहाँ दो पक्ष हुए। प्रथम वेद-प्रामाण्यवादी नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि और द्वितीय वेद-अप्रामाण्य वादी जैन, बौद्ध आदि।

न्याय वैशेषिक ईश्वरवादी हैं और वे वेद को ईश्वर कर्तृक मानते हैं। इसलिए उनकी दृष्टिमें प्रामाण्य और अप्रामाण्य: परतः ही होता है[१]। मीमांसक ईश्वरवादी नहीं। उनकी मान्यता है कि जिस कारण—सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसके अतिरिक्त कारणों को उसे प्रामाण्य की उत्पत्ति में आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिए वे प्रामाण्य को स्वतः मानते हैं और कहते हैं कि शब्द वक्ता के अधीन होते हैं और यदि वक्ता ही न रहे तो शब्द दोष कहाँ रहेंगे? इसलिए उनकी दृष्टि में वेद अपौरुषेय हो गया और उसे वे स्वतः प्रमाण मानने लगे।[२] परन्तु अप्रामाण्य को उन्होंने परतः ही माना।[३]

सांख्यदर्शन का इस विषय में क्या मन्तव्य है, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। फिरभी अन्यत्र उपलब्ध उल्लेखों से उसे स्वतः प्रमाणवादी कहा जाता है[४]।

बौद्ध इस विषय में कोई निश्चित दृष्टिकोण व्यक्त नहीं कर सके। इसलिए उन्होंने प्रामाण्य अनियमवाद के रूप में प्रस्तुत किया है। वे अभ्यास दशा में स्वतः प्रमाण मानते हैं और अनभ्यास दशा में परतः प्रमाण स्वीकार करते हैं[५]।

जैनदर्शन भी बौद्ध दर्शन के पीछे चलता दिखाई देता है। वह न तो पौद्गलिक शब्द को नित्य मानता है और न वेद को अपौरुषेय। उसकी दृष्टि में प्रामाण्य-अप्रामाण्य का निर्णय (ज्ञप्ति) अभ्यासदशा में स्वतः होता है और अनभ्यास दशा में परतः होता है। अर्थात् अभ्यासदशा (परिचित स्थान) में ग्राम, नगर, जलाशय, आदि का ज्ञान तत्काल स्वतः हो जाता है पर अनभ्यास दशा (अपरिचित स्थान) में मेंढकों की आवाज, शीतल हवा आदि कारणों से ही जलाशय का ज्ञान हो पायेगा। जहाँ तक प्रामाण्य-अप्रामाण्य की उत्पत्ति का प्रश्न है, वह परतः होती है क्योंकि वस्तु का गुण अथवा दोष अन्य कारणों से ही निश्चित किया जाता है[६]।

---

१. तात्पर्यवृत्ति, १.१.१.; न्यायकुमुदचन्द्र, २.१.
२. श्लोकवार्तिक, २.४७
३. वही, २.८५
४. वही, २.१४३; दर्शन और चिन्तन, पृ. १२३
५. तत्त्वसंग्रह पञ्जिका, कारिका, ३१२३.
६. तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति—प्रमाणनय-तत्त्वालोक, १.२१.

प्रमाणसंप्लव :

प्रमाण-संप्लव का तात्पर्य है एक ही प्रमेय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति। बौद्धों की दृष्टि में चूंकि पदार्थ क्षणिक होता है इसलिए वे प्रमाण-संप्लव स्वीकार नहीं कर पाते। परन्तु जैन दार्शनिक अनेकान्तवादी हैं अतः वे प्रमाण संप्लव को स्वीकार करते हैं। उनके सिद्धान्त में अमुक ज्ञान के द्वारा पदार्थ के अमुक अंश का निश्चय होने पर भी अगृहीत अंशों के ज्ञान-ग्रहण की दृष्टि से प्रमाणान्तर के लिए क्षेत्र रहता है। नैयायिक तो प्रत्येक अवस्था में प्रमाण-संप्लव मानते हैं।

धारावाहिक ज्ञान :

एक ही घट में घट विषयक अज्ञान के निराकरण करने के लिए प्रवृत्त हुए पहले घटज्ञान से घट की प्रमिति हो जाने पर 'यह घट है' 'यह घट है' इस प्रकार उत्पन्न हुए ज्ञान को धारावाहिक ज्ञान कहते हैं[1]। यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं, इस विषय पर बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति के बाद विवाद प्रारम्भ हुआ।

न्याय-वैशेषिक परम्परा में धारावाहिक ज्ञान को 'अधिगतार्थक' मानकर भी प्रमाण कोटि में संमिलित कर लिया गया[2]। मीमांसक-परंपरा भी उसे स्वीकार करती है[3]। बौद्ध परम्परा ने साधारणतः उसे प्रमाण की सीमा से बाहर रखा[4]।

जैन परम्परा में इस सन्दर्भ में दो विचारधारायें मिलती हैं। प्रथम विचारधारा धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं मानती क्योंकि उसकी दृष्टि में अनधिगत अथवा अपूर्व अर्थ का ग्राही ज्ञान ही प्रमाण है। दूसरी विचारधारा के अनुसार धारावाहिक ज्ञान ग्रहीतग्राही हो या अग्रहीतग्राही, पर यदि वह स्वार्थ का निश्चय करता है तो वह प्रमाण है। प्रथम मत के पोषक आचार्य अकलंक[5] हैं और द्वितीय विचारधारा को व्यक्त करने वाले आचार्य विद्यानन्द, हेमचन्द्र आदि हैं।

ज्ञान के भेद:

जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, जैनदर्शन में ज्ञान को आत्मा का गुण माना

---

१. न्यायदीपिका. १. १५, पृ. १३
2. न्यायमंजरी. पृ. २२
३. शास्त्रदीपिका पृ. १२४–१२६
४. हेतुबिन्दुटीका पृ. ३७
५. प्रमाणपरीक्षा, पृ. ४

गया है और उसे स्व-पर-प्रकाशक बताया गया है। रागद्वेषादिक परिणामों के कारण यह ज्ञान गुण प्रच्छन्न हो जाता है। कर्मोंके आवरण जैसे-जैसे दूर होते चले जाते हैं आत्मा के स्वरूप की परतें वैसे-वैसे उद्घाटित होती जाती हैं। इसे हम 'ज्ञान' कह सकते हैं।

जैनदर्शन में ज्ञान के पांच भेद माने गये हैं– मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान[1]। 'मति-ज्ञान' इन्द्रिय और मनकी सहायता से उत्पन्न होता है। 'श्रुतज्ञान' श्रुत (शास्त्रों अथवा श्रवण) से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान 'अवधिज्ञान' है। दूसरे के मनोगत अर्थ को जानने वाला ज्ञान 'मनःपर्ययज्ञान' ज्ञान है। और समस्त द्रव्यों, पर्यायों और गुणोंको स्वतः जाननेवाला ज्ञान 'केवल ज्ञान' है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान :

जैनदर्शन के अनुसार ये दोनों ज्ञान प्रत्येक जीव में होते हैं। श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। मति और श्रुत, दोनों नारद-पर्वत की तरह एकसाथ रहने वाले हैं। दोनों के विषय समान होते हुए भी उनमें अन्तर दृष्टव्य है। मति ज्ञान " यह गो शब्द है " ऐसा सुनकर ही निश्चय करता है किन्तु श्रुतज्ञान मन और इन्द्रिय के द्वारा गृहीत या अगृहीत पर्यायवाले शब्द या उसके वाच्यार्थ को श्रोत्रेन्द्रिय के व्यापार के बिना ही नयादि योजना द्वारा विभिन्न विशेषों के साथ जानता है[2]। श्रुतज्ञान के बीस प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है[3]। श्रुत-ज्ञान दो प्रकार का होता है—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य।

मतिज्ञान की उत्पत्ति में क्रमशः अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा कारण होते हैं। व्यक्ति जब वस्तु विशेष को जानने के लिए तैयार होगा तो उसे उसकी सत्ता का आभास होगा। मतिज्ञान का प्रारम्भ यहीं से होता है। सत्ता का प्रतिभास होने के बाद अथवा विषय और विषयी का सन्निपात होने पर मनुष्यत्व आदि रूप अर्थग्रहण 'अवग्रह' है। "यह मनुष्य है" ऐसा जानने के बाद उसकी भाषा आदि विशेषताओं के कारण यह संदेह होता है कि "यह पुरुष दक्षिणी है या पश्चिमी" इस प्रकार के संशय को दूर करते हुए 'ईहा' ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसमें निर्णय की ओर झुकाव होता है। यह ज्ञान जितने

---

१. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्—तत्त्वार्थसूत्र, १.९

२. तत्त्वार्थवार्तिक, १. ९. २६–२९.

३. षट्खण्डागम, पुस्तक ६, पृ. २१.

विशेष को जानता है, यह निश्चयात्मक है। अतः इसे संशयात्मक नहीं कह सकते। "यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिए" इस प्रकार सद्‌भूत पदार्थ की ओर झुकता हुआ ज्ञान 'ईहा' है। ईहाज्ञान के बाद आत्मा में ग्रहण शक्ति का इतना अधिक विकास हो जाता है कि वह भाषा आदि विशेषताओंके द्वारा यह यथार्थ ज्ञान कर लेता है कि यह मनुष्य दक्षिणी ही है। इसी ज्ञान को 'अवाय' कहा जाता है। इसके बाद अवाय द्वारा गृहीत पदार्थ को संस्कार के रूप में धारण कर लेना ताकि कालान्तर में उसकी स्मृति हो सके, धारणा है। पदार्थज्ञान का यही क्रम है। ज्ञात वस्तु के ज्ञान में यह क्रम बड़ी द्रुतगति से चलता है।

पूर्वोक्त अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का होता है व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह। व्यञ्जन अर्थात् अव्यक्त अथवा अस्पष्ट शब्दादि पदार्थों का ज्ञान 'व्यञ्जनावग्रह' कहलाता है। इसमें चक्षु और मनको छोड़कर शेष चार इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञान होता है। व्यक्त अथवा स्पष्ट शब्दादि विषयको ग्रहण करने वाला ज्ञान 'अर्थावग्रह' कहलाता है। यह पाँचों इन्द्रियों और मन से उत्पन्न होता है। जैसे नयी मिट्टी का सकोरा पानी की दो-तीन बिन्दु डालने तक गीला नहीं होता पर लगातार जल बिन्दुओं के डालते रहने पर धीरे-धीरे वह गीला हो जाता है। उसी तरह व्यक्त (स्पष्ट) ग्रहण के पहले का अव्यक्त ज्ञान 'व्यञ्जनावग्रह' है और व्यक्तग्रहण 'अर्थावग्रह' है[१]। धवला आदि दिगम्बर ग्रन्थों में उनका स्वरूप कुछ भिन्न प्रकार से दिया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में भी कुछ अन्तर है। अवग्रह निर्णयात्मक है या अवाय, इस सन्दर्भ में दिगम्बर-श्वेताम्बर आचार्यों में मतभेद है। इसी प्रकार दर्शन और अवग्रह भी विवाद-ग्रस्त विषय हैं[२]।

बहु, बहुविध आदि के प्रकार से मतिज्ञान के बारह भेद होते हैं और विस्तार से इन्हीं भेदों की संख्या ३३६ हो जाती है। श्रुतज्ञान के अनन्त भेद होते हैं। पर संक्षेप में उसके दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट औरअंगबाह्य। उनका वर्णन हम साहित्य के प्रसंग में कर चुके हैं[३]।

अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान :

अवधिज्ञान निमित्त के भेद से दो प्रकार का है— भवप्रत्यय और गुण-प्रत्यय। जो क्षयोपशम भवके निमित्त से होता है उससे होने वाले अवधिज्ञान को

---

१. सर्वार्थसिद्धि, ११८ की व्याख्या

२. देखिये—जैनन्याय, पृ. १३३—१५२

३. नन्दिसूत्र (२६. गा. ६८) में मतिज्ञान के दो भेद किये गये हैं—श्रुतनिश्रित और अश्रुत निश्रित। अश्रुत निश्रित के चार भेद हुए—औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी।

'भवप्रत्यय' कहते हैं। जैसे पक्षीगण आकाश में उड़ते हैं। यह गुण उनमें पक्षी कुल में जन्म लेने के निमित्त से ही आया है। देव-नारकियों में जो अवधिज्ञान होता है वह इसी प्रकार का है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान की उत्पत्ति क्षयोपशम निमित्तक होती है। सम्यग्दर्शन आदि गुणों के उत्पन्न होने से यह क्षयोपशम होता है। यह अवधिज्ञान तिर्यञ्च और मनुष्यों को होता है। स्वरूप की अपेक्षा अवधिज्ञान के छः भेद होते हैं– अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित[१]। विषय की अपेक्षा उसके तीन भेद हैं– देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि है और गुणप्रत्यय तीनों प्रकार का है। अवधिज्ञानी व्यक्ति इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना रूपी पदार्थों को उनकी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक जानता है।

मनःपर्ययज्ञान दो प्रकार का– ऋजुमति और विपुलमति। 'ऋजुमति' में साधक स्पष्ट रूप से मनोगत अर्थ का विचार करता है, कथन करता है और शारीरिक क्रिया भी करता है पर वह कालान्तर में विस्मृत हो जाता है। इस ज्ञान में इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रहती है। 'विपुलमति' ऋजु के साथ ही साथ कुटिल मन, वचन, काय सम्बन्धी प्रवृत्तियों को भी जानता है। वह अपने या पर के व्यक्त मन से या अव्यक्त मन से चिन्तित, अचिन्तित या अर्धचिन्तित, सभी प्रकार से चिन्ता, जीवित, मरण, सुख, दुःख, लाभ, अलाभ आदि को जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति में ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होने वाली निर्मलता अधिक होती है और वह ज्ञान सूक्ष्म तथा अप्रतिपाती भी होता है। इस प्रकार मनःपर्यय ज्ञान दूसरे के मनोगत अर्थ को[२] अथवा मनकी पर्याय को[३] आत्मा की सहायता से प्रत्यक्ष जानता है।

अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में विशुद्धि क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा भेद होता है[४]। अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है पर मनःपर्यय ज्ञान सर्वावधि ज्ञान के अनन्तवें भाग को विषय करता है अतः अल्प विषयक है। फिर भी वह उस द्रव्यकी बहुत पर्यायों को जानता है।सूक्ष्मग्राही होकर भी उसमें विशुद्धता है। मनःपर्ययज्ञान का स्वामी संयमी मनुष्य ही होता है जबकि अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को होता है। अवधिज्ञान का विषय संपूर्ण रूपी द्रव्य है जबकि मनःपर्यय ज्ञान का विषय केवल मन है।

---

१. नन्दी सूत्र, ८

२. सर्वार्थसिद्धि १.१०

३. जयधवला, भाग १, पृ. १९

४. विशुद्धिक्षेत्र स्वामि विषयेभ्योऽवधिमनःपर्यययोः, तत्त्वार्थ सूत्र १.२५

केवलज्ञान और सर्वज्ञता :

त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और पर्यायोंको युगपत् प्रत्यक्ष जानने वाला ज्ञान 'केवलज्ञान' कहलाता है। केवलज्ञानी को ही 'सर्वज्ञ' कहा गया है। वह परनिरपेक्ष होता है अतः उसे 'अतीन्द्रियज्ञानी' भी कहा जाता है। ज्ञानावरण कर्म के समूल नष्ट हो जाने पर ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।

मीमांसक ईश्वर को नहीं मानते। वे वेद को अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण मानते हैं। अतः उनकी दृष्टि में सर्वज्ञता का कोई अस्तित्व नहीं। नैयायिक–वैशेषिक दर्शन ईश्वरवादी हैं और वे ईश्वर के ज्ञान को नित्य मानकर उसकी सर्वज्ञता की सिद्धि करते हैं। वही सर्वज्ञ-ईश्वर जगत् का सृष्टिकर्ता है।

सांख्य का ईश्वर उत्कृष्ट सत्त्वशालिता वाला है। उसमें अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व और यत्रकामावशायिता ये आठ ऐश्वर्य रहते हैं। उस ऐश्वर्यसम्पन्न ईश्वर में स्थिति, उत्पत्ति, और विनाश तीनों को उत्पन्न करनें की सामर्थ्य है। जब उद्भूतवृत्तिरज सहायक होता है तब वह उत्पत्ति करता है, जब सत्त्व सहायक होता है तो प्रलय करता है।

जैनधर्म जगतकर्ता और सर्वज्ञ के बीच कोई सम्बध नहीं जोड़ता। उसकी दृष्टि में सर्वज्ञता की प्राप्ति तभी संभव है जब समस्तकर्मों का आवरण परि-पूर्णतः दूर हो जाय।

बौद्धधर्म में बुद्ध ने स्वयं को सर्वज्ञ कहना उचित नहीं समझा पर वे अपने आपको 'त्रैविद्य' कहा करते थे। इसी का विकास उत्तरकाल में धर्मज्ञ और सर्वज्ञ की मान्यता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

उपर्युक्त पांचों ज्ञानों में से एक आत्मा में एक साथ अधिक से अधिक चार ज्ञान होते हैं। केवलज्ञान अकेला होता है। उसे अन्य ज्ञान की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। मति आदि प्रथम चार ज्ञान सहायता की अपेक्षा रखते हैं क्योंकि वे क्षयोपशमजन्य हैं।

पांचों ज्ञानों में केवल मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ही मिथ्यादृष्टियों के होते हैं। अतएव इन तीनों ज्ञानों के कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, कुअवधिज्ञान या विभंगज्ञान जैसे रूप होते हैं। मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टियों के ही होते हैं। उनके मिथ्यारूप नहीं होते।

सर्वज्ञता का इतिहास :

पालि साहित्य में निगण्ठ नातपुत्त के सर्वज्ञत्व अर्थात् केवलज्ञान की चर्चा

---

१. प्रवचनसार, ज्ञानाधिकार गाथा ४९–५१; जयधवला, प्रथम भाग, पृ. ६६;

मिलती है। शेष ज्ञानों के सम्बन्ध में वहाँ कुछ भी नहीं कहा गया। परन्तु राजप्रश्नीय सूत्र में पाँचों ज्ञानों का उल्लेख मिलता है।[1] लगता है, यह प्राचीनतम जैन परम्परा रही होगी।

उत्तरकाल में केवलज्ञान के दो भेद किये गये–भवस्थ केवलज्ञान और सिद्धकेवलज्ञान। सिद्धकेवलज्ञान के १५ भेद हैं– १. तीर्थसिद्ध, २. अतीर्थसिद्ध, ३. तीर्थंकरसिद्ध, ४. अतीर्थंकरसिद्ध, ५. स्वयंबुद्धसिद्ध, ६. प्रत्येकबुद्धसिद्ध, ७. बुद्धबोधितसिद्ध, ८. स्त्रीलिंगसिद्ध ९. पुरुषलिंगसिद्ध, १०. नपुंसकलिंगसिद्ध, ११. स्वलिंगसिद्ध, १२. अन्यलिंगसिद्ध, १३. ग्रहलिंगसिद्ध, १४. एकसिद्ध, और १५. अनेकसिद्ध। केवलज्ञान पर चार दृष्टियों से विचार किया गया है–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। संक्षेप में केवलज्ञान समस्त पदार्थों के परिणामों एवं भावों को जानने वाला है, अनन्त है, शाश्वत है, अप्रतिपाती है, और एक ही प्रकार का है।[2]

दार्शनिक युग में केवलज्ञान पर और भी प्रश्न-प्रतिप्रश्न खड़े हुए। उन सब पर जैन आचार्यों ने मन्थन किया और उनका समुचित समाधान किया। आत्मा ज्ञानस्वभावी है। कर्मों का आवरण हट जाने पर वह पदार्थों को स्वभावतः जानेगा ही। जो पदार्थ किसी ज्ञान के ज्ञेय हैं, वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं, यथा पर्वतीय अग्नि।[3] ऐसे ही तर्कों से केवलज्ञान और सर्वज्ञता की सिद्धि की गई।

सर्वज्ञ का सम्बन्ध अतीन्द्रिय पदार्थों से रहता है और उसकी सिद्धि अनुमान से होती है। अतः उसे विवाद का विषय बन जाना स्वाभाविक था। प्रारम्भ में "जो एक को जानता है वह सब को जानता है, और जो सब को जानता है वह एक को जानता है"[4] जैसे कथनों का तात्पर्य यह रहा होगा कि जो ममत्व, प्रमाद अथवा कषाय को जानता है वह उसके क्रोधादि परिणामों और उसकी सभी पर्यायों को जानता है और जो क्रोधादि परिणामों और उनकी पर्यायों को जानता है वह उन सब पर्यायों के मूल और उनमें अनुगत एक ममत्व या बन्धन को जानता है। इसका वास्तविक अर्थ आध्यात्मिक

---

१. एवं खु पएसी अम्हं समणाणं निग्गंथाणं पंचविहे नाणे पण्णत्ते–तं जहा आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे ओहिणाणे मणपज्जवण्णाणे केवलणाणे–राजप्रश्नीयसूत्र, १६५

२. अह सव्वदव्व परिणामभावविण्णत्तिकारणमणेतं।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं णाणं ॥ नन्दी, सू. २२, गा. ६६

३. ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धके ॥ अष्टसहस्री, पृ. ५० पर उद्धृत

४. आचारांग, ३.४; प्रवचनसार, प्रथम।

साधना में उपयोगी सभी तत्त्वों का ज्ञान होना चाहिए, न कि त्रैकालिक समग्र भावों का साक्षात्कार।[1]

उत्तरकाल में मोक्ष का सम्बन्ध धर्मज्ञ से हो गया और धर्मज्ञ का सम्बन्ध सर्वज्ञता से जोड़ दिया गया। चार्वाक् के लिए तो सर्वज्ञता से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। मीमांसकों ने सर्वज्ञता की अपेक्षा धर्मज्ञता पर अपना विचार केन्द्रित किया। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय है। उसे रागादि दोष युक्त पुरुष जान नहीं सकता। इसलिए वेद को पौरुषेय भी नहीं कहा जा सकता। अन्यथा उसमें प्रामाणिकता कैसे आयेगी? कोई भी व्यक्ति परिपूर्ण धर्मज्ञ अथवा सर्वज्ञ नहीं हो सकता। गृद्ध, शूकर, चींटी आदि की इन्द्रियाँ तेज हो सकती हैं फिर भी वे अपने नियत विषय को ही जान-देख सकते हैं। कोई कितना भी अभ्यास करे पर वह न अपने कंधे पर बैठ सकता है और न एक योजन ऊपर कूद सकता है। और फिर वेद अनादि है और सर्वज्ञ सादि है। अनादि वेद में सादि सर्वज्ञ का कथन कैसे हो सकता है? वेदज्ञ हुए बिना न कोई धर्मज्ञ हो सकता है और न कोई सर्वज्ञ। इस प्रकार मीमांसकों ने धर्मज्ञ के साथ-साथ सर्वज्ञ का भी निषेध किया।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में सृष्टिकर्तृत्व के साथ सर्वज्ञता को सम्बद्ध कर दिया गया। बौद्धधर्म में प्रारम्भ में तो बुद्ध ने अपने में सर्वज्ञता का निषेध किया पर बाद में उनमें उनके अनुयायियों ने सर्वज्ञता की स्थापना और धर्मज्ञ के साथ सर्वज्ञता की प्रस्थापना की।

जैनदर्शन ने लगभग प्रारम्भ से ही सर्वज्ञता की कल्पना की है और धर्मज्ञता को सर्वज्ञता के अन्तर्गत माना है। उसके सभी तीर्थंकर सर्वज्ञ कहे गये हैं। जैसा हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं निगण्ठ नातपुत्त को पालि साहित्य में भी सर्वज्ञ कहा गया है। अतः सर्वज्ञता एक तथ्य है जिसे सभी जैनाचार्यों ने स्वीकार किया है।

सर्वज्ञता की सिद्धि :

सर्वज्ञता की सिद्धि में आत्मज्ञ होना अपेक्षित माना गया है। आत्मा में अनन्त द्रव्यों को जानने की शक्ति है। अतः जो आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है उसे सर्वज्ञता स्वतः आ जाती है। इसलिए प्राचीनतम आचारादि आगमों में तथा कुन्दकुन्द जैसे अध्यात्मनिष्ठ आचार्यों ने 'एग' रूप आत्मा को जाननेवाले में सर्वज्ञता की स्थापना कर दी।

---

१. दर्शन और चिन्तन, पृ. ५५६

उत्तरकालीन साहित्य में सर्वज्ञता की सिद्धि को दर्शन और तर्क के माध्यम से परिवेष्ठित किया गया। आचार्य समन्तभद्र ने इस तर्क परम्परा को प्रारम्भ किया और बाद में उनके तर्कों में और भी तर्क जुड़ते गये। समासतः सर्वज्ञ-सिद्धि में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये गये–

i) जो आप्त होगा वही सर्वज्ञ हो सकता है। आप्त वही हो सकता है जो निर्दोष हो और जिसके वचन युक्ति और आगम से विरुद्ध नहीं हों। ज्ञानावरणादि कर्मों के नष्ट होने पर अज्ञान के व्यामोह से आत्मा विमुक्त हो जाता है और अतीत, अनागत और वर्तमान पदार्थों को जानने-देखने लगता है।[1]

ii) सूक्ष्म (परमाणु आदि), अन्तरित (राम, रावण आदि), और दूरवर्ती (सुमेरु आदि) पदार्थ किसी न किसी पुरुष के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे हमारे अनुमेय हैं। जो पदार्थ अनुमेय होते हैं वे किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं। जैसे पर्वतवर्ती अग्नि के अस्तित्व को हम अनुमान से जानते हैं और पर्वतस्थ व्यक्ति उसे प्रत्यक्ष रूप से जानता है। इसी प्रकार सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ भी किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं। यह प्रत्यक्ष दृष्टा कर्म विमुक्त अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ ही हो सकता है।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथा।
अनुमेयत्व तो ऽन्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥[2]

iii) सर्वज्ञ की सिद्धि में कोई बाधक प्रमाण नहीं बल्कि प्रमाणाभास है। सर्वज्ञ-निषेध के सन्दर्भ में प्रस्तुत किये गये प्रमाणों का यहाँ खण्डन किया गया है।[3]

प्रमाण के भेद :

जैसा हम उपर कह चुके हैं, जैनधर्म में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण माना गया है। दार्शनिक क्षेत्र में प्रमाण के अनेक प्रकार से भेद किये जाते हैं। चार्वाक् मात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है। वैशेषिक और बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान को स्वीकार करते हैं। सांख्य प्रमाण के तीन भेद मानते हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम)। नैयायिक इनकी संख्या चार कर देते हैं–प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान।और मीमांसकों ने इन्हीं में अर्थापत्ति और अभाव जोड़कर प्रमाण संख्या छह तक पहुँचा दी है।

---

१. आप्तमीमांसा, ४

२. वही, ५

३. अष्टसहस्री, पृ. ४९–५०; सिद्धिविनिश्चयटीका, पृ. ४२१

१. प्रत्यक्ष प्रमाण

जैनदर्शन में बौद्धों के समान प्रमाण-संख्या दो स्वीकार की गई है, परन्तु वहाँ प्रमाण के नामों में अन्तर है। वे हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। आगमों में प्रमाणों की संख्या कुछ और अधिक है पर वे वस्तुतः इन दोनों के भेद-प्रभेद ही हैं। ठाणांगसूत्र में प्रमाण को 'हेतु' (हेऊ) शब्द में व्यवहृतकर[1] उसके चार भेद बताये गये हैं—प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और आगम। वहीं निक्षेप पद्धति से भी उसके चार भेद किये गये हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और जीव[2]। अनुयोग द्वार में ज्ञान और प्रमाण को समन्वित करने का प्रयत्न किया गया पर वह स्पष्ट नहीं हो पाया। समूचे आगमों के अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आगमकाल में स्वतन्त्र जैन दृष्टि से प्रमाण की चर्चा नहीं हुई। अनुयोग द्वार में ज्ञान कोप्रमाण कहकर भी स्पष्ट रूप से जैनागम में प्रसिद्ध पाँच ज्ञानों को प्रमाण नहीं कहा गया है। इतना ही नहीं, बल्कि जैन दृष्टि से ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रकार होने पर भी उनका वर्णन न करके दर्शनान्तर के अनुसार प्रमाण के तीन या चार प्रकार बताये गये हैं। अतएव स्वतन्त्र जैन दृष्टि से प्रमाण चर्चा की आवश्यकता बनी ही रही।[3]

स्वरूप और भेद का इतिहास :

आगमकाल में 'ज्ञान' को भी प्रमाण माना जाता था और इसलिए वहाँ ज्ञान के ही भेद-प्रभेद किये गये। धवला में[4] 'प्रमाण' शब्द तो आया है पर वहाँ निक्षेप रूप से उसके पाँच भेद किये गये— द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नय। भाव के पुनः पाँच भेद हुए— मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान। आचार्य कुन्दकुन्द ने ज्ञान के ही दो भेद माने हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। आत्मसापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष है और इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान परोक्ष है। इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं और वे आत्मा से भिन्न हैं। उनको आत्मा से भिन्न मानना ही प्रत्यक्ष की साधना है[5]। इन्द्रियों को आत्मा से भिन्न मानने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है, कि जैनधर्म के अनुसार आत्मा का प्रदेश ज्ञान गुण से आप्लावित है। आत्मा को छोड़कर ज्ञान अन्यत्र कहीं रह नहीं सकता। इसलिए आत्मा प्रत्येक पदार्थ को जानने की शक्ति रखता है। अन्य पदार्थों को जानते समय आत्मा या ज्ञान अन्य पदार्थों में प्रविष्ट नहीं होता। आत्मा अपने प्रदेशों में स्थित रहता है

---

१. ठाणांगसूत्र, ३३८
२. वही, सूत्र २५८
३. आगम युग का जैनदर्शन, पृ. २१७–८.
४. धवला—१.१,१.८०.२
५. प्रवचनसार १.५७–५८; विशदः प्रत्यक्षम्, प्रमाणमीमांसा, १.१.१३

और पदार्थ अपने प्रदेशों में। यह उसी प्रकार से होता है। जैसे नेत्र अपने स्थान पर स्थित रहता हुआ ही अन्य पदार्थों में पाये जाने वाले रूप का दर्शन कर लेता हैं। जैसे दर्पण अपने में प्रतिबिम्बित पदार्थ के आकार रूप नहीं बदलता वैसे ही ज्ञान पदार्थों को जानता हुआ भी तदाकार नहीं होता[1]।

जयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में कुन्दकुन्दाचार्य की छः गाथाओंका उल्लेख किया है जिनमें ज्ञान के प्रकारोंका विवेचन किया गया है। उनमें उन्होंने मतिज्ञान के तीन भेद किये हैं– उपलब्धि, भावना और उपयोग। उमास्वामी ने इन्हीं को संक्षेप में लब्धि और उपयोग कहा है। साथ ही मति-ज्ञानादि को प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों में विभाजित कर दिया[2]।

उमास्वामी के बाद दार्शनिक चिन्तन द्रुतगति से बढ़ने लगा। समन्तभद्र सिद्धसेन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, कुमारिल, वात्सायन आदि जैसे धुरन्धर चिन्तकों ने उसके विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। प्रमाण का क्षेत्र भी उससे अछूता नहीं रहा। अभी तक इन्द्रियजन्य ज्ञान मतिज्ञान को परोक्ष और अती-न्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना जाता था। यह मान्यता व्यवहारतः बड़ी अट-पटी–सी लगती थी। इसलिए जब उसकी आलोचना अधिक होने लगी तो जैन दार्शनिकों ने प्रस्तुत विषय पर और भी गंभीरता पूर्वक सोचा और समाधान प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम अकलंक ने प्रमाण के भेद तो वही माने पर प्रत्यक्ष को दो अंगों में विभक्त कर दिया। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पार-मार्थिक प्रत्यक्ष अथवा मुख्य प्रत्यक्ष। मतिज्ञान को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहकर उन्होंने जैनदर्शन को लोकव्यावहारिक दोष से भी बचा लिया और परम्परा का भी संरक्षण कर लिया।

अब प्रश्न था स्मृति आदि प्रमाणों का। अकलंक ने इस प्रश्न के समाधान के लिए सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद माने-इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखा और स्मृति आदि को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के। पर उन्होंने उसमें एक शर्त लगा दी। यदि इन स्मृति आदि ज्ञानों का शब्द के साथ संसर्ग हुआ तो उनका अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण में होगा[3]।

अंकलक के उत्तरकालीन आचार्य अनन्तवीर्य, विद्यानन्द आदि टीकाकारों ने

१. वही, १२७–३२

२. आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्, तत्वार्थसूत्र, १–११–१२

३. ज्ञानमाद्यं मितः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधनम्
प्राङ्‌नाम योजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ लघीयस्त्रय, १० ॥

उनके प्रमाण भेद की बात तो मानी पर स्मृति-ज्ञानों के साथ लगी शर्त को] स्वीकार नहीं किया। उनके स्थान पर उन्होंने कहा कि अवग्रह से धारणा पर्यन्त ज्ञान वस्तु के एकदेश को स्पष्ट करते हैं अतः उन्हें इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष माना जाना चाहिए तथा स्मृति आदि ज्ञानों को सीधे शब्दों में परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत रखा जाना चाहिए।

इस प्रकार जैन दर्शन में प्रमाण के दो भेद व्यवस्थित हुए—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के भी दो भेद हुए—सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष। सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष में मतिज्ञान और उसके भेद—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तथा मुख्य अथवा परमार्थिक प्रत्यक्ष में अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान रखे गये। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम को परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार किया गया। यहाँ जिसे सांख्य–योग, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध आदि दर्शन अलौकिक अथवा योगिप्रत्यक्ष कहते हैं उसे ही जैनदर्शन ने मुख्य अथवा पारमार्थिक अथवा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है और जिसे वहाँ लौकिक प्रत्यक्ष कहा गया है उसे यहाँ सांव्यावहारिक अथवा इन्द्रिय प्रत्यक्ष माना है।

प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण स्पष्ट किये जाने पर यह भी प्रश्न उठा कि अलौकिक अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक है अथवा सविकल्पक। बौद्ध और शांकर वेदान्त ने निर्विकल्पक को ही अलौकिक प्रत्यक्ष स्वीकार किया पर अन्य दर्शन निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों के संमिलित रूप को स्वीकार करते हैं। जैन दर्शन का अवधिदर्शन और केवलदर्शन अलौकिक निर्विकल्पक है तथा अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान सविकल्पक है।

बौद्धदर्शन में "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" (कल्पना से रहित निर्भ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष है) के रूप में प्रत्यक्ष का लक्षण किया है। 'कल्पना' का तात्पर्य है शब्द विशिष्ट प्रतीति। प्रत्यक्ष का विषय-क्षेत्र स्वलक्षण है जो क्षणिक है और परमार्थतः शब्दशून्य है। शब्द के साथ अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं। पदार्थ का दर्शन होने पर ही वह विलीन हो जाता है और हम उसे किसी नाम से अभिहित करने लगते हैं। अतः पदार्थ क्षणिक होने पर उसका ज्ञान निर्विकल्पक ही होगा, सविकल्पक नहीं। सविकल्पक प्रत्यक्ष में आयी विशदता और अर्थनियतता निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होने के बाद आती है। निर्विकल्पक की ही विशदता सविकल्पक में प्रतिबिम्बित होने लगती है। अतः निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानना चाहिए, सविकल्पक को नहीं।

ज्ञान—प्रमाण
प्रत्यक्ष
परोक्ष
सांव्यावहारिक (इन्द्रिय)
मुख्य (नो इन्द्रिय प्रत्यक्ष)
स्मृति
प्रत्यभिज्ञान
तर्क
अनुमान
आगम
मतिज्ञान (आभिनिबोधिक)
श्रुतज्ञान
अवधिज्ञान
मन:पर्ययज्ञान
केवलज्ञान
श्रुतनि:श्रित
अश्रुतनि:श्रित
भवप्रत्यय
गुणप्रत्यय
ऋजुमति
विपुलमति
अवग्रह
ईहा
अवाय
धारणा
अंगप्रविष्ट (१२)
अंगबाह्य (१४)
व्यञ्जनावग्रह
अर्थावग्रह
औत्पत्तिकी
वैनयिकी
कर्मजा
पारिणामिकी

जैनदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानता उसकी दृष्टि में निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। निर्विकल्पक ज्ञान निराकार होने से लोकव्यवहार चलाने में असमर्थ होता है और उससे पदार्थ का निश्चय भी नहीं हो सकता। जो स्वयं अनिश्चयात्मक है वह निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न कैसे कर सकता है? विकल्प में एक निश्चिति और विशदता रहती है। अकलंकदेव के प्रत्यक्ष-लक्षण में 'साकार' और 'अञ्जसा' पद यही द्योतित करते हैं।

२. परोक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं होती। अतः वह विशद माना जाता है।[1] परन्तु परोक्ष प्रमाण विशद नहीं होता। वह आत्मेतर साधनों पर अवलम्बित रहता है। परोक्ष के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

१. स्मृति प्रमाण :

पूर्व ज्ञात वस्तु विशेष का स्मरण आना स्मृति ज्ञान है।[2] जैसे—'यह वही पुस्तक है जिसे हमने कल देखी थी'। इस ज्ञान में 'पूर्वज्ञात' रूप में 'तत्' शब्द अवश्य आता है। समूचा व्यवहार, इतिहास और संस्कृति स्मृति प्रमाण पर आधारित है।

चार्वाक्, बौद्ध और वैदिक परम्परा में स्मृति को प्रमाण नहीं माना गया। इसका मूलकारण कहीं उसका ग्रहीत—ग्राहित्व है, कहीं वेद का अपौरुषेयत्व और कहीं अर्थ से अनुत्पन्नत्व। स्मृति का सम्बन्ध अतीत ज्ञान से है जो नष्ट हो चुका। जो वस्तु नष्ट हो चुकी हो वह ज्ञान की उत्पत्ति में कारण कैसे हो सकती है?

परन्तु जैनदर्शन इन तर्कों को स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में स्मृति प्रमाण है और वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न है। प्रत्यक्षादि ज्ञान में चक्षु आदि मूल कारण होते हैं जबकि स्मृति में पूर्व ज्ञान की प्रबल वासना (संस्कार) काम करती है। ग्रहीत वस्तु को ग्रहण करने के कारण यदि स्मृति को प्रमाण नहीं माना जाता तो प्रत्यक्षादि प्रमाण भी अस्वीकार्य हो जायेंगे क्योंकि वे भी ग्रहीतग्राही होते हैं। पर यह संभव नहीं। प्रमाण में जबतक 'अविसंवादिता' रहती है तबतक उसे हम प्रमाणकोटि से बाहर नहीं कर सकते।

---

१. अविशदः प्रत्यक्षम्—प्रमाणमीमांसा १.२.१.

२. प्रमाणनयतत्त्वालोक, ३.२; प्रमेयरत्नमाला, ३.३.

यदि स्मृति को प्रमाण नहीं माना जाता तो समस्त व्यवहार और अनुमान प्रमाण, जो स्मृति पर ही विशेषतः अवलम्बित हैं, निराधार हो जायेंगे अतः स्मृति को प्रमाणकोटि से बाहर नहीं किया जा सकता ।

२. प्रत्यभिज्ञान :

प्रत्यक्षतः किसी वस्तु को देखकर उसी के विषय में अतीत का स्मरण आ जाना कि 'यह वही है', प्रत्यभिज्ञान कहलाता है । उसके अनेक प्रकार होते हैं । जैसे–एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी, आपेक्षिक आदि । उदाहरणतः गौ के समान यह गवय है, गाय से भैंस विलक्षण दिखती है । आदि प्रकार के ज्ञान स्मृति ज्ञान पर अवलम्बित होते हैं ।[1] अतः उन्हें हम अप्रमाण नहीं कह सकते ।

प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलनात्मक रूप है । क्षणिकवादी बौद्ध इसीलिए उसे प्रमाण नहीं मानते ।[2] वे उसके प्रत्यक्ष और स्मृति को स्वतन्त्र ज्ञान स्वीकार करते हैं । उनका कहना है कि यह प्रमाण धारावाही ज्ञान की तरह ग्रहीतग्राही है । परन्तु यह मन्तव्य सही नहीं । वस्तुतः अनुमान प्रमाण सादृश्य प्रत्यभिज्ञान पर अवलम्बित है । एकत्व प्रत्यभिज्ञान भी ऐसा ही है । चित्रज्ञान में जिस प्रकार नील-पीतादि अनेक रूपों की प्रतीति होती है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान में भी प्रत्यक्ष और स्मृति प्रमाणों का अस्तित्व निर्विरोध बना रहता है । दर्शन और स्मरण के होने पर ही प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

मीमांसक और नैयायिक प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भूत करते हैं और पृथक् रूप से उपमान प्रमाण की सृष्टि करते हैं ।[3] परन्तु प्रत्यभिज्ञान, जो प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलित रूप है, को प्रत्यक्ष में कैसे गर्भित किया जा सकता है ? उनका उपमान प्रमाण अवश्य सादृश्य प्रत्यभिज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है ।

वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान को इन्द्रियजन्य न मानकर संकलनात्मक मानना चाहिये । वह अबाधित, अविसंवादी और समारोप का विच्छेदक है । अतएव प्रमाण है ।

३. तर्क प्रमाण :

तर्क का सम्बन्ध दार्शनिक क्षेत्र में व्याप्ति से रहा है और व्याप्ति के ज्ञान

---

१. दर्शन स्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेदं, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि–परीक्षामुख, ३ ५.

२. न्यायमञ्जरी, पृ. ४४९

३. श्लोकवार्तिक, ४.२१२-२१४; न्यायसूत्र, १.१.६.

को ही 'तर्क' कहा गया है। 'व्याप्ति' का तात्पर्य है—साध्य और साधन का अविनाभाव सम्बन्ध। और 'अविनाभाव' सम्बन्ध का तात्पर्य है—साध्य के होने पर ही साधन का होना और साध्य के न होने पर साधन का नहीं होना। सिद्ध किया जाने वाला पदार्थ 'साध्य' कहलाता है और जिसके द्वारा सिद्ध किया जाता है उसे 'साधन' कहा जाता है। अग्नि और धूम का सम्बन्ध देखा जाने पर यह निश्चय हो जाता है कि जहाँ अग्नि होगी वहाँ धूम होगा। यहाँ अग्नि 'साध्य' है और धूम साधन है। और इन दोनों का सम्बन्ध 'अविनाभाव' है। इसी अविनाभाव सम्बन्ध का निश्चय करना तर्क है।[1]

बौद्ध, मीमांसक और नैयायिक तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते। मीमांसक तर्क के स्थान पर 'ऊह' का प्रयोग करते हैं और उसे प्रमाण का सहायक मानते हैं। नैयायिक भी उसे उपयोगी और प्रमाणों का अनुग्राहक मानते हैं।[2] उन्होंने तर्क को षोड़श पदार्थों में सम्मिलित कर दिया है। बौद्धों के अनुसार चूंकि तर्क प्रत्यक्ष के पीछे चलने वाला है अतः वह विकल्प मात्र है। उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता।[3] परन्तु जैन दार्शनिक इन तर्कों को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि अनुमान की आधारशिला रूप व्याप्तिज्ञान को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? साध्य और साधन की व्याप्ति को किसी भी प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता। व्याप्तिज्ञान हुए बिना अनुमान प्रमाण हो नहीं सकता। अतः तर्क को पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। वह भी अविसंवादी है।

४. अनुमान प्रमाण :

चार्वाक् को छोड़कर शेष सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। जैनों ने उसे स्वतन्त्र प्रमाण मानकर भी परोक्ष की सीमा में रखा है। इसका इतिहास वैदिक परम्परा से प्रारम्भ होता है। जैन और बौद्ध परम्पराओं ने वहीं से उसे ग्रहण किया है। साधारणतः व्याप्तिज्ञान को 'अनुमान' कहा गया है।

प्रत्यक्ष के बिना अनुमान हो नहीं सकता। न्यायसूत्र में 'तत्पूर्वकम्' (१.१.५) सूत्र द्वारा इसी को स्पष्ट किया गया है। वैशेषिक और मीमांसक परम्पराओं में अनुमान के दो भेद मिलते हैं—प्रत्यक्षतो दृष्ट सम्बन्ध और सामान्यतो दृष्ट

---

१. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानसमूहः —प्रमाणमीमांसा, १.२.५.

२. न्यायभाष्य, १.१.९.

३. प्रमाणवार्तिक, मनोरथ पूरणी, पृ. ८.

सम्बन्ध। पर न्याय और सांख्य परम्परायें अनुमान के तीन भेद मानती हैं–पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट।

बौद्ध परम्परा प्रारम्भ में तो वैदिक परम्परा का अनुकरण करती हुई दिखाई देती है पर बाद में दिङ्नाग ने उसका खण्डनकर अपनी मान्यता प्रस्थापित की जिसे उत्तरकालीन बौद्धाचार्यों ने स्वीकार किया।

जैन परम्परा ने प्रारम्भ में तो नैयायिकों के अनुसार अनुमान के तीन भेद किये[1] पर बाद में बौद्ध परम्परा से प्रभावित होकर सिद्धसेन[2] और अकलंक[3] ने उनका खण्डन किया और अपने अनुसार अनुमान के लक्षण, भेद आदि की व्यवस्था की। उत्तरवर्ती जैनाचार्यों ने उसे और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। उनमें आचार्य हेमचन्द्र ने एक नये चिन्तन का सूत्रपात किया। अनुमान के लक्षण में तो उन्होंने सिद्धसेन आदि का अनुकरण किया पर उसके भेदों के सन्दर्भ में अनुयोगद्वार का साथ दिया। साथ ही वैदिक परम्परा के त्रिविध अनुमान की खण्डन परम्परा को भी छोड़ दिया। आगम परम्परा और तार्किक परम्परा के बीच जो असंगति दिखाई देने लगी थी–उसका परिहार हेमचन्द्र ने किया। उपाध्याय यशोविजय ने भी हेमचन्द्र का अनुकरण किया।[4]

जैनाचार्यों ने अनुमान का लक्षण इस प्रकार स्थापित किया–

साधन (लिंग) से साध्य (लिंगी) का ज्ञान होना अनुमान है[5]। जैसे–धूम से अग्नि का ज्ञान होना। यहाँ अग्नि की स्थिति में धूम का अविनाभाव सम्बन्ध है। इसमें प्रत्यक्ष ज्ञान होने के बाद सादृश्य प्रत्यभिज्ञान होता है और फिर साध्य का अनुमान होता है। साध्य के साथ साधन की अविनाभाव स्थिति को ही अकलंक ने 'अन्यथानुपपत्ति' कहा है।[6] साधन के लिए 'हेतु' शब्द का भी प्रयोग होता है।

हेतु के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों के बीच मतैक्य नहीं। नैयायिक हेतु को पञ्चरूप मानते हैं–पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित-

---

१. तिविहे पण्णत्ते तं जहा–पुव्ववं, सेसवं, दिट्ठसाहम्मवं–अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वार.

२. साध्याविनाभूतो लिङ्गात्साध्यविनिश्चायकं स्मृतम्। अनुमानम्–न्यायावतार, ५.

३. न्यायविनिश्चय, २.१७१-१७२.

४. दर्शन और चिन्तन, पृ. १७८-९.

५. साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् परीक्षामुख, ३.१४.

६. अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमभ्यते–प्रमाणपरीक्षा, पृ. ७२

विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व।[१] बौद्ध पञ्चरूपों में से अबाधितविषयत्व को पक्ष में अन्तर्भूतकर और असत्प्रतिपक्षत्व को अनावश्यक बताकर मात्र 'त्रिरूप' मानते हैं। नैयायिक भी हेतु के तीन रूप मानते हैं पर उनके नाम भिन्न हैं—अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी।

जैन दार्शनिक मात्र 'अन्यथानुपपत्ति' को ही हेतुरूप मानते हैं। साध्य के अभाव में हेतु का न पाया जाना ही 'अन्यथानुपपत्ति' है। यह विपक्षव्यावृत्तिक है। उसके होने पर पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्व की भी आवश्यकता नहीं। अकलंक ने स्पष्ट लिखा है[२]—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?

'हेतु' के प्रकार भी विवाद के विषय हैं। न्याय-वैशेषिक हेतु के पाँच प्रकार मानते हैं—कारण, कार्य, संयोगी, समवायी और विरोधी। इन पाँच हेतुओं को ही अनुमान का अंग माना गया है। सांख्य हेतुओं के सात भेद बताते हैं—मात्रा, मात्रिक, कार्यविरोधी, सहचरी, स्वस्वामी और वध्यघातसंयोगी। बौद्ध हेतु के दो ही भेद मानते हैं—कार्य हेतु और स्वभावहेतु। जैन दर्शन भी हेतु के सामान्यतः दो रूप ही मानता है पर उसके नाम पृथक् हैं—उपलब्धिरूप और अनुपलब्धिरूप। इन दोनों में प्रत्येक के छह-छह भेद हैं—कार्य, कारण, व्याप्य, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर। इनमें अविनाभाव रूप हेतु ही प्रमुख है जो उक्त दोनों हेतु रूपों में विद्यमान है। अतः जैनदर्शन ने 'अविनाभाव' रूप हेतु ही स्वीकार किया है।

अनुमान के भेद :

अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ। परोपदेश के बिना निश्चित अथवा अविनाभावी साधनों के द्वारा होने वाला साध्य का ज्ञान 'स्वार्थानुमान' है[३] और परोपदेश से साधनों द्वारा होने वाला साध्य ज्ञान 'परार्थानुमान' है।[४] स्वार्थानुमान में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर अवलम्बित नहीं रहता। उसके अविनाभावी साधनों में कुछ सहभावी होते हैं और कुछ क्रमभावी। रूप और रस जैसे साधन सहभावी होते हैं जिनमें एक को देखकर दूसरे का अनुमान हो जाता है। कृत्तिका के उदित होने पर शकट का उदय होना क्रमभावी साधन

---

१. न्यायवार्तिक
२. न्यायविनिश्चय, ३२३; तत्त्वसंग्रह में यह श्लोक पात्रस्वामी के नाम से उद्धृत है।
३. स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानं—प्रमाणमीमांसा, १.२.९.; न्यायदीपिका, पृ. ७१-७२
४. यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्—वही, २.१.१; न्यायदीपिका, पृ. ८५

है। इसमें कारण-कार्य का सम्बन्ध रहता है। इन सभी साधनों को हेमचन्द्राचार्य ने पाँच भेदों में विभाजित किया है—स्वभाव, कारक, कार्य, एकार्थसमवायी और विरोधी।

परार्थानुमान किसी अन्य व्यक्ति आदि के सहारे उत्पन्न होता है। वह ज्ञानात्मक और वचनात्मक दो प्रकार का होता है। ज्ञानात्मक परार्थानुमान वचनात्मक परार्थानुमान पर आधारित रहता है। इसलिए वचन को भी उपचारतः परार्थानुमान की श्रेणी में रख दिया जाता है।

स्वार्थानुमान के तीन अंग होते हैं—धर्मी, साध्य और साधन। परन्तु परार्थानुमान के अंगों के विषय में विशेष मतभेद है। सांख्य परार्थानुमान के तीन अवयव मानते है—प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण। मीमांसक उनमें 'उपनय' को और जोड़कर उनकी संख्या चार कर देते हैं। नैयायिकों ने 'निगमन' को भी अवयव माना और फलतः उनकी दृष्टि में परार्थानुमान के अवयवों की संख्या पाँच हो गई। जैन दार्शनिक 'पक्ष' और 'हेतु' को ही अधिक आवश्यक मानते है पर बौद्ध दार्शनिक केवल 'हेतु' का प्रयोग करने के पक्ष में है।

अनुमान के अवयव :

अनुमान के पाँच अवयव माने जाते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। साध्य विशिष्ट पक्ष का कथन करना 'प्रतिज्ञा' है। इसे 'पक्ष' भी कहा जाता है। वक्ता इसी की सिद्धि करना चाहता है। "यह पर्वत अग्निवाला है" यह प्रतिज्ञा का 'उदाहरण' हुआ। साधन का कथन करना 'हेतु' है। जैसे यह पर्वत अग्निवाला है "क्योंकि इसमें धूम है।" उदाहरण के माध्यम से हेतु को स्पष्ट किया जाता है। जैसे—जो-जो धूमवाला होता है वह वह अग्निवाला होता है जैसे रसोईघर। यह साधर्म्य अथवा अन्वय दृष्टान्त है। जो जो अग्निवाला नहीं होता वह-वह धूमवाला भी नहीं होता, जैसे तालाब। यह वैधर्म्य अथवा व्यतिरेक दृष्टान्त है। पक्ष में हेतु का उपसंहार करना 'उपनय' है। जैसे—यह पर्वत भी उसी प्रकार धूमवाला है। साध्य का फिरसे कथन कर देना 'निगमन' है। जैसे—इसलिए यह पर्वत अग्निवाला है। इन पाँचों अवयवों का प्रयोग करने पर परार्थानुमान का पूरा स्वरूप इस प्रकार होगा—यह पर्वत अग्निवाला है क्योंकि इस पर धूम है। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईघर। जहाँ पर अग्नि होती है वहाँ धूम नहीं होता जैसे-जलाशय। इस पर्वत में धूम है। अतः यहाँ अग्नि है।

वस्तुतः अनुमान के इन अवयवों का प्रयोग प्रतिपाद्य की दृष्टि से किया जाता है। वैसे संक्षेप में दो ही अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा और हेतु। हेतु के सात

भेद होते हैं—स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर। प्रमाण परीक्षा में हेतु के भेद-प्रभेदों को मिलाकर २२ भेद बताये गये हैं।

मीमांसक 'अर्थापत्ति' और 'अभाव' को भी प्रमाण मानते हैं, पर उसका अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। अनुमान में हेतु का जो पक्षधर्मत्व आवश्यक होता है वह अर्थापत्ति में आवश्यक नहीं होता। अतः उसे पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अनुमान :

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में प्रत्यक्ष और आप्त वचन की अपेक्षा अनुमान पर अधिक जोर दिया गया है। उसकी दो विधियां दी गई हैं—निगमन विधि (Deduction) और व्याप्ति विधि (Induction) निगमन विधि में 'सामान्य' के ज्ञान के आधार पर अल्प सामान्य या विशेष के विषय में अनुमान किया जाता है। जैसे—

१. सभी द्रव्य उत्पाद—व्याय-ध्रौव्यवान् हैं।

२. सभी काष्ठ द्रव्य हैं।

३. सभी काष्ठ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवान् हैं।

यहां प्रथम दो वाक्य आधार वाक्य हैं और अन्तिम वाक्य निगमन वाक्य है। व्याप्तिविधि में कुछ विशेष उदाहरणों की परीक्षा की जाती है और उनके आधार पर सामान्य सिद्धान्त का अनुमान कर लिया जाता है। जैसे धुआं के साथ आग का सम्बन्ध देखकर यह व्याप्ति बना ली जाती है कि 'जहां-जहां धुआं है वहां-वहां आग है। यहां आधार वाक्य विशेष उदाहरण है और निष्कर्ष है सामान्य सिद्ध व्याप्ति। अनुमान में आधारवाक्य और निष्कर्ष वाक्य,' दोनों को मिलाकर युक्ति का प्रयोग किया जाता है।

निगमन विधि दो प्रकार की है—अनन्तरानुमान (immediate inference) और परंपरानुमान (Mediate Inference)। एक ही वाक्य के आधार पर निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया को अनन्तरानुमान कहते हैं और दो या अधिक वाक्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया को परंपरानुमान कहा जाता है। निगमन विधि का अन्तिम वाक्य (तृतीय) न्याय वाक्य (Syllogism) कहलाता है। न्याय वाक्य में तीन अवयव होते हैं— विधेयवाक्य, उद्देश्यवाक्य और निष्कर्षवाक्य। न्यायवाक्य को 'हेतु' कहा जा सकता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में न्यायवाक्य के साधारणतः दस नियम बताये गये हैं—

१. न्यायवाक्य में तीन ही पदों का प्रयोग होता है–[1]

२. प्रत्येक न्यायवाक्य में तीन ही वाक्य रहेंगे ।

३. हेतु पद कम से कम एक बार अवश्य सर्वांशी होगा ।

४. जो पद आधार वाक्य में असर्वांशी है वह निष्कर्ष वाक्य में सर्वांशी कभी नहीं हो सकता ।

५. यदि दोनों आधारवाक्य निषेधात्मक हों,तो कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।

६. यदि आधार-वाक्यों में एक भी निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा ।

७. यदि दोनों आधार-वाक्य विधानात्मक हों तो उनका निष्कर्ष भी विधानात्मक ही होगा ।

८. यदि दोनों आधार-वाक्य 'विशेष' हों तो कोई निष्कर्ष नहीं निकलता ।

९. यदि दो आधार वाक्यों में एक 'विशेष' हो तो निष्कर्ष भी अवश्य 'विशेष' होगा ।

१०. यदि विधेयवाक्य विशेष और उद्देश्य-वाक्य निषेधात्मक हो तो उनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता ।

भारतीय दर्शन में अनुमान :

जैन दर्शन तथा भारतीय दर्शनों में अनुमान के साधारणतः दो भेद किये गये हैं– स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । आचार्य हेमचन्द्र ने स्वार्थानुमान के पांच प्रकार बताये हैं–स्वभाव, कारण, कार्य, एकार्थसमवायी और विरोधी । (प्रमाणमीमांसा,१.२.१२)। स्वार्थानुमान व्यक्ति में दूसरे को सहायता के बिना ही उत्पन्न होता है । परार्थानुमान इसके विपरीत होता है । भारतीय न्याय-शास्त्र में परार्थानुमान के अवयवों के विषय में मतैक्य नहीं । सांख्य उसके तीन अवयव मानता है– पक्ष (प्रतिज्ञा), हेतु और उदाहरण । मीमांसक चार अवयवों को स्वीकारते हैं– पक्ष, हेतु, उदाहरण और उपनय । नैयायिक इसमें निगमन और सम्मिलित कर देते हैं । जैन मुख्यतः पक्ष और हेतु को मानते हैं । पर आवश्यक होने पर दस अवयवों तक प्रयोग किया जा सकता है । साधारणतः भारतीय न्यायशास्त्र में पांच अवयवों का प्रयोग होता है–

१) प्रतिज्ञा–पर्वत अग्निमान् है।

२) हेतु–क्योंकि पर्वत धूमवान् है ।

३) उदाहरण–जहां जहां धूम होता है, वहां-वहां अग्नि होती है, जैसे रसोई घर ।

१. देखिए, पाश्चात्य तर्कशास्त्र, जगदीश काश्यप, विमल प्रसाद जैन आदि के ग्रन्थ।

४) उपनय—वैसे ही, यहाँ भी धूम्र है, और
५) निगमन—यहाँ भी अग्नि है।

इन पाँच अवयवों में तीन पद हैं—'पक्ष' (पर्वत), हेतु (धूम्र) और साध्य (अग्नि)। चतुर्थ अवयव द्वितीय का और पंचम अवयव प्रथम का पुनःकथन मात्र है। पाश्चात्य पद्धति में भी तीन पद मिलते हैं—

१) सभी पदार्थ विनाशशील हैं—विधेयवाक्य (व्याप्ति)
२) सभी वस्त्र पदार्थ हैं —उद्देश्यवाक्य (पक्षधर्मता)
३) सभी वस्त्र विनाशशील हैं—निष्कर्षवाक्य (निगमन)

भारतीय न्यायशास्त्र का तृतीय अवयव-उदाहरण पाश्चात्य तर्कशास्त्र का विधेयवाक्य (Major Premise) है और द्वितीय तथा चतुर्थ अवयव उसका उद्देश्य वाक्य (Minor Premise) है।

४. आगम प्रमाण :

सामान्यतः आगम प्रमाण का सम्बन्ध शब्द प्रमाण से लिया जाता है पर वस्तुतः उसका विशेष सम्बन्ध श्रुतिविहित आगम से है। आप्त पुरुष के वचनों से उत्पन्न होनेवाला अर्थसंवेदन 'आगम' है।[1] आप्त वही हो सकता है जो वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो। ऐसे आप्त के वचनों को ही प्रामाणिक माना जाता है।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध :

दार्शनिक क्षेत्र में आप्त और आप्तागम विवाद के विषय रहे हैं। मीमांसक शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानकर वेद को अनादि और अपौरुषेय मानते हैं। साथ ही वे शब्द का अर्थ सामान्य मात्र स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में गो व्यक्ति न होकर गोत्व 'सामान्य' होगा। वैयाकरणों के अनुसार वर्ण-ध्वनि क्षणिक है। अतः वह अर्थबोधक नहीं हो सकती। इसलिए वे एक 'स्फोट' नामक तत्त्व मानते हैं जिससे अर्थबोध हो जाता है। उनके अनुसार यह अर्थ-बोधक शक्ति मात्र संस्कृत शब्दों में ही है, पालि-प्राकृत शब्दों में नहीं। उनका यह मत अत्यन्त साम्प्रदायिकता और संकीर्णता से भरा हुआ है। संस्कृत के समान पालि-प्राकृत भाषाओंके शब्दों में भी अर्थबोधकता, विशिष्टार्थद्योतन-शीलता आदि तत्त्व सन्निहित हैं। इन भाषाओं का उपलब्ध विशाल साहित्य और उसका अनभासिक तत्त्व इसका प्रामाणिक तथ्य है।

वेद की अपौरुषेयता :

वेद की अपौरुषेयता में मीमांसकों का प्रमुख तर्क यह है कि उसके कर्ता का स्मरण नहीं होता। जैसे—आकाश। वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते समय भी

---

१. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थ संवेदनमागमः— प्रमाणनयतत्त्वालोक, ४.१...

वेद के किसी कर्ता का अनुस्मरण नहीं किया जाता। कर्तृक रचनाओं से उसमें विलक्षणता भी दिखाई देती है। अतः वेद अपौरुषेय है। परन्तु जैन दार्शनिक वेद की अपौरुषेयता को स्वीकार नहीं करते। उनका तर्क है कि अनेक मकान, खण्डहर आदि कुछ ऐसी चीजें उपलब्ध होती हैं जिनके कर्ता का आजतक पता नहीं। तो क्या हम उन्हें 'अपौरुषेय' कहेंगे और फिर वेद की तैत्तरीय आदि शाखायें ऋषियों के नामों से स्पष्टतः सम्बद्ध है। उनमें काण्व, माध्यन्दिन, तैत्तिरीय आदि नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कर्ता आदि के विषय में विवाद माना जाये तो कादम्बरी आदि ग्रन्थों के रचयिताओं के सन्दर्भ में भी विवाद है। फिर उन्हें भी अपौरुषेय कहा जाना चाहिए। रचना की विलक्षणता आदि तर्क भी अगम्य हैं। अतः वेद को अपौरुषेय नहीं माना जा सकता।[1]

वैशेषिक अनुमान और शब्द की विषय–सामग्री समान मानकर शब्द को अनुमान के अन्तर्गत मान लेते हैं। उनकी दृष्टि में दोनों प्रमाण सामान्यग्राही और सम्बद्ध अर्थ के ग्राहक हैं। अतः वे उन्हे पृथक् प्रमाण नहीं मानते।

बौद्ध भी शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध न मानकर उसे प्रमाणकोटि से बाहर कर देते हैं। वे शब्द का अर्थ विधिरूप न मानकर उसे अन्यापोहरूप स्वीकार करते हैं।

परंतु जैन दार्शनिक 'आगम' को प्रमाण तो मानते है पर उसे पृथक् न मानकर परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत रख देते हैं। उन्होंने उपर्युक्त सभी मान्यताओं का खण्डन कर अपने मत की प्रस्थापना की है। जैनाचार्यों के अनुसार श्रुत के तीन भेद हैं– प्रत्यक्ष निर्मित्तक, अनिर्मित्तक और आगमनिमित्तक। परोपदेश की सहायता लेकर जो श्रुत प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्षनिमित्तक है, जो अनुमान से उत्पन्न होता है वह अनुमाननिमित्तक है तथा जो श्रुत केवल परोपदेश से उत्पन्न होता है वह आगमनिमित्तक श्रुत कहलाता है।[2] इसमें विशेषता यह है कि वैदिक परम्परा मात्र वेद पर आधारित है जबकि जैन परम्परा ने तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों पर निर्मित ग्रन्थों को भी व्यवहारतः प्रमाण माना है। इस सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि यदि आप्त, वीतराग और सर्वज्ञ किसी बात को कहता हो तो उसपर विश्वास करना चाहिए अन्यथा हेतु–तर्क से तत्त्वसिद्धि की जानी चाहिए–

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साधितमागमसाधितम् ॥[3]

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ७२१.७५६; प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ.३९१–४०३.
२. श्रुतमविप्लवं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम्–प्रमाणसंग्रह, पृ. १
३. आप्तमीमांसा, ७८.

इसी को दूसरे रूप में सिद्धसेन ने अपना मत व्यक्त किया कि व्यक्ति हेतु-वाद पक्ष में हेतु से और आगमवाद में आगम से तत्त्व पर विचार करे। ऐसा ही विचारक स्वसमय का प्रज्ञापक और अन्य सिद्धान्त का विराधक होता है।

जो हेउवाय पक्खम्मि हेउओ आगमम्मि आगमओ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धांतविराहओ अण्णो ॥[1]

निष्कर्ष :

इस प्रकार जैनदर्शन के अनुसार प्रमाण के दो भेद हुए— प्रत्यक्ष और परोक्ष। अक्ष का अर्थ मूलतः आत्मा था। अतः आत्मा के प्रत्यक्ष में आनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष और इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष हुआ। बाद में लोकव्यवहार को दृष्टिपथ में रखते हुए इन्द्रियज प्रत्यक्ष को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और विशुद्ध आत्मा में उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया। कालान्तर में इसी को परोक्ष भी कहा जाने लगा।

ज्ञान के कारण :

ज्ञान के दो कारण हैं— अन्तरंग कारण और बाह्य कारण। क्षयोपशम विशेषरूप योग्यता अन्तरंग कारण है और बाह्य कारणों में इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष आते हैं जिनसे ज्ञान–शक्ति की अभिव्यक्ति होती है।[2] कतिपय दार्शनिक अर्थ और आलोक को ज्ञान के कारणों में गिनते हैं। पर जैन दार्शनिक इसे स्वीकार नहीं करते। इसका मूलकारण यह है कि उन कारणों में अन्वय–व्यतिरेक और कार्य–कारण भाव की भी पुष्टि नहीं होती। अपने विषयभूत पदार्थों के न होने पर भी इन्द्रिय–दोष के कारण संशय–विपर्यय आदि ज्ञान हो जाते हैं। पदार्थों का अस्तित्व रहने पर भी इन्द्रिय और मन का व्यापार न होने पर सुषुप्त और मूर्छित अवस्थाओं में ज्ञान नहीं होता। अतः अपने–अपने कारणों से उत्पन्न ज्ञान और अर्थ में दीपक और घट के प्रकाश्य–प्रकाशक भाव की तरह ज्ञेय–ज्ञायक भाव मानना ही उचित है। जैसे देवदत्त और काठ अपने–अपने कारणों से उत्पन्न होकर भी छेदन क्रिया के कर्ता और कर्म बन जाते हैं। उसी तरह अपने–अपने कारणों से उत्पन्न ज्ञेय और ज्ञान में भी ज्ञाप्य–ज्ञापक भाव हो जाता है।[3]

---

१. सन्मति प्रकरण, ३.४५

२. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्— तत्त्वार्थसूत्र, १.१४

३. स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥ लघीयस्त्रय, ५९

सन्निकर्ष :

नैयायिकों के अनुसार ज्ञान का प्रमुख कारण सन्निकर्ष है। जबतक अर्थ का इन्द्रिय के साथ संयोग अथवा सन्निकर्ष नहीं होता तबतक उसका ज्ञान नहीं हो पाता। इन्द्रिय कारक है और कारक सन्निकृष्ट हुए बिना अपना काम नहीं करता। सन्निकर्ष छः प्रकारका माना गया है– संयोग, संयुक्त– समवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषण विशेष्यभाव। बाह्य पदार्थ क्रमशः चार सन्निकर्षों से गुजरते हैं–आत्मा , मन, इन्द्रिय और अर्थ। योगज प्रत्यक्ष में आत्मा और मन का ही सन्निकर्ष होता है।[1]

जैन दार्शनिक सन्निकर्ष को वस्तु-ज्ञान कराने में साधकतम कारण नहीं मानते। उनका मुख्य तर्क यह है कि सन्निकर्ष के होने पर भी ज्ञान नहीं होता। जैसे घट के समान आकाशादि के साथ चक्षु का संयोग तो होता है पर आकाश का ज्ञान नहीं होता। यदि इसमें चक्षु की योग्यता का अभाव मुख्य कारण माना जाय तो फिर 'योग्यता' को ही साधकतम क्यों न स्वीकार कर लिया जाय? वस्तुतः योग्यता को प्रमाण नहीं माना जा सकता। वह तो प्रमाण को उत्पन्न करने वाला एक तत्व है। प्रमाण तो ज्ञान ही है और ज्ञान की उत्पत्ति तभी होती है जब ज्ञाता में अर्थ-ग्राहिका शक्ति होती है। अतः ज्ञान ही प्रमाण है।

इसी प्रकार चक्षु भी अप्राप्यकारी है। यदि प्राप्यकारी होती तो आंख में लगे अंजन को भी वह देखने में समर्थ होती, किन्तु दर्पण में देखे बिना अंजन का ज्ञान नहीं हो पाता। चक्षु आवृत पदार्थ को नहीं देख पाती इसलिए वह प्राप्यकारी है, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि कांच, अभ्रक आदि से आवृत पदार्थ को तो वह देखती ही है। अतः आवृत पदार्थ को जो ग्रहण न कर सके वह प्राप्यकारी होता है, यह व्याप्ति नहीं मानी जा सकती। चुम्बक दूर से ही लोहे को खींचता है। अतः सन्निकर्ष को यदि स्वीकार किया जाय तो सर्वज्ञ का अभाव भी स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि सन्निकर्ष में पदार्थ का ज्ञान क्रमशः और नियत होता है जबकि सर्वज्ञता में वह युगपत् और अनियत अथवा असीमित होता है।

इसी प्रकार नैयायिकों का कारक साकल्यवाद,[2] सांख्यों की इन्द्रियवृत्ति[3] और मीमांसकों का ज्ञातृव्यापार भी जैनों की दृष्टि में प्रमाण नहीं। जैनों के समान बौद्ध भी ज्ञान को प्रमाण मानते हैं पर उनकी दृष्टि में निर्विकल्पक

१. न्यायमंजरी, पृ. ७२–७४

२. न्यायमंजरी, पृ. १२

३. सांख्यकारिका, १८

ज्ञान विशिष्ट होता है। वही प्रत्यक्ष रूप ज्ञान है। जबकि सविकल्पक ज्ञान अनुमान रूप होता है। इसी दृष्टि से बौद्धदर्शन में वस्तु के दो लक्षण हैं—स्वलक्षण और सामान्यलक्षण। स्वलक्षण वस्तु का मूल रूपात्मक होता है। अतः वह प्रत्यक्ष का विषय है तथा सामान्यलक्षण वस्तु के सामान्य रूप पर कल्पित होता है जो अनुमान का विषय है। प्रत्यक्ष में शब्द-संसृष्ट अर्थ का ग्रहण संभव नहीं। अतः बौद्धदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रमाण मानता है, सविकल्पक को नहीं। यही कारण है कि वहां दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष को कल्पना से विरहित अभ्रान्त ज्ञान माना है—'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्'।

जैन दार्शनिकों ने बौद्धों द्वारा मान्य इस प्रत्यक्ष के स्वरूप की कटु आलोचना की है। उनका तर्क यह है कि बौद्धाचार्य स्वयं निर्विकल्पक ज्ञान को निश्चयात्मक नहीं मानते। जो निश्चयात्मक नहीं होगा वह ज्ञान प्रमाण कैसे हो सकता है? वह न तो स्वयं का निश्चय कर पाता है और न अर्थ का ही। अतः वह व्यवहार-साधक भी नहीं।[1] अतः उपचार से भले ही निर्विकल्पक को प्रमाण माना जाये, पर वस्तुतः सविकल्पक ज्ञान ही प्रमाण कहा जाना चाहिए।

प्रमाण का फल :

प्रमाण का फल जैनदर्शन में अज्ञान निवृत्ति और पदार्थबोध बताया गया है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन है। अतः आत्मा की विशुद्धावस्था प्रगट हो जाने पर ज्ञान का फल केवलज्ञान और मुक्ति-प्राप्ति होता है। ज्ञान ही दार्शनिक क्षेत्र में प्रमाण हो जाता है।

नैयायिक-वैशेषिक और मीमांसक आदि वैदिकदर्शन फल को प्रमाण से भिन्न मानते हैं।[2] और हानोपादानादि बुद्धि को उसका फल स्वीकारते हैं। इन्द्रिय व्यापार और सन्निकर्ष आदि को पूर्व-पूर्व की अपेक्षा फल और उत्तर-उत्तर की अपेक्षा प्रमाण माना जाता है। सौत्रान्तिक बौद्ध ज्ञानगत अर्थाकार या सारूप्य को प्रमाण स्वीकार करते हैं और विषय के अधिगम को उसका फल मानते हैं, जबकि विज्ञानवाद स्वसंवेदन को फल मानता है और ज्ञानगत तथाविध योग्यता को प्रमाण स्वीकार करता है। धर्मकीर्ति ने प्रमाण के दो फल माने हैं—हान और उपादान। वात्स्यायन ने उसमें उपेक्षाबुद्धि और जोड़ दिया जिसे सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक आदि जैनाचार्यों ने भी स्वीकार कर लिया।

---

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ४८

२. श्लोकवार्तिक, ७४–७५

प्रमाणाभास :

जो प्रमाण की तरह दिखे पर वस्तुतः प्रमाण न हो वह प्रमाणाभास कहलाता है। संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि प्रमाणाभास ही हैं क्योंकि उनसे वस्तु का सही प्रतिभास नहीं होता। प्रमाण का लक्षण 'अविसंवादिता' उनमें दिखाई नहीं देता। संशयज्ञान अनिर्णयात्मक होता है, विपर्ययज्ञान विपरीतात्मक होता है और अनध्यवसाय अनिश्चयात्मक होता है। इनमें विपर्ययज्ञान विशेष विवाद का विषय बना। इस सन्दर्भ में प्रभाकर मतानुयायी मीमांसकों का विवेकख्याति, चार्वाकों का अख्याति, सांख्यों का प्रसिद्धार्थख्याति, ब्रह्माद्वैतवादियों का अनिर्वचनीयार्थख्याति, सौत्रान्तिक और माध्यमिकों का असत्ख्याति तथा योगाचारियों का आत्मख्यातिवाद प्रसिद्ध है। प्रभाचन्द्राचार्य ने इन सभी वादों का खण्डन अपने न्यायकुमुदचन्द्र में किया है। प्रमाणाभासों की संख्या निश्चित नहीं। वे अगणित भी हो सकते हैं।

हेत्वाभास :

प्रमाणाभास के समान हेत्वाभास भी होते हैं। यहाँ लक्षण तो हेतु के समान प्रतीत होते हैं पर वस्तुतः वे हेतु होते नहीं। अतः साधन अथवा हेतु के दोषों को ही हेत्वाभास कहा जाता है।

नैयायिक हेतु के पाँच रूप मानते हैं अतः उनके अभाव में हेत्वाभास भी पाँच होते हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम।[1] बौद्ध 'त्रिरूप' मानते हैं अतः उनके अभाव में हेत्वाभास भी तीन माने गये हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक।[2] जैन दार्शनिक प्रायः एक रूप मानते हैं। अतः उनकी दृष्टि में मात्र असिद्ध ही हेत्वाभास है।[3] साथ ही यह भी कहा गया है कि हेत्वाभास की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती। फिर भी उन्हें हम चार प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं—विरुद्ध, असिद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर।[4]

दृष्टान्ताभास :

जो लक्षण दृष्टान्त के लक्षण से बहिर्भूत हों वे दृष्टान्ताभास कहलाते हैं। उसमें साध्य-साधनक निर्णायक तत्त्व होना आवश्यक है। दृष्टान्ताभास के मूलतः दो भेद हैं—साधर्म्य और वैधर्म्य। इनके भी नव-नव भेद होते हैं। प्रकारान्तर

---

१. न्यायसार, पृ. ७
२. न्यायबिन्दु पृ. ३
३. न्यायविनिश्चय, २. १९५
४. वही, २. ३७० : जैनदर्शन, पृ. ३९५-६.

ये दृष्टान्ताभास के दो भेद हैं– अन्वय दृष्टान्ताभास और व्यतिरेक दृष्टान्ताभास। धर्मकीर्ति ने दृष्टान्ताभास के अठारह भेद माने हैं। सिद्धसेन ने भी उन्हीं का अनुकरण किया। माणिक्यनन्दी ने नव के स्थानपर साधर्म्य और वैधर्म्य के चार-चार भेदकर कुल आठ भेद किये। वादिदेवसूरि ने १८ और हेमचन्द्र ने उसके १६ भेद स्वीकार किये। दृष्टान्ताभास को उदाहरणाभास भी कहा गया है। अनुमान का यह संक्षिप्त विवेचन है।[1]

वादकथा :

प्राचीन काल में वादविवाद की परम्परायें बहुत अधिक प्रचलित रही हैं। प्रारभ में ये वैदिक सम्पदाय में अधिक थीं पर उत्तरकाल में बौद्ध और जैन परम्परायें भी उससे प्रभावित हुई। सुत्तनिपात में ब्राह्मणों को 'वादसीला' कहा गया और जब कभी तीर्थंकरों को भी इस विशेषण से अभिहित किया गया। उन्हें 'तक्कि' और 'तक्किका' भी कहा गया। 'तक्क-हेतु' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

यह शास्त्रीय परिचर्चा विशेषतः न्याय परम्परा में प्रचलित थी। वहाँ इसे 'कथा' कहा गया है और इसी के भेदों में वाद, जल्प और वितण्डा का प्रयोग हुआ है। इनका मुख्य उद्देश्य अपने पक्ष का प्रस्थापन रहा है। वीतराग कथा को वाद, और विजयेच्छुकों की कथा को 'जल्प' और 'वितण्डा' माना जाता है। सुत्तनिपात में इन तीनों के उल्लेख मिलते हैं। बुद्धघोष ने 'वितण्डासत्थ' का सम्बन्ध वैदिक परम्परा से जोड़ा है जबकि सद्दनीतिकार ने उसे तित्थियों से सम्बद्ध किया है। वाद में विजय पाने के लिए न्याय परम्परा में छल, जाति और निग्रहस्थानों का प्रयोग विहित माना गया है। वहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि जिस प्रकार खेत की रक्षा के लिए कांटेदार वाड़ी की आवश्यकता होती है उसी प्रकार तत्वसंरक्षण के लिए जल्प और वितण्डा में छल, जाति आदि का प्रयोग अनुचित नहीं है।[2]

बौद्ध परम्परा भी इसी विचार से प्रभावित हुई। उपायहृदय[3] आदि ग्रन्थों में बौद्ध संस्कृति के संरक्षण की दृष्टि से छल, जाति आदि के प्रयोग को स्वीकार किया, पर धर्मकीर्ति ने इसका समर्थन नहीं किया। अहिंसा और सत्य की पृष्ठभूमि में इसीलिए उन्होंने निग्रहस्थानों में वादी और प्रतिवादी

---

१. जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार, जैन धर्म-दर्शन आदि ग्रन्थ भी दृष्टव्य हैं।

२. न्यायसूत्र, ४.२.५०

३. उपायहृदय, पृ. ४

दोनों के लिए असाधनांग और अदोषोद्भावन इन दो निग्रहस्थानों को स्वीकार किया।[1]

जैन परम्परा प्रारम्भ से ही सत्य और अहिंसा का प्रयोग जीवन के हर क्षेत्र में करती रही है। वाद-विवाद में भी उसने छल, जाति आदि के प्रयोग का कभी भी समर्थन नहीं किया। सिद्धसेन ने वादद्वात्रिंशिका और अकलंक ने अष्टशती-अष्टसहस्री में इसी तथ्य को प्रस्तुत किया है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि वादी का कर्तव्य है कि वह प्रतिवादी के सिद्धान्तों में वास्तविक कमियों की ओर संकेत करे और फिर अपने मत की स्थापना करे। सत्य और अहिंसा के आधार पर ही हर दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया जाना चाहिए।

पालि साहित्य में भी यह जैन परम्परा प्रतिबिम्बित हुई है। सच्चक, अभय और असिबन्धकपुत्तगामणी प्रसिद्ध जैन वादी रहे हैं। सच्चक पार्श्वनाथ परम्परा का अनुयायी था। उसने सभी तीर्थंकरों के साथ, संभवत: महावीर के साथ भी, वादविवाद किया था।[2] अभय और असिबन्धकपुत्त गामणी ने भी बुद्ध के साथ शास्त्रार्थ किया था और उन्होंने उभयकोटिक प्रश्नों को उपस्थित किया था।[3] इन प्रश्नों के माध्यम से प्रतिवादी बुद्ध के सिद्धान्तों में तथ्यसंगत कमियों का मात्र निर्देश करना वादियों का उद्देश्य था।

जैन और बौद्ध, दोनों परम्परायें साधारणत: इस क्षेत्र में समान विचारधारा वाली रही हैं। वैदिक परम्परा के विरोध में सर्वप्रथम धर्मकीर्ति ने निग्रहस्थान का निरूपण किया। उन्होंने यह स्पष्ट कहा कि हीनाधिक बोलने आदि मात्र से प्रतिवादी को पराजित नहीं कहा जा सकता। उसका तो कर्तव्य यह है कि वह प्रतिवादी के कथन में यथार्थ दोषों का उद्घाटन करे। इस दृष्टि से असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन ये दो निग्रहस्थान स्वीकार किये गये हैं। पर धर्मकीर्ति यहाँ शास्त्रार्थ के पचड़े में पड़ गये। उन्होंने इन दोनों निग्रहस्थानों के सन्दर्भ में त्रिरूप, पञ्चरूप आदि की बात करने लगे। अकलंक ने इससे एक कदम आगे बढ़कर कहा कि वादी को इन बातों में उलझकर उसे अविनाभावी साधन से स्वपक्ष की स्थापना करनी चाहिए। प्रतिवादी का भी कर्तव्य है कि वह वादी के वचनों में यथार्थ दूषण बतलाये और अपने पक्ष की स्थापना करे।[4] अकलंक के इस मत का अनुकरण विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि

---

१. वादन्याय, प. १
२. मज्झिम निकाय, (रो.) २३.४
३. संयुत्तनिकाय (रो.), प्रथम भाग, पृ. १७६; मज्झिम निकाय (रो.), प्रथम भाग, पृ. ३९३
४. अष्टशती-अष्टसहस्री, पृ. ८७

उत्तरकालीन आचार्यों ने किया। जय-पराजय की इस व्यवस्था पर बाद में तर्क-वितर्क नहीं उठे।

अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद दृष्टिभेदों का समन्वयात्मक रूप है। अपने विचारों का दुराग्रह और दूसरे के विचारों की अस्वीकृति मतभेद और संघर्ष को उत्पन्न करने में कारण बनते हैं। प्रत्येक चिन्तक और वक्ता किसी न किसी दृष्टि से अपने चिन्तन अथवा कथन में सत्यांश को समाहित किये हुए रहता है। उसे अस्वीकार करना सत्य को अस्वीकार करना है। इन सभी सत्यों पर विचार करना 'अनेकान्तवाद' है और उनकी अभिव्यक्ति प्रणाली—को 'स्याद्वाद' कहा जाता है।

जगत् में पदार्थ अनन्त हैं और हर पदार्थ में अनन्त गुण हैं। उन्हें परिपूर्णतः जानने की शक्ति एक साधारण व्यक्ति में हो नहीं सकती। यही कारण है कि वह जिस पदार्थ को जब जैसा देखता है, वैसा समझ लेता है। एक ही व्यक्ति पुत्र की अपेक्षा पिता है, पत्नी की अपेक्षा पति है, तो माता की अपेक्षा पुत्र है। उसे हम न मात्र पिता कह सकते हैं, न पति कह सकते हैं और न ही केवल पुत्र कह सकते हैं। अपेक्षाभेद से वह सब कुछ है। यदि हम इसे नहीं मानते तो परस्पर मतभेद और संघर्ष पैदा हो जाते हैं। यहां यह समझना आवश्यक है कि व्यक्ति के विषय में कथित उक्त प्रकार से पृथक्-पृथक् मान्यता बिलकुल असत्य नहीं है। इसी प्रकार से जिस किसी भी पदार्थ को हम देखते-समझते हैं उसे अपनी-अपनी दृष्टि से समझते हैं। उन देखने-समझने वालों की अपनी-अपनी स्थितियां, समय, शक्ति और भाव रहते हैं जिनके आधार पर वे तत्सम्बन्धी विचार करते हैं। चूंकि वे पदार्थ के एक पक्ष पर विचार करते हैं अतः उनके विचार ऐकान्तिक होते हैं फिर भी वे निरादरणीय और असत्य नहीं कहे जा सकते।

जैन दर्शन ने इस सन्दर्भ में बड़ी गंभीरता पूर्वक सोचा और अहिंसा की भूमिका में अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की। आत्मा की विशुद्ध अवस्था जबतक प्रकट नहीं होती तबतक केवलज्ञान नहीं होगा और व्यक्ति पदार्थ को पूर्ण रूप से नहीं देख सकेगा। इस दोष को दूर करने के लिए जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद, नयवाद और स्याद्वाद सिद्धान्तों की रचना की। नयवाद और स्याद्वाद अनेकान्तवाद के ही विभिन्न रूप हैं। अनेकान्तवाद पदार्थ के स्वरूप का दिग्दर्शन कराता है और नयवाद तथा स्याद्वाद उसके सम्यक् विवेचन करने में सहायता करता है।

अनेकान्तवाद :

जैसा हम देख चुके हैं, पदार्थ अनेकान्तात्मक होता है और उसमें समासतः दो गुण होते हैं— सामान्य और विशेष । पदार्थ की इन दोनों विशेषताओं के कारण चिन्तकों में उसके सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही मतभेद दिखाई देता है । कोई उसे सामान्यात्मक मानता है तो कोई विशेषात्मक और कोई सामान्य-विशेषात्मक । दार्शनिक क्षेत्र में शंकर का विवर्तवाद, बौद्धों का असत्कार्यवाद, सांख्यों का सत्कार्यवाद और न्याय-वैशेषिकों का अनिर्वचनीयवाद इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है । ये सभी मतवाद एकान्तवादिता के कारण परस्पर विवाद और संघर्ष करते रहे हैं ।

भगवान महावीर और उनके अनुयायी जैन आचार्यों ने इन विवादों की भूमिका को भलीभांति समझा और उन्होंने प्रत्येक मतभेद के तथ्यांश को स्वीकार किया । ये सभी मत ऐकान्तिक दृष्टिकोण को लिए हुए थे । कोई पदार्थ के सामान्य तत्व को मानते थे तो कोई विशेषतत्व को । जैनाचार्यों ने दोनों एकान्तवादियों की बात मानकर अनेकान्तवाद की प्रस्थापना की । इससे दोनों प्रकार के दार्शनिकों के सिद्धान्तों का न तो अनादर हुआ और न दुराग्रह । बल्कि वस्तुतत्वको सही रूप से समझने का मार्ग प्रशस्त हुआ ।

अनेकान्तवाद के अनुसार पदार्थ (सत्) में तीन प्रकार के गुण होते हैं— उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ।[1] स्वजाति को न छोड़ते हुए जब चेतन-अचेतन द्रव्य पर्यायान्तर की प्राप्ति करता है तब उसे 'उत्पाद' कहते हैं । जैसे मृत्पिण्ड से घट पर्याय की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार पूर्व पर्याय के विनाश को 'व्यय' कहते हैं । जैसे-घड़े की उत्पत्ति होने पर पिण्डाकार मिट्टी का विनाश होता है । अनादि पारिणामिक स्वभाव से व्यय और उत्पाद नहीं होते किन्तु द्रव्य स्थित रहता है, 'ध्रुव' बना रहता है । पिण्ड और घट, दोनों अवस्थाओं में मृद्रूपता का अन्वय है । यहां व्यय और उत्पाद को सर्वथा अभिन्न नहीं कहा जा सकता, किन्तु कथञ्चित् कहकर उसके वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत किया जा सकता है । व्यय और उत्पाद के समय भी द्रव्य स्थिर रहता है । अतः दोनों में भेद है और द्रव्य जाति का परित्याग दोनों नहीं करते अतः अभेद है । यदि सर्वथा भेद होता तो द्रव्य को छोड़कर उत्पाद और व्यय पृथक् मिलते और यदि सर्वथा अभेद होता तो एक का अभाव होने पर शेष सभी का अभाव होता । पर ऐसा होता नहीं । अतः द्रव्य कथञ्चित् भेदात्मक है ।

---

१. सन्मति प्रकरण, १,१२

द्रव्य के सामान्य और विशेष ये दो स्वरूप होते हैं। सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय और गुण के समानार्थक शब्द हैं। विशेष, भेद और पर्याय ये पर्यायार्थक शब्द हैं। सामान्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिकनय है और विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थक नय है। दोनों अयुतसिद्ध रूप द्रव्य हैं। दोनों को क्रमशः निश्चयनय और व्यवहारनय भी कहते हैं।[1]

गुण और पर्याय के सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों में तीन परम्परायें मिलती हैं। एक परम्परा गुण और पर्याय में भेद करती है जिसे 'भेदवाद' कहा गया है। यहाँ गुण सहभावी और पर्याय क्रमभावी है। इस सिद्धान्त के जनक आचार्य कुन्दकुन्द हैं जिनका समर्थन उमास्वामी, समन्तभद्र और पूज्यपाद ने किया है। द्वितीय सिद्धान्त 'अभेदवाद' है जिसमें गुण और पर्याय को तुल्यार्थक माना गया है। सिद्धसेन दिवाकर इस सिद्धान्त के प्रणेता कहे जाते हैं। उनका समर्थन हरिभद्र और हेमचन्द्र ने किया है। तृतीय सिद्धान्त अकलंकदेव का है। उनके अनुसार गुण और पर्याय पृथक् भी हैं और अपृथक् भी हैं। इस सिद्धान्त को 'भेदाभेदवाद' कहा गया है। प्रभाचन्द्र, वादिराज, और अनन्तवीर्य ने उनका समर्थन किया है। साधारणतः इन तीनों सिद्धान्तों में कोई विशेष भेद नहीं। क्योंकि तीनों में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य समान रूप से क्रमभावी के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

प्राचीनतत्त्व :

बौद्ध साहित्य में अनेकान्तवाद के प्राचीनतम बीज देखे जा सकते हैं। पालि त्रिपिटक में अनेक स्थलों पर यह वर्णित है कि महात्मा बुद्ध चार प्रकार से प्रश्नों का समाधान किया करते थे।

i) एकंस व्याकरणीय (वस्तु के एक भाग का कथन)।

ii) पटिपुच्छा व्याकरणीय (प्रतिप्रश्न करके उत्तर देना)।

iii) ठपनीय (प्रश्नों को छोड़ देना)।

iv) विभज्ज व्याकरणीय (प्रश्नों को विभक्त करके उत्तर देना)।

इस प्रकार के समाधान की दिशा में भ. बुद्ध स्वयं को विभज्जवादिन् कहते हैं।[2] जैनों का सूयगडंग भी भिक्षु के लिए 'विभज्यवादी' होने का विधान करता है।[3] उपर्युक्त चतुष्कोटिक प्रश्नों के मूलतः दो भेद रहे होंगे—एकंस व्याकरणीय और अनेकंस व्याकरणीय। अनेकंस व्याकरणीय के ही भागों में दो

---

१. गुणपर्ययवद् द्रव्यम्, तत्त्वार्थसूत्र, ५.३८ प्रवचनसार, ९५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १.५.४

२. मज्झिमनिकाय (दी.) भाग २. पृ. ४६

३. भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा, १.१४.२२

भेद हुए होंगे—विभज्जव्याकरणीय और ठापनीय। विभज्जव्याकरणीय का ही अन्यतम भेद होगा—पटिपुच्छा व्याकरणीय। जैन दर्शन भी उसी प्रकार एकंसिकधम्मा और अनेकंसिकधम्मा रूप में विभाजन करता है। यहाँ 'एकंस' और 'अनेकंस' शब्द विचारणीय हैं जो एकान्तवाद और अनेकान्तवाद के समीपस्थ हैं। अन्तर यह है कि महावीर एकान्तवाद को कथञ्चित् रूप से सही मानते हैं परन्तु बुद्ध उसे स्वीकार नहीं करते। शुभमाणवक के प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने स्वयं को 'विभज्जवादी' कहा है और एकंसवादी होने का विरोध किया है।[1] परन्तु उत्तरकाल में वे एकान्तवाद की ओर झुकते हुए दिखाई देते हैं।

अनेकान्तवाद के प्राचीन तत्व पालि साहित्य में और भी मिलते हैं जिन्हें हम नयवाद और स्याद्वाद के विवेचन के समय प्रस्तुत करेंगे। यहाँ हम मात्र इतना कहना चाहेंगे कि जैनागमों में अनेकान्तवाद के बीज बिखरे पड़े हैं पर ग्रन्थों का समय निश्चित न होने के कारण उनके विषय में विशेष नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ भगवतीसूत्र में लिखा है कि तीर्थंकर महावीर को केवलज्ञान होने के पूर्व जो दस महास्वप्न दिखाई दिये थे उनमें तृतीयस्वप्न था—चित्र-विचित्र पक्षयुक्त पुंस्कोकिल का देखना। यह विशेषण अनेकान्तवाद का प्रतीक कहा जा सकता है।

प्राचीन दार्शनिक इतिहास के देखने से यह पता चलता है कि यह अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण मात्र महावीर अथवा उनके अनुयायियों का ही नहीं था बल्कि दर्शनान्तरों में भी यह किसी न किसी रूप में विद्यमान था। अनेकान्तवाद का खण्डन करने के बाद शान्तरक्षित ने तत्वसंग्रह में यह कहा कि मीमांसकों और सांख्यों के अनेकान्तवाद का भी खण्डन हो चुका। इसका तात्पर्य है कि इन दर्शनों का भी झुकाव अनेकान्त दृष्टि की ओर था। नैयायिकों ने 'अनेकान्त' शब्द का उपयोग भी किया पर आत्मा आदि को वे सर्वथा अपरिणामी मानने लगे। सांख्य—योग दर्शन भी इस तत्व से अपरिचित नहीं। कुमारिल ने भी श्लोकवार्तिक में उसका प्रयोग किया है। शंकर ने परमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य की व्यवस्था कर उसे स्वीकार किया है। बुद्ध ने विभज्जवाद और माध्यमिक मार्ग का अवलम्बन लेकर पदार्थ निर्णय किया है। इसके बावजूद ये सभी दर्शन एकान्तवाद की ओर झुक गये। जबकि महावीर और उनके अनुयायी आचार्यों ने अनेकान्तवाद को अपने चिन्तन का आधार बनाया। जैन धर्म प्रारम्भ से अभी तक अनेकान्तवादी रहा है।

---

१. मज्झिमनिकाय, सुत्त ९९

अनेकान्त दृष्टि में से ही नयवाद का उत्थान हुआ। नयों में सभी एकान्तवादी दर्शनों का अन्तर्भाव हो जाता है। इस दृष्टि से दार्शनिकों के बीच समन्वयवादिता स्थापित होने लगी। इसी प्रकार अनेक दार्शनिक नित्य-अनित्य, सान्त-अनन्त, आदि विचारधाराओं से जूझते रहे। इस संघर्ष को दूर करने के लिए सप्तभंगीवाद का जन्म हुआ। जैन दार्शनिकों ने इस प्रकार अनेकान्तवाद, नयवाद के माध्यम से अन्य दर्शनों को समीप लाने का अभूतपूर्व प्रयत्न किया।

२. नय वाद

नय और प्रमाण :

पदार्थ के स्वरूप का विवेचन दो प्रकार से किया जाता है–द्रव्य रूप से और पर्याय रूप से। द्रव्य रूप से विवेचन प्रमाण करता है और पर्याय रूप से नय। नय का अर्थ है "ज्ञाता का अभिप्राय"[1] और अभिप्राय कहलाता है प्रमाण से गृहीत पदार्थ के एक देश में पदार्थ का निश्चय। नय अंशग्राही होता है और वह पदार्थ के एक देश में पदार्थ का व्याख्याता है। इसलिए प्रमाण को सकलादेशी कहा गया है और नय को विकलादेशी कहा गया है।[2] समस्त व्यवहार प्रायः नय के आधीन होते हैं। ये नय सुनय भी होते हैं और दुर्नय भी। सुनय वस्तु के अपेक्षित अंश को मुख्य भाव से ग्रहण करने पर भी शेष अंशों का निराकरण नहीं करता, पर दुर्नय निराकरण करता है। सुनय सापेक्ष होता है और दुर्नय निरपेक्ष। निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक्।[3] ऐकान्तिक आग्रह से मुक्त होने के लिए नय प्रणाली आवश्यक है।

नय और प्रमाण में उपर्युक्त भेद के साथ यह जानना भी आवश्यक है कि प्रमाण अंश और अंशी दोनों को प्रधान रूप से जानता है जबकि नय अंशों को प्रधान और अंशी को गौण रूप से अथवा अंशी को प्रधान और अंशों को गौण रूप से जानता है। प्रमाण अनेकान्त का ज्ञापक है और नय वस्तु के एकान्त को बताता है। प्रमाण वस्तु के विधि और निषेध दोनों रूपों को जानता है, परन्तु नय वस्तु के किसी एक रूप पर ही विचार करता है।

नय के भेद :

नय के भेद अनंत हो सकते हैं क्योंकि जितने ही शब्द हैं उतने ही नय हैं।[4] फिर भी उन्हें समासतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक मुख्य रूप से द्रव्य को ग्रहण करता है और पर्यायार्थिक पर्याय को। एक अभेदग्राही है तो दूसरा भेदग्राही। अभेद

---

१. नयो ज्ञातुरभिप्रायः, आलाप पद्धति, ९; प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ. ६७६

२. सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः, सर्वार्थसिद्धि, १.६.२०

३. निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत, आप्त मीमांसा, श्लोक २०८

४. जावइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया, सन्मति प्रकरण ३.४७

का अर्थ सामान्य है और भेद का अर्थ विशेष। सामान्य के दो भेद हैं–ऊर्ध्वता-सामान्य और तिर्यक्‌सामान्य। ऊर्ध्वतासामान्य का संबंध एक द्रव्य से है जबकि तिर्यक्‌सामान्य सादृश्यमूलक विभिन्न द्रव्यों में मनुष्यत्व जैसी सामान्य की कल्पना से सम्बद्ध है।

एक द्रव्य की पर्याय में होने वाली भेद-कल्पना पर्यायविशेष है और विभिन्न द्रव्यों में प्रतीत होने वाली भेद-कल्पना व्यतिरेक विशेष है। साधारणतः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक को क्रमशः द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक तथा पारमार्थिक और व्यावहारिक शब्द दिये गये हैं। आध्यात्मिकक्षेत्र में ये ही नय, निश्चय नय और व्यवहार नय के नाम से विवेचित हैं।

उपर्युक्त नयों को स्थूलतः सात भेदों में विभाजित किया गया है। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत नय।

१. नैगमनय :

अर्थ के संकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला नय नैगमनय कहलाता है।[1] यहाँ सामान्य और विशेष दोनों का बोध होता है। आत्मा के अमूर्तत्व आदि गुणों का सामान्य अथवा मुख्य रूप से विवेचन करने पर उसके सुखादि धर्म विशेष अथवा गौण हो जाते हैं और सुखादि धर्म को सामान्य अथवा मुख्य रूप से कहने पर अमूर्तत्व आदि गुण विशेष अथवा गौण हो जाते हैं। द्रव्य, गुण और कर्म में रहने वाला सत् सामान्य है और अभिन्न है। परस्पर भिन्न गो-गजादि में गोत्व–गजत्व का मानना सामान्य है। आकृति, गुण आदि से उन्हें भिन्न बताना विशेष है। इसलिए द्रव्य सामान्य है और पर्याय विशेष है।

लोकार्थ बोधकता और संकल्प ग्राहकता भी नैगमनय का कार्य है– जैसे प्रस्थ बनाने के लिए जंगल से लकड़ी काटने वाले व्यक्ति से कोई पूछे कि आप कहाँ जा रहे हैं, तो वह उत्तर देगा– प्रस्थ के लिए जा रहा हूँ। यह उसके उत्तर में संकल्प व्यक्त हो रहा है। इसीप्रकार भविष्य में होनेवाले राजकुमार को भी पहिले से ही राजा कह दिया जाता है। ये सभी व्यवहार नैगमनय कें विषय हैं।[2] इसमें लोकरूढि पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

धर्म–धर्मी को अत्यंत भिन्न मानना नैगमाभास है। इस दृष्टि से न्याय-वैशेषिक और सांख्यदर्शन नैगमाभासी हैं क्योंकि वे दोनों में सर्वथा भेद मानते हैं। पर जैनदर्शन उनमें कथञ्चित् भेद मानता है।

---

१. अर्थ संकल्पमात्रग्राही नैगमः, तत्त्वार्थराजवार्तिक. १.३२

2, सर्वार्थसिद्धि, १.३३; तत्त्वार्थ राजवार्तिक, १.३३

२. संग्रहनय :

एक जातिगत सामान्य का संग्रह करना संग्रहनय है जैसे– "सत्" के कहने से समस्त सद्रूप द्रव्यों का ग्रहण हो जाता है।[१] इस प्रकार का सत् 'महा सामान्य' है और गोत्वादिक सामान्य को 'अवान्तर सामान्य' कहते हैं। 'सामान्य' नित्य और सर्वगत होता है पर 'विशेष' ऐसा नहीं होता। वह खपुष्प के समान निःसामान्य होता है। यह नय अभेद दृष्टि प्रधान है, तथा समान धर्म के आधार पर एकत्व की स्थापना करता है। मनुष्यत्व की दृष्टि से मनुष्य जाति एक है।

संग्रहनय के दो भेद है– पर संग्रह और अपर संग्रह। पर संग्रह सत् रूप सब द्रव्य को ग्रहण करने वाला है .परन्तु अपर संग्रह में पर संग्रह द्वारा गृहीत वस्तु के विशेष अंशों को ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार संग्रह नय में अवान्तर भेदों को एकत्र रूप में संग्रह कर दिया जाता है। पुरुषाद्वैतवाद, ज्ञानाद्वैतवाद, शब्दाद्वैतवाद आदि दर्शन संग्रहनयाभासी हैं क्योंकि वे भेदों का निराकरण कर मात्र सत्ताद्वैत को ही ग्रहण करते हैं।

३. व्यवहार नय :

संग्रह नय के द्वारा गृहीत अर्थ में विधिपूर्वक भेद करके ग्रहण करने वाला नय व्यवहार नय है।[२] जैसे पर संग्रह (महा सामान्य) नय में व्यक्त 'सत्' व्यवहार नय में द्रव्य पर्याय कहा जायेगा। अपर संग्रह (अवांतर सामान्य) में सभी द्रव्यों को द्रव्य रूप से और सभी पर्यायों को पर्याय रूप से ग्रहण किया जायेगा। इसी प्रकार व्यवहार नय जीवादि के भेद से जीव को छः प्रकार का बतायेगा और पर्याय की दृष्टि से दो प्रकार का–सहभावी और क्रमभावी। व्यवहार नय तब तक भेद करता जाता है जब तक भेद होना संभव होता है। वनस्पति जानने पर उसका आम्ररूप का निर्धारण होना व्यवहार नय है। वस्तु सामान्य–विशेषात्मक होती है। नैगमनय में उसे प्राधान्य और गौणता की दृष्टि से ग्रहण किया जाता है, पर व्यवहार नय मात्र संग्रहनय द्वारा गृहीत पदार्थों के भेद–प्रभेद करता है। योगाचारों का विज्ञानवाद और माध्यमिकों का शून्यवाद व्यवहार नयाभास है। व्यवहार नय भेदवादी है। मनुष्यत्व की दृष्टि से समान होने पर भी मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाला भेद का दिग्दर्शक व्यवहार नय है।

---

१. जीवाजीव प्रभेदा यदन्तर्लीनास्तदस्ति सत्।
एकं यथा स्वनिर्भासि ज्ञानं जीवः स्वपर्ययैः॥
–लघीयस्त्रय, २.५.३१

२. अतोविधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः– तत्त्वार्थराजवार्तिक, १.३३.६

४ ऋजुसूत्रनय :

ऋजुसूत्रनय मात्र वर्तमान क्षणवर्ती क्षुद्र अर्थपर्याय को ही विषय करता है। उसे अतीत और अनागत से कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो पर्याय अथवा भेद से ही सम्बन्ध रखता है।[1] इस दृष्टि से कुम्भकार शब्द का व्यवहार नहीं हो सकता। क्योंकि शिविक आदि पर्यायों के बनाने तक तो उसे कुम्भकार कह नहीं सकते। अब जब कुम्भ के बनने का समय आता है तब वह अपने अवयवों से स्वयमेव घड़ा बन जाता है। फिर उसे कुम्भकार कैसे कहा जाय? यह नय लोकव्यवहार की चिन्ता बिलकुल नहीं करता। यहाँ तो उसका विषय बतलाया गया है। व्यवहार तो पूर्वोक्त व्यवहार आदि नयों से सध ही जाता है। पर्यायार्थिक नय का क्षेत्र यहीं से प्रारम्भ होता है। सौत्रान्तिकोंका क्षणभंगवाद ऋजुसूत्रनयाभास के अन्तर्गत कहा गया है।

५. शब्दनय :

इसमें काल, कारक, लिंग, संख्या आदि के भेद से भिन्न-भिन्न अर्थों को ग्रहण किया जाता है।[2] व्यवहार नय काल, कारक आदि का भेद होने पर भी अर्थ भेद स्वीकार नहीं करता। ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्याय का ही ग्राही होता है किन्तु उसमें शेष नाम, स्थापना पर्याय द्रव्य रूप तीनों, घट नहीं पाते। यह विषय शब्दनय का रहता है। इन्द्र, शुक्र, पुरन्दर आदि पर्यायभेद होने पर भी एक हैं, समानार्थक हैं। इस नय में समानार्थक शब्दों में भी काल, लिङ्ग आदि के भेद से भिन्नार्थकता हो जाती है।

६. समभिरूढनय :

यह नय शब्दभेद से अर्थभेद मानता है। इसमें शब्द अनेक अर्थों को छोड़कर किसी एक अर्थ में [मुख्यता से रूढ़ हो जाता है। जैसे—गो शब्द वाणी, पृथ्वी आदि ग्यारह अर्थों में प्रयुक्त होने पर भी सबको छोड़कर मात्र 'गाय' अर्थ में रूढ़ हो गया है। इसी प्रकार शब्द-भेद से अर्थभेद भी देखा जाता है। इन्द्र शक्र, पुरन्दर आदि शब्द पर्यायवाची हैं। फिर भी उनका अर्थ पृथक्-पृथक् है

७. एवंभूतनय :

यह नय शब्द के वाच्यार्थ को प्रगट करता है। अर्थात् जिस समय जं पर्याय या क्रिया हो उस समय तद्वाची शब्द के प्रयोग को एम्भूतनय कहत हैं। जैसे दीपन क्रिया होने पर ही दीपक कहा जाय, अन्यथा नहीं। गौ जि

---

१. भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्र नयो मतः– लघीयस्त्रय, ३. ६. ७२

२. सन्मतिप्रकरण, १.५

समय चलती है उसी समय गौ है, न तो बैठने की अवस्था में वह गौ है और न सोने की अवस्था में। अतः यह क्रियावाचक है।

शब्दनय और अर्थनय :

उपर्युक्त शब्द नयों को दो भागों में विभाजित किया गया है– अर्थनय और शब्दनय। नैगम, संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र नय अर्थग्राही होने से अर्थनय हैं और शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूत नय शब्द से सम्बद्ध होने के कारण शब्दनय हैं। इन नयों का विषय और क्षेत्र उत्तरोत्तर सूक्ष्म, अल्प और पूर्व-पूर्व हेतुक है। ये नय पूर्व-पूर्व में विरुद्ध और महाविषय वाले हैं और उत्तरोत्तर अनुकूल और अल्प विषय वाले हैं। नैगमनय सत्-असत् दोनों को ग्रहण करता है पर संग्रह नय मात्र सत् को। व्यवहारनय 'सत्' में भी त्रिकालवर्ती सद् विशेष को विषय करता है। ऋजुसूत्रनय त्रिकालवर्ती में भी केवल वर्तमान अर्थ को ही ग्रहण करता है और कालादि के भेद से अर्थ को भेदरूप नहीं मानता। पर शब्दनय कालादि के भेद से अर्थ को भेदरूप मानता है। शब्दनय में पर्याय भेद से अभिन्न अर्थ को स्वीकार किया जाता है पर समभिरूढ़नय में अर्थ को भेद रूप माना जाता है। समभिरूढ़नय से एवंभूतनय अल्पविषय वाला है। क्योंकि समभिरूढ़नय क्रियाभेद होने पर भी अभिन्न अर्थ को विषय करता है परन्तु एवम्भूतनय क्रियाभेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करता है।

ये सभी नय ज्ञानात्मक हैं क्योंकि अपने अर्थ को स्पष्ट करते हैं। वे अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न विषय को ग्रहण करते हैं। अतीत और अनागत का विषय नैगमादि प्रथम तीन नयों में और वर्तमान का विषय ऋजुसूत्रादि शेष चार नयों में आता है। ये नय वस्तु के भिन्न-भिन्न पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। अतः यदि अन्य पक्षों का निषेध न किया जाये तो नय मिथ्या नहीं होते।

अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय :

यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि पर्यायें दो प्रकार की होती हैं– अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय। अर्थपर्याय सूक्ष्म है, ज्ञानविषयक है, अतः शब्द से नहीं कही जा सकती। वह क्षण-क्षण बदलती रहती है। परन्तु व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्द गोचर है और चिरस्थायी है। अर्थपर्याय को गुण कह सकते हैं और व्यंजन पर्याय को द्रव्य। जैसे जन्म से लेकर मरण पर्यन्त पुरुष में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग होता है। यह व्यञ्जनपर्याय का दृष्टान्त है। पुरुष में बाल्य यौवन, वृद्धत्व आदि का जो आभास होता है वह अर्थ पर्याय का उदाहरण है।[१]

---

१. सन्मति प्रकरण, १. ३२–३४

पालि साहित्य में नयवाद :

पालि साहित्य में नयवाद की कतिपय विशेषतायें मिलती हैं। बुद्ध ने कालाम से ज्ञान-प्राप्ति के सन्दर्भ में दस संभावित मार्गों का निर्देश किया है— i) अनुस्सवेन, ii) परंपराय, iii) इतिकिरियाय, iv) पिटकसंपदाय, v) भव्य-रूपताय, vi) समणो न गुरु, vii) तक्किहेतु, viii) नयहेतु, ix) आकार-परिवितक्केन, और x) दिट्ठिनिज्झा नक्खन्तिया।[१] इनमें 'नयहेतु' दृष्टव्य है। यहाँ 'नय' का तात्पर्य है—कथन-रीति जो एक निश्चित निर्णय को व्यक्त करती है।[२] इसका प्रयोग उसी अर्थ में हुआ है जिस अर्थ में जैनदर्शन में मिलता है। बौद्ध दर्शन में सम्मुति सच्च और परमत्थसच्च का भी व्यवहार हुआ है[३] जिन्हें पर्यायार्थिकनय और द्रव्यार्थिकनय अथवा व्यावहारिक नय और निश्चयनय कहा जा सकता है। सुनय और दुर्नय का भी प्रयोग मिलता है।[४]

निश्चयनय और व्यवहारनय :

उपर्युक्त नयों में मूलनय निश्चय और व्यवहार ही हैं। शेषनय उनके विकल्प या भेद हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय निश्चयनय की सिद्धि के कारण होते हैं। निश्चयनय (शुद्धनय) को भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ की भी संज्ञा दी गई है। निश्चयनय अभेदग्राही है, द्रव्याश्रयी है और निर्विशेषणी है तथा व्यवहार नय इसके विपरीत है। निश्चयनय वस्तु के त्रैकालिक ध्रुव स्वभाव का कथन करता है पर व्यवहार नय उसकी पर्यायों पर केन्द्रित रहता है। संसारी जीव व्यवहार नय के माध्यम से निश्चय नय की ओर जाते हैं। अतः निश्चय नय को समझने के लिए व्यवहार नय एक सोपान है। इसलिए दोनों नयों की समान आवश्यकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी को स्पष्ट किया है—कि जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धा के साथ पूर्ण ज्ञान और चारित्रवान् हो गये हैं उन्हें तो शुद्ध (आत्मा) का उपदेश करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरम भाव में अर्थात् श्रद्धा ज्ञान और चारित्र के पूर्णभाव को न पहुँचकर साधक अवस्था में स्थित हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं—

सुद्धा सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहार देसिया पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥[५]

---

१. अंगुत्तर निकाय, (रो), द्वितीय भाग, पृ. १९१–३.
२. नयेन नेति, संयुत्त (रो.), भाग २. पृ. ५८; अनयेन नयति दुम्मेधो, जातक (रो.) भाग ४, पृ. २४१.
३. मिलिन्दपञ्हो, संयुत्तनिकाय, माध्यमिककारिका, आदि ग्रन्थ देखिये।
४. अंगुत्तर निकाय (रो.), भाग ३, पृ. १७८
५. समय प्राभृत, १२

निक्षेप व्यवस्था :

पदार्थ को सही रूप से समझने के लिए निक्षेप की व्यवस्था की गई है। निक्षेप का अर्थ है न्यास (रखना) अथवा विभाजन करना)।[१] शब्द का जब अर्थ किया जाता है तो विभाजन की चार दृष्टियाँ होती हैं–नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।[२] षट्खण्डागम, धवला आदि ग्रन्थों में कहीं-कहीं छः भेदों का भी उल्लेख मिलता है–नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इनका अन्तर्भाव यद्यपि द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों में हो जाता है फिर भी विषय को विभाजितकर उसे और भी स्पष्ट तथा सरलता पूर्वक समझने के लिए निक्षेप की व्यवस्था की गई है।[३]

१. नाम निक्षेप–जाति, गुण, क्रिया, नाम आदि निमित्तों की अपेक्षा न करके की जाने वाली संज्ञा 'नाम' है। जैसे-किसी का नाम जितेन्द्र रख दिया जबकि है वह महाभौतिकवादी।

२. स्थापना निक्षेप–'यह वही है' इस रूप से तदाकार या अतदाकार वस्तु में किसी की स्थापना करना स्थापना निक्षेप है। जैसे किसी प्रस्तर की मूर्ति को तीर्थंकर की मूर्ति मान लेना अथवा शतरंज के मोहरों में हाथी, घोड़ा आदि की स्थापना करना। नाम और स्थापना दोनों निक्षेपों में संज्ञायें रखी जाती हैं पर जो पूज्यत्व भाव स्थापना में स्थापित किया जाता है वह नाम में नहीं होता।

३. द्रव्य निक्षेप–आगामी पर्याय की योग्यता वाले उस पदार्थ को द्रव्य कहते हैं जो उस समय उस पर्याय के अभिमुख हो। जैसे-इन्द्र की प्रतिमा के लिए लाये गये काष्ठ को भी इन्द्र कहना अथवा युवराज को भी राजा कहना। द्रव्य निक्षेप के आगम, नोआगम आदि अनेक भेद-प्रभेदों का उल्लेख मिलता है।

४. भाव निक्षेप–गुण अथवा वर्तमान अवस्था के आधार पर वस्तु को उस नाम से पुकारना भावनिक्षेप है। जैसे सिंहासनासीन व्यक्ति को ही राजा कहना। इसके भी आगम, नोआगम आदि भेदों की व्याख्या ग्रन्थों में मिलती है।

ये चारों निक्षेप नयों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। भाव का अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय में और शेष द्रव्यार्थिकनय में गर्भित हो जाते हैं।[४] फिर भी वस्तु

---

१. सन्मति प्रकरण. १. ३२–३४.

२. धवला, भाग १. गाथा, ११

३. तत्वार्थ सूत्र, १–५.

४. सन्मति प्रकरण, १.६

के स्वरूप को सर्वसाधारण भी समझ सके, इस दृष्टि से निक्षेप का कथन किया गया है।

३. स्याद्वाद

ऊपर हमने अनेकान्तवाद की बात कही है। वह विचार करने की अनैकान्तिक प्रणाली है। यही प्रणाली जब अभिव्यक्ति का रूप लेती हो तब हम उसे 'स्याद्वाद' कहते हैं। पदार्थ की अनन्त अवस्थाओं अथवा उसके अनन्त गुणों को एक साथ स्पष्ट करना असंभव है। इसलिए जैन दार्शनिकों ने अपने कथन के पूर्व में 'स्यात्' शब्द का प्रयोगकर इस असंभवनीय स्थिति को दूर कर दिया। 'स्यात्' का अर्थ है—कथञ्चित्। कथञ्चित् या विवक्षित प्रकार से अनेकान्त रूप से बोलना, वादकरना, जल्प करना, कहना या प्रतिपादन करना स्याद्वाद है। यह 'स्यात्' अथवा 'कथञ्चित्' निपात न 'शायद' का प्रतीक है और न किसी प्रकार के संशय का। वह तो पदार्थ के जितने अंश को ग्रहण किया जा सका उतने अंश में अपने पूर्ण निश्चय-ज्ञान की अभिव्यक्ति कर रहा है। 'स्यात्' शब्द के संयोजन से तदेतर दृष्टियों के लिए दरवाजे बिलकुल खुले रहते हैं। वहाँ कदाग्रह अथवा हठवादी दृष्टिकोण नहीं रहता बल्कि अन्य विचारकों की दृष्टियों के प्रति सम्मान की भावना भरी रहती है। इसलिए 'स्यात्' पद के माध्यम से 'एव' (ही) के स्थान पर 'अपि' (भी) का प्रयोग किया जाता है। इससे अभिमानवृत्ति और वैषम्य के बीच समाप्त हो जाते हैं और सापेक्षता की सिद्धि होती है। सापेक्षता का तात्पर्य यह है कि प्रमाण और नय के विषय एक-दूसरे की अपेक्षा पूर्वक रहते हैं। निरपेक्षतत्व इसके विपरीत होते हैं।

स्याद्वाद अनेकान्तवाद का ही एक प्रकार है। जैन दर्शन के अनुसार अनेकान्तात्मक वस्तु में द्रव्यार्थिक नय से नित्यत्व द्रव्य रूप से घटित होता है। दोनों ही द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय परस्पर सापेक्ष हैं। यह सापेक्षता अहिंसा और सत्य की भूमिका पर प्रतिष्ठापित है और सर्वधर्म समभाव के चिन्तन से अनुप्राणित है। उसमें सर्वथा एकान्तवादियों को समन्वयवादिता के आधार पर एक प्लेटफार्म पर ससम्मान बैठाने का सुन्दर उपक्रम किया गया है। आचार्य समन्तभद्र ने इसलिए कहा है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः॥

पदार्थ में सत्, असत् आदि अनन्त स्वभाव होते हैं। वे स्वभाव की अपेक्षा सत् और परभाव की अपेक्षा असत् होते हैं। इसलिए उनका विवेचन करने

के पूर्व अनेकान्तात्मक 'स्यात्' शब्द का प्रयोगकर हेयोपादेय की व्यवस्था बन जाती है। इसी व्यवस्था को 'स्याद्वाद' कहा गया है। 'स्यात् के स्थान पर 'कथञ्चित्' शब्द का भी प्रयोग होता है। इन शब्दों का प्रयोग निश्चयनय के साथ आवश्यक नहीं। वे शब्द तो व्यवहार-साधक हैं। यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि ये शब्द धर्मों के साथ प्रयुक्त होते हैं, वस्तु के अनुजीवी गुणों के साथ नहीं।

जितने भी पदार्थ शब्दगोचर हैं वे सब विधि-निषेधात्मक हैं। कोई भी वस्तु सर्वथा निषेधगम्य नहीं होती। जैसे कुरबक पुष्प लाल और सफेद दोनों रंगों का होता है। न केवल रक्त ही होता है, न केवल श्वेत ही होता है और न ही वह वर्ण शून्य है। इसी प्रकार पर की अपेक्षा से वस्तु में नास्तित्व होने पर भी स्वदृष्टि से उसका अस्तित्व प्रसिद्ध ही है। कहा भी है–

अस्तित्वमुपलब्धिश्च कथंचिदसतः स्मृतेः।
नास्तितानुपलब्धिश्च कथंचित् सत् एव ते ॥ १ ॥
सर्वथैव सतो नेमौ धर्मौ सर्वात्मदोषतः।
सर्वथैवासतो नेमौ वाचां गोचरताप्रत्ययात् ॥ २ ॥[1]

पदार्थ के सत् और असत् स्वभाव के आधार पर जैन और जैनेतर सम्प्रदायों के अनेक प्रकार से उत्तर देने की परम्परा रही है। वैदिक साहित्य में सत् और असत् की बात नासदीय सूक्त में कही गई। उपनिषद्काल में तो वह और भी स्पष्ट होकर सामने आती है। नैयायिक 'अनेकान्त' शब्द का प्रयोग करते हैं और वेदान्तिक पारमार्थिक और व्यावहारिक जैसे नयों की बात करते हैं। बुद्ध ने भी 'अनेकंस' शब्द का प्रयोग किया है तथा दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर चतुष्कोटि के माध्यम से दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन दार्शनिक पदार्थ के अनन्त स्वभाव पर चिन्तन करते रहे और उसकी सम्यक् अभिव्यक्ति का भी प्रयत्न करते रहे।

सप्तभङ्गी :

जैन दार्शनिकों ने उक्त प्रयत्न को और आगे बढ़ाया। उन्होंने पदार्थ के विधि-निषेधात्मक स्वरूप को सात प्रकार से विभाजितकर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। इसी को सप्तभङ्गी कहा गया है।[2] ये सात भङ्ग इस प्रकार हैं–

१. स्यादस्ति
२. स्यान्नास्ति

---

१. तत्त्वार्थवार्तिक, २.८.१८.
२. प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेध कल्पना सप्तभङ्गी–
तत्त्वार्थवार्तिक, १.६.५.

३. स्यादस्ति नास्ति च

४. स्यादवक्तव्यम्

५. स्यादस्ति चावक्तव्यम्

६. स्यान्नास्ति चावक्तव्यम्, और

७. स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यम्

ये सात भंग प्रश्न संख्या पर आधारित हैं। प्रश्नों की संख्या सात है। अतः उत्तर भी सात हैं। मूल भंग अस्ति, नास्ति अस्ति-नास्ति अथवा अवक्तव्य हैं। शेष भंग इन्हीं तीन भंगों के संयोग से निर्मित हुए हैं। उनके संयोग से निर्मित प्रश्न और उनके उत्तरों की संख्या सात की संख्या का अतिक्रमण नहीं कर सकती। 'कथंचित्' घट है इत्यादि वाक्य में सत्व आदि सप्त भंग इस हेतु से हैं कि उनमें स्थिति–संशय भी सप्त हैं और सप्त संशय के लिए जिज्ञासाओं के भेद भी सप्त हैं। और जिज्ञासाओं के भेद से ही सप्त प्रकार के प्रश्न और उत्तर भी हैं।[1] ये सात भंग इस प्रकार हैं–

१ स्यादस्ति घटः–जिस वस्तु का अस्तित्व है उसका अस्तित्व उसके अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से है, इतर द्रव्यादि से नहीं क्योंकि वे अप्रस्तुत हैं। स्वरूप के ग्रहण और पररूप के त्याग से ही वस्तु की वस्तुता स्थिर की जाती है। यदि पररूप की व्यावृत्ति न हो तो निःस्वरूपत्व का प्रसंग होने से वह खर-विषाण की तरह असत् ही हो जायेगा। इसी प्रकार मनुष्य जीव भी स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से ही अस्ति रूप है, अन्य रूपों से नास्ति है। यदि मनुष्य अन्य रूप से भी 'अस्ति' हो जाये तो वह मनुष्य ही नहीं रह सकता, महासामान्य हो जायगा।

२. स्यान्नास्ति घट :–'कथञ्चित् घट नहीं है' इस द्वितीय भंग से यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि घट अन्य द्रव्य, अन्य क्षेत्र, अन्य काल और अन्य भाव रूप की अपेक्षा नास्ति रूप है। यदि यह भंग न माने तो वह घट ही सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि नियत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप से वह नहीं है जैसे गधे के सींग। प्रत्येक वस्तु स्वरूप से विद्यमान है, पररूप से विद्यमान नहीं

---

१. भङ्गास्सत्वादयस्सप्त संशयास्सप्ततद्गताः।
जिज्ञासाःसप्त सप्त स्युः प्रश्नाःसप्तोत्तराण्यति॥
सप्तभंगतरंगणी, ८ पर उद्धृत

अकलंक आदि कुछ आचार्यों ने 'स्यादवक्तव्यम्' को
तृतीय और स्यादस्ति न्यस्ति च' को चतुर्थभंग माना है।

है। यदि वस्तु को सर्वथा भाव रूप स्वीकार किया जाये तो एक वस्तु के सद्भाव में सम्पूर्ण वस्तुओं का सद्भाव माना जाना चाहिए। और यदि सर्वथा अभाव रूप माना जाये तो वस्तु को सर्वथा स्वभाव रहित माना जाना चाहिए। पर ऐसा मानना तथ्य संगत नहीं कहा जा सकता।

३. **स्यादस्ति घटः स्यान्नास्ति च घटः**—'कथञ्चित् घट है और कथञ्चित् घट नहीं है' इस तृतीय भंग से घट को सर्वथा सत्-असत् रूप उभयात्मक स्थिति से दूर रखा गया है। यदि सर्वथा उभयात्मक माना जायगा तो सर्वथा सत् और सर्वथा असत् स्वरूप में परस्पर विरोध होने से दोनों स्थितियों के दोष उपस्थित हो जायेंगे। स्वसद्भाव और पर—अभाव के आधीन जीव का स्वरूप होने से वह उभयात्मक है। यदि जीव परसत्ता के अभाव की अपेक्षा न करे तो वह जीव न होकर सन्मात्र हो जायगा। इसी प्रकार पर सत्ता के अभाव की अपेक्षा होने पर भी स्वसत्ता का सद्भाव न हो तो वह वस्तु ही नहीं हो सकेगा, जीव होने की तो बात ही दूर रही। अतः पर का अभाव भी स्वसत्ता सद्भाव से ही वस्तु का स्वरूप बन सकता है। इस भंग में वस्तु के स्वरूप का निर्णय स्व-पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा किया जाता है।

४: **स्यादवक्तव्यो घटः**—"घट का स्वरूप कथञ्चित् अवक्तव्य है" यह चतुर्थ भंग है। घट के अस्ति-नास्ति रूप उभय रूपों को एक साथ स्पष्ट करने के लिए कोई शब्द नहीं। अतः अवक्तव्य कह दिया गया है। परस्पर शब्द प्रतिबद्ध होने से, निर्गुणत्व का प्रसंग होने से तथा विवक्षित उभय धर्मों का प्रतिपादन न होने से वस्तु अवक्तव्य है।

५. **स्यादस्ति घटश्चावक्तव्यश्च**—"कथञ्चित् घट है और अवक्तव्य है" यह पंचम भंग है। प्रथम और चतुर्थ भंग को मिलाकर यह पंचम भंग बना है। इसमें प्रथम समय में घट स्वरूप की मुख्यता और द्वितीय समय में युगपदुभयविवक्षा होने पर घट स्यात् घट है और अवक्तव्य है। यह भंग तीन स्वरूपों से द्वयात्मक होता है। अनेक द्रव्य और अनेक पर्यायात्मक जीव के किसी द्रव्यार्थ विशेष या पर्यायार्थ विशेष की विवक्षा में एक आत्मा 'अस्ति' है, वहीं पूर्व विवक्षा तथा द्रव्य सामान्य और पर्याय सामान्य या दोनों की युगपदभेद विवक्षा में वचनों के अगोचर होकर अवक्तव्य हो जाता है। जैसे—आत्मा द्रव्यत्व, जीवत्व या मनुष्यत्व रूप से 'अस्ति' है तथा द्रव्य-पर्याय सामान्य तथा तदभाव की युगपत् विवक्षा में अवक्तव्य है।

६. स्यान्नास्ति घटश्चावक्तव्यश्च–"कथञ्चित् घट नहीं है और अवक्तव्य है" यह षष्ठ भंग है। यह भंग द्वितीय और चतुर्थ भंग के सम्मिश्रण से बना है। वस्तुगत नास्तित्व ही यहाँ अवक्तव्य रूप से अनुबद्ध होकर विवक्षित हुआ है। नास्तित्व पर्याय की दृष्टि से है। जो वस्तुत्वेन 'सत्' है वही द्रव्यांश है तथा जो अवस्तुत्वेन 'असत्' है वही पर्यायांश है। इन दोनों की युगपत् अभेद विवक्षा में अवक्तव्य है। इस तरह आत्मा नास्ति अवक्तव्य है। यह भी सकलादेश है क्योंकि विवक्षित धर्म रूप से वह अखण्ड वस्तु को ग्रहण करता है।

७. स्यादस्ति-नास्ति घटश्चावक्तव्यश्च–कथञ्चित् घट है वह उभयात्मक है और अवक्तव्य है, यह सप्तम भंग है। यह भंग चार स्वरूपों से तीन अंश वाला है। किसी द्रव्यार्थ विशेष की अपेक्षा 'अस्तित्व' और किसी पर्याय विशेष की अपेक्षा 'नास्तित्व' होता है तथा किसी द्रव्य-पर्याय विशेष और द्रव्य पर्याय सामान्य की युगपत् विवक्षा में वही अवक्तव्य भी हो जाता है। इस तरह अस्ति-नास्ति अवक्तव्य भंग बन जाता है। यह भी सकलादेश है क्योंकि इसने विवक्षित धर्म रूप से अखण्ड वस्तु का ग्रहण किया है।[1]

भङ्गसंख्या:

इन सात भंगों में निर्दिष्ट तृतीय भंग को कुछ आचार्य चतुर्थ स्थान देते हैं और चतुर्थ भंग को तृतीय स्थान देते हैं। और कुन्दकुन्द, अकलंक जैसे कुछ आचार्य दोनों परम्परायें मानते हैं। परन्तु बौद्ध साहित्य में वर्णित भंगों को देखने से यह प्रतीत होता है कि 'अवक्तव्य' को चतुर्थ भंग मानने की परम्परा प्राचीनतर है। इस परम्परा को सर्वप्रथम कुन्दकुन्द ने एक ओर जहाँ स्वीकार किया[2] वहीं दूसरी ओर उन्होंने 'अवक्तव्य' को तृतीय भंग के रूप में मानकर अपना मतभेद भी व्यक्त किया। समन्तभद्र, अकलंक आदि आचार्यों ने कुन्दकुन्द का ही अनुकरण किया। परन्तु जिनभद्रगणि[3] आदि आचार्यों ने अवक्तव्य को केवल चतुर्थ स्थान देकर पञ्चास्तिकाय की परम्परा को ही मान्य ठहराया। बौद्ध साहित्य में निर्दिष्ट भंग परम्परा को देखने से भी जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के मन्तव्य की पुष्टि होती है।

उपर्युक्त सात भंगों में मूलतः तीन भंग ही हैं–स्यादस्ति, स्यान्नास्ति और स्यादस्ति च नास्ति च। शब्दों में उभय रूपों को युगपत् व्यक्त करने की सामर्थ्य न देखकर उसे 'अवक्तव्य' कह दिया गया। शेष तीनों भंग अवक्तव्य

---

१. सन्मति प्रकरण, १. ३६–४०
२. पञ्चास्तिकाय, गाथा १४
३. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २२३२

के साथ प्रथम तीनों भंगों के मेल से बनते हैं। इन सात भंगों से अधिक भंग पुनरुक्त होने के कारण अमान्य होते हैं।

अनेकान्तवाद को 'विभज्यवाद' भी कहा गया है। बुद्ध और महावीर दोनों ने अपने आप को 'विभज्यवादी' कहा है। अनेकान्तवाद के प्राचीन रूप को प्राचीन पालि-प्राकृत आगम साहित्य में देखा जा सकता है। पार्श्वनाथ परं-परा के अनुयायी सच्चक से बुद्ध ने कहा कि तुम्हारे पूर्व और उत्तर के कथन में परस्पर व्याघात हो रहा है-न खो संगयति पुरिमेन वा पच्छिमं, पच्छिमेन वा पुरिमं।[१] बुद्ध के शिष्य चित्तगहपति और निगण्ठ नातपुत्त के बीच हुए विवाद में भी चित्तगहपति ने निगण्ठ नातपुत्त पर यही दोषारोपण किया-सचे पुरिमं सच्चं पच्छिमेन ते मिच्छा, सचे पच्छिमं सच्चं पुरिमेन ते मिच्छा।[२]

इससे यह पता चलता है कि भगवान महावीर ने भी भगवान बुद्ध के समान मूलतः दो भंगों से विचार किया था-अत्थि और नत्थि। इन्हीं भंगों में स्वात्म-विरोध का दोषारोपण लगाया गया। महात्मा बुद्ध के भी भंगों में परस्पर विरोध झलक रहा है पर बुद्ध द्वारा महावीर पर लगाये गये आरोप में जो तीव्रता दिखाई देती है वह वहाँ नहीं। इसका कारण यह हो सकता है कि महावीर के विचारों में अनैकान्तिक निश्चिति थी और बुद्ध एकान्तिक निश्चय के साथ अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते थे। 'निश्चय के सूचक 'स्यात्' पद का प्रयोग यहाँ अवश्य नहीं मिलता, पर उसका प्रयोग उस समय महावीर ने किया अवश्य होगा। 'सिया' शब्द का प्रयोग 'स्यात्' अर्थ में वहाँ मिलता भी है।[३] जैसा उत्तर काल में प्रायः देखा जाता है, प्रतिपक्षी दार्शनिक 'स्यात्' में निहित तथ्य की उपेक्षा करते रहे हैं। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य बुद्धघोष ने स्वयं अनेकांतवाद को सस्सतवाद और उच्छेदवाद का सम्मिश्रित रूप कहा है[४]।

जो भी हो, इतना निश्चित था कि बुद्ध के समान महावीर ने भी अत्थि-नत्थि रूप में दो भंगों को ही मूलतः स्वीकार किया था। भगवतीसूत्र में भी इन्हीं दो भंगों पर विचार किया गया है। गौतम गणधर ने उन्हीं का अवलम्बन

---

१. मज्झिमनिकाय, भाग १, (रो.) पृ.२३२

२. संयुत्तनिकाय ४. पृ.२९८-९

३. चूलराहुलोवाद सुत्त (मज्झिमनिकाय) में 'सिया' शब्द का प्रयोग तेजोधातु के निश्चित भेदों के अर्थ में हुआ है।

४. मज्झिम निकाय अट्ठकथा, भाग २. पृ, ८३१; दीघनिकाय अट्ठकथा, भाग १, पृ. १०६,

लेकर तीर्थिकों के प्रश्नों का उत्तर दिया था—नो खलु वयंदेवाणुप्पिया, अत्थिभावं नत्थित्ति वदामो, नत्थिभावं अत्थित्ति वदामो। अम्हे णं देवाणुप्पिया! सब्वं अत्थिभावं अत्थीति वदामो, सब्वं नत्थिभावं नत्थीति वदामो।[1]

बौद्ध साहित्य के ही एक अन्य उद्धरण से यह पता चलता है कि भ. महावीर तीन भंगों का भी उपयोग किया करते थे। उनके शिष्य दीघनख परिव्राजक का निम्न कथन भ. बुद्ध की आलोचना का विषय बना था—

१. सब्बं मे खमति

२. सब्बं मे न खमति

३. एकच्चं मे खमति, एकच्चं मे न खमति

वेदों और त्रिपिटक ग्रन्थों में चतुष्कोटियों का उल्लेख आता है पर प्राचीन बौद्ध साहित्य में भ. महावीर के सिद्धान्तों के साथ उक्त तीन ही भंग दिखाई देते हैं। इसलिए ऐसा लगता है कि भ. महावीर ने मूलतः इन्हीं तीन भंगों को स्वीकार किया होगा। अतः अवक्तव्य का स्थान तीसरा न होकर चौथा ही रहना चाहिए।

जैनाचार्यों ने अनेकांतवाद पर विशेष चिन्तन किया। उनके चिन्तन का यही सम्बल था। इसलिए जब तृतीय अथवा चतुर्थ भंग के साथ भी एकान्तिक दृष्टि का आक्षेप किया गया तो उन्होंनें उससे बचने के लिए सप्त भंगों का सृजन किया। इस सप्तभंगी साधना में हर प्रकार का विरोध और ऐकान्तिक दृष्टि समाविस्थ हो जाती है। भगवतीसूत्र, सूत्रकृतांग, पंचास्तिकाय आदि प्राचीन ग्रंथों में यही विकसित रूप दिखाई देता है। उत्तर कालीन बौद्ध साहित्य में भी इसके संकेत मिलते हैं। थेरगाथा में कहा है—एकङ्गदस्सी दुम्मेधो, सतदस्सी च पण्डितो।[2] यहाँ 'सतदस्सी' के स्थान पर, लगता है, 'सत्तदस्सी' पाठ होना चाहिए था। इसे यदि हम सही माने तो सप्तभंगी का रूप स्पष्ट हो जाता है और उसकी और भी प्राचीनता सिद्ध हो जाती है।

जैनदर्शन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक निश्चयनय और व्यवहारनय, शुद्धनय और अशुद्धनय, पारमार्थिकनय और व्यावहारिकनय आदि रूप से भी पदार्थ का चिन्तन किया है। परन्तु इनका प्राचीन रूप बौद्ध साहित्य अथवा अन्य जैनेतर साहित्य में नहीं मिलता। संभव है, उसे उत्तरकाल में नियोजित किया गया हो।

---

१. भगवतीसूत्र, ७.१०. ३०४.

२. थेरगाथा, १०६

इस विवेचन से हम अनेकान्तवाद के विकास को निम्नलिखित सोपानों में विभक्त कर सकते हैं–

i) एकंसवाद–अनेकंसवाद
ii) सत्–असत्–उभयवाद
iii) चतुर्थभंग–अवक्तव्य
iv) सप्तभंग, और
v) द्विनय अथवा सप्तनय

अमराविक्खेपवाद और स्याद्वाद :

विकास के ये विविध रूप पालि साहित्य में भी दिखाई देते हैं। वहाँ कुछ रूप ऐसे भी मिलते हैं जिनमें स्याद्वाद सिद्धान्त झलकता है। ब्रह्मजाल सुत्त में निर्दिष्ट अमराविक्खेपवाद भी एक ऐसा सम्प्रदाय रहा है जो पार्श्वनाथ और महावीर के समान ही पदार्थ-चिन्तन किया करता था।

अमराविक्खेपवाद में अमरा नामक मछलियों के समान कोई स्थैर्य नहीं। उनकी दृष्टि में प्रत्येक वस्तु के विषय में उपस्थित किया गया विचार अज्ञानता और अनिश्चितता से ग्रस्त रहता है।[१] ब्रह्मजाल सुत्त में इसके चार उपसम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। प्रथम उपसम्प्रदाय के अनुसार "श्रमण-ब्राह्मण यह नहीं जानता कि यह कुशल है या अकुशल। उसके मन में ऐसा विचार आता है कि मैं स्पष्टतः नहीं जानता हूँ कि यह कुशल है या अकुशल है। यदि मैं यथाभूत जाने बिना यह कह दूं कि यह कुशल है और यह अकुशल है तो यह कुशल है और यह अकुशल है" यह असत्य भाषण होगा। और जो मेरा असत्य भाषण होगा, वह मेरा घातक होगा। और जो घातक होगा वह अन्तराय होगा। अतः वह असत्य भाषण के भय या घृणा से न यहकहता है कि "यह अच्छा है" और न यह कि "यह बुरा है"। प्रश्नों के पूछे जाने पर वचनों में विक्षेप दिखाई देता–स्थिर दृष्टि से बात नहीं करता यह भी मैंने नहीं कहा, वह भी नहीं कहा, अन्यथा भी नहीं, ऐसा भी नहीं है–यह भी नहीं, ऐसा नहीं–नहीं है–यह भी नहीं कहा।[२] इस सम्प्रदाय की दृष्टि में जो ज्ञान स्वर्ग या मोक्ष-प्राप्ति में बाधक होगा उसकी प्राप्ति असंभव है।[३]अमराविक्खेपवाद का द्वितीय-तृतीय भेद उपादानभय और अनुयोगभय के कारण कौन कुसल है और कौन अकुसल है, इस विषय में कोई उत्तर नहीं देता।[४]

---

१. दीघनिकाय, अट्ठकथा, १.११५
२. दीघनिकाय, भाग १, पृ. २३–२४.
३. वही, अट्ठकथा, भाग १, पृ. १५५
४. वही, भाग १, पृ. २४–२५

चतुर्थ सम्प्रदाय संजयवेलट्ठिपुत्त का है जो आत्मविषयक प्रश्नों के उत्तर में कोई निश्चित उत्तर नहीं देता। संजय ने उत्तर देने का जो माध्यम बनाया उसके पाँच भंग अधो लिखित हैं–

१. एवं पि मे नो (मैं ऐसा भी नहीं कहता)।

२. तथापि मे नो (मैं वैसा भी नहीं कहता)।

३. अञ्ञथा पि मे नो (अन्यथा भी नहीं कहता)।

४. नो ति पि नो (ऐसा नहीं है, यह भी नहीं कहता)।

५. नो ति पि मे नो (ऐसा नहीं नहीं है, यह भी नहीं कहता)।

दीघनिकाय अट्ठकथा में उपर्युक्त सिद्धान्त की दो प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की गई है। द्वितीयभंग शाश्वतवाद का निषेधक है। तृतीयभंग शाश्वतवाद का एकात्मक निषेधक है जो 'अञ्ञथा' से कुछ भिन्न हैं। चतुर्थभंग उच्छेदवाद का निषेधक है और पंचमभंग "मरने के बाद आत्मा का अस्तित्व है या नहीं" इसका निषेध करता है।

द्वितीय व्याख्या के अनुसार प्रथम भंग निश्चित कथन का निषेध करता है, जैसे "क्या यह अच्छा है" पूछे जाने पर वह उसे अस्वीकार करता है। द्वितीय भंग साधारण निषेधात्मक उत्तर को अस्वीकार करता है, जैसे "क्यों यह अच्छा नहीं है" पूछे जाने पर वह स्वीकार नहीं करता। तृतीय भंग प्रथम और द्वितीय दोनों भंगों को अस्वीकार करता है। तात्पर्य यह है कि जो कुछ आप कह रहे हैं वह प्रथम व द्वितीय भंग से भिन्न है। उसे भी तृतीय भंग स्वीकार नहीं करता। चतुर्थ भंग तृतीय भंग को अस्वीकार करता है। पंचम भंग निषेध का भी निषेध करता है। "क्या वह प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का निषेध करता है" इस प्रश्न के उत्तर में भी निषेधात्मक स्वर है। इस प्रकार अमराविक्खेपवाद किसी भी पक्ष पर स्थिर नहीं रहता।

उपर्युक्त भंगों की ओर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट है कि पंचम भंग निषेध का भी उत्तर निषेधात्मक रूप से देता है। इसलिए संजय के सिद्धान्त में प्रथम चार भंगों का ही मूलतः अस्तित्व है। सामञ्ञफलसुत्त में भी संजय ने प्रथम चार भंगों का ही आधार लिया है–

१. अत्थि परो लोको।

२. नत्थि परो लोको।

३. अत्थि च नत्थि च परो लोको।

४. नेवत्थि न नत्थि परो लोको।

ये चारों भंग जैन दृष्टि से निम्न प्रकार कहे जा सकते हैं–

१, स्यादस्ति
२. स्यान्नास्ति
३. स्यादस्ति नास्ति, और
४. स्यादवक्तव्य

प्रथम भंग विधिपक्ष, द्वितीयभंग निषेधपक्ष, तृतीय भंग समन्वय पक्ष और चतुर्थ भंग वचनागोचर अतएव अवक्तव्य का प्रतिनिधित्व करता है। इन चारों का विकास क्रमिक रूप से हुआ है। प्रथम तीन भंग ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में स्पष्टतः उपलब्ध होते हैं। प्रथम दो भंग तो शायद ऋग्वेद से भी पूर्व के होंगे। यही कारण है कि नासदीय सूक्त के ऋषि ने उनका उल्लेख स्पष्ट न करके सीधे तृतीय भंग का उल्लेख कर दिया–जगत का आदि कारण न सत् है और न असत्।[1]

प्रस्तुत सूत्र से प्रतीत होता है कि ऋषि के समक्ष सत् और असत् ये दोनों कोटियां उपलब्ध थीं। समन्वय की दृष्टि से उन्होंने "जगत का आदि कारण सत् भी नहीं और असत् भी नहीं" कहकर एक तीसरी कोटि स्थापित की जिसे अनुभय कहा जा सकता है। जैनदर्शन में इसे ही 'स्यादस्ति नास्तिच' कहा गया है। उपनिषदों में ब्रह्म को ही जब परम तत्व स्वीकार किया गया तो स्वभावतः आत्मा या ब्रह्म को अनेक विरोधी धर्मों का केन्द्र बन जाना पड़ा। इन विरोधी धर्मों के समन्वय करने में ऋषियों को जब पूर्ण सन्तोष न दिखाई दिया तो उन्होंने चतुर्थ भंग तैयार किया कि ब्रह्म-आत्मा वचन-अगोचर-अवक्तव्य है।[2]

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपनिषद्काल में ये चार भंग बन चुके थे।

i) सत्
ii) असत्
iii) सदसत्, और
iv) अवक्तव्य

---

१. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
—ऋग्वेद, १०.१२९.

२. सदासीद्वरेण्यम्, मुण्डकोपनिषद, २.२.१; श्वेताश्वतरोपनिषद्, १.८; यतो वाचा निवर्तन्ते, तैत्तिरीय, २.४; छान्दो, १,१९.१११.

ये चारों भंग जैन दर्शन द्वारा स्वीकृत प्रथम चार भंगों के समान ही हैं। अमराविक्खेपवाद में भी ये चारों ही भंग दिखाई देते हैं, जैसा हम पीछे देख चुके हैं।

जैनागमों में भी ये भंग दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणतः भगवती सूत्र में गौतम के प्रश्न के उत्तर में भ. महावीर ने कहा–

१. स्व के आदेश से आत्मा है।

२. पर के आदेश से आत्मा नहीं है।

३. तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।

यहाँ एक विशेषता दिखाई देती है। वह यह कि अवक्तव्य को तृतीय स्थान दिया गया है और तृतीय कोटि (अनुभय) समाप्त कर दी गई है। पर यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि तृतीय भंग में जो तदुभय है उसमें विधि और निषेध दोनों का समन्वय है। यदि ऐसा माने तो लगता है, जैनागम युग में तृतीय और चतुर्थ दोनों भंगों को एक कर दिया गया। पर बाद के आचार्यों ने उसे पृथक्-पृथक् करके पुनः चार भंग स्थापित किये। शेष तीन भंग प्रथम चार भंगों के विस्तृत रूप हैं जो जैनों के अपने हैं।

अमराविक्खेपवाद और जैनो के स्याद्वाद को देखकर कीथ जैसे अनेक धुरन्धर विद्वानों ने संजय को ही स्याद्वाद की पृष्ठभूमि में खड़ा बताया।[१] जैकोबी ने स्याद्वाद को संजय के अज्ञानवाद (अनिश्चिततावाद) के विपरीत उपस्थित किया गया सिद्धान्त माना।[२] मियमीतो ने इसे बुद्ध द्वारा स्वीकृत अव्याकृत के समकक्ष बताने का प्रयत्न किया।[३]

ये स्थापनायें सही नहीं दिखतीं। स्याद्वाद की पृष्ठभूमि तैयार करने में वास्तविक श्रेय संजय को नहीं है। श्रेय तो उस वेद, उपनिषद् और बुद्ध तथा महावीर की सामयिक परिस्थिति को है जहाँ प्रथम चार कोटियों द्वारा सिद्धान्तों का वर्णन किया जाता रहा है। शीलांक ने चतुष्कोटि को मानने वाले चार सम्प्रदायों का उल्लेख किया है–क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और वैनयिक। जैन दर्शन के नव पदार्थों के आधार पर इन्हीं चारों को ३६३ मतों–सम्प्रदायों में विभक्त किया गया। ये सभी सम्प्रदाय मुख्यतः चार प्रकार के प्रश्नों से सम्बन्ध रखते थे–[४]

---

1. Buddhist Philosophy, P. 303
२. जैन सूत्र, भाग २, SBE - भाग १५, भूमिका–XXVII
3. Buddhism and Culture, P. 71
४. सूत्रकृतांग, पृ. २१२

१. सति भावोत्पत्तिः को वेत्ति ।
२. असति भावोत्पत्तिः को वेत्ति ।
३. सदसति भावोत्पत्तिः को वेत्ति, और ।
४. अवक्तव्यं भावोत्पत्तिः को वेत्ति ।

ये चारों भंग स्याद्वाद के प्रथम चार भंगों से समानता रखते हैं । अन्तर इतना ही है कि एक ओर जहाँ क्रियावादी वगैरह दार्शनिक विवादग्रस्त प्रश्नों में संदेह व्यक्त करते हैं या उन्हें अस्वीकार करते हैं वहीं जैन दर्शन कथञ्चित् दृष्टि को लेकर किसी भी पक्ष में एक निश्चित विचार रखता है ।

इससे यह निश्चित होता है कि अमराविक्खेपवाद के आधार पर भ. महावीर ने स्याद्वाद सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया था । पर तीर्थंकरों की परम्परा से प्राप्त स्याद्वाद को परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने व्याकृत किया । उन्होंने तात्कालिक दार्शनिक क्षेत्र में जो तीन या चार भंग उपयोग में आ रहे थे उन्हीं में 'स्यात्' शब्द का नियोजनकर वस्तु के सत्य-स्वरूप की व्यवस्था का प्रतिपादन किया और प्रत्येक सिद्धान्त का उत्तर एक निश्चित दृष्टिकोण से दिया । विकसित साहित्य में सात भंगों द्वारा सिद्धान्तों का और भी उत्तरकालीन स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन मिलता है ।

अमराविक्खेपवाद के तुलनात्मक अध्ययन और विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि संजयवेलट्ठिपुत्त अपना पृथक् संप्रदाय स्थापित करने के पूर्व जैन मुनि रहा है ।[१] यह मुनिदीक्षा उसने पार्श्वनाथ सम्प्रदाय में ली होगी । दीघनख-परिब्बाजक संजय का भतीजा था ।[२] उसने भी संजय का अनुकरण किया होगा । यही कारण है कि उसके सिद्धान्त में जैनदर्शन का अनेकान्त पक्ष दिखाई देता है । इसलिए अमराविक्खेपवाद अथवा संजय को भ. महावीर के स्याद्वाद सिद्धान्त का पुरस्कर्ता नहीं कहा जा सकता । इसके विपरीत संभव यह है कि संजय वेलट्ठिपुत्त ने चतुष्कोटियों अथवा स्याद्वाद की भंगियों का वास्तविक तात्पर्य न समझकर तात्कालिक दार्शनिक समस्याओं के सुलझाने में एक तटस्थ वृत्ति धारण की हो । वास्तव में स्याद्वाद एक ऐसा दार्शनिक सिद्धान्त है जिसके बीज औपनिषदिक साहित्य, बौद्ध साहित्य एवं अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में प्राप्य हैं । वस्तु की निष्पक्ष और सत्य मीमांसा अनेक दृष्टिकोणों का समावेश किये बिना सम्भव नहीं । यही कारण है कि पालि साहित्य में वस्तु-विवेचन के सन्दर्भों में सप्तभंगी न्याय के कई भंग-दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं ।

---

१. अमितगति श्रावकाचार, ६
२. Dictionary of Pali Proper names.

मक्खलि गोसाल, जो आजीविक सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है, भी प्रथम तीन भंगों (त्रिराशि) को स्वीकार करता है।[१] बॉसिम ने उस पर जैनधर्म का प्रभाव बताया है,[२] पर जयतिलके जैन धर्म को उससे प्रभावित बताते हैं।[३] पर ये दोनों मत ठीक नहीं। हम दीघनख परिव्राजक, जो पहले पार्श्वनाथ परम्परा का और बाद में महावीर का अनुयायी बना, द्वारा मान्य तीन भंगों का उल्लेख कर आये हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जैनधर्म में तीन भंगों की परम्परा थी ही नहीं। अधिक संभव है कि यह परम्परा सर्व सामान्य रही होगी।

विरोध परिहार :

स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार एक ही पदार्थ में भेद और अभेद, नित्य और अनित्य जैसे तत्त्व समाहित रहते हैं। पर एकान्तवादी दर्शन इसे स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि परस्पर विरोधी दो धर्म एक ही ताव में नहीं रह सकते। स्याद्वाद में उन्होंने साधारणतः निम्नलिखित दोषों को उपस्थित किया है–

i) परस्पर विरोध–शीत और उष्ण के समान
ii) वैयधिकरण्य–एक साथ एक ही स्थान में विरोधी धर्मों की स्थिति
iii) अनवस्था–परम्परा के विश्राम का अभाव
iv) व्यतिकर–सामान्य और विशेष गुणों को एक ही स्वभाव में रहना।
v) संकर–मिश्रण
vi) संशय–संदेह
vii) अप्रतिपत्ति–अनुपलब्धि
viii) उभयदोष–दोनों ओर दोष

जैन दर्शन इन दोषों को स्वीकार नहीं करता। उपर्युक्त दोषों में परस्पर विरोध एक सर्वसाधारण दोष दिखाई देता है। जैनाचार्यों ने तीन प्रकार के संभावित विरोध बताये हैं।

i) बध्यघातकभाव–नकुल और सर्प के समान
ii) सहानवस्थानभाव–एक स्थान में श्याम और पीत के असद्भाव के समान
iii) प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव–मेघ द्वारा सूर्य किरणों के रोकने के समान

---

१. सूत्रकृतांग, १–१; ११-३४
2. History and Doctrines of Ajivikas, P. 275
३. Early Buddhist Theory of knowledge, P. 156

इन विरोध-प्रकारों में से स्याद्वाद पर कोई भी विरोध नहीं आता। इसका मूल कारण यह है कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है और उन धर्मों को साधारण व्यक्ति तबतक नहीं समझ सकता जबतक वह भावाभावात्मक, भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक, सामान्यविशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक आदि रूप से चिन्तन न करे। प्रत्येक द्रव्य स्वद्रव्यचतुष्टय से सम्बद्ध रहता है और परद्रव्यचतुष्टय से असम्बद्ध। उदाहरणतः घट स्वयं में स्वद्रव्यचतुष्टय से विद्यमान है पर पट आदि की दृष्टि से वह उनसे भिन्न है। इस द्वैततत्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता अन्यथा निषेधात्मक तत्व अदृश्य हो जायेंगे और उनकी पर्यायों में परस्पर मिश्रण हो जायेगा।[1]

जैन परम्परा की दृष्टि से अभाव चार प्रकार के हैं–

१. प्रागभाव–कारण में कार्य का अभाव। जैसे मिट्टी में घट पर्याय का अभाव।

२. प्रध्वंसाभाव–विनाश के बाद कार्य का अभाव। कारण नष्ट होकर कार्य बन जाता है। घट पर्याय नष्ट होकर कपाल पर्याय बन जाती है। प्रागभाव उपादान है और प्रध्वंसाभाव निमित्त।

३. इतरेतराभाव–एक पर्याय का दूसरी पर्याय में अभाव होना। जैसे गाय घोड़ा नहीं हो सकती।

४. अत्यन्ताभाव–एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में त्रैकालिक अभाव। अन्यथा सब द्रव्य सभी द्रव्यों में बदल जायेंगे।

अनेकान्तवाद और जैनेतर दार्शनिक :

वैदिक और बौद्ध आचार्यों ने अनेकान्तवाद के सन्दर्भ में अनेक प्रश्न खड़े किये जिनका उत्तर जैनाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में भलीभाँति दिया। विरोध का मूल स्वर यह है कि अस्तित्व और अनस्तित्व अथवा भाव और अभाव ये दो विरोधी धर्म एक ही पदार्थ में कैसे रह सकते हैं? जैनाचार्यों ने कहा कि दो विरोधी धर्म एक ही पदार्थ में स्वद्रव्यचतुष्टय के आधार पर रहते हैं और परद्रव्यचतुष्टय के आधार पर नहीं रहते (सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च)। इसे हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं।

पदार्थ की उत्पत्ति, विनाश और स्थिति को 'अन्यथानुपपन्नत्वहेतु' के माध्यम से सिद्ध किया जाता है। इसे भी द्रव्यप्रकरण में लिख चुके हैं। बौद्ध

---

१. स्याद्वादमंजरी, १४

भी इसे स्वीकार करते हैं। उनके मत में सजातीयक्षण उपादानकारण बनते हैं। इसे जैन परिभाषा में 'ध्रौव्य' कह सकते हैं और बौद्ध परिभाषा में 'सन्तान'। ध्रौव्य या सन्तान के माने बिना स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, बन्ध-मोक्ष आदि नहीं हो सकते।

प्रत्येक द्रव्य में भेदाभेदात्मक तत्व रहते हैं। द्रव्य से गुण और पर्यायों को पृथक् नहीं किया जा सकता। व्यवहार की दृष्टि से उनकी संज्ञा आदि में भेद अवश्य हो जाता है। वादिराज ने अर्चट के खण्डन का खण्डन इसी आधार पर किया।[1]

जात्यन्तर के आधार पर भी विरोधात्मकता को समझा जा सकता है। उदाहरणतः स्वभाव को देखकर किसी को 'नरसिंह' कह देना। पदार्थ में भेदाभेदात्मक तत्वों का संमिश्रण रहता ही है। इसी को जात्यन्तर कहते हैं। अपेक्षा की दृष्टि से वे एक स्थान पर बने रहते हैं। अतः कोई विरोध नहीं।[2]

धर्मकीर्ति का यह तर्क भी व्यर्थ है कि पदार्थ के सामान्यविशेषात्मक होने से दही और ऊँट एक हो जायेगा। अकलंक ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि 'सर्वोभावास्तदतत्स्वभावाः' के अनुसार दही और ऊँट पदार्थ की दृष्टि से एक हैं पर स्वभावादि की दृष्टि से पृथक् न होते तो दही को खाने वाला ऊँट क्यों नहीं खा लेता ? सामान्य का तात्पर्य है सदृश परिणाम। दही और ऊँट सदृश परिणामवाले नहीं। अतः साधारणतः उनमें कोई सम्बन्ध नहीं। दही पर्यायें अलग रहती हैं और ऊँट की पर्यायें अलग रहती हैं। न दही को ऊँट कह सकते हैं और न ऊँट को दही। अकलंक ने यह भी कहा कि यदि दही और ऊँट की पर्यायें एक हो सकती हैं तो सुगत पूर्व पर्याय में मृग थे, फिर सुगत की पूजा क्यों की जाती और मृग क्यों खाने के काम आता है ? अतः द्रव्य और पर्यायों में तादात्म्य और नियत सम्बन्ध होना आवश्यक है। कोई भी द्रव्य अपनी संभावित पर्यायों में ही परिणत हो सकता है।[3]

शंकर, रामानुज, बल्लभ आदि वेदान्ताचार्यों ने भी इसी प्रकार के प्रश्न अनेकान्तवाद के सन्दर्भ में किये हैं। आधुनिक विद्वान भी उनके प्रभावों से उन्मुक्त नहीं हो सके। इसका मूल कारण यह रहा है कि अनेकान्तवाद को

---

१. न्यायविनिश्चयविवरण, १०८७

२. अनेकान्तजयपताका, भाग १, पृ. ७२; न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ३४९.

३. न्यायविनिश्चयविवरण, भाग २, पृ. २३३; न्यायविनिश्चय, , २०३–२०५.; सिद्धिविनिश्चय स्ववृत्ति, ६.३७.

किसी ने सही रूप से समझने का प्रयत्न ही नहीं किया। अन्यथा ये प्रश्न उठते ही नहीं। राधाकृष्णन जैसे भारतीय मनीषी भी उसे सम्यक् नहीं समझ सके।

इस प्रकार अनेकान्तवादी नयवाद और स्याद्वाद के माध्यम से वस्तु का सम्यक् विवेचन करने में समर्थ हो जाता है। वह यथार्थतः विभिन्न एकान्त वादियों के बीच कुशल न्यायाधीश का कार्य करता है। वह सभी की दृष्टियों तथा तर्कों को निष्पक्ष भाव से सुनकर तटस्थ वृत्ति से स्याद्वाद की आधार शिला पर खड़े होकर पदार्थ के स्वरूप को उपस्थित करता है। यह एक ऐसा विचित्र और अनूठा सिद्धान्त है जिसमें सभी पक्षों का समान आदर सन्निहित रहता है। यही इसकी विशेषता है। अनेकान्तवाद के उपर्युक्त इतिहास के देखने से यह स्पष्ट है कि चिन्तन के क्षेत्र में 'अनेकान्तवाद' और विचार के क्षेत्र में 'स्याद्वाद' ने विषम वातावरण को सौम्य और सहृदय बनाने का प्रयत्न किया। निःसन्देह इसे उनका एक महनीय योगदान कहा जा सकता है।

संसार की प्रकृति में द्वैतवाद और अद्वैतवाद अथवा नानात्ववाद और एकत्ववाद घुले हुए हैं। उनकी दार्शनिक मान्यतायें अनुभूति के परे नहीं। दोनों प्रकार की मान्यताओं के बीच स्वस्थ सम्बन्ध को स्थापित करने की दृष्टि से निश्चयनय और व्यवहारनय की स्थापना की गई है। निश्चयनय पदार्थ के मूल स्वरूप पर विचार करता है अतः वह सूक्ष्मग्राही है तथा व्यवहारनय पदार्थ में समागत अन्य पदार्थों के मिश्रण से उत्पन्न तत्वों का विश्लेषण करता है अतः वह स्थूलग्राही है। बौद्धदर्शन का स्थविरवादी सम्प्रदाय निश्चयनय और व्यवहारनय के स्थान पर नीतार्थ और नेय्यार्थ अथवा परमत्थसच्च और संमुतिसच्च, विज्ञानवादी परिनिष्पन्न और परतन्त्र, तथा शून्यवाद परमार्थ और लोकसंवृति-सत्य नाम देते हैं। शंकराचार्य ने भी इन्हें क्रमशः पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य कहा है। पारमार्थिक सत्य को सही ढंग से समझने के लिए व्यावहारिक सत्य को समझना अत्यावश्यक है। जैनागमों में जीव और कर्म का सम्बन्ध तथा द्रव्य की व्यवस्था इन दोनों नयों के आधार पर स्पष्ट की गई है।

आचार के क्षेत्र में भी इन नयों का उपयोग हुआ। तत्वज्ञान के क्षेत्र में जहां ये जगत् और पदार्थ के स्वरूप पर विचार करते हैं वहीं आचार के क्षेत्र में ये बन्ध और मोक्ष तत्व को स्पष्ट करते हैं। व्यवहार दृष्टि आचार के बाह्य पक्ष को भी स्वीकार करती है। यही शुभोपयोग का क्षेत्र है।

पाश्चात्यदर्शन और अनेकान्तवाद :

पाश्चात्य चिन्तकों ने भी इन दोनों नयों को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। हिरेक्लिटस, पारमेनाइडीस, सार्क्रेटीज, प्लेटो, अरस्तु कांट, हेगल, विलियम जेम्स और ब्रेडले जैसे दार्शनिकों का चिन्तन स्याद्वाद के चिन्तन से मिलता-जुलता है। थेलीज से लेकर अरस्तु तक दार्शनिक क्षेत्र में मतभेदों को देखकर पीरो ने संजयवेलट्ठिपुत्त के समान संशयवाद और अनिश्चिततावाद को प्रतिपादित किया। सेक्लेटस, एम्पिरिकस और एनेसिडिमस ने प्राचीन मतों का खण्डन कर यह स्थापित किया कि वस्तु में अनन्तगुण होते हैं जिन्हें एक व्यक्ति नहीं समझ सकता। साथ ही एक ही पदार्थ में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होने से उनके विषय में एकमत भी नहीं हो पाता। अतः इन्द्रियप्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता। यह मत किसी सीमा तक अनेकान्तवाद से मिलता-जुलता है।

प्रो. अलबर्ट आईन्स्टीन के सापेक्षवाद का भी यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में उन्होंने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अपना एक नया चिन्तन प्रस्तुत किया। उनके 'असीम सापेक्षता' पर ही उन्हें १९२१ में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उनके Theory of Relativity का ही हिन्दी अनुवाद सापेक्षवाद किया गया जो तत्वतः स्वीकृत हो गया। यह सापेक्षवाद स्याद्वाद से बिलकुल मिलता-जुलता है। इसलिए राधाकृष्णन् जैसे सर्वमान्य दार्शनिकों ने स्याद्वाद का भी अनुवाद Theory of Relativity करके सापेक्षवाद को स्वीकार किया। दोनों सिद्धान्तों में सापेक्षिक सत्य पर जोर दिया गया है और अनेक उदाहरणों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि वस्तुयें अनन्तधर्मात्मक हैं जिन्हें एक साधारण व्यक्ति युगपत् नहीं जान सकता। अतः प्रत्येक दृष्टिकोण ऐकान्तिक सत्य को लिये हुए है। इसलिए आईन्सटीन का परीक्षावादी सिद्धान्त और स्याद्वाद की परीक्षा पद्धति लगभग समान है।

स्याद्वाद गणितशास्त्र के Law of Combination (संयोग नियम) के आधार पर अस्ति, नस्ति और अवक्तव्य के मूल भंगों को मिलाकर सप्तभंगियों को तैयार करता है। वस्तु तत्व को सही समझने के लिए यह एक सुलझा उपाय है। 'स्यात्' लाञ्छन इसकी संभावित आशंकाओं को भी दूर कर देता है। उसके रहने से विधेयात्मकता के साथ निषेधात्मकता और निषेधात्मकता के साथ विधेयात्मकता तथा दोनों की स्थिति में अवक्तव्य दृष्टि स्वतः समाहित हो जाती है। प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की दृष्टि से सप्तभंगी एक तार्किक आकार

लिये हुए हैं जो स्वद्रव्यचतुष्टय और परद्रव्यचतुष्टय की दृष्टि से तत्वमीमांसा प्रस्तुत करते हैं। स्याद्वाद समूचे रूप में त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र (Three valued Logic) या बहुमूल्यात्मक तर्कशास्त्र का समर्थक है। परन्तु यहाँ यह दृष्टव्य है कि सप्तभंगी को त्रिमूल्यात्मक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें नास्ति नामक भंग एवं अवक्तव्य नामक भंग क्रमशः असत्य एवं अनियतता (false and indeterminate) के सूचक नहीं है। अतः स्याद्वाद त्रिमूल्यात्मक है किन्तु सप्तभंगी द्विमूल्यात्मक है, उसमें असत्य मूल्य नहीं है। उसमें भी प्रमाण सप्तभंगी निश्चित सत्यता की सूचक है और नय सप्तभंगी आंशिक सत्यता की।[१]

'एव' का प्रयोग :

यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति के लिए 'एव' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है और इसके प्रयोग से अस्तित्व या नास्तित्व का निषेध कर दिया जाता है। 'स्यात्' का प्रयोग साथ रहने से 'एव' का प्रयोग स्याद्वाद के अनुकूल हो जाता है। 'एव' तीन प्रकार का होता है– i) अयोगव्यवच्छेदक बोधक, जो विशेषण के साथ लगता है, जैसे शंभुःपाण्डु एव, ii) अन्ययोग व्यवच्छेदक बोधक, जो विशेष्य के साथ लगता है, जैसे पार्थ एव धनुर्धरः, और iii) अत्यन्तायोग व्यवच्छेदक बोधक, जो क्रिया के साथ लगता है, जैसे नीलं सरोजं अस्त्येव। सप्तभंगी में 'एवकार' अयोग व्यवच्छेदक माना गया है।[२] इसी सन्दर्भ में क्षणभंगवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि का भी खण्डन किया गया है।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेकान्तवाद किसी न किसी रूप में समग्र दर्शनों में व्याप्त है। उन सभी दर्शनों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने वाले सिद्धान्त की नितान्त आवश्यकता थी जिसे जैनदर्शन ने अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद सिद्धान्त की स्थापनाकर पूरा किया। आश्चर्य का विषय है कि उसे प्राचीन और आधुनिक जैनेतर दार्शनिकों ने सम्यक् रूप से समझने का प्रयत्न नहीं किया। यदि उसे यथारीत्या समझा जाता तो उसके माध्यम से अनेक समस्यायें सहज ही सुलझ सकती थीं। परस्पर संघर्ष, टकराव

---

१. महावीर जयंती स्मारिका–सप्तभंगी, प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में डॉ.–सागरमल जैन, जयपुर. १९७७.

२. धवला, ११.४.२, सप्तभङ्ग तरङ्गिणी, पृ. २५–२६.

और कटुता को दूर करने का उपाय स्याद्वाद सिद्धान्त में निहित है। पारस्परिक दृष्टिकोण को समझकर उनके बीच सामञ्जस्य स्थापित कर देना हर व्यक्ति और समुदाय की शान्ति के लिए अपेक्षित है। अतः स्याद्वाद विश्वशांति प्रस्थापित करने में अपना महनीय योगदान दे सकता है। सत्य की खोज का यही परम साधन है। आध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और व्यावहारिक क्षेत्र के विकास के लिए यह सिद्धान्त निश्चित ही अप्रतिम है।

षष्ठ परिवर्त

जैन आचार मीमांसा

षष्ठ परिवर्त

जैन आचार मीमांसा

१. श्रावकाचार

जैन साधना के क्षेत्र में सम्यक् आचार निर्वाण की प्राप्ति के लिये एक विशुद्ध साधन माना गया है। इसका वर्णन संवर और निर्जरा के अन्तर्गत आता है। कर्मों की निर्जरा करने और आत्मा को विशुद्धावस्था में लाने के लिए साधक क्रमशः श्रावक और मुनि आचार का परिपालन करता है और आध्यात्मिक विकास की सीढियाँ चढ़ता चला जाता है। इसके लिए सर्वप्रथम आवश्यक यह है कि उसका सम्यक् चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की सुदृढ़ भित्ति पर आधारित हो। साधना की इस परम और चरम दशा में पहुँचने के लिए साधक को क्रमशः श्रावक और मुनि आचार की साधना अपेक्षित हो जाती है।

श्रावकाचार साहित्य :

जैन साहित्य में आचारसंहिता पर पृथक् रूप से आचार्यों ने संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश में अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। श्रावकाचार के क्षेत्र में उपासकदशांग, श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र आदि कुछ आगम ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं जिनमें श्रावकों के आचार की रूपरेखा मिलती है। आगम ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्यों का जो साहित्य इस विषय पर प्राप्त होता है उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

	आचार्य	ग्रन्थ	भाषा
१.	कुन्दकुन्द (लगभग प्रथम शती ई.)	अष्टपाहुड विशेषतः चरित्र पाहुड में प्राप्त मात्र छह गाथायें (२९५-३०१) तथा रयणसार	प्राकृत
२.	स्वामी कार्तिकेय (ल. द्वितीय शती ई.)	कट्टिगेयाणुवेक्खा (धर्मभावना के अन्तर्गत)	प्राकृत

३.	उमास्वाति (ल. द्वितीय शती)	तत्वार्थ सूत्र (सप्तम अध्याय)	संस्कृत
४.	समन्तभद्र (ल. चतुर्थ शती ई.)	रत्नकरण्डश्रावकाचार	संस्कृत
५.	हरिभद्रसूरि (आठवीं शती)	सावयपण्णत्ति (?) तथा	प्राकृत
		सावयधम्मविहि	प्राकृत
		धर्मबिन्दु	संस्कृत
६.	जिनसेन (८-९ वीं सती)	आदिपुराण (पर्व ४०)	संस्कृत
७.	सोमदेव (१० वीं शती)	यशस्तिलक चम्पू (अष्टम अध्याय)	संस्कृत
८.	भावसेन (१० वीं शती)	भावसंग्रह	प्राकृत
९.	अमितगति (१० वीं शती)	अमितगतिश्रावकाचार	संस्कृत
१०.	जिनेश्वरसूरि (११ वीं शती)	षट्स्थान प्रकरण	प्राकृत
११.	अमृतचन्द्र (१०-११ वीं शती)	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय	संस्कृत
१२.	वसुनन्दि (११-१२ वीं शती)	वसुनन्दी श्रावकाचार	प्राकृत
१३.	शान्तिसूरि (१२ वीं शती)	धर्मरत्न प्रकरण	प्राकृत
१४.	आशाधर (१२३९ ई.)	सागार धर्मामृत	संस्कृत
१५.	जिनेश्वरसूरि (१२५६ ई.)	श्रावकधर्मविधि	संस्कृत
१६.	गुणभूषण (१४-१५ वीं शती)	श्रावकाचार	संस्कृत
१७.	देवेन्द्रसूरि (१४ वीं शती)	सड्ढजीयकप्प	प्राकृत
१८.	लक्ष्मीचन्द्र (१५ वीं शती)	सावयधम्मदोहा (?)	अपभ्रंश
१९.	जिनमण्डनगणि (१५ वीं शती)	श्राद्धगुणविवरण	संस्कृत
२०.	रत्नशेखर सूरि (१४४९ ई.)	सड्ढविहि	प्राकृत
२१.	राजमल्ल (१७ वीं शती)	लाटी संहिता	संस्कृत
२२.	कुन्थुसागर (२० वीं शती)	श्रावकधर्मप्रदीप	संस्कृत

श्रावक परिभाषा :

श्रावकाचार का तात्पर्य है—गृहस्थ का धर्म। श्रावक (सावग, सावय) के अर्थ में उपासक और सागार जैसे शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। साधक व्यक्ति अध्ययन, मनन, चिन्तन अथवा परोपदेश से जब साधना की ओर चरण मोड़ता है तब हम उसे श्रावक कहने लगते हैं। उसके विचार और कर्म की दिशा परम शान्ति और सुख की उपलब्धि की ओर रहती है। पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना का भी उत्तरदायित्व

उसके सबल कंधों पर आ जाता है। इसलिए श्रावकाचार व्यक्ति को आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर जाने के पूर्व सामाजिक कर्तव्य की ओर खींचता है। और जो व्यक्ति सामाजिक कर्तव्य को पूरा करता है वह आत्मकल्याण तो करेगा ही, साथ ही मानवता का भी अधिकतम उपकार करेगा। श्रावक का अर्थ भी यही है कि जो आत्मकल्याणकारी वचनों का श्रवण करे वह श्रावक है।[1] श्रावक प्रज्ञप्ति में भी कहा गया है कि सम्यग्दर्शन आदि से युक्त जो व्यक्ति प्रतिदिन यतिजनों के समीप साधु और गृहस्थों के आचार का प्रवचन सुनता है वह श्रावक है—

संपत्तदंसणाई पयदियह जइजण सुणेई य।
सामायारिं परमं जो खलु तं सावगं विन्ति ॥

आशाधर ने श्रावक उसे माना है जो पञ्च परमेष्ठी का भक्त हो, दान-पूजन करने वाला हो, भेदविज्ञान रूपी अमृत को पीने का इच्छुक हो तथा मूलगुणों और उत्तरगुणों का पालन करने वाला हो।[2] इस प्रकार श्रावक का कर्तव्य धर्मश्रवण और उसका परिपालन, दोनों हो जाते हैं।

आचार्यों ने आगमों का मन्थन कर श्रावकों के गुणों को एकत्रित किया है। जिन मण्डन गणि ने ऐसे ३५ गुणों का उल्लेख किया है जिनका श्रावकों में होना आवश्यक है—(१) न्याय सम्पन्न वैभव, (२) शिष्टाचार की प्रशंसा, (३) कुल एवं शील की समानता वाले उच्च गोत्र के साथ विवाह, (४) पापभीरुता, (५) प्रचलित देशाचार का पालन, (६) राजा आदि की निन्दा से अलिप्तता, (७) योग्य निवासस्थान में द्वारवाला मकान, (८) सत्संग, (९) माता-पिता का पूजन-आदर-सत्कार, (१०) उपद्रव वाले स्थान का त्याग, (११) निन्द्य प्रवृत्तियों से अलिप्तता, (१२) अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार व्यय करने की प्रवृत्ति, (१३) सम्पत्ति के अनुसार वेशभूषा, (१४) सुश्रुषा आदि आठ गुणों से युक्तता, १५) प्रतिदिन धर्म का श्रवण, (१६) अजीर्णता होने पर भोजन का त्याग, (१७) भूख लगने पर प्रकृति के अनुकूल भोजन, (१८) धर्म, अर्थ और काम का परस्पर बाधा रहित सेवन, (१९) अतिथि, साधु एवं दीन जन की यथायोग्य सेवा, (२०) सर्वदा कदाग्रह से मुक्ति, (२१) गुण में पक्षपात, (२२) प्रतिबद्ध देश एवं काल की क्रिया का त्याग, (२३) स्वावलंबन का परामर्श, (२४) व्रतधारी और ज्ञानवृद्धजनों की पूजा, (२५) पोष्यजनों का यथायोग्य पोषण, (२६)

---

१. श्रृणोति गुर्वादिभ्योधर्ममिति श्रावक: सागार धर्मामृत, १.१५; सावय पण्णत्ति, गाथा २; सागारधर्मामृतटीका १.१५; हरिभद्रसूरिने धर्मबिन्दू (१) में 'गृहस्थधर्म' को ही श्रावकधर्म कहा है।

२. सागारधर्मामृत, १.१५.

दीर्घदर्शिता, (२७) विशेषज्ञता, (२८) कृतज्ञता, (२९) लोकप्रियता, (३०) लज्जालुता, (३१) कृपालुता, (३२) सौम्य आकार, (३३) परोपकार करने में तत्परता, (३४) अन्तरंग छः शत्रुओं के परिहार के लिए उद्योगिता, और (३५) जितेन्द्रियता।[1] हरिभद्रसूरि ने ऐसे गुणों को गृहस्थों के सामान्य धर्म में अन्तर्भूत किया है।

इन गुणों में धर्म के साथ ही अन्य क्षेत्रों से सम्बद्ध साधारण गुणों का भी समावेश कर दिया गया है। श्राद्धविधि में इन्हीं गुणों को संक्षेप में २१ बताया है— (१) उदार हृदयी, (२) यशवन्त, (३) सौम्य प्रकृति वाला, (४) लोकप्रिय, (५) अक्रूर प्रकृतिवाला, (६) पाप से भय खाने वाला, (७) धर्म के प्रति श्रद्धावान, (८) चतुर, (९) लज्जावान, (१०) दयाशील, (११) मध्यस्थ वृत्तिवान्, (१२) गंभीर, (१३) गुणानुरागी, (१४) धर्मोपदेशक, (१५) न्यायी, (१६) शुद्ध विचारक, (१७) मर्यादा युक्त व्यवहारक, (१८) विनयशील, (१९) कृतज्ञ, (२०) परोपकारी, और (२१) सत्कार्य में दक्ष।[2]

इन गुणों से युक्त श्रावक निश्चित ही समाज और राष्ट्र का अभ्युत्थान-कारी सिद्ध होगा। ये गुण सामाजिक धर्म हैं। जीवन में सफलता प्राप्ति के लिए उनकी नितान्त आवश्यकता होती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, आदि जैसे गुण व्यक्ति के जीवन को स्वर्ग बनाने में समर्थ हो सकते हैं।

श्रावकाचार के प्रतिपादन के प्रकार :

जैन साहित्य में श्रावकाचार का वर्णन साधारणतः छह प्रकार से मिलता हैं। किसी ने ग्यारह प्रतिमाओं का आधार लिया है, तो किसीने बारह व्रतों का और किसीने पक्ष, चर्या और साधक आदि भेद किये है—

(१) ग्यारह प्रतिमाओं का आधार लेकर श्रावकाचार का प्रतिपादन करने-वालों में आचार्य कुन्दकुन्द (चारित्र प्राभृत, २२), स्वामी कार्तिकेय और वसुनन्दी प्रमुख हैं।

(२) बारह व्रतों का आधार बनाकर आचार्य उमास्वामी (तत्वार्थसूत्र, सप्तम अध्याय) और समन्तभद्र तथा हरिभद्र जैसे चिन्तकों ने श्रावकों की आचार- प्रक्रिया बतायी है। सल्लेखना को भी इसमें रखा गया है। अष्ट मूलगुणों का पालन भी आवश्यक बताया है।

---

१. श्राद्ध गुण विवरण – अगरचन्द नाहटा द्वारा संकलित, जिनवाणी, जनवरी–मार्च, १९७०, पृष्ठ ४५.

२. श्रावक समाचारी – रूपचंद्र जैन, जिनवाणी, जनवरी–मार्च १९७०, पृष्ठ ८०.

(३) उपासकदशांग में बारह व्रतों के साथ ही ग्यारह प्रतिमाओं का भी वर्णन किया गया है। लगता है, इसमें कुन्दकुन्द और उमास्वामी की परम्पराओं को सम्मिलित करने का प्रयास हुआ है।

(४) कुछ आचार्यों ने श्रावकों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर उनकी चर्या का विधान किया है। पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। आचार्य जिनसेन, सोमदेव और आशाधर उनमें प्रमुख हैं।

(५) चारित्रसार (४१.३) में श्रावक के चार भेद मिलते हैं—पाक्षिक, चर्या, नैष्ठिक और साधक।

(६) हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दु (११) में सामान्य और विशेष धर्म का आख्यानकर श्रावकाचार का प्रतिपादन किया है।

श्रावकाचार के उपर्युक्त प्रतिपादन प्रकारों को देखने से ऐसा लगता है कि धर्मसाधना का वातावरण जैसे-जैसे धूमिल होता गया, श्रावकों की भी आचार-प्रक्रिया वैसी-वैसी ही व्यवस्थित और समयानुकूल होनी गई। परन्तु यहाँ दृष्टव्य है कि प्रतिपादन के प्रकारों में बदलाहट के बावजूद जैन सभ्यता के मूल रूप में कोई विशेष अन्तर नही आया बल्कि व्याख्या के दौरान वह राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय धर्म का रूप लेता रहा। इस दृष्टि से अंतिम तीनों प्रकार विशेष उपयोगी है यहाँ विवेचन करते समय हमने उन्ही को आधार बनाया है।

श्रावक के भेद :

उपर्युक्त प्रकारों के आधार पर साधारणत: जैन श्रावक की तीन श्रेणियाँ बतायी गयी है : पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक।[१] चर्या नामक चौथा भेद भी इसमें जोड़ा जा सकता है पर इसे पाक्षिक श्रावक के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अहिंसा पालन करनेवाला श्रावक 'पाक्षिक' कहलाता है। श्रावक-धर्म का सम्यक् परिपालन करनेवाला श्रावक 'नैष्ठिक' कहलाता है और आत्मा के स्वरूप की साधना करनेवाला श्रावक 'साधक' कहलाता है। आध्यात्मिक साधक की दृष्टि से श्रावक के ये तीन वर्ग अथवा सोपान हैं। इनको जघन्य, मध्यम और उत्तम श्रावक भी कहा गया है। श्रावक के ये भेद परिनिष्ठित रूप में समझना चाहिए।

---

१. सागारधर्मामृत, १.२०.

व्यक्ति श्रावक की इन तीनों अवस्थाओं का परिपालन यदि सही रूप से करता है तो वह ऋषियों से भी अधिक पवित्र माना गया है।[1] श्रावक धर्म का पालन करने वाला वस्तुतः वही हो सकता है जो न्यायपूर्वक धन कमानेवाला हो, गुणों को, गुरुजनों को तथा गुणों में प्रधान व्यक्तियों को पूजनेवाला हो, हित-मित तथा प्रिय वक्ता हो, धर्म-अर्थ-काम रूप त्रिवर्ग को परस्पर विरोध रहित सेवन करने वाला हो, त्रिवर्ग के योग्य स्त्री, ग्राम और मकान सहित लज्जावान् हो, शास्त्र के अनुकूल आहार-विहार करने वाला हो, सदाचारियों की संगति करनेवाला हो, विवेकी, उपकार का जानकार, जितेन्द्रिय, धर्मविधि का श्रोता, करुणाशील और पापभीरू हो।

न्यायोपात्तधनो, यजन्गुणगुरून्, सद्गीस्त्रिवर्गं भजन् –
नन्योन्यानुगुणं, तदर्हगृहिणी-स्थानालयो ह्रीमयः।
युक्ताहारविहार-आर्यसमितिः, प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
शृण्वन्धर्मविधिं, दयालु धर्मीः, सागारधर्मं चरेत्॥[2]

(१) पाक्षिक श्रावक

साधक की यह प्रथम अवस्था है। इसमें वह धर्म के सर्वसाधारण स्वरूप की ओर झुकता है और आगे बढ़ने की पृष्ठभूमि तैयार करता है। आध्यात्मिक साधना की ओर उसका झुकाव है इसलिए उसे पाक्षिक कहा गया है। पाक्षिक श्रावक का सर्वप्रथम यह कर्तव्य है कि वह सभी प्रकार की स्थूल हिंसा से निवृत्त होकर अहिंसा की ओर अपने पग बढ़ाये। बैर और अशान्ति को पैदा करनेवाली हिंसा, प्राणी के जीवन में कभी सुखदायी नहीं हो सकती। अत परिवार और आस-पड़ोस में अपनी अहिंसावृत्ति से शांति बनाये रखना नितान्त अपेक्षित है। यह उसका प्रथम कर्तव्य है।

पाक्षिक श्रावक हिंसा को छोड़ने के लिए सबसे पहले मद्य-मांस-मधु और पंच उदुम्बर फलों को छोड़ दे। इसके बाद वह स्थूल हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील और परिग्रह को छोड़कर पञ्च अणुव्रतों का पालन करे।[3] यथार्थ-देव-शास्त्र-गु की पहिचान होना भी उसे आवश्यक है। यथार्थ देव वही हो सकता है जिस वीतरागता और निर्दोषता हो। यर्थाथ शास्त्र में सम्यक् साधना के दिशाबोध व

---

१. कुरलकाव्य, ८.
२. सागारधर्मामृत, १.११; श्राद्धगुण श्रेणिसंग्रह, पृ. २; धर्मबिन्दु ३–५.
३. सागारधर्मामृत, २.२.१६.

सामर्थ्य रहता है और यथार्थ गुरु में यथार्थ देव और यथार्थ शास्त्र दोनों के गुण विद्यमान रहते हैं। जिन और सरस्वती की उपासना, सत्संगति, त्याग, परोपकार, सेवा-सुश्रूषा, जन-कल्याण, निश्छलता, माधुर्य, स्वप्रशंसा और परनिन्दा त्याग आदि जैसे मानवीय गुणों का सम्यक् परिपालन करना भी पाक्षिक श्रावक का प्राथमिक कर्तव्य है। अष्टमूलगुण का परिपालन और सप्त व्यसनों का त्याग भी उसे आवश्यक है। इस दृष्टि से उसे सर्वथा अव्रती नहीं कहा जा सकता।[1] दान, पूजा, शील, उपवास ये चार श्रावक-धर्म के लक्षण हैं। स्वाध्याय, संयम, तप आदि क्रियाओं का पालन भी एक साधारण श्रावक का कर्तव्य माना जाता है।

आचार के सन्दर्भ में पाक्षिक श्रावक को आठ मूल गुणों (पंचाणुव्रत, तथा मद्य-मांस-मधु त्याग) का पालन करना आवश्यक है, यह प्राचीनतम रूप रहा होगा। उत्तरकाल में जब धर्म-साधना की ओर झुकाव कम होने लगा तो आचार्यों ने पंचाणुव्रतों के स्थान पर पंचोदुम्बर फलों (पीपल, बड़, उदुम्बर, गूलर और पिलखन) का त्याग निर्दिष्ट कर दिया। इन फलों में त्रस जीव रहते हैं। अतः उनका भक्षण विहित नहीं माना गया। इनके अतिरिक्त रात्रि-भोजन त्याग, पानी छानकर पीना, देवदर्शन करना ये तीन कर्तव्य भी पाक्षिक श्रावक के दैनन्दिन जीवन में जोड़ दिये गये हैं। उनकी दैनंदिनी में षट्कर्मों को भी आवश्यक कहा गया है—देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान।

इन मर्यादाओं और कर्त्तव्यों का पालन करने से एक साधारण व्यक्ति की आध्यात्मिक भूमिका का सुंदर गठन हो जाता है। वह अग्रिम साधना से कभी विचलित नहीं होता क्योंकि प्राथमिक साधना का वह भरपूर अभ्यास कर चुकता है। पाक्षिक-श्रावक के कर्तव्यों की ओर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति अपने आपको किसी धर्मविशेष से सम्बद्ध नहीं करना चाहते, वे भी यदि उनका समुचित रूप से पालन करें तो मानवता के संरक्षण और शांति-प्रस्थापन करने में उनका महनीय योगदान होना स्वभाविक है। इसी प्रकार बौद्ध धर्म में उपासक के लिए दस शिक्षापद और पंचशील का पालन करना आवश्यक बताया गया है।

२. नैष्ठिक श्रावक

ग्यारह प्रतिमायें :

श्रावक के व्रतों का परिपालन करनेवाला श्रावक नैष्ठिक कहलाता है। कषायों के क्षयोपशम की क्रमशः वृद्धि करने की दृष्टि से श्रावक देशसंयम का घात करने वाली दर्शनादि ग्यारह प्रतिमा रूप संयम स्थानों का पालन करता है।

---

१. लाटी संहिता, २.४७-४९.

इससे उसकी चित्तवृत्ति शान्त हो जाती है।[1] ये ग्यारह प्रतिमायें नैष्ठिक श्रावक के आध्यात्मिक विकास की अवस्थायें हैं—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग।

इस वर्गीकरण का मूल आधार शिक्षाव्रत रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में सम्मिलित किया। वसुनन्दि ने उनका अनुकरण कर सल्लेखना को तृतीय प्रतिमा के रूप में भी स्वीकार किया पर उमास्वामी, समन्तभद्र आदि आचार्यों ने सल्लेखना को मारणान्तिक कर्तव्यों में रखा। कुन्दकुन्द, कार्तिकेय, समन्तभद्र, आदि आचार्यों ने छठी प्रतिमा का नाम रात्रिभुक्तित्याग रखा। पर उत्तरकाल में उसके विवेचन में कुछ अन्तर हो गया। उपासकदशांग (१-६८) के टीकाकारों ने प्रतिमाओं के नाम इस प्रकार दिये हैं—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, कायोत्सर्ग, ब्रह्मचर्य, सचित्ताहार त्याग, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग (भृतकप्रेष्यारम्भ वर्जन), उद्दिष्टभुक्तित्याग, और श्रमणभूत[2]। इन प्रतिमाओं में कायोत्सर्ग और श्रमणभूत प्रतिमायें नवीन हैं। हम यहाँ सल्लेखना को मारणान्तिक कर्म मानकर सर्वमान्य प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. दर्शन प्रतिमा :

दार्शनिक श्रावक वह है जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो, संसार, शरीर और भोगों से मुक्त हो, अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन पञ्च परमेष्ठियों का उपासक हो तथा सत्यमार्ग का अनुयायी हो—

> सम्यग्दर्शनशुद्धः संसार-शरीरभोगनिर्विण्णः।
> पञ्चगुरुचरणशरणो दार्शनिकस्तावपथगृह्यः॥[3]

यहाँ दार्शनिक श्रावक होने की सबसे आवश्यक शर्त यह है कि वह सम्यकत्वी हो। सम्यकत्वी होने के लिए उसे वीतरागी आप्तदेव, आगम और जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्त्वों पर आस्था होना अपेक्षित है। ऐसा सम्यकत्वी दार्शनिक श्रावक संसार की अनश्वरता और आत्मशक्ति पर विचार करते-करते शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टित्व,

---

१. सागारधर्मामृत, ३.१.

२. दशाश्रुतस्कंध के छठे उद्देश में भी ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन मिलता है पर कुछ भिन्न रूप में.

३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १३७.

अनूपगूहनत्व, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना इन आठ दोषों से दूर हो जाता है और अपनी आत्मा में निम्नलिखित आठ गुण प्रगट कर लेता है—

सम्यग्दर्शन के आठ गुण :

(१) निःशंकित — जिन और जिनागम में वर्णित सिद्धांतों पर किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं होना। यह आस्था ज्ञानपूर्वक होती है।

(२) निःकाँक्षित — सांसारिक वैभव प्राप्त करने की इच्छा न होना।

(३) निर्विचिकित्सा — स्वभावतः मलीन शरीर में जुगुप्सा का भाव तथा आत्म गुणों में प्रीति की उत्पत्ति।

(४) अमूढ़दृष्टित्व — मिथ्यादृष्टियों की न प्रशंसा करना और न उनका अनुकरण करना।

(५) उपगूहनत्व—धर्म को दूषित करने वाले निन्दात्मक तत्वोंका विसर्जन करना और दूसरें के दोषों को उद्घाटित न करना।

(६) स्थितिकरण :—मार्गच्युत व्यक्ति को पुनः मार्ग पर आरूढ़ कर देना।

(७) वात्सल्य — स्वधर्मी बन्धुओं से निश्चल, सरल तथा मधुर व्यवहार करना और इतर धर्मावलम्बियों से द्वेष न करना।

(८) प्रभावना — दान, तप, आदि द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करना।

सम्यक्त्व के उक्त आठ अंगों का परिपालन करने वालों में क्रमशः अंजनचोर, अनन्तमती वणिक्पुत्री, उद्दायन राजा, रेवती रानी, वारिषेण राजकुमार, विष्णुकुमार मुनि, जिनदत्त सेठ और वज्रकुमार के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं।

सम्यग्दर्शन के विघातक दोष :

सम्यग्दृष्टि जीव लोक, देव और पाखण्ड इन तीन मूढ़ताओं से दूर रहता है। वह सूर्य को अर्घ देना, नदी, समुद्र आदि में स्नान करना, अग्नि की पूजा करना, चन्द्र, सूर्य आदि को देवतारूप में स्वीकार करना. विविध वेषधारी पाखण्डी साधुओं का आदर-सम्मान करना आदि जैसी मूढ़ताओं, क्रियाओं और अन्ध मान्यताओं पर विश्वास भी नहीं करता। अपने ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ प्रकार के मद-अभिमान से वह कोसों दूर

रहता है। कुदेव, कुमतावलम्बी सेवक, कुशास्त्र, कुतप, कुशास्त्रज्ञ और कुलिङ्ग, इन षड् अनायतनों से वह अपने आपको बहुत दूर रखता है। इन अनायतनों का विकास सम्भवतः उत्तरकालीन रहा होगा। शंकादि आठ दोषों से भी उसे मुक्त होना चाहिए।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के कारण :

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के विघातक ये पच्चीस दोष जब सम्यग्दृष्टिका साथ छोड़ देते हैं तो उसका मन ऐहिक वासनाओं से अनासक्त हो जाता है। वह न्याय पूर्वक धनार्जन करता है और सम्पत्ति और विपत्ति में समभावी रहता है। उसे न इहलोक का भय रहता है न परलोक का, और न वेदना, मरण, अरक्षा अगुप्ति अथवा अकस्मात् भय का। वह तो संसार के स्वरूप को जानने लगता है, वस्तुतत्व को समझने लगता है। इसलिए उसमें संवेग, निर्वेद, उपशम, स्वनन्दा, गर्हा, भक्ति, वात्सल्य, और अनुकम्पा जैसे मानवीय गुण प्रकट हो जाते हैं।

इस प्रकार के आचार-विचार से श्रावक का मन शाश्वत शान्ति की प्राप्ति की ओर बढ़ने लगता है। वह जुआ, मद्यपान, मांस भक्षण, वेश्यागमन, शिकार, चोरी, और परस्त्रीगमन जैसे दुर्गति के कारणभूत सप्त व्यसनों का मोह नहीं करता। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति के दुःखों से वह भयवीत रहता है। और आत्मा को निर्मल बनाने में सजग रहता है। इस स्थिति में वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, इन पांच पापों का एकदेश त्याग करता है, अष्ट मूल गुणों (मद्य, मांस, मधु, तथा बड़, पीपर, पाकर, ऊमर तथा कठूमर (कठहल) इन पांच उदुम्बर फलों का त्याग) का पालन करता है, भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक रखता है, अध्ययन, मनन और चिन्तन में अपना सारा समय लगाता है तथा अनित्य, अशरण, संसार, अन्यत्व, एकत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, बोधिदुर्लभ, लोक और धर्म इन बारह अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) पर सतत विचार करता रहता है।

बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने से जीव रागादि दोषों से दूर होने का पथ प्रशस्त कर लेता है और शुद्धात्मा के स्वरूप की प्राप्ति की ओर बढ़ जाता है। सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति का यह प्रमुख कारण है। आत्मा ज्ञायक स्वभावी है। पर कर्मों के कारण यह स्वभाव प्रच्छन्न-सा हो जाता है। स्वपर–भेदविज्ञान द्वारा मूल स्वभाव को प्राप्त किया जा सकता है। यह प्राप्ति तेरहवें गुणस्थान में हो पाती है। तबतक व्यवहार धर्म का आश्रय लेना पड़ता है। साधक चतुर्थ से षष्ठ गुण स्थान तक व्यवहार को प्रधान मानता है और निश्चय को गौण तथा

सप्तम से द्वादश गुणस्थान तक व्यवहार को गौण और निश्चय को प्रधान सम्बल बनाता है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार नय की दृष्टि से बारह भावनाओं का अनुचिंतन अपेक्षित है। साथ ही उत्तम क्षमादि दश धर्मों का भी पालन किया जाना चाहिए।

अनुप्रेक्षाओं और धर्मों का पालन करने से श्रावक की वृत्तियाँ शान्त होने लगती हैं और वह सम्यकत्व की ओर अग्रसर हो जाता है। सम्यकत्व होने से पूर्व उसे पाँच लब्धियां प्राप्त होती हैं—१. क्षयोपशम (देशघाती स्पर्धों के उदय सहित कर्मों की अवस्था। २. विशुद्धि (मंदकषाय), ३. देशना (तत्वों का अवधारण. ४. प्रायोग्य अथवा यथाप्रवृत्तिकरण (मंदता) और, ५. करण निर्मल परिणाम)। करणलब्धि के तीन भेद किये गये हैं——अधःकरण (पहले और पिछले समय में परिणाम समान हों), अपूर्वकरण (अपेक्षाकृत अधिक विशुद्ध हों) और अनिवृत्तिकरण (हर समय परिणाम निर्मल हों)।

सम्यक्त्व के भेद :

परिणामों की निर्मलता के आधार पर ही सम्यकत्व के भेद किये गये हैं—

१. औपशमिक सम्यकत्व—दर्शन मोहनीय के उपशम से, कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के समान, पदार्थों का जो निर्मल श्रद्धान होता है। वह उपशम सम्यकत्व है। यह ४ से ११ वें गुणास्थान तक रहता है।

२. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—दर्शन मोहनीय का उदय न हो पर सम्यक् मोहनीय का उदय हो। यह ४ से ७ वें गुणस्थान तक रहता है।

३. क्षायिक सम्यक्त्व :—दर्शन मोहनीय प्रकृतियों का उपशम हो जानेपर निर्मल तत्वार्थ श्रद्धान होना। यह ४ से ११ वें गुणस्थान तक होता है।

४. वेदक सम्यक्त्व—दर्शन मोहनीय कर्म के अन्तिम कर्म पुद्गलों का वेदन करना। यह ४ से ७ वें गुणस्थान तक होता है।

५. सास्वादन सम्यक्त्व—११ वें गुणस्थान से रागद्वेषादि से भ्रष्ट होकर जीव जब मिथ्यात्व गुणस्थान तक नहीं पहुँचता तब उस अवस्था को सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। यह द्वितीय गुणस्थान में होता है।

श्रावक चर्या का यह क्रमिक विकास साधक की भावात्मक निर्मलता की विकासात्मक कहानी है। वह विचार और कर्म में समन्वय स्थापित कर समता और सहिष्णुता के बल पर अपना जीवन-यापन करता है। उसका जीवन

अध्ययन से प्रारंभ होता है और मनन तथा चिन्तन से उसके पवित्र उद्देश्य में दृढ़ता आती है। सम्पत्ति का न्याय-पूर्वक अर्जन और फिर उसका निरासक्त विसर्जन सही मानवता का स्पन्दन बन जाता है। इतनी शान्त और अहिंसक प्रकृति का श्रावक ही निर्दोष और स्वच्छ वातावरण का निर्माण करता है। समाज और राष्ट्र का कल्याण ऐसे ही वातावरण में निहित है।

अष्टमूलगुण परम्परा :

अष्टमूलगुण जैन गृहस्थ के आवश्यक व्रतों में गिने जाते हैं। परन्तु वे कौन-कौन हैं, इस सम्बन्ध में आचार्यों मे मतैक्य नहीं। इस सन्दर्भ में दो परम्परायें मिलती हैं—एक परंपरा अष्टमूलगुणों का उल्लेख करती है भले ही नामों में मतभेद रहा हो और दूसरी परम्परा अष्टमूलगुणों का उल्लेख ही नहीं करती।

अष्टमूलगुणों का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य समन्तभद्र ने किया और उन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अचौर्य और अपरिग्रह ये पांच अणुव्रत तथा मद्य, मांस, व मधु इनको मिलाकर अष्टमूलगुण माना है।[1] परन्तु उनके पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्दने अष्टमूलगुण का उल्लेख भी नहीं किया। मात्र बारह व्रतों के नाम गिना दिये।[2] संभव है कुन्दकुन्द ने मद्य, मांस, मधु के भक्षण का निषेध अहिंसा के अन्तर्गत कर दिया हो अथवा यह भी हो सकता है कि उनके समय मद्य, मांस, मधु के खाने की प्रवृत्ति अधिक न रही हो। समन्तभद्र के आते-आते यह प्रवृत्ति कुछ अधिक बढ़ गई होगी। इसलिए उसे रोकने की दृष्टिसे उन्होंने मूल गुणों की कल्पना कर उनके परिपालन का विधान कर दिया। परन्तु आश्चर्य है, तत्त्वार्थ-सूत्र के टीकाकार पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्द ने भी उनका कोई उल्लेख नहीं किया।

रविषेण (वि. सं. ७३४) ने दोनों मतों का समन्वय किया। एक ओर उन्होंने केवली के मुख से श्रावक के बारह व्रतों की गणना की तो दूसरी ओर मधु, मद्य, मांस, द्यूत, रात्रिभोजन और वेश्यासंगम को छोड़ने के लिए "नियम" निर्धारित किया।[3] प्रथम तीन के साथ-साथ अन्तिम दो दोषों का अधिक प्रचार हो जाने के कारण आचार्य को ऐसा करना पड़ा होगा।[4] जटासिंहनन्दि ने कुन्दकुन्द का

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ६६.

२. चारित्र प्राभृत, २२.

३ पद्मपुराण, १४.२०२.

४. वही, १४.२७२.

अनुगमन किया।[1] कार्तिकेय ने पृथक् रूप से मूलगुणों का उल्लेख तो नहीं किया पर दर्शन-प्रतिमा में उन्हें सम्मिलित-सा अवश्य कर दिया।[2] जिनसेन (८-९ वीं शती) ने भी रविषेण का ही अनुकरण किया। मात्र अन्तर यह है कि यहाँ रात्रिभोजनत्याग के स्थान पर परस्त्रीत्याग का निर्धारण किया गया है।[3] महापुराण का उल्लेख कर चामुण्डराय ने स्पष्टतः समन्तभद्र का साथ दिया है[4] परन्तु महापुराण में यह प्रतिपादक श्लोक उपलब्ध नहीं। वसुनन्दि ने उनका स्पष्टतः यह उल्लेख अवश्य नहीं किया पर दर्शन प्रतिमाधारी को पंचोदुम्बर तथा सप्तव्यसन का त्यागी बताया है और यहीं मद्य-मांस-मधु के दुर्गुणों का उल्लेख किया है।[5] सोमदेव,[6] देवसेन[7], पद्मनन्दी,[8] अमितगति,[9] आशाधर,[10] अमृतचन्द्र[11] आदि आचार्यों ने प्रायः समन्तभद्र का अनुकरण किया है।

इस पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट है कि अष्टमूलगुण की परम्परा आचार्य समन्तभद्रने प्रारम्भ की जिसे किसी न किसी रूप में उत्तरकालीन प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया। अर्धमागधी आगमशास्त्रों में भी मूल गुणों का उल्लेख देखने में नहीं आया। अतः यह हो सकता है कि समन्तभद्र के समय मद्य, मांस, मधु का अधिक प्रचार हो गया हो और फलतः उन्हें उनके निषेध को व्रतों में सम्मिलित करने के लिए बाध्य होना पड़ा हो।

षट्कर्म :

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि कुन्दकुन्द, जटासिंहनन्दि तथा जिनसेन ने दान, पूजा, तप और शील को, श्रावकों का कर्तव्य कहा। उत्तरकाल में इन्हीं का विकास कर आचार्यों ने षट्कर्मों की भी स्थापना कर दी। भगवज्जिनसेनाचार्य ने पूजा, वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तप को श्रावक के कुलधर्म के रूप में स्थापित

---

१. वरांगचरित, २२.२९-३०.
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३२८.
३. हरिवंशपुराण,१८.४८.
४. चारित्रसार, ११.१२२.
५. वसुनन्दि श्रावकाचार, १२५-१३३.
६. उपासकाध्ययन, ८.२७०.
७. भावसंग्रह, ३५६.
८. पद्मनंदि पञ्चविंशतिका, २३.
९. सुभाषितरत्नसंदोह, ७६५.
१०. सागारधर्मामृत, २.१८.
११. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, ६१-७४.

किया।[१] सोमदेव और पद्मनन्दि ने भी इन्हें षट्कर्मों के नामसे स्वीकार किया। वार्ता, स्वाध्याय और संयम को शीलके ही अंग-प्रत्यंग मानकर यह संख्या बढ़ाई गई होगी, ऐसा न मानकर उन्हें स्वतंन्त्र ही कहना चाहिए।[२]

मूलगुणों के इतिहास से ऐसा लगता है कि धीरे धीरे लोगों की सरलता और बाह्य-प्रदर्शन की ओर प्रवृत्ति बढ़ती गई। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि अणुव्रतों के स्थानपर पंचोदुम्बर त्याग का विधान बहुत छोटा है। रत्नमालाकार ने इसलिए पांच अणुव्रत और मद्य-मांस-मधु त्याग रूप अष्टमूलगुण पुरुष के माने हैं और पँचोदुम्बर तथा मद्य मांस मधु त्याग रूप मूलगुण बच्चों के माने है।[३] उदुम्बर फलों तथा मद्य मांस मधु के भक्षण की ओर हुई प्रवृत्ति को रोकने के लिए शायद यह विधान किया गया होगा। सावयधम्मदोहा में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि आजकल जो मद्य-मांस-मधु का त्याग करे वही श्रावक है। क्या बड़े वृक्षों से रहित एरण्ड के वन में छाया नही होती[४]?

बारहव्रत

उपासकदशांग में श्रावक के बारह व्रतों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है– पांच अणुव्रत — अहिंसा, अस्तेय, सत्य, स्वदारसंतोष और इच्छा-परिमाण। तथा सात शिक्षाव्रत — दिग्व्रत, उपभोगपरिमाणव्रत अनर्थ दण्ड विरमण व्रत, सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास, और यथासंविभाग। जैन ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि महावीर का मूल उपदेश अहिंसा की पृष्ठभूमि में रहा होगा। बाद में उसीके स्पष्ट और विकसित रूप में बारह व्रतों की गणना आयी होगी। उवासगदसाओ (१.४७) में प्रथमतः दिग्व्रत और शिक्षाव्रत का निर्देश नहीं मिलता। उन्हें बाद में वहाँ जोड़ दिया गया है। सल्लेखना और ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन यह अवश्य मिलता है।

---

१. आदिपुराण, ४१.१०४; ८.१७८; ३८.२४ २५.

२. उपासकाध्ययन, भूमिका, पृ. ६५-६६.

३. मद्यमंस मधुत्याग संयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बैरश्चार्यकेष्वपि ॥ रत्नमाला, १९.

४. मज्जु मंसु मह्नु परिहरइ क्षयइ सावउ सोइ।
णीरक्खइ एरड वजि किं ण मवाई होइ ॥ सवयधम्मदोहा, ७७.

१. अणुव्रत :

अणुव्रत के पाँच प्रकार हैं। इसके नामों के विषय में कुछ मतभेद है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्थूलत्रसकायवध परिहार, स्थूल मृषापरिहार, स्थूल सत्य-परिहार, स्थूल परपिम्म परिहार (परस्त्रीत्याग) तथा स्थूल परिग्रहारंभपरिमाण माना हैं।[1] समन्तभद्र ने स्थूल प्राणातिपात व्युपरमण, स्थूल वितथव्याहार व्युपरमण, स्थूल स्तेयव्युपरमण, स्थूल कामव्युपरमण, (परदारनिवृत्ति और स्वदारसंतोष) और स्थूल मूर्छा व्युपरमण को अणुव्रत स्वीकार किया।[2] रविषेण ने चतुर्थव्रत का नाम 'परदारसमागमविरति' और पाँचवें का नाम 'अनन्तगर्द्धाविरति' रखा।[3] जिनसेन ने चतुर्थव्रत का नाम 'परस्त्रीसेवननिवृत्ति' तथा पाँचवें का नाम 'तृष्णाप्रकर्षनिवृत्ति' दिया।[4] आशाधर ने चतुर्थव्रत को 'स्वदारसंतोष व्रत' नाम दिया। इनमें नामों का ही अन्तर है, व्रतों का नहीं। इन व्रतों के अतिचारों में भी कुछ मतभेद है। व्रत की शिथिलता को अतिचार कहते हैं। इनका सर्वप्रथम वर्णन तत्त्वार्थसूत्र में मिलता है। उपासगदसाओ में भी यह परम्परा मिलती है। पर दोनों में पूर्वतर कौन है, कहा नहीं जा सकता।

१. अहिंसाणुव्रत :

उवासगदसाओ में आनन्द ने महावीर के पास जाकर अहिंसाणुव्रत धारण किया। यहाँ प्राप्त उल्लेख से अहिंसाणुव्रत के लक्षण का आभास इस प्रकार होता है — यावज्जीवन मन, वचन, काय से स्थूल प्राणातिपात से विरक्त रहना अहिंसाणुव्रत है— थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइ, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा)।[5] उत्तरकालीन परिभाषायें इसी के आधार पर बनी। समन्तभद्र ने इसमें 'संकल्प' शब्द और जोड़ दिया।[6] परन्तु पूज्यपाद ने संकल्प और मन, वचन, काय, दोनों का उल्लेख नहीं किया[7] जबकि अकलंक ने मन-वचन,काय का तो 'त्रिधा' शब्द से उल्लेख कर दिया पर

---

१. चारित्रप्राभृत, १३.

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ३.६.

३. पद्मचरित्र, १४.१८४-५.

४. आदिपुराण, १०.६३.

५. उवासगदसाओ, १.४३.

६. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३.७.

७. सर्वार्थसिद्धि ७.२० की व्याख्या.

'संकल्प' को छोड़ दिया।[1] सोमदेव[2] और अमृतचन्द्र सूरि[3] ने तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर हिंसा का लक्षण कर अहिंसा का लक्षण स्पष्ट किया है। हिंसा का लक्षण करते हुए उमास्वामी ने कहा है—कषाय के वशीभूत होकर द्रव्यरूप या भावरूप प्राणों का घात करना हिंसा है।[4] मद्य, मांस, मधु तथा पँचोदुम्बर फलों का भक्षण भी हिंसा के अन्तर्गत आता है। अतः अहिंसाणुव्रती के लिए उनका त्याग करना भी आवश्यक बताया गया है। इस व्रत का पालन करनेवाला, मन, वचन, काय और कृत-कारित-अनुमोदना से त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता। बन्ध, बध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपान का निरोध इन पाँच अतिचारों को भी वह नहीं करता।[5]

वैदिक संस्कृति में निर्दिष्ट यज्ञों का प्रचलन अधिक हुआ और हिंसा जोर पकड़ने लगी। फलतः श्रावक के लिए यह भी नियोजित किया जाना आवश्यक हो गया कि देवता के लिए, मन्त्र की सिद्धि के लिए, औषधि और भोजन के लिए वह कभी किसी जीव को नहीं मारेगा। इसी को श्रावक की 'चर्या' कहा गया है। इस विकास का समय लगभग ७–८ वीं शती कहा जा सकता है।

चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्धयर्थमेव वा।
औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामिति चेष्टितम्॥[6]

सोमदेव ने तो बाद में उसे अहिंसा के स्वरूप में ही सम्मिलित कर दिया कि देवता के लिए, अतिथि के लिए, पितरों के लिए, मन्त्रसिद्धि के लिए, औषधि के लिए, और भय से सब प्राणियों की हिंसा न करने को 'अहिंसाव्रत' कहा है।

देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय वा।
न हिंस्यात् प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम्॥[7]

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय और सागारधर्मामृत में अहिंसा की और भी गहराई से व्याख्या की गई है। इस समय तक जो जैसे भी प्रश्न चिन्ह अहिंसा की

---

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, ७.२०.
२. यास्मादप्रयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम्।
सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता।
— उपासकाध्ययन, ३१८.
३. पुरुषार्थसिद्धुपाय, ४३.
४. प्रमायोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा, तत्त्वार्थसूत्र, ७.१३.
५. तत्त्वार्थसूत्र, ७.२५.
६ आदिपुराण, ३९.१४७.
७. उपासकाध्ययन, ३२०.

साधना के सन्दर्भ में खड़े हुए, उनका यथोचित और यथाविधि उत्तर इन ग्रन्थों में देने का प्रयत्न किया गया है।

रात्रिभोजन :

अहिंसा के प्रसंग में रात्रिभोजन त्याग पर भी विचार किया गया है। मुनि और श्रावक दोनों के लिए रात्रिभोजन वर्जित माना है। मूलाचार में 'तेसिं चेव वदाणां रक्खट्ठं रादिभोयणविरत्ती' (५-९८) लिखकर यह स्पष्ट किया है कि पाँच व्रतों की रक्षा के निमित्त 'रात्रिभोजनविरमण' का पालन किया जाना चाहिए। इसी में अहिंसा व्रत की पाँच भावनाओं में 'आलोकित भोजन' को भी सन्निविष्ट किया गया है। भगवती आराधना (६-११८५-८६, ६.१२०७) में भी शिवार्य ने यही कहा है। सूत्रकृतांग के वैतालीय अध्ययन में और वीरस्तुति अध्ययन में रात्रिभोजन निषेध का स्पष्ट उल्लेख है। वीरस्तुति अध्ययन में तो इसे महावीर का विशेष योगदान कहा गया है। दशवैकालिक सूत्र में इसे छठवाँ व्रत माना गया है—छट्ठे भंते वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं,[1] कुन्दकुन्द[2] ने ग्यारह प्रतिमाओं में 'रायभत्त' त्याग को छठी प्रतिमा कहा है और उनके टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने 'रात्रिभुक्तिविरत' कहा है।

दशवैकालिक आदि की इस परम्परा का विरोध भी हुआ। मुनियों के लिए तो उसका अन्तर्भाव 'आलोकितपान भोजन' में हो ही जाता है। बाद में इसे अणुव्रतों में भी सम्मिलित कर दिया गया। यह परम्परा तत्त्वार्थसूत्र के सभी टीकाकारों अर्थात् पूज्यपाद[3], अकलंक[4], विद्यानन्द[5], भास्करानन्दि[6] एवं श्रुतसागरसूरि[7] ने की। इनमें रात्रिभोजन त्याग को छठा अणुव्रत नहीं माना बल्कि उसका अन्तर्भाव 'आलोकित भोजनपान' में कर दिया।

समन्तभद्र ने छठी प्रतिमा का नाम "रात्रिभुक्तिविरत" रखा।[8] कार्तिकेय ने भी इसे स्वीकार किया।[9] यहाँ छठी प्रतिमा के पूर्व रात्रिभोजनविरमण

१. सूत्रकृतांग, ४.१६-१७; ४.२८.
२. चारित्रप्राभृत, २१.
३. सर्वार्थसिद्धि, ७.१; सं. टीका पृ. ३४३-४.
४. तत्त्वार्थवार्तिक, ७.१; सं टीका. पृ. २-५३४.
५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ७.१, सं. टीका. ५.४५८.
६. सुखबोधिका टीका ७-१.(स. टीं.)
७. तत्त्वार्थवृत्ति, ७.१, सं. टींका.
८. रत्नकरण्डश्रावकाचार,१४२.
९. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३८२.

की बात का कोई उल्लेख नहीं मिलता। देवसेन[1], चामुण्डराय[2] और आशाधर[3] ने भी इसी मत का अनुकरण किया है।[4] चारित्रसार (पृ. १९), उपासकाचार (श्लोक ८५३), वसुनन्दि श्रावकाचार (गा. २९६), अमितगतिश्रावकाचार (७.७२), भावसंग्रह (५३८), सागारधर्मामृत (७.१२), में इसका दूसरा ही अर्थ किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो केवल रात्रि में ही स्त्री से भोग करता है और दिन में ब्रह्मचर्य पालता है उसे 'रात्रिभुक्तव्रत' और 'दिवामैथुन विरत' कहा जाता है। लाटी संहिता (पृ. १९) में इन दोनों मतों को समन्वित कर दिया गया है।

२. सत्याणुव्रत :

शेष अणुव्रत अहिंसाणुव्रत के रक्षक के रूप में निर्धारित किये गये हैं। सत्याणुव्रती वह है जो राग द्वेषादि कारणों से झूठ न स्वयं बोलता हो और न दूसरों से बुलवाता हो। इसी प्रकार दूसरे को विपत्ति में डालनेवाला सत्य भी न बोलता हो और न बुलवाता हो।[5] उमास्वामीने असत्य को असत् कहा है[6] जिसका अर्थ पूज्या पाद ने अप्रशस्त किया है।[7] इसी अधार पर सत्य किंवा असत्य के भेद-प्रभेद किये गये हैं। भगवती आराधना में सत्य के दस भेद मिलते हैं — जनपद, सम्मति, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीति, सम्भावना, व्यवहार, भाव और उपमा सत्य।[8] अकलंक ने सम्मति, सम्भावना और उपमा सत्य के स्थान पर संयोजना, देश और समयसत्य को रखकर सत्य के दस भेद स्वीकार किये हैं। पदार्थों के विद्यमान न होने पर भी सचेतन और अचेतन द्रव्य की संज्ञा करने को 'नामसत्य' कहते हैं। जैसे—इन्द्र इत्यादि। पदार्थ का सन्निधान न होने पर भी रूपमात्र की अपेक्षा जो कहा जाता है वह 'रूपसत्य' है। जैसे—चित्रपुरुषादि में चैतन्य उपयोगादि रूप पदार्थ के न होने पर भी 'पुरूष' इत्यादि कहना। पदार्थ के न होने पर भी कार्य के लिए जिसकी स्थापना की जाती है वह 'स्थापना सत्य' है। जैसे—जुआ आदि खेलों में हाथी, वजीर आदि की स्थापना करना। सादि व अनादि भावों

१. दर्शनसार.
२. चारित्रसार, पृ. ७.
३ अनगार धर्मामृत, ४.५०.
४. रात्रिभोजन विरमण— डॉ. राजाराम जैन, गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ, पृ. ३२३-६.
५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५५; वसुनन्दि श्रावकाचार, २१०.
६. तत्त्वार्थसूत्र, ७.१४.
७. सर्वार्थसिद्धि, ७.१४.
८. भगवती आराधना, ११९३.

की अपेक्षा करके जो वचन कहा जाता है वह 'प्रतीत्य सत्य' है। जो वचन लोक रूढ़ि में सुना जाता है वह 'संवृति सत्य' है। जैसे—पृथिवी आदि अनेक कारणों के होने पर भी पंक अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होने से 'पंकज' इत्यादि वचन का प्रयोग। सुगन्धित धूपचूर्ण के लेपन और घिसने में अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और क्रौञ्च रूप व्यूह (सैन्य रचना) आदि में भिन्न भिन्न द्रव्यों की विभाग विधि के अनुसार की जानेवाली रचना को प्रगट करने वाला वचन 'संयोजना सत्य' है। आर्य व अनार्य भेद युक्त बत्तीस जनपदों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रापक वचन 'जनपदसत्य' है। जो वचन ग्राम, नगर, राजा, गण, पाखण्ड, जाति, एवं कुल आदि धर्मों का उपदेश करने वाला है वह 'देशसत्य' है। छद्मस्थ ज्ञानी के द्रव्य के यथार्थ स्वरूप का दर्शन होने पर भी संयत अथवा संयता-संयत के अपने गुणों का पालन करने के लिए "यह प्रासुक है—यह अप्रासुक है" इत्यादि जो वचन कहा जाता है वह 'भावसत्य' है। जो वचन आगमगम्य प्रतिनियत छह द्रव्य व उनकी पर्यायों की यथार्थता को प्रगट करने वाला है वह 'समयसत्य' है।[1]

इसी प्रकार असत्य के भी भेद किये गये हैं। पुरूषार्थ सिद्धयुपाय[2] में असत्य के चार भेद मिलते हैं—(१) अस्तिरूप वस्तु का नास्तिरूप कथन, (२) नास्ति रूप वस्तु का अस्तिरूप कथन, (३) कुछ का कुछ कह देना, जैसे—बैल को घोड़ा कह देना, और (४) चतुर्थ असत्य के तीन भेद किये गये हैं—गर्हित, सावद्य और अप्रिय। उपासकाध्ययन में असत्य के चार भेद किये गये हैं — असत्य-सत्य, सत्य-असत्य, सत्य-सत्य और असत्य-असत्य।[3] स्याद्वादमंजरी[4] में असत्य-अमृषा भाषा बारह प्रकार की बतायी गई है—

(१) आमन्त्रणी — 'हे देव! यहां आओ' इस प्रकार के अमन्त्रण को सूचित करने वाली भाषा।

(२) आज्ञापनी — 'तुम यह काम करो' इस प्रकार की आज्ञार्थक भाषा।

(३) याचनी — 'यह दो' रूप याचनार्थक भाषा।

(४) प्रच्छनी — अज्ञात अर्थ को पूछना।

(५) प्रज्ञापनी — उपदेश सूचक वचन।

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक, १.२०; चारित्रसार, पृ. ६२.

२. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, ९१-९५.

३. उपासकाध्ययन, ३८३; प्रश्नव्याकरण, सूत्र २.६.

४. स्याद्वादमंजरी, ११; लोकप्रकाश, तृतीय सर्ग, योगाधिकार.

(६) प्रत्याखनी — याचक को निषेधार्थक वचन बोलना।

(७) इच्छानुकूलिका — किसी कार्य में अपनी अनुमति देना।

(८) अनभिगृहीता — 'जो अच्छा लगे वह कार्य करो' रूप भाषा।

(९) अभिगृहीता — 'अमुक कार्य करना चाहिए, अमुक नहीं' एतद्रूपिणी भाषा।

(१०) संदेहकारिणी — सैंधव जैसे शब्दों का प्रयोग करना जिसमें संशय बना रहे।

(११) व्याकृता — स्पष्ट अर्थ को सूचित करने वाली।

(१२) अव्याकृता — अस्पष्ट अर्थ को सूचित करने वाली।

गृहस्थ इस प्रकार की असत्य-अमृषा (व्यवहार) भाषा का प्रयोग करता है परन्तु यह प्रयोग वह अपने परिणामों को विशुद्ध करने के लिए करता है। आरोग्य लाभ आदि की दृष्टि से अनेक प्रकार की प्रार्थनायें इसी निमित्त की जाती हैं। फिर भी व्यवहारतः उनमें दोष नहीं।

सत्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं — मिथ्या उपदेश देना, रहोभ्याख्यान (गुप्त बात को प्रकट करना), कूटलेखक्रिया (जाली हस्ताक्षर करना), न्यासापहार (धरोहर का अपहरण करना) और, साकारमन्त्रभेद (मुखाकृति देखकर मन की बात प्रगट करना)।[1] आगे चलकर समन्तभद्र ने प्रथम दो अतिचारों के स्थान पर परिवाद और पैशून्य को रखा[2] और सोमदेव ने प्रथम तीन अतिचारों के स्थान पर परिवाद, पैशून्य और मुधासाक्षिपदोक्ति (झूठी गवाही देना) निगोजित किया।[3]

३. अचौर्याणुव्रत :

अदत्तवस्तु का ग्रहण न करना अचौर्याणुव्रत है।[4] इसमें सार्वजनिक जलाशय से पानी आदि का ग्रहण सीमा से बाहर है। उत्तरकालीन सभी परिभाषायें प्रायः इसी परिभाषा पर आधारित रही हैं। अतिचार भी प्रायः समान हैं। वे पांच हैं[5] — (१) स्तेनप्रयोग (चोरी करने का उपाय बताना

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ७.२६; उपासकदशांग अ. १.

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५६.

३. उपासकाध्ययन, ३८१.

४. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५७; तत्त्वार्थसूत्र, ७.१५.

५. तत्त्वार्थसूत्र, ७-२७; उपासक दशांग, अ १.

और उसकी अनुमोदना करना), (२) तदाहृतादान (अपहृत माल को खरीदना), विरुद्ध राज्यातिक्रम (राज्य परिवर्तन के समय अल्प मूल्यवान वस्तु को अधिक मूल्य की बताना), (४) हीनाधिकमानोन्मान (नांपने-तौलने के तराजू आदि में कम बांटों से देना और अधिक से दूसरे की वस्तु को खरीदना), और (५) प्रतिरूपक (कृत्रिम सोना-चांदी बनाकर या मिलाकर ठगना)। उत्तरकालीन आचार्यों ने प्रायः इन्हीं अतिचारों को स्वीकार किया है। जो मतभेद है, वह परिस्थितिजन्य है। विरुद्धराज्यातिक्रम के स्थानपर समन्तभद्रने "विलोप" और सोमदेव ने "विग्रहे संग्रहोऽर्थस्य" नाम दिया है। साधारणतः इसका अर्थ होता है—युद्ध होने पर राजकीय नियमों का अतिक्रमण कर धन का संचय करना। धरती में गढे धन को ग्रहण न करने का भी विधान किया गया है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत :

ब्रह्मचर्याणुव्रत को 'परदारनिवृत्ति' या 'स्वदारसन्तोषव्रत' कहा गया है।[1] परदारनिवृत्ति व्रत का पालन देश संयम के अभ्यास के लिए उद्यत पाक्षिक श्रावक करता है और स्वदारसन्तोषव्रत का पालन देशसंयम में अभ्यस्त नैष्ठिक श्रावक करता है। समन्तभद्र की इसी परिभाषा को उत्तरकालीन आचार्यों में किसीने आधा और किसीने पूरा लेकर प्रस्तुत किया है। अमृतचन्द्रसूरि, आशाधर आदि विद्वानों ने नैष्ठिक श्रावक की दृष्टिसे तथा सोमदेव आदि विद्वानोंने पाक्षिक श्रावक की दृष्टि से ब्रह्मचर्याणुव्रत का लक्षण किया है। यह अन्तर इसलिए हुआ कि वसुनन्दि के मत से दार्शनिक श्रावक सप्तव्यसन छोड़ चुकता है और सप्त व्यसनों में परनारी और वेश्या दोनों आ जाती हैं। अतः जब वह आगे बढ़कर दूसरी प्रतिमा धारण करता है तो वहाँ ब्रह्मचर्याणुव्रत में वह स्वपत्नी के साथ भी पर्व के दिन काम, भोग आदि का त्याग करता है। परन्तु स्वामी समन्तभद्र के मत से दर्शन प्रतिमा में सप्त व्यसनों के त्याग का विधान नहीं है, अतः उनके मत से दर्शन प्रतिमाधारी जब व्रत धारण करता है तो उसका ब्रह्मचर्याणुव्रत वही है जो अन्य श्रावकाचारों में बतलाया है। पं आशाधर ने इसी प्रकार का समन्वय किया है।[2] हेमचन्द्र ने भी योगशास्त्र में ऐसा ही किया है। प्रायः और किसीने इस व्रत का विभाजन दो भेदों में नहीं किया। आश्चर्य है, सोमदेव ने ब्रह्मचर्यायुवती के लिए वेश्यागमन की छूट दे दी है।[3]

उमास्वामी ने ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार बताये हैं — (१) पर-विवाहकरण, (२) इत्वरिका (गान-नृत्यादि करने वाली) परिग्रहीतागमन,

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५९.
२. उपासकाध्ययन, प्रस्तावना, पृ. ८१-८२.
३. उपासकाध्ययन, ४०५-६.

(३) इत्वरिका अपरिग्रहीतागमन, (४) अनंगक्रीड़ा, और (५) कामतीव्राभिनिवेश।[1] इन्हें प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। जहाँ कहीं थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य मिलता है। समन्तभद्र ने 'इत्वरिकागमन' को एक ही माना है और विटत्व को दूसरा। सोमदेव ने इनके स्थानपर परस्त्रीसंगम और रतिकैतव्य का संयोजन किया है।[2]

परिग्रहपरिमाणाणुव्रत :

मूर्च्छा अर्थात् ममत्व भाव को परिग्रह कहा है।[3] धन-सम्पत्ति आदि को भी इसी में सम्मिलित कर दिया गया। समन्तभद्र ने दोनों का समन्वय कर परिग्रहपरिमाणाणुव्रत का लक्षण किया है।[4] कुन्दकुन्दने इसी को परिग्रहा-रम्भविरमण' संज्ञा दी है। इसमें धन धान्यादि बाह्य और राग-द्वेषादि आभ्यन्तर परिग्रहों से विरमण होने की बात कही है। यहाँ आवश्यक वस्तुओं के परिमाण करने की ओर संकेत है। ममत्व का जागरण वहीं होता है। अनावश्यक और असंभव वस्तु के परिमाण करने में व्रत का पूरी सीमा तक पालन नहीं हो पाता।

उमास्वामी ने इस व्रत के पाँच अतीचार बतायें हैं[5]—क्षेत्र–वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दास-दासी और कुप्य (कपास) आदि की मर्यादा का अतिलोभ के कारण उलंघन करना। समन्तभद्र ने इन के स्थानपर अतिबाह्य, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभारबहन को अतिचार बताया।[6] आशाधर के समय तक परिस्थितियों में कुछ और परिवर्तन हुआ। फलतः उन्होने कुछ भिन्न अतिचारों का उल्लेख किया[7]—(१) अपने मकान और खेत के समीपवर्ती दूसरे के मकान और खेत को मिला लेना, (२) धन और धान्य को भविष्य में ग्रहण करने की दृष्टि से ब्याना देकर दूसरे के घर मे रख देना, (३) परिणाम से अधिक सोना-चांदी बाद में वापिस होने के भाव से दूसरे के घर रख देना, (४) व्रतभंग के भय से दो वर्तनों को मिलाकर एक मानना, और (५) गाय आदि के गर्भवती होने से मर्यादा का उल्लंघन न मानना। ये अतिचार हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर आधारित है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ७.२८; उपासकदशांग, अ. १.
२. उपासकाध्ययन, ४१८.
३. तत्त्वार्थसूत्र, ७१७.
४. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ६१.
५. तत्त्वार्थसूत्र, ७.२९; उपासकदशांग, अ. १.
६. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ६२.
७. सागारधर्मामृत, ४.६४.

२. व्रत प्रतिमा :

यह नैष्ठिक श्रावक की द्वितीय अवस्था है। इसमें वह पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालन दृढ़तापूर्वक करता है। अणुव्रत का तात्पर्य है—एक देश का पालन। गृहस्थ पूर्वोक्त पञ्च पापों के एक देश का ही त्याग कर सकता है। जैसा पहले कह चुके हैं, अणुव्रत पाँच प्रकार के होते हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य[1] और अपरिग्रह। हिंसा चार प्रकार की होती है— उद्योगी, आरम्भी, विरोधी और संकल्पी। कृषि, शिल्प, व्यापार आदि उद्योगी हिंसा है। भोजन तैयार करना-कराना, वस्त्रादि स्वच्छ रखना, पशुपालना आदि आरम्भी हिंसा है। आत्मरक्षा, राष्ट्ररक्षा, सज्जनरक्षा आदि जैसे भी उसके कर्तव्य होते हैं। इन कर्तव्यों की रक्षा करने में भी हिंसा होती है। इसी को विरोधी हिंसा कहते हैं। गृहस्थ के लिए ये तीनों प्रकार की हिंसायें अपरिहार्य होती हैं। विवश होकर उसे उन हिंसाओं को करना पड़ता है। फिर भी अपने गार्हस्थिक कार्य करते समय वह अहिंसा को नहीं भूलता।

संकल्पी हिंसा (मारने की इच्छा से ही किसी प्राणी को मारना) का क्षेत्र बड़ा है। उसमें मद्य, मांस, मधु का व्यापार करना, व्यभिचार द्वारा धनार्जन करना, न्यायमार्ग को त्यागकर पैसा कमाना, विश्वासघात, करना, डाका डालना आदि जैसे जघन्य अपराध सम्मिलित हैं। गृहस्थ के लिए यह संकल्पी हिंसा और तज्जन्य अपराध अक्षम्य हैं। उद्योगी, आरम्भी और विरोधी हिंसा तो परिस्थितिवश तथा विवश होकर करनी पड़ती है पर संकल्पी हिंसा हिंसा का सही रूप है जिससे उसे बचना नितान्त आवश्यक है।

इसी प्रकार सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह-परिमाणाणुव्रत का परिपालन करना व्रत प्रतिमाधारी श्रावक के लिए आवश्यक हो जाता है।

गुणव्रत :

पंचाणुव्रतों के परिपालन करने के बाद व्रती श्रावक दिशा-विदिशाओं में अथवा किसी स्थान विशेष तक जाने की प्रतिज्ञा ले लेता है। इससे वह छोटे-छोटे प्राणियों की हिंसा से बच जाता है। इसी को क्रमशः

---

१. ब्रह्मचर्याणुव्रत की परिभाषा समय-समय पर बदलती रही है। समन्तभद्र ने स्वदार-सन्तोष तथा परदारागमनत्याग को ब्रह्मचर्याणुव्रत कहा है पर वसुनन्दि ने अष्टमी आदि पर्वों के दिन स्त्री सेवन का त्याग करना तथा अनंगक्रीडा का सदा त्याग किये रहना ब्रह्मचर्याणुव्रत माना है।

'दिग्व्रत' और 'देशव्रत' कहते हैं ।[१] निरर्थक आरम्भ अथवा कार्य करने का त्याग करना 'अनर्थदण्डव्रत' है, जैसे बिना किसी उद्देश्य के भूमि खोदना, वृक्ष काटना, फलफूल तोड़ना आदि । ये तीनों व्रत गुणोंमें वृद्धि करते हैं[२] तथा अणुव्रतों के उपकारक हैं[३] इसलिए इन्हें गुणव्रत कहा जाता है । गुणव्रत के भेदों में मतभेद है । आचार्य कुन्दकुन्द ने दिक्परिमाण, अनर्थ-दण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण को गुणव्रत कहा है । कार्तिकेय ने इन्हें स्वीकार कर अनर्थदण्डव्रत के पांच भेद किये हैं । उमास्वामी ने भोगोपभोग के स्थानपर देशव्रत रखकर व्रतों के अतिचारों का सर्वप्रथम वर्णन किया है । भगवती आराधना, वसुनन्दि श्रावकाचार, महापुराण आदि ग्रन्थों ने उमास्वामी का ही अनुकरण किया है ।

शिक्षाव्रत :

गुणव्रतों के बाद चार शिक्षाव्रत माने गये हैं जिनका पालन करने से साधक-अवस्था की भूमिका में दृढ़ता आती है । इनकी संख्या में मतभेद नहीं पर नामों में मतभेद अवश्य है । आचार्य कुन्दकुन्द ने सामायिक, प्रोषध, अतिथि-पूजा और सल्लेखना को शिक्षाव्रत कहा है[४] । भगवती आराधना में सल्लेखना के स्थानपर भोगोपभोगपरिमाणव्रत रखा गया और सर्वार्थसिद्धि मे इसकी गणना शिक्षाव्रत के रूप में न करके एक स्वतन्त्र व्रत के रूप में की गयी जिसे साधक सहसा मरण आनेपर निर्मोही होकर धारण करता है ।[५] कार्तिकेय ने 'सल्लेखना' के स्थान-पर 'देशावकाशिक' रखा । उमास्वामी ने सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग-परिमाण और अतिथिसंविभाग नाम दिये । समन्तभद्र ने कुन्दकुन्द और कार्तिकेय का अनु:सरण करते हुये भी कुछ सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया और देशावकाशिक, सामायिक, वैयावृत्य, तथा अतिथिसंविभागव्रत को शिक्षाव्रत कहा । जिनसेन, अमितगति और आशाधर ने उमास्वामी का अनुकरण किया पर सोमदेव ने उमास्वामी द्वारा बताये गये चतुर्थ व्रत 'अतिथिसंविभाग' के स्थानपर 'दान' रख दिया । वसुनन्दि में कुन्दकुन्द और उमास्वामी, दोनों का अनुकरण दिखता है । उन्होंने भोगविरति, उपभोगविरति, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना को शिक्षाव्रत माना है ।[६]

---

१. उपासक दशांग, अ. १.
२. रत्नकरण्डश्रावकाचार – ६७.
३. सागारधर्मामृत, ५.१.
४. चारित्रप्राभृत, गाथा, २४-२५.
५. सर्वार्थसिद्धि, ७.११.
६. Jainism in Buddhist Literature, p. 103-4.

उपर्युक्त मतभेद देखने से यह प्रतीत होता है कि संख्या तो वही रही पर आचार्य अपने समय और परिस्थिति के अनुसार उनमें परिवर्तन करते रहे। इन परिवर्तनों में प्रायः सभी आचार्यों ने आत्मचिंतन, व्रतोपवास, भोगोपभोग-सामग्री को सीमित करना, दानादि देना, अतिथियों का आदर सत्कार करना आदि जैसे सद्गुणों और व्यावहारिक दृष्टियों को नियोजित किया। इसके बाद आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान और अभयदान पर अधिक जोर दिया गया।

इन द्वादश व्रतों को मूलगुण और उत्तरगुण अथवा शीलव्रत के रूप से भी विभाजित किया गया है। शील का तात्पर्य है जो व्रतों की रक्षा करे। उमास्वामी[1] आदि आचार्यों ने गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों को 'शीलव्रत' की संज्ञा दी है पर सोमदेव आदि आचार्यों ने पंचोदुम्बरफलत्याग को 'मूलगुण' मानकर उनकी संख्या आठ कर दी तथा पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतों को 'उत्तरगुण' मान लिया।[2] समन्तभद्र ने श्वेताम्बर परम्परानुसार पांच मूलगुणों और सात उत्तरगुणों को कहकर कुन्दकुन्द के अनुसार गुणव्रतों को स्वीकार किया है। जिनसेन ने उत्तरगुणों की संख्या बारह बताकर कुन्दकुन्द का अनुकरण किया है। सोमदेव भी लगभग उसी परम्परा पर चल रहे हैं। उत्तरकाल में कुछ आचार्यों ने कुन्दकुन्द का अनुकरण किया और कुछ ने उमास्वामी का। शीलव्रतों का महत्व इस दृष्टि से विशेष आंका जा सकता है कि उनका निरतिचारता पूर्वक पालन करने से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध माना गया है।

२. सामायिक प्रतिमा :

सामायिक का तात्पर्य है आत्मचिंतन। जो श्रावक सुबह, दोपहर और सायंकाल निर्विकार होकर खड्गासन अथवा पद्मासन से बैठकर मन-वचन-काय शुद्धकर देव-शास्त्र-गुरू की वन्दना और प्रतिक्रमण करे वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।[3] प्रतिक्रमण का तात्पर्य है–प्रमादवश हुए अपराधों की आलोचना करना। भविष्य में उन अपराधों से अपने आपको दूर रखने के लिए तथा आत्मा को निर्विकार और विशुद्ध बनाने के लिए प्रतिक्रमण करना अत्यावश्यक है। इससे समता और माध्यस्थ भाव का जागरण होता है। और पर द्रव्यों से राग-द्वेष भाव समाप्त होने लगता है।[4] समय का अर्थ है आत्मा। एकान्त रूप से आत्मा में तल्लीन हो जाना सामायिक है। नियमतः

---

१. चारित्रसार प्राभृत, २४-२५.
२. उपासकाध्ययन, २७०, ३१४.
३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १३९.
४. ज्ञानार्णव, २७.१३-१४.

कायोत्सर्ग पूर्वक जो सामायिक करता है वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है। द्वितीय प्रतिमाधारी भी सामायिक करता है पर नियमतः नही। सामायिक करते समय गृहस्थ भी संयमी मुनि के समान होता है।[1]

४. प्रोषधप्रतिमा :

प्रोषधोपवास का तात्पर्य है पर्व के दिनों चारों प्रकार का आहारत्याग करना और प्रोषध का अर्थ है दिन में एक बार भोजन करना। इस प्रकार प्रोषधोपवास में एकाशन के साथ उपवास किया जाता है।[2] प्रोषधप्रतिमा का पालक प्रत्येक मास की अष्टमी और चतुर्दशी को प्रोषधोपवास करता है। साथ ही विषय-वासनाओं से भी अपने आपको मुक्त रखता है।[3] व्रती श्रावक का जो प्रोषधोपवास शील रूप से रहता था वही प्रोषधोपवास इस चतुर्थ प्रतिमाधारी के व्रत रूप से रहता है। इस अवस्था में प्रोषधोपवास का पालन नियमतः और निरतिचार पूर्वक होता है।[4]

५. सचित्त त्याग प्रतिमा :

इस अवस्था में श्रावक ऐसे फलादिक का त्याग करता है जो सचित्त (एकेन्द्रिय जीव वाला) होता है। जैसे-कन्द-मूल, पत्र, पुष्प, फल, बीज, अप्रासुक जल आदि। इससे व्रती हिंसा से बच जाता है और उसके त्याग का पथ प्रशस्त हो जाता है।[5] व्रती श्रावक सचित्त भोजन को पहले भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार के रूप में छोड़ता था वही इस अवस्था में व्रत रूप में छोड़ता है। उपासकदशांग मे इस प्रतिमा को सातवाँ क्रम दिया गया है। इसके पूर्व कायोत्सर्ग और ब्रह्मचर्य प्रतिमाओं को ग्रहण किया गया है।

६. रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा :

इस प्रतिमा के साधारणतः दो नाम मिलते है — रात्रिभोजनत्याग और रात्रिभुक्ति व्रत अथवा दिवामैथुनत्याग। भुक्ति का अर्थ है–भोग। रात्रिभुक्तिव्रत में रात्रि में ही भोग करना विहित माना जाता है, दिन में नहीं। इसलिए इसे दिवामैथुनत्यागव्रत भी कहा जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय, समन्तभद्र आदि आचार्यों ने इसका नाम 'रात्रिभुक्तित्याग' रखन का

---

१. चारित्रसार, १९-१; मूलाचार, ५३१.
२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १०९.
३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १४०.
४. लाटी संहिता, ७.१२-१३.
५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १४१.

आग्रह किया है। यहाँ भुक्ति का अर्थ भोजन लिया गया है। अतः उनके अनुसार रात्रिभोजन करने का त्याग करना छठी प्रतिमा है।[१] पर प्रश्न यह उठता है कि क्या इसके पूर्व तक की अवस्था में रात्रि-भोजन विहित था? जबकि रात्रिभोजन में त्रस-स्थावर जीवों की विराधना होने की सम्भावना अधिकाधिक रहती है तब अहिंसक जैन चिन्तक पाँचवीं प्रतिमा तक रात्रिभोजन को विहित कैसे मान सकता है? अतः वसुनन्दि के बाद की परम्परा में आशाधर आदि विद्वानों ने इन दोनों मतों को समन्वित करने का प्रयत्न किया और दिन में स्त्रीसेवन का त्याग तथा रात्रि में भोजन का त्याग करना आवश्यक बताया।[२] वसुनन्दि ने इसे दिवामैथुनत्याग प्रतिमा कहा है।[३] उपासकदशांग की परम्परा में इस प्रतिमा का कोई नाम नहीं।

७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा :

जो श्रावक मैथुन का सर्वथा त्याग कर देता है वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी कहलाता है। इसमें त्यागी परम सात्विक हो जाता है और सरल प्रकृति से व्रतों में आरूढ रहता है। व्यापार करते हुए भी वह न्यायाचार पर बल देता है।

ब्रह्म का अर्थ निर्मल ज्ञान रूप आत्मा है। उस आत्मा में लीन होने का नाम भी ब्रह्मचर्य है।[४] अतः इस प्रतिमा का धारक श्रावक स्त्री-सेवन से दूर रहता है और आत्मध्यान में लीन रहता है। मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना के भेद से ब्रह्मचर्य नव प्रकार का होता है। इसमें स्त्रीकथा आदि से भी विनिवृत्ति अवश्यक है।

८. आरम्भत्याग प्रतिमा :

यह प्रतिमा दिग्व्रत और देशव्रत पर आधारित है। इसमें व्रती श्रावक आरम्भ-परिग्रह के कारणभूत कृषि, वाणिज्य आदि व्यापार त्याग देता है और संचित धन से अपना काम निकाल लेता है।[५] इस प्रतिमा को स्वीकार करने से पूर्व वह सचित्त पदार्थों का स्पर्श करता था और फलतः अतिचार का दोष लगता था। परन्तु आरम्भत्याग प्रतिमा को ग्रहण करने के बाद वह इन अतिचारों से दूर हो जाता है।[६]

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १४२; आचार सार, ५.७०-७१.
२. चारित्रसार, पृ. ३८.
३. वसुनन्दि श्रावकाचार, २९६.
४. अनगार धर्मामृत, ४.६०.
५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, १४४.
६. लाटी संहिता, ७.३३.

९. परिग्रहत्याग प्रतिमा :

जो श्रावक क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दास, दासी, कुप्य, भाण्ड इन दस प्रकार के परिग्रहों को छोड़ देता है वह परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है ।[1] इस अवस्था में वह सहसा घर नहीं छोड़ता पर घर छोड़ने का अभ्यास अवश्य करता है । उदासीनआश्रम में वह अपने रहने की व्यवस्था कर लेता है। संतोष वृत्ति होने के कारण संचित परिग्रह से भी उसे ममत्व नहीं रहता । राग-द्वेषादि अन्तरंग परिग्रह के त्याग की ओर भी वह बढ़ जाता है । शेष वस्त्ररूप में भी उसे मूर्छा नहीं रहती । अपनी रक्षा के लिए वस्त्र, घर, अभिषेक-पूजादि के वर्तन धर्म साधन के लिए ग्रन्थ आदि पास रख लेता है और शेष परिग्रह को त्याग देता है । पहले परिग्रह का परिमाण कर लिया गया था पर इस प्रतिमा में उसका त्याग कर दिया गया है । उपासकदशांग की परम्परा में 'स्वयं आरम्भ वर्जन' और 'भृतक प्रेष्यारम्भ वर्जन' ये दो नाम क्रमशः अष्टमी और नवमी प्रतिमा को दिये गये हैं ।

१०. अनुमतित्याग प्रतिमा :

परिग्रह त्याग करने से श्रावक शुद्ध आध्यात्मिक क्षेत्र में आ जाता है। इस अवस्था तक वह अपने गार्हस्थिक कर्तव्यों को बड़ी कुशलता पूर्वक पूरा करता है । जब वह देखता है कि उसके लड़के घर, व्यापार आदि का कार्यभार संभालने के योग्य हो गये हैं तो वह विवाह, व्यापार आदि जैसे कार्यो में अपनी अनुमति देना भी बन्द कर देता है । भोजन में भी किसी भी प्रकार का रसलोलुपी नहीं होता । थाली में जो भी आ जाता है, उसे वह ग्रहण कर लेता है । अपनी ओर से किसी भी व्यञ्जन को बनाने की बात नहीं करता । वह यह मानता है कि शरीर की स्थिति के लिए ही यह भोजन है और शरीर की स्थिति धर्मसिद्धि के लिये हैं ।[2]

दसवीं प्रतिमा तक आते-आते श्रावक घर और परिवार छोड़ने की स्थिति में आजाता है । अपनी पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं का अभ्यास करने से गृहस्थी के प्रति उसका मोह भी छूटता चला जाता है और सन्तान भी उत्तरदायित्व को वहन करने के योग्य हो जाती है । अतः सभी की अनुमति पूर्वक वह श्रावक घर छोड़ देता है और जैन मन्दिर या स्थानक में रहने लगता है ।

१. कार्तिकेयानुपेक्षा, ३३९-३४०.

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, १४६; सागार धर्मामृत, ७.३१-३४.

११. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा :

यह श्रावक अपने निमित्त बने आहार को ग्रहण नहीं करता। इसलिए उद्दिष्टत्यागी कहलाता है। इसे 'उत्कृष्ट श्रावक' कहा गया है। इस अवस्था में वह घर छोड़कर वन या मन्दिर में निवास करने लगता है, भिक्षावृत्ति से आहार-ग्रहण करता है, निर्मोही होकर चेलखण्ड को धारण करता है और रातदिन सम्यक् तपस्या में मग्न रहता है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय, समन्तभद्र आदि आचार्यों ने इस प्रतिमाधारी के कोई भेद नहीं किये। जिनसेन भी स्पष्टत: कुछ नहीं कह सके। उन्होंने दीक्षार्ह और अदीक्षार्ह की बात अवश्य सामने रखी। वसुनन्दि ने ही सर्वप्रथम उद्दिष्टत्याग प्रतिमाधारी श्रावकों के दो भेद किये-प्रथम वस्त्रधारी और द्वितीय कौपीनधारी। वस्त्रधारी श्रावक कटिवस्त्र और चादर रख सकते हैं। वे शिरोमुण्डन अथवा केशलुञ्चन कर सकते हैं। कंसपात्र अथवा पाणिपात्र में भोजन ले सकते हैं। कौपीनवस्त्रधारी श्रावक मात्र कटिवस्त्र रख सकता है। उसे चादर को भी छोड़ देना पड़ता है।[2]

इन दोनों भेदों में प्रायश्चित्त चूलिकाकार (११ वीं शती) ने प्रथम उत्कृष्ट श्रावक को 'क्षुल्लक' शब्द का प्रयोग अवश्य किया है पर वह अधिक प्रचलित नहीं हो पाया। (१५-१६ वीं शती तक प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के रूप में भी उनका विवेचन होता रहा। इसके बाद सर्वप्रथम लाटी संहिताकार पं. राजमल्ल ने इन भेदों को क्रमश: 'क्षुल्लक' और 'ऐलक' संज्ञा दी। क्षुल्लक शब्द का अर्थ क्षुद्र अथवा स्वल्प होता है। वह मात्र लंगोटी और चादर रखता है। ऐलक ईषत् चेलक का प्रतीक है जो मात्र कटिवस्त्र अथवा लंगोटी रखता है। इसके अतिरिक्त क्षुल्लक और ऐलक के पास एक पीछी और एक कमंडलु रहता है। पीछी से वह क्षुद्र जीवों को अलगकर निर्जीव स्थान में उठने-बैठने का काम लेता है और कमण्डलु में प्रासुक जल रहता है जो हाथ वगैरह धोने के काम आता है।

सोमदेव ने उपर्युक्त प्रतिमाधारी श्रावकों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से भेद किये हैं। उन्होंने प्रथम छह प्रतिमाधारी को गृहस्थ और जघन्य श्रावक कहा है। सातवीं, आठवीं और नवीं प्रतिमाधारी श्रावक को ब्रह्मचारी, वर्णी और मध्यम श्रावक बताया है तथा दसवीं, और ग्यारहवीं प्रतिमा-

---

१. अमितगति श्रावकाचार, ७.७७.

२. वसुनन्दि श्रावकाचार, ३०१.

धारी श्रावक को भिक्षुक और उत्कृष्ट श्रावक कहा है। उनकी भिक्षा के भी चार भेद, किये गये हैं—अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरी[1]। आशाधर आदि विद्वानों ने भी श्रावकों के उपर्युक्त भेदों का अनुकरण किया है।[2]

अणुव्रतों और प्रतिमाओं के प्रकारों में समय के अनुसार परिवर्तन अवश्य मिलता है पर उसकी पृष्ठभूमि सदैव यही रही है कि व्यक्ति शाश्वत सुख की ओर अपने आपको मोड़ता जाये, परदुःखकातरता की ओर आगे बढ़े और भौतिक सुख-साधनों की ओर से मुंह मोड़कर आध्यात्मिक परम सुख के साधनों को एकत्र करने लगे। यह आत्मोन्मुखी वृत्ति परकल्याण की आधार भूमिका बन जाती है। श्रावक की इस अवस्था में ज्ञानाचार (श्रुतज्ञान), दर्शनाचार (सम्यग्दर्शन), चारित्राचार (समितियों और गुप्तियों का परिपालना), तपाचार (बाह्य-आभ्यन्तर तप) और वीर्याचार (यथाशक्ति आचार ग्रहण) सुदृढ़ हो जाता है। अर्हत्प्राप्ति इसी की अभिहिति मात्र है।

३. साधक श्रावक

श्रावक की यह तृतीय अवस्था है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते वह विषय-वासनाओं से अनासक्त होकर शरीर को भी बन्धन रूप समझने लगता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के समन्वित आचरण से उसका मन संसार से विरक्त हो जाता है। उस स्थिति में यदि शरीर और इन्द्रियाँ अपना काम करना बन्द कर देती है तो सम्यक् आचरण में बाधा उत्पन्न होती है और पराधीनता बढ़ती चली जाती है। इसलिए उससे मुक्त होने के लिए साधु अथवा श्रावक सल्लेखना (समाधिमरण) धारण करता है।[3] इस व्रत में आमरण निरासक्त होकर आहार, जलादिक का पूर्णतः त्याग कर दिया जाता है और धर्माराधनपूर्वक शरीर त्याग करने का संकल्प ग्रहण कर लिया जाता है। आज की परिभाषा में इसे आत्महत्या नहीं कहा जा सकता।

सल्लेखना

सल्लेखना का तात्पर्य है—सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृष (लेखन) करना।[4] यह व्रत विशेषतः उस समय ग्रहण किया जाता है जब कि साधक

---

१. यशस्तिलक चम्पू, भाग २, पृ ४१०; श्लोक ८५५-५६, ८-९०.
२. सागार धर्मामृत, ३.२-३; चारित्रसार, पृ. ४०.
३. महापुराण, ३९.१४९; चारित्रसार, ४१-२.
४. सर्वार्थ सिद्धि, ७.२२; वसुनन्दि श्रावकाचार, २७२ वीं गाथा.

के उपर कोई तीव्र उपसर्ग आ गया हो अथवा दुर्भिक्ष, वृद्धावस्था और रोग के कारण आचार-प्रक्रिया में बाधा आ रही हो । ऐसी परिस्थिति में यही श्रेयस्कर है कि साधक अपने धर्म की रक्षार्थ विधिपूर्वक शरीर को छोड़ दे ।[1] यहाँ आन्तरिक विकारों का विसर्जन करना साधक का प्रमुख उद्देश्य रहता है ।

आत्महत्या और सल्लेखना :

इस प्रकार के शरीर त्याग में साधक पर किसी भी प्रकार से आत्महत्या का दोष नहीं लगाया जा सकता । क्योंकि आत्महत्या करनेवाला किसी भौतिक पदार्थ की अतृप्त वासना से ग्रस्त रहता है जबकि सल्लेखनाव्रतधारी श्रावक अथवा साधु के मन में इस प्रकार का कोई वासनात्मक भाव नहीं रहता बल्कि वह शरीरादि की असमर्थता के कारण दैनिक कर्तव्यों में संभावित दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है । वह ऐसे समय निःकषाय होकर परिवार और परिचित व्यक्तियों से क्षमा-याचना करता है और मृत्यु-पर्यन्त महाव्रतों को धारण करने का संकल्प कर लेता है। तदर्थ सर्वप्रथम वह आत्मचिंतन करता है और उसके बाद क्रमशः खाद्य, और पेय पदार्थ छोड़कर उपवासपूर्वक देहत्याग करता है । वहाँ उसके मन में शरीर के प्रति कोई राग नही होता । अतः आत्महत्या का उसे कोई दोष लगने का प्रश्न ही नहीं उठता ।[2]

वस्तुतः आत्महत्या और सल्लेखना में अन्तर समझ लेना अत्यावश्यक है । आत्महत्या की पृष्ठभूमि में कोई अतृप्त वासना काम करती है । आत्महत्या करने वाला अथवा किसी भौतिक सामग्री को प्राप्त करने के लिए अनशन करनेवाला व्यक्ति विकार भावों से जकड़ा रहता है । उसका मन क्रोधादि भावों से उत्तप्त रहता है । जबकि सल्लेखना करने वाले के मन में किसी प्रकार की वासना और उत्तेजना नहीं रहती । उसका मन इहलौकिक साधनों की प्राप्ति से हटकर पारलौकिक सुखों की प्राप्ति की ओर लगा रहता है । भावों की निर्मलता उसका साधन है । तज्जीवतच्छरीरवाद से हटकर शरीर और आत्मा की पृथकता पर विचार करते हुए शारीरिक परतन्त्रता से मुक्त होना उसका साध्य है । विवेक उसकी आधारशिला है । अतः आत्महत्या और सल्लेखना को पर्यायार्थक नहीं कहा जा सकता ।

समाधिमरण और सल्लेखना पर्यार्थक शब्द हैं । जैसा पहले हम कह चुके हैं, सल्लेखना का उद्देश्य यही है कि साधक संसार-परंपरा को दूर कर

---

१. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचन आहुः सल्लेखनामार्याः ।। रत्नकरण्डश्रावकाचार ५.१.

२. सर्वार्थसिद्धि, ७.२२; राजवार्तिक, ७.२२, चारित्रसार,२२.

शाश्वत अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति करे। साधक अपना शरीर बिलकुल अशक्त देखकर आभ्यन्तर और बाह्य, दोनों सल्लेखनायें करता है। आभ्यन्तर सल्लेखना कषायों की होती है और बाह्य सल्लेखना शरीर की होती है। परिणामों की विशुद्धि जितनी अधिक होगी, सल्लेखना की उपयोगिता उतनी ही अधिक होगी। इसमें कषायों की क्षीणता नितान्त आवश्यक है। मरण के सन्निकट आ जाने पर, तथा उपसर्ग या चारित्रिक विनाश की स्थिति आ जाने पर सल्लेखना धारण की जाती है। मरणकाल में जो जीव जिस लेश्या से परिणत होता है उत्तरकाल में उसी लेश्या का धारक होता है। चिरकाल से आराधित धर्म भी यदि अन्तकाल में छोड़ दिया जाये तो वह निष्फल हो जाता है। और यदि मरणकाल में उस धर्म की आराधना की जाय तो वह चिरकाल के उपार्जित पापों का भी नाश कर देता है।[1] साधक की साधना को सफल बनाने के लिए अन्य स्वपरविवेकी साधु यथाशक्य प्रयत्न करते हैं। वे तरह तरह से साधनारत व्यक्ति के लिए उपदेश देते रहते हैं और धर्म साधना में व्यस्त व्यक्ति के भावों को दृढ़ बनाये रखते हैं। मुनि भी अन्तिम समय में सल्लेखना धारण करते हैं।

मरण के प्रकार :

जैन साहित्य में शरीर त्याग के तीन प्रकारो का उल्लेख मिलता है— च्युत, च्यावित और त्यक्त।[2] आयु के समाप्त होने पर स्वभावतः मरण हो जाना च्युत है। शस्त्र अथवा विषादिक द्वारा शरीर छोड़ना च्यावित है जो उचित नहीं कहा जा सकता और समाधिमरण द्वारा मरण होना त्यक्त कहलाता है। त्यक्त के तीन प्रकार हैं—भक्त प्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण और प्रायोपगमनमरण।

१. **भक्तप्रत्याख्यानमरण**—इसमें आहारादि त्यागने के बाद साधक शरीर की परिचर्या स्वयं ही करता है, दूसरों से नहीं कराता। वह प्रतिज्ञा करता है कि मैं सर्व प्रथम हिंसादि पांचों पापों का त्याग करता हूँ। मुझे सब जीवों में समता भाव है, किसी के साथ भी मेरा वैर नहीं। इसलिए मैं सर्व आकांक्षाओं को छोड़कर समाधि (शुद्ध) परिणाम को प्राप्त होता हूँ। मैं सब अन्न-पान आदि आहार की अवधि का, आहार संज्ञा का, सम्पूर्ण आशाओं का कषाओं का और सर्व पदार्थों में ममत्व भाव का त्याग करता हूं।[3] इस प्रतिज्ञा

---

१. भगवती आराधना, १९२२, सागार धर्मामृत, ८.१६; उपासकाध्ययन, ८९७-८.

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, ५६-६१.

३. मूलाचार, १०९-१११.; भगवती शतक, १३, ३.८ पा. ३०; ठाणांग टीका, २.४.१०:

से साधक के परिणाम अत्यन्त सरलता और विरागता की ओर बढ़ जाते हैं। वह साधक निश्छल और क्षमाशील हो जाता है। यावज्जीवन आहारादि का त्याग कर संसार-सागर से पार होने का उपक्रम करता है। कुन्दकुन्द, वसुनन्दि आदि आचार्यों ने इसे शिक्षाव्रतों में सम्मिलित किया है जब कि उमास्वाति, समन्तभद्र आदि आचार्यों ने उसे मरणान्तिक कर्तव्य के रूप में माना है।

भक्तप्रत्याख्यानमरण के दो भेद हैं — सविचार और अविचार। नाना प्रकार से चारित्र का पालन करना और चारित्र में ही विहार करना विचार है। उस विचार के साथ जो वर्तता है वह सविचार है और जो इस प्रकार का वर्तन नहीं करता वह अविचार है। जो गृहस्थ या मुनि उत्साह व बलयुक्त है और जिसका मरणकाल सहसा उपस्थित नहीं हुआ है अर्थात् जिसका मरण कुछ अधिक समय बाद प्राप्त होगा, ऐसे साधु के मरण को सविचार भक्तप्रत्याख्यानमरण कहते हैं। जिसमें कोई सामर्थ्य नहीं और जिसका मरणकाल सहसा उपस्थित हुआ है ऐसे साधु के मरण को अविचारभक्तप्रत्याख्यान कहते हैं।[1]

२. **इंगिनीमरण** — इसमें आहारादि त्यागने के बाद साधक नियत देश में ही शरीर की परिचर्या स्वयं ही करता है, दूसरों से नहीं कराता।

३. **प्रायोपगमन मरण** — इसमें साधक आहारादि त्यागने के बाद शरीर की परिचर्या न स्वयं करता है और न दूसरों से कराता है। वह तो मात्र सतत आत्मध्यान में लीन रहता है। इसे 'प्रायोग्यगमन' भी कहते हैं। प्रायोग्य का अर्थ है संस्थान या संहनन। इनकी प्राप्ति होना प्रायोग्य गमन है। विशिष्ट संस्थान व विशिष्ट संहनन वाले ही प्रायोग्य अंगीकार करते हैं। कहीं-कहीं इसके लिए "पादोपगमन" शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है — अपने पांव के द्वारा संघ से निकलकर और योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है वह पादोपगमन मरण हैं।[2]

आचार्य शिवार्य ने समाधिमरण का विस्तार से वर्णन करते हुए मरण के पांच भेद किये हैं — बालमरण, बाल-बालमरण, पण्डितमरण, पण्डित-पण्डितमरण, और बाल-पण्डित मरण। अविरत सम्यग्दृष्टि के मरण को बालमरण, मिथ्या-दृष्टि के मरण को बाल-बालमरण, सम्यक्-

---

१. भगवती आराधना, वि., गाथा, ६५.

२. वही, गा. २९; उवासगदसांग सूत्र, अध्याय १; उत्तराध्ययन टीका, २.४.[illegible]

चारित्र के धारक मुनियों के मरण को पण्डित मरण, तीर्थंकर के निर्वाणगमन को पंडितपण्डितमरण और देशव्रती श्रावक के मरण को बाल पण्डितमरण कहा जाता है। भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन ये तीन भेद पण्डितमरण के हैं जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

सल्लेखना अथवा समाधिकरण जैसा कोई व्रत जैनेतर संस्कृति में प्रायः उपलब्ध नहीं है। जैनधर्म में तो निर्विकारी साधु अथवा श्रावक के मरण को मृत्यु महोत्सव का रूप दिया गया है जबकि अन्यत्र कोई प्रसंग भी नहीं आता। वस्तुतः यह व्रत अन्तिम समय में आध्यात्मिक और पारलौकिक क्षेत्र में अपनी आत्मा को विशुद्धतम बनाने के लिए एक बहुत सुन्दर साधन है। जैनधर्म की यह एक अनुपम देन है। वैदिक संस्कृति में प्रायोपवेशन, प्रायोपगमन जैसे कतिपय शब्द सल्लेखना के समानार्थक अवश्य मिलते हैं पर उनमें वह विशुद्धता तथा सूक्ष्मता नहीं दिखाई देती। अधिक संभव यह है कि उसपर जैन संस्कृति का प्रभाव पड़ा होगा। फिर भी इसे हम 'भक्तप्रत्याख्यानमरण' कह सकते हैं। इस अवस्था में भी साधक के मन में किसी प्रकार की इहलोक, परलोक, जीवित, मरण और कामभोग की आकांक्षा नहीं होनी चाहिए। उसे पूर्ण-निरासक्त और निष्कांक्ष होना आवश्यक है। समभाव की प्राप्ति तभी हो सकेगी जब वह निर्मोही हो जायेगा। जैन संस्कृति की सल्लेखना में मुमुक्षु की मानसिक अवस्था का सुन्दर संयोजन होता है। बौद्ध संस्कृति में भी मुझे सल्लेखना से मिलता-जुलता कोई व्रत देखने नहीं मिला।

इस प्रकार श्रावक आवस्था मुनिव्रत की पूर्णावस्था है। अतः यह स्वाभाविक है कि साधक अपनी पूर्णावस्था में उत्तरावस्था में निर्धारित आचार व्यवस्था को किसी सीमा तक पालन करने का प्रयत्न करे। इसे हम उसकी अभ्यास अवस्था कह सकते है। योगसाधना, परीषहों और उपसर्गों को सहन करना आदि कुछ ऐसे ही तत्व हैं जिनका अनुकरण श्रावक भी करता है। ऐसे तत्वों का विवेचन संयुक्त विवेचन समझना चाहिए। कुछ तत्वों का वर्णन हमने श्रावकाचार प्रकरण में कर दिया और कुछ को मुनि आचार प्रकरण में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। दोनों अवस्थाओं में व्रत लगभग वही हैं, मात्र अन्तर है उनके परिपालन में हीनाधिकता अथवा मात्रा का।

गुणस्थान

जीव मिथ्यात्व और अज्ञानता के कारण अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता। जिस क्रम से वह अपनी विशुद्ध अवस्थारूप परमपद

को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है उसे ही गुणस्थान कहा जाता है।[1] अर्थात् गुणस्थान आध्यात्मिक क्षेत्र में चरमावस्था प्राप्त करने के लिए जीव के विकासात्मक सोपान हैं। ये चौदह होते हैं[2]—१. मिथ्यादृष्टि, २. सासादन, सम्यग्दृष्टि, ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ४. अविरत सम्यग्दृष्टि, ५. देशसंयत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण संयत, ९. अनिवृत्तिकरणसंयत, १०. सूक्ष्मसांपरायसंयत, ११. उपशान्तकषाय संयत, १२. वीतरागछद्मस्थसंयत, १३. सयोगकेवली गुणस्थान, और १४. अयोगकेवली गुणस्थान।

१. मिथ्यादृष्टि :

जीव जबतक आत्मस्वरूप की पहचान नहीं कर पाता, तबतक वह मिथ्यादृष्टि बना रहता है।[3] एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेंद्रिय तक के जीव मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। संज्ञी अवस्था प्राप्तकर यदि वे पुरुषार्थ करें तो उस मिथ्यात्व से दूर हो सकते हैं। वह मिथ्यात्व पाँच प्रकार का होता है[4]—१. १. एकान्त मिथ्यात्व (पदार्थ नित्य अथवा अनित्य ही है, यह मान्यता), २. अज्ञान-मिथ्यात्व (स्वर्ग, नरक आदि को न मानना), ३. विपरीत मिथ्यात्व (मिथ्या-दर्शनादि विपरीत मार्ग से भी मुक्ति-प्राप्ति को स्वीकार करना), ४. संशय मिथ्यात्व (किसी तत्त्व का निर्णय नहीं कर पाना), और ५. विनय मिथ्यात्व (पद के प्रतिकूल भक्ति करना)। मिथ्यात्त्व के दूर होते ही जीव प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान में पहुँच जाता है। और फिर वहाँ से पतित होकर प्रथम गुणस्थान में आता है।

२. सासादन सम्यग्दृष्टि :

मिथ्यादृष्टि जब प्रथमबार सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है तो उसे प्रथमोपशम सम्यकत्व कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान में पहुँचने पर नियम से वह अनन्तानुबन्धी कषायादि की तीव्रता के कारण सम्यग्दर्शन से पतित होता है फिर भी वह सम्यग्दर्शन का आस्वादन लिये रहता है। इसलिए इस अवस्था का नाम सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है।[5] यहाँ जीव एक समय से लेकर छह आवली तक रहता है। फिर वह प्रथम गुणस्थान में पहुँच जाता है।

---

१. पंचसंग्रह, १.३; गोमट्टसार जीवकाण्ड, ८.२९.

२. मूलाचार, ११९५-९६.

३. रयणसार, १०६.

४. धवला, १.१.१.९.

५. पंचसंग्रह, १.९.

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि :

सम्यग्दर्शन से पतित होने पर यदि उसके दही-गुड़ के स्वाद की तरह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप मिश्रित परिणाम होते हैं तो वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहलाता है।[१] इसे 'मिश्रगुणस्थान' भी कहा गया है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त रहता है। यदि यहाँ उसके भाव पुनः सम्यक्त्व रूप हो जाते हैं तो वह चतुर्थ गुणस्थान में पहुँच जाता है अन्यथा वह नीचे के गुणस्थान में चला जाता है।

४. असंयत सम्यग्दृष्टि :

जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाने पर यह गुणस्थान मिलता है। साधक जब अपने दर्शन मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक्त्व तथा चारित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय और क्षयोपशम कर देता है तब उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। सम्यग्दृष्टि जीव संसार में अधिकाधिक तीन भव तक रहता है। चौथे भाव में नियमतः वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। संसार में रहता हुआ भी वह अनासक्त भाव से विषय-वासनाओं का सेवन करता है। उसका अन्तःकरण विशुद्ध होता है, यद्यपि वह चारित्र का पालन नहीं करता। गृहस्थावस्था में रहते हुए भी वह जल में कमल के समान उससे निर्लिप्त रहता है। इस अवस्था को 'अविरतसम्यक्त्व' भी कहा गया है।[२]

५. देशसंयत :

असंयत सम्यग्दृष्टि जीव चारित्र का पालन न करते हुए भी भौतिक साधनों को कर्मबन्धन का कारण मानता है पर यह देश संयमी साधक अहिंसादि व्रतों का स्थूल रूप से पालन करता है और धीरे-धीरे आत्मा की विशुद्धावस्था को प्राप्त करने की ओर बढ़ता चला जाता है। इस क्रम में वह पूर्वोक्त ग्यारह प्रतिमाओं को क्रमशः ग्रहण करता है और शुद्ध चारित्र धारण करते हुए सल्लेखना पूर्वक मरण करता है। इस गुणस्थान को 'देशविरत' भी कहा जाता है।[३]

६. प्रमत्तसंयत :

यह गुणस्थानवर्ती जीव घर छोड़कर मुनि हो जाता है और अणुव्रतों के स्थानपर महाव्रतों का परिपालन करता है। चारित्र का सम्यक् पालन करते हुए भी प्रमादवश कभी कभी उसकी मानसिक वृत्ति विषय-कषायादि की ओर

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ९. १. १४.

२. वही, ९. १. १५; पंचसंग्रह, ११.

३. धवला, १. १. १. १३; गोमट्टसार जीवकाण्ड, ४७६.

झुक जाती है। जैसे ही उसे उस झुकाव का ध्यान आता है, वह पुनः अप्रमत्त हो जाता है। इस तरह उसकी वृत्ति प्रमाद से अप्रमाद और अप्रमाद से प्रमाद की ओर दौड़ती रहती है। वह संयत रहने पर भी प्रमत्त है।[1]

७. अप्रमत्तसंयत :

छठा गुणस्थानवर्ती जीव जब अप्रमत्त होकर सम्यक् आचरण करता है तो उसके अप्रमत्त संयत अवस्था प्रगट होती है। वर्तमान काल में इस गुणस्थान से आगे कोई भी साधु नहीं जा पाता क्योंकि ऊपर के गुणस्थानों को प्राप्त करने की शक्ति उसमें नहीं रहती। इस अवस्था के दो भेद हैं — स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। स्वस्थान अप्रमत्त छठे से सातवें और सातवें से छठे गुणस्थान में घूमता रहता है पर सातिशय अप्रमत्ती मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिए उद्योगशील बना रहता है।[2]

८. अपूर्वकरण :

इस गुणस्थान में जीव के भाव अपूर्व रूप से विशुद्ध होते हैं। इसलिए इसे अपूर्वकरण कहा गया है। यहाँ से जीव पतित नहीं होता बल्कि उसकी विशुद्धावस्था का रूप निखरता चला जाता है। मोहनीय कर्म को नष्ट करने की भूमिका का भी निर्माण यहीं होता है। चरित्र की अपेक्षा इस गुणस्थान में क्षापिक व औपशमिक भाव ही संभव हैं। यहाँ एक भी कर्म का उपशम या क्षय नहीं होता।[3]

आठवें गुणस्थान से जीवों की दो श्रेणियाँ प्रारंभ हो जाती हैं — उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। उपशमश्रेणी में चारित्र मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियोंका उपशम किया जाता है और क्षपकश्रेणी में उनका क्षय किया जाता है। उपशम श्रेणी के चार गुणस्थान होते हैं — आठवें से बारहवें तक। क्षपक श्रेणी के भी चार गुणस्थान होते हैं — आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ और बारहवाँ। उपशमश्रेणी पर तद्भवमोक्षगामी, अतद्भवमोक्षगामी, औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि, दोनों प्रकार के जीव चढ़ सकते हैं पर क्षपक श्रेणी पर मात्र तद्भव और अतद्भव मोक्षगामी ही चढ़ने का सामर्थ्य रखते हैं। उपशम श्रेणीवर्ती जीव ग्यारहवें गुणस्थान से नियमतः पतित होता है और वह प्रथम

---

१. पंचसंग्रह, १. १४; धवला, १. १. १. १४.
२. वही (प्रा.), १ १६; तत्त्वार्थसार, २. २५.
३. धवला, १. पृ. १८०; धर्मबिन्दु, ८. ५; भावसंग्रह, ६४८.

गुणस्थान तक भी पहुँच जाता है। पर क्षपक श्रेणी का जीव सातवें गुणस्थान से भी आगे बढ़ जाता है।

९. अनिवृत्तिकरण :

इसमें सभी जीवों के परिणाम समान (अनिवृत्ति-अविषम) रहते हैं। कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी बढ़ जाती है और स्थितिबन्ध उत्तरोत्तर कम होता जाता है। उपशमश्रेणी का जीव मोहनीय कर्म की लोभ प्रकृति को छोड़कर शेष सभी प्रकृतियों का उपशम करता है और क्षपकश्रेणी का जीव उनका क्षय करके दशवें गुणस्थान में पहुंच जाता है।[1]

१०. सूक्ष्मसांपराय :

सांपराय का तात्पर्य है लोभ। इसमें साधक मोहनीय कर्म की शेष सूक्ष्म लोभ प्रकृतियों का भी उपशमकर ग्यारहवें गुणस्थान में जाता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव उसका क्षयकर बारहवें गुणस्थान को पाता है। इस गुणस्थान का भी काल अन्तर्मुहूर्त है।[2]

११. उपशान्तमोह :

इस गुणस्थान का साधक सूक्ष्म लोभ का उपशम होते ही शुक्लध्यान के कारण एक अन्तर्मुहूर्त के लिए मोहनीय कर्म को उपशान्त कर वीतराग अवस्था प्राप्त कर लेता है। पर नियमसे वहाँ से गिरकर नीचे के गुणस्थानों में चला जाता है।[3]

१२. क्षीणकषाय :

इस गुणस्थान में सूक्ष्मलोभ का क्षय हो जाता है और साथ ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय रूप शेष घातिया कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। फलतः जीव को कैवल्य अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस गुणस्थान से जीव का पतन नहीं होता बल्कि अन्तर्मुहूर्त रहकर वह नियम से तेरहवें गुणस्थान में चला जाता है। इस गुणस्थान तक के जीव छद्मस्थ कहलाते हैं क्योंकि इस अवस्था तक उसके साथ कर्मों का सम्बन्ध बना रहता है।[4]

---

१. पंचसंग्रह (प्राकृत), १.२०-२१; धवला, १. १. १. १७.

२. वही, १.२२-२३; तत्त्वार्थवार्तिक, ९. १. २१,

३. भावसंग्रह, ६५५; धवला, १. पृ. १०९.

४. पंचसंग्रह (प्राकृत), १, २५; धवला, १. पृ. १९०.

१३. सयोगकेवली :

यहाँ कैवल्यावस्था प्राप्त जीव को अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप गुण प्राप्त होते हैं। उसमें मात्र सत्यवचन, अनुभयवचन और औदारिक काय रूप त्रियोग शेष रह जाता है। इसलिए इसे सयोगकेवली कहा जाता है। सत्यवचनयोग और अनुभयवचनयोग से वह संसारी जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देता है। यहाँ शुक्लध्यान का तृतीय भेद प्रगट हो जाता है।[1]

१४. अयोगकेवली :

इस गुणस्थान में सयोगकेवली शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद को प्राप्तकर त्रियोगों का निरोध करता है और बाद में यथासमय अशरीरी होकर अघातिया कर्मों को भी नष्टकर सिद्धावस्था[2] को प्राप्त कर लेता है।[3]

इस प्रकार गुणस्थान को आत्मा के क्रमिक विकास का अध्ययन कहा जा सकता है। किस प्रकार जीव अपनी मिथ्यात्व अवस्था को छोड़कर सम्यकत्व अवस्था प्राप्त करता है और बाद में समस्त कर्मों का उपशमनकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है, इसका सोपानगत विश्लेषण हम गुणस्थान के माध्यम से जान पाते हैं।[4]

जैन श्रावक की आचार व्यवस्था का यह संक्षिप्त विवेचन उसके क्रमिक इतिहास को प्रस्तुत करता है। जैनेतर दर्शनों में निर्धारित व्यवस्था का भी यहाँ अध्ययन किया जाना अपेक्षित है। उनके बीच तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैन आचार व्यवस्था में साधनों की विशुद्धता पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया है। बौद्ध धर्म की शब्दावली में गुणस्थान को भूमियों की संज्ञा दी जा सकती है।

२. मुनि आचार

श्रावकाचार के परिपालन से साधक में मुनि-आचार के पालन की क्षमता उत्पन्न हो जाती है और वह आध्यात्मिक विकास की ओर कुछ और आगे बढ़ जाता है। संसार का हर पदार्थ उसे अब एक बन्धन-सा प्रतीत होने लगता है।

---

१. वही, १. २७-३०.
२. नन्दिचूर्णि में पंद्रह प्रकार के सिद्धों का वर्णन किया गया है।
३. पंचसंग्रह (संस्कृत), १. ४९-५०.
४. इस संदर्भ में विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रन्थ दृष्टव्य हैं।

उससे मुक्त होने के लिए वह अध्ययन, मनन और चिन्तन के माध्यम से अपनी प्रवृत्तियाँ निश्रेयस की ओर मोड़ देता है। उसका हर कार्य देशविरति से सर्व विरति की ओर लग जाता है।

मुनि आचार साहित्य :

प्रवृत्ति का यह चिन्तनात्मक पक्ष हमें संबद्ध साहित्य की ओर जानेको बाध्य कर देता है। इस सन्दर्भ में आचारांग, उपासकदशांग, दशवैकालिक, निशीथ, मूलाचार, भगवती आराधना, रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। यहां हम अर्ध-मागधी आगम के अतिरिक्त मुनि आचार सम्बन्धी अन्य प्रमुख साहित्य को उद्धृत कर रहे हैं—

१. कुन्दकुन्द	प्रवचनसार (तृतीय स्कन्ध)	प्राकृत
	नियमसार (गाथा–७७–१५७	"
	दंसणपाहुड	"
	सुत्तपाहुड	"
	चरित्रपाहुड	"
	बोध पाहुड	"
	लिंग पाहुड	"
	शील पाहुड	"
	रयणसार	"
	दशभक्तियां	"
२. वट्टकेर	मूलाचार	"
३. उमास्वाति	प्रशमरति प्रकरण (?)	संस्कृत
	तत्त्वार्थ सूत्र	संस्कृत
४. शिवार्य	भगवती आराधना (?)	प्राकृत
५. हरिभद्रसूरि	पंचवत्थुग पगदण	"
(८ वीं शती)		"
	सम्यक्त्व सप्तति	"
	पंचासग	"
	धर्मबिन्दु	संस्कृत
६. देवसेन (१० वीं शती)	आराहणासार	प्राकृत

७.	अमितगति (१० वीं शती)	आराधना	संस्कृत
८.	वीरभद्र (११ वीं शती)	आराहणापडाया	प्राकृत
९.	देवसूरि (११-१२ वीं-शती)	जीवानुशासन	,,
१०.	चामुण्डराय (११ वीं शती)	चारित्रसार (?)	संस्कृत
११.	अमृतचन्द्रसूरि (११ वीं शती)	पुरुषार्थ सिद्धयुपाय	संस्कृत
१२.	वीरनन्दि (११ वीं शती)	आचारसार	संस्कृत
१३.	जिनवल्लभसूरि (११-१२ वीं शती)	द्वादशकुलक	प्राकृत
		पिंडविसुद्धि	प्राकृत
१४.	सोमप्रभसूरि (१२-१३ वीं शती)	सिंदूरप्रकरण, श्रङ्गार वैराग्यतरंगिणी	संस्कृत
		जइजीयकप्प	प्राकृत
१५.	नेमिचन्द्रसूरि (१३ वीं शती)	प्रवचनसारोद्धार	प्राकृत
१६.	आशाधर (१३ वीं शती)	अनगारधर्मामृत	संस्कृत

मुनिचर्या

वैराग्य की फलश्रुति मुनिचर्या की स्वीकृति है। अतः दीक्षा के लिए योग्य श्रावक माता-पिता आदि से अनुमति लेकर योग्य गुरु के पास जाकर मुनि दीक्षा ग्रहण कर लेता है।

पीछे श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन करते समय हमने ग्यारहवीं प्रतिमा उद्दिष्टत्याग का स्वरूप देखा था। उसके उपरान्त नैष्ठिक श्रावक सकल-चारित्र का धारक अनगार अवस्था का परिपालक हो जाता है। वह पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पंचेन्द्रियविजय, छह आवश्यक, केशलुञ्चन, अचेलकता, अस्नानता, भूशयन, स्थितिभोजन, अदन्तधावन, एवं एकभुक्ति इन अट्ठाईस

मूलगुणों का पालन करके अपने सम्यक्चारित्र को सुदृढ़ बनाता है। मूलाचार (दशम प्रकरण) में मुनि के लिए चार प्रकार का लिङ्गकल्प बताया गया है—अचेलकत्व, लोंच, व्युत्सृष्टशरीरता और प्रतिलेखन।

अट्ठाईस मूलगुण

महाव्रत :

अणुव्रतों का पालक श्रावक होता है और महाव्रतों का पालक मुनि। अतः मुनि भी उन्हीं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांचों व्रतों का परिपालक होता है परन्तु सकलरूप से, एकदेश से नहीं। हिंसाके दो क्षेत्र होते हैं—जीव और अजीव। जीव के क्षेत्र में प्रमादी व्यक्ति तीन प्रकार से हिंसा करता है— अपघात करने का प्रयत्न करना (संरम्भ), अपघात करने में कारण जुटाना (समारम्भ) और अपघात करने का आरम्भ करना (आरम्भ)। ये तीनों कारण मन-वचन-काय से, कृत-कारित अनुमोदना से और क्रोध मान-माया-लोभ से १०८ (३×३×३×४) प्रकार का हो जाता है। अजीवाधिकरण के चार भेद होते हैं— निक्षेप, निवर्तना, संयोजना और निसर्ग। मुनि इन सभी प्रकारों से षट्कायिक जीवों की विराधना से बचने का प्रयत्न करता है। अर्थात् जीवों की सभी प्रकार से रक्षा करना अहिंसा महाव्रत है।

अहिंसा :

जैनधर्म भावप्रधान धर्म है। विराधना में सबसे बड़ा कारण होता है प्रमाद और कषाय। प्रमादी साधु अथवा साधक के चलने में जीवों की हिंसा न होने पर भी उसे हिंसा का बन्ध होता है जबकि संयमी साधु की गमनक्रिया में जीव-हिंसा होने पर भी वह कर्मबन्ध का कारण नहीं होती क्योंकि हिंसा करने के उसके भाव नहीं रहते।[1] सर्वार्थसिद्धि (१.१३) में उद्धृत निम्न गाथा का यही तात्पर्य है।

मरदु जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥

सत्य :

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा किये बिना ही वस्तु के सत्-असत् आदि पक्षों को अस्वीकार नहीं करना सत्य महाव्रत है। सत्यमहाव्रतधारी मुनि

---

१. मूलाचार, २८९; सूत्रकृतांग के क्रियास्थान नामक अध्ययन में हिंसा के तेरह कारणों का उल्लेख किया गया है; उत्तराध्ययन, ८. १०.

गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचनों से भी दूर रहता है। वह कभी भी कर्कश, परुष, निष्ठुर आदि भाषा का प्रयोग नहीं करता जिससे किसी को दुःख हो।[१] अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और नयवाद का प्रयोग इसी व्रत के अन्तर्गत आता है।

अचौर्य :

बिना दी हुई किसी भी चीज को ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत है। चोर के न दया होती है और न लज्जा, न उसकी इन्द्रियाँ वशीभूत होती हैं और न विश्वसनीय। अचौर्य महाव्रतधारी इन सभी दुर्गुणों से विमुक्त रहता है। ज्ञान और चारित्र में उपयोगी वस्तुओं को ही वह ग्रहण करता हैं।[२]

ब्रह्मचर्य :

ज्ञान-दर्शनादि रूप से जो वृद्धि को प्राप्त हो वह 'ब्रह्म' कहलाता है। यहाँ जीव को ब्रह्म कहा गया है। अपने और परके देह से आसक्ति छोड़कर शुद्ध ज्ञान दर्शनादिक स्वभाव रूप आत्मा में जो प्रवृत्ति करता है वह ब्रह्मचर्यव्रती है। वह दश प्रकार के अब्रह्म का त्याग करता है—स्त्रीविषयाभिलाषा, वीर्यविमोचन, संसक्तद्रव्यसेवन, इन्द्रियावलोकन, स्त्रीसत्कार, स्वशरीरसंस्कार, अतीत योगों का स्मरण, अनागत योगों की कामना और इष्टविषयसेवन।[३] स्त्रियों आदि में राग को पैदा करने वाली कथाओं के सुनने का त्याग, उनके मनोहर अंगों को देखने का त्याग, पूर्व योगों के स्मरण का त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रस का त्याग तथा अपने शरीर के संस्कार का त्याग, इन पांच भावनाओं से ब्रह्मचर्यव्रत का निरतिचार पूर्वक पालन किया जा सकता है।[४] उत्तराध्ययन में समाधि में बाधक ऐसे ही तत्त्वों को छोड़ने के लिए कहा गया है।[५]

अपरिग्रह :

चेतन और अचेतन, बाह्य और अन्तरंग, सभी प्रकार का परिग्रह छोड़ देना और निर्ममत्व भाव को अंगीकार करना अपरिग्रह महाव्रत है।[६] राग, द्वेष, स्नेह, लोभ आदि विकार भाव कर्मबन्ध के कारण होते हैं। और उनका कारण परिग्रह है। परिग्रह का त्याग होने से संसार परिभ्रमण का कारणभूत राग

---

१. नियमसार, ५७; मूलाचार, २९०; उत्तराध्ययन, २५. २४; दशवैकालिक, ४. १२.
२. भगवती आराधना, १२०८; उत्तराध्ययन, १९. १८; दशवैकालिक, ४. १३.
३. वही, ८७९-८८१; अनगारधर्मामृत, ४. ६१.
४. तत्त्वार्थसूत्र, ७.७.
५. उत्तराध्ययन, १६. १ (गद्य)— दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नता।
६. वही, १९. ३०; दशवैकालिक, ४. १५.

द्वेषादि का अभाव हो जाता है और रागद्वेषादि का अभाव हो जाने से संसरण से मुक्त होने का पथ प्रशस्त हो जाता है।[1]

इन पंचमहाव्रतों का निरतिचार पूर्वक परिपालन अनन्त ज्ञानादि गुणों की सिद्धि में मूल कारण होता है। शिवार्य ने उनकी रक्षा के निमित्त रात्रिभोजन का त्याग और 'अष्टप्रवचन मातृका' का धारण करना आवश्यक बताया है। प्रवचन का अर्थ है परमागम अथवा आप्तवचन। आप्तवचन को समझने तथा तदनुसार आचरण करने के लिए परिणाम के संयोग से पाँच समितियों और त्रिगुप्तियों में न्याय रूप प्रवृत्ति होना नितान्त अपेक्षित है। उसे चारित्र के आठ भेद भी कहते हैं। ये मुनिके ज्ञान-दर्शन चारित्र की सदैव उस प्रकार रक्षा करते हैं जिस प्रकार पुत्र का हित करने में तत्पर माता अपायों से उसको बचाती है। इसलिए इनको 'प्रवचन मातृका' कहा जाता है।[2]

६–१० पञ्चसमितियाँ :

समिति का तात्पर्य है सम्यक् प्रवृत्ति। आध्यात्मिक क्षेत्र में इसका अर्थ है — अनन्त ज्ञानादि स्वभावी आत्मा में लीन होना, उसका चिन्तन करना आदि रूप से परिणमन होना समिति है।[3] सच्चा मुनि समिति के पालन करने में अन्तर्मुखी हो जाता है। वह मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन करता है। इन त्रिगुप्तियोंसे तथा ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग, इन पाँच समितियों से उपर्युक्त पंच महाव्रतों की रक्षा होती है।

दिन में मार्ग के प्रासुक हो जाने पर चार हाथ आगे की भूमिको शोधकर चलना 'ईर्यासमिति' है। वचन चार प्रकार का होता है—सत्य, असत्य, उभय और अनुभय। असत्य और उभयवचनों का त्याग करना तथा सत्य और अनुभय करनेवालो वचनों को यथानुसार विशुद्ध बोलना 'भाषा समिति' है। इसमें साधु भेद उत्पन्न करनेवाली पैशून्य, परुष, प्रहासोक्ति से रहित, हित, मित और असंदिग्ध भाषा बोलता है। उद्‌गम, उत्पादन आदि आहार सम्बन्धी छयालीस दोषों से रहित प्रासुक अन्नादि का ग्रहण स्वाध्याय और ध्यान की सिद्धि के लिए करना 'एषणा' समिति है। ज्ञान के उपकरण शास्त्रादिकों का तथा संयम के उपकरण पीछी, कमण्डलु आदिको यत्न पूर्वक उठाना और रखना 'आदाननिक्षेपण' समिति है। और जीव रहित भूमि पर मल-मूत्रादि विसर्जित करना 'प्रतिष्ठापना' अथवा 'उत्सर्ग समिति' है।

---

१. नियमसार, ६०; प्रवचनसार, ३. १७.

२. भगवती आराधना, १२०५; उत्तराध्ययन २४१-३.

३. उत्तराध्ययन, २४-२६.

इन पांचों समितियों का पालन करने से मुनि षट्कायिक (पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस) जीवों की हिंसा से बच जाता है तथा संसार में रहता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं हो पाता।[1]

११.१५ पञ्चेन्द्रिय विजयता :

साधु को स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांचों इन्द्रियों के विषयों की लालसा नहीं करनी चाहिए। इन्द्रियों और कषायों के वश में रहना वाला साधु निश्चित ही अपने संयम से भ्रष्ट हो जाता है। उसका दर्शन, ज्ञान और चारित्र निरर्थक हो जाता है। इन्द्रिय संयमी होना साधु का प्रधान लक्षण है अन्यथा वह संयम और आचार से पतित हो जाता है।

१६–२१ षडावश्यक :

समता अथवा चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक होते है जिनका पालन करना साधु का परम कर्तव्य है।[2] समता अथवा सामायिक साधु का कवच है। निर्ममत्व होकर वह राग, द्वेष, मोह, आदि विकारभावों से दूर हो जाता है। फलतः लाभ-अलाभ में, सुख-दुःख में, शत्रु-मित्र में, काच–काञ्चन मे वह समता भावी होता है। सभी प्रकार की पापात्मक प्रवृत्तियों से वह दूर हो जाता है। तीर्थंकरों के गुणों की स्तुति करना 'स्तवन' आवश्यक है। उनकी वन्दना करना 'वन्दना' आवश्यक है। स्तुति और वन्दना से तीर्थंकरों के गुणों का चिन्तन होता है जिससे मुक्ति का मार्ग सरल हो जाता है। स्वकृत अपराधों की स्वीकृति पूर्वक उनका शोधन करना प्रतिक्रमण है। 'प्रतिक्रमण' का तात्पर्य होता है पीछे हटना। किसी दोष के हो जाने पर साधु आत्मनिन्दा पूर्वक उस दोष को निःसंकोच स्वीकारता है और पुनः विशुद्ध चरित्र धारण कर लेता है। 'प्रत्याख्यान' का अर्थ है– परित्याग करना। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के आश्रय से भविष्यकाल के लिए अयोग्य द्रव्यादि का मन-वचन-काय से परित्याग करना प्रत्याख्यान है। तथा पंच परमेष्ठियों का खड्गासन अथवा पद्मासन से बैठकर स्मरण करना 'कायोत्सर्ग है'। इसमें शरीर से बिलकुल ममत्व छोड़ दिया जाता है। निश्चल होकर वह आत्मलीन हो जाता है।

'कायोत्सर्ग' का तात्पर्य है निर्ममत्व और निश्चलता पूर्वक शरीर का उत्सर्ग (त्याग) करना। यह क्रिया इन्द्रियों के अशक्त हो जानेपर श्रावक और मुनि,

---

१. भगवती आराधना, ११९४-९५; उत्तराध्ययन, २४.४-१३

२. उत्तराध्ययन, २९. ८-१३.

दोनों अपना सकते हैं। इसका मूल उद्देश्य यह है कि साधक आचार से पतित न हो और शरीर से आत्मा को विमुक्त कर दे। आवश्यक निर्युक्ति (गाथा–१४५९–६०) में कायोत्सर्ग के नव प्रकार बताये हैं—उत्सृत-उत्सृत (खड़ा), उत्सृत, उत्सृत– निसण्ण, निषण्ण–उत्सृत (बैठा), निषण्ण, निषण्ण–निषण्ण, निषण्ण–उत्सृत (सोया हुआ), निषन्न, और निषन्न–निषन्न।[1] अमितगति ने कायोत्सर्ग के चार ही प्रकार बताये है—उत्थित-उत्थित, उत्थित-उपविष्ट, उपविष्ट–उत्थित, और उपविष्ट-उपविष्ट।[2] इन प्रकारों का तात्पर्य है कि कायोत्सर्ग खड़े, बैठे और सोते, तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। चेष्टा कायोत्सर्ग का काल श्वासोच्छ्वास पर आधारित है और अभिनव कायोत्सर्ग का काल जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः एक वर्षका है। देहजाडय शुद्धि, मतिजाडय शुद्धि, सुख-दुःख तितिक्षा, अनुप्रेक्षा और ध्यान ये पांच कायोत्सर्गके फल हैं।[3] उसके कुछ दोषों का भी उल्लेख मिलता है।[4]

उत्तराध्ययन में प्रत्याख्यान के अनेक भेदों और उनके फलों का वर्णन मिलता है-[5] (१) संभोग प्रत्याख्यान–एकसाथ बैठकर आहार ग्रहण का त्याग,–(२) उपाधि प्रत्याख्यान–वस्त्रादि उपकरणों का त्याग. (३) आहार प्रत्याख्यान अहार का त्याग (४) योग प्रत्याख्यान – मन-वचन काय की प्रवृत्ति को रोकना, (५) सद्भाव प्रत्याख्यान – समस्त पदार्थोंका त्याग कर वीतराग बन जाना, (६) शरीर प्रत्याख्यान–शरीर से ममत्व त्याग, (७) सहाय प्रत्याख्यान–सहायता का त्याग, और (८) कषाय प्रत्याख्यान–राग द्वेषादि को छोड़ देना।

अनुयोगद्वार में इन षडावश्यकों के स्थान पर क्रमशः निम्नलिखित अन्य संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है—(१) सावद्ययोग–विरति (समता अथवा सामायिक) (२) उत्कीर्तन (चतुर्विंशतिस्तव), (३) गुणवत्प्रतिपत्ति (वन्दना), (४) स्खलितनिन्दना (प्रतिक्रमण), (५) व्रणचिकित्सा (कायोत्सर्ग), और (६) गुणधारण (प्रत्याख्यान)

२२. केशलुञ्चनता :

साधु अपने शिर और दाढ़ी के बाल हाथों से ही लोंच लेते हैं, कभी चा मास में, कभी तीन में और कभी दो में। यह केशलुञ्चन वैराग्य, परीषहजय औ

---

१. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. १९०-९१

२. अमितगति श्रावकाचार, ८ ५७-६१

३. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४६२.

४. प्रवचन सारोद्धार, गाथा २४३-२६२, योगशास्त्र, ३.

५. उत्तराध्ययन, २९. ३३-४१

संयम का प्रतीक होता है। उत्तराध्ययन में इसे कायक्लेश तप के अन्तर्गत रखा गया है।[1] अदीनता, निष्परिग्रहता, वैराग्य और परीषह की दृष्टि से मुनियों को केशलुञ्चन करना आवश्यक बताया है।[2]

२३. अचेलकता :

दिगम्बर परम्परा में मुनि को निर्वस्त्र रहना आवश्यक है अन्यथा उसके नैष्किञ्चन्य तथा अहिंसा कैसे संभव है ? वस्त्र परिग्रह का प्रतीक है और परिग्रह कभी मुक्ति का कारण हो नहीं सकता। अतः अचेलता को अट्ठाईस मूलगुणों में रखा गया है। भ. महावीर को इसी अचेलता के कारण निगण्ठ नातपुत्त कहा गया है। वस्त्र न होने से त्याग, आकिञ्चन्य, संयम आदि गुण प्रगट होते हैं। असत्य भाषण का कारण समाप्त हो जाता है। लाघव गुण प्राप्त हो जाता है। रागादिक भाव दूर हो जाते हैं और इन्द्रियविजय क्षमादिकभाव, मानसिक निर्मलता, निर्भयता आदि गुण स्वतः अभिव्यक्त हो जाते हैं। ठाणांग, आचारांग आदि में भी इसी प्रकार अचेलकता के अनेक गुणों का वर्णन मिलता है। जैसे हाथी को उन्मार्ग में जाने से रोकने के लिए अंकुश आवश्यक हो जाता है वैसे ही इन्द्रिय विषय भोगों से रोकने के लिए परिग्रह-त्याग अपेक्षित है।[3]

परन्तु श्वेताम्बर परम्परा में अचेलकता का सन्मान करते हुए भी निर्वस्त्र होना आवश्यक नहीं बताया। यह उत्तरकालीन चिन्तन और परिस्थिति-जन्य विकास का परिणाम है। वहाँ मुखवस्त्रिका, साधारण कोटि के वस्त्र (अवमचेलए) और पादकम्बल (पादप्रोंछन अथवा पात्र और कम्बल) रखने का विधान मिलता है। इनके अतिरिक्त रजोहरण (गुच्छक), पात्र, पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक जैसे उपकरणों को भी साथ रखा जाता है।[4] वर्तमान में स्थविरकल्पी साधु के लिए १४ उपकरणों को रखने की छूट दी गई है— पात्र, पात्रबन्ध, पात्रस्थापन, पात्रप्रमार्जनिका, पटल, रजस्त्राण, गुच्छक, दो चादरें, ऊनीवस्त्र (कम्बल), रजोहरण, मुखवस्त्रिका, मात्रक (पात्र विशेष), और चोलपट्टक (लंगोटी)।[5]

---

१. उत्तराध्ययन, २२.१०; नेमचन्द्र वृत्ति, पृ. ३४१; प्रवचनसार, ३.८-९.

२. उपासकाध्ययन, १३५

३. भगवती आराधना, ४२१, वि. पृ. ६१०-११; उपासकाध्ययन, १३१-१३२.

४. उत्तराध्ययन, २६. २१-२३

५. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका, पृ. ४२४

२४–२८. अन्य मूलगुण :

शरीर से निर्ममत्व बढ़ाने के लिए तथा इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम की रक्षा के लिए साधु को स्नान करना वर्जित है। इसे 'अस्नानता' कहते हैं। स्वच्छ और निर्जीव पृथ्वी अथवा शिलातल पर ही मुनि को सोने का विधान है। वह गद्दे का उपयोग नहीं कर सकता। इसे 'भूशयन' कहते हैं। निर्जीव और शुद्ध पृथ्वी पर निरालम्बन खड़े होकर अपने दोनों हाथों से भोजन करना 'स्थिति-भोजन' कहलाता है। इस क्रिया में मुनि थाली में से और बैठकर भोजन ग्रहण नहीं कर सकता। मुनि का भोजन मात्र जीने के लिए होता है। उसे उससे कोई राग नहीं होता। स्थितिभोजन के पीछे मुनि की यह प्रतिज्ञा होती है कि जबतक उस के दोनों हाथ मिले हैं और उसमें खड़े होकर भोजन करने की शक्ति है तबतक वह भोजन करेगा अन्यथा आहार को छोड़ देगा। शरीर के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने के लिए ही वह दातौन भी नहीं करता। वह 'अदन्तधावन' व्रत का पालन करता है। इसी प्रकार दिन में एकबार भोजनकर 'एकभुक्तव्रत' का भी वह पालन करता है। मुनि भोजन इसलिए करता है कि उसका शरीर धर्मसाधना के लिए आवश्यक शक्ति केन्द्रित कर सके। इसके लिए दिन में एक बार भोजन पर्याप्त होता है।[1] स्थविरकल्पी परम्परा में साधारणतः इनका विधान अथवा परिपालन नही किया जाता।

दशधर्म :

मुनि त्रिगुप्तियों का पालन करता है जिससे प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है। प्रवृत्तियों के सम्यक् निरोध के लिए समितियों का संयोजन किया गया है और उनमें दृढ़ता लाने के लिए दशधर्मों का उपयोग जीवन में आवश्यक बताया गया है। दशधर्म ये हैं— उत्तम क्षमा (ताड़न–पीड़न आदि मिलने पर भी मन में कलुषता का न होना), उत्तम मार्दव (अभिमान न होना), उत्तम आर्जव (सरलता) उत्तम–शौच (लोभ न होना), उत्तम सत्य (सत्य और साधु वचन बोलना) उत्तमसंयम (इन्द्रिय-निग्रह करना), उत्तम तप (शुद्ध तप), उत्तम त्याग (परिग्रह की निवृत्ति), उत्तम आकिञ्चन्य (यह मेरा है इस प्रकार का भाव त्यागना) और उत्तम ब्रह्मचर्य (अतीत विषयों का स्मरण आदि भी छोड़ देना तथा आत्मचिन्तन में लग जाना)।

इन धर्मों का अन्तर्भाव गुप्ति और समितियों के अन्तर्गत हो जाता है फिरभी चूंकि उनमें संवर को धारण करने का सामर्थ्य रहता है इसलिए उनका

---

१. उपासकाध्ययन, १३३-४.

पृथक् किया गया है। इन धर्मों में स्वगुण की प्राप्ति और परदोष की निवृत्ति की भावना की जाती है इसलिए वे संवर के कारण हैं।

द्वादश अनुप्रेक्षायें :

अनुप्रेक्षा का तात्पर्य है— बारम्बार चिन्तन करना। चिन्तन करने के लिए भिक्षु और साधक के समक्ष ऐसे बारह विषय रखे गये हैं जिनपर उसे सदैव विचार करते रहना चाहिए।[1] वैराग्य की स्थिरता के लिए इनपर चिन्तन करते रहना नितान्त आवश्यक है।

१. **अनित्य**— संसार के पदार्थ अनित्य और क्षणभंगुर हैं। अतः उनके वियोग में दुःखी होना व्यर्थ है। ऐसा चिन्तन करना।

२. **अशरण**— संसार के दुःखों से बचाने वाला कोई नहीं। मात्र वीतरागी द्वारा प्रोक्त धर्म ही शरण है। इस प्रकार का विचार करना। इससे सांसारिक भावों से ममत्व हट जाता है।

३. **संसार**— कर्मों के कारण जन्म-जन्मान्तर ग्रहण करना संसार है। यह जीव अनन्तानन्त योनियों में परिभ्रमण करता हुआ कभी पिता होकर भाई, पुत्र या पौत्र होता है तो कभी माता होकर बहिन, पत्नी या पुत्री होती है। इस प्रकार का चिन्तन करते रहना। यह चिन्तन वैराग्य का कारण होता है।

४. **एकत्व**— मैं अकेला ही आता हूं, अकेला ही मरता हूँ। बन्धूजन श्मशान तक के ही साथी होते हैं। दुःख को बांटने वाला न कोई स्वजन है और न कोई परजन। धर्म ही एक शाश्वत साथी है। इस प्रकार चिन्तन करना। इस भावना से स्वजनों में राग और परजनों में द्वेष नहीं होता।

५. **अन्यत्व**— शरीर से अत्यन्त भिन्न रूप में अपने स्वाभाविक अनन्त ज्ञानादि रूप मुक्ति को अन्यत्व कहा गया है। इसकी प्राप्ति के लिए शरीर और आत्मा की भिन्नता पर चिन्तन करना। इससे शरीर में स्पृहा नहीं होती।

६. **अशुचि**— शरीर का आदिकारण वीर्य और रज हैं जो स्वयं अत्यन्त अपवित्र हैं। शरीर भी मल-मूत्र, रक्त पीप आदि का भण्डार है। इस प्रकार शरीर की अशुचिता पर चिन्तन करना।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९.७; कट्टिगेयाणुवेक्खा भी देखिये।

७. आश्रव—कर्मोंका आना आश्रव है। आश्रव के दोषों का विचार करना आश्रवानुप्रेक्षा है। पंचेन्द्रियों के विषयों में वशीभूत होकर यह जीव अनेक योनियों में परिभ्रमण करता है।

८. संवर—कर्मों के अभाव के कारणों को बन्द कर देना संवर है। यह आत्मनिग्रह से ही हो सकता है।

९. निर्जरा— वेदना के विपाक को निर्जरा कहते हैं। नवीन कर्मों का संचय न होना और पुराने कर्मों का नाश हो जाना मोक्ष का कारण है। निर्जरा से ही ये दोनों कारण प्राप्त होते हैं। परीषह जप, तप आदि से निर्जरा होती है। इसके चिन्तन से चित्त निर्जराके लिए उद्योगी हो जाता है।

१०. लोक— लोक के स्वरूप पर चिन्तन करना।

११. बोधिदुर्लभ—अनन्त स्थावरों में त्रस पर्याय का पाना उसी प्रकार दुर्लभ है जिस प्रकार अनन्त धूलि से आपूर समुद्र में गिरे हुए हीरे के कण का पुन: मिल जाना। त्रस में भी मनुष्य पर्याय मिलना और फिर शील, विनय और आचार की परम्परा मिलना और भी दुर्लभ है। सुदुर्लभ धर्म को पाकर भी विषयसुख में समय बिताना भस्म के लिए चन्दन जलाने के समान है। इस प्रकार चिन्तन करना बोधिदुर्लभ भावना है। इससे जीव अप्रमादी बना रहकर बोधि प्राप्त करता है तथ स्वकल्याण में लगा रहता है।

१२. धर्म— यथार्थ धर्म के स्वरूप पर चिन्तन करना और उसकी प्राप्ति कैसे की जाय, इसका बारबार विचार करना धर्म भावना है। जिनधर्म नि:श्रेयस का कारण है। ऐसा विचार करने से धर्म के प्रति अनुराग बढ़ता है।

इन अनुप्रेक्षाओं का विकास भी क्रमिक हुआ है। प्राचीनतम जैनागम में इनका एक साथ वर्णन इस प्रकार का नहीं मिलता पर उत्तरकाल में व मिलने लगता है। आचार्य कुन्दकुन्द से यह परम्परा अधिक स्पष्ट होने लगती और तत्त्वार्थसूत्र तक आते-आते अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप स्थिर हो जाता है यद्यपि उनका यह स्वरूप प्राचीन जैनागमों में वर्णित विवेचन पर आधारि रहा है पर उसकी सुव्यस्थित व्याख्या निश्चित ही उत्तर काल का विकासात्म रूप है। आचार्य कार्तिकेय ने तो कट्टिगेयाणुवेक्खा नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लि दिया है जिसमें समूचे जैनधर्म के स्वरूप को प्रतिष्ठित किया गया है। बौद्ध के थेरगाथा, थेरीगाथा तथा अन्य पिटक साहित्य में भी अनुप्रेक्षाओं विषयसामग्री उपलब्ध होती है। उनकी तुलनात्मक समीक्षा किया जा अभी शेष है।

बाईस परीषह :

परीषह का तात्पर्य है — जो सहे जायें। मुनि कर्मों की संवर और निर्जरा प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करने के लिए निम्नलिखित बाईस प्रकारकी परीषहों को अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के आधार पर सहन करता है। इन परीषहों को सहन करने से साधक सांसारिक भोगों से निरासक्त बनता जाता है और साधनावस्था में मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत अथवा देवकृत उपसर्गों को सहन करने का उसका सामर्थ्य भी बढ़ता जाता है। ग्रन्थों में साधारणतः इनकी संख्या बाईस मिलती है।[1] (१) क्षुधा (भूख), (२) पिपासा (प्यास), (३) शीत (ठण्ड), (४) उष्ण (गर्मी), (५) दंशमशक (डांस-मच्छर का काटना), (६) नाग्न्य (अचेलकता), (७) अरति (देश-देशान्तरों में भ्रमण करने से संयम में उत्पन्न अरति), (८) स्त्री (स्त्री आदि विषयक कामविकार भावना),[2] (९) चर्या (देश-भ्रमण आदि की कठिनाइयों), (१०) निषद्या (आसन), (११) शय्या (ऊंची-नीची सोने की जगह), (१२) आक्रोश (अनिष्ट वचन), (१३) बध (ताड़न आदि), (१४) याचना (भिक्षा), (१५) अलाभ (वाञ्छित वस्तु का न मिलना), (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल (अशुचि), (१९) सत्कार-पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (ज्ञान), (२१) अज्ञान, और (२२) अदर्शन (श्रद्धा उत्पन्न न होना। साधु इन सभी प्रकार के परीषहोंको शान्ति और धैर्य से सहन करता है। उसे एक साथ अधिक से अधिक १९ परीषह सहन करने पड़ते हैं। शीत और उष्ण में से कोई एक तथा शय्या, चर्या और निषद्या में से कोई एक परीषह होती है। देश, काल आदि के भेद से इन परीषहों की संख्या और भी अधिक हो सकती है। ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं। दर्शनमोह और अन्तराय के सद्भाव में क्रमशः अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं। चारित्रमोह के सद्भाव में नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं।

द्वादश तप :

सम्यग्ज्ञान रूपी नेत्र को धारण करनेवाले साधुके द्वारा जो कर्म रूपी मैल को दूर करने के लिए तपा जाता है उसे तप कहते हैं।[3] इसका सम्बन्ध इच्छाओं के समीचीनतया निरोध से है। यह निरोध तभी संभव है जब तपस्वी साधक

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९ ८-९; उत्तराध्ययन, २. ३-४

२. यहाँ 'स्त्री' शब्द उपलक्षण और कामवासना का प्रतीक है। अतः साध्वी के लिए पुरुष परीसह कहा जा सकता है।

३. पद्मनंदि पंचविंशतिका, १.४८; चारित्रसार, पृ. १३३

विषयभोगों से निरासक्त होकर समभावी बन जाय। इस प्रकार का उसका यह तप संवर और निर्जरा का कारण होता है। यह तप दो प्रकार का बताया गया है बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप बाह्य द्रव्य के अवलम्बन से होता है अतः ज्ञेय होता है और मनका नियमन करने वाला होने से प्रायश्चित्तादि को आभ्यन्तर तप कहते हैं।[१]

(१) **बाह्यतप :**

१. **अनशन**— एकाशन अथवा उपवास। यह सावधिक और निरवधिक दो प्रकार से होता है। सावधिक में एक निश्चित समय के बाद भोजन ग्रहण कर लिया जाता है। साधारणतः इसके छह प्रकार बताये गये हैं— (१) श्रेणीतप (लगातार चार अनशन करना), (२) प्रतरतप (श्रेणी तप की चार बार पुनरावृत्ति होना— १६ उपवास), (३) घन तप (श्रेणी तप से गुणित तप— १६×४= ६४ उपवास), (४) वर्गतप (घनतप से गुणित तप— ६४×४=४०९६ उपवास), (५) वर्ग-वर्ग तप (वर्ग तप से गुणित—४०९६×४०९६=१६७७७-२१६ उपवास), और (६) प्रकीर्ण तप (यथाशक्ति उपवास करना)[१]। निरवधिक उपवास तप शरीर के अन्तिम काल में ग्रहण किया जाता है। इसे 'सल्लेखना' भी कहते हैं। इसके सविचार (शरीर को सचेष्ट बनाये रखना) और अविचार (शरीर को निश्चेष्ट बनाये रखना), सपरिकर्म (दूसरों से सेवा कराना) और अपरिकर्म (दूसरों से सेवा न कराना) तथा नीहारी (गुफा आदि में रहकर अनशन करना) और अनिहारी (ग्रामादि में रहकर अनशन करना) आदि भेदों का भी उल्लेख मिलता है।[२]

२. **ऊनोदर अथवा अवमोदर्य**— भूख से कुछ कम खाना। इसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यवचरक की दृष्टि से पांच भेद हैं। क्षेत्रके भेदों में पेटा, अर्धपेटा, पतंगवीथिका, शम्बूकावर्त, आयतं गत्वा प्रत्यागता आदि भेदों पर विचार किया गया है।[३]

३. **वृत्तिपरिसंख्यान**—भिक्षा के लिए केवल एक–दो–तीन घर का निश्चय करना। इसी को भिक्षाचर्या तप भी कहा गया है। उत्तराध्ययन में इसके तीन प्रकारों का वर्णन किया गया है—गोचरी, मृगचर्या और कपोतवृत्ति।

---

१. उत्तराध्ययन, नेमिचन्द्र वृत्ति पृ. ३३७

२. वही, ३०. १४-२४

३. उत्तराध्ययन, ३०. २५-२८; तत्त्वार्थसूत्र, ९. १९

४. **रसपरित्याग**— घी, दूध, दही, गुड, तेल, नमक आदि रसों का त्याग करना। इस व्रत से इन्द्रियाग्नि उद्दीप्त नही होती और ब्रह्मचर्यव्रत के पालन करने में सहायता होती है।

५. **विविक्तशय्यासन**—एकान्त स्थान में बैठना, सोना। इसी को प्रति-संलीनता भी कहते हैं।

६. **कायक्लेश**—प्रतिमायोग धारण तप करना।

(२) **आभ्यन्तर तप**—

आभ्यन्तर तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं करते। उनका सम्बन्ध अन्तः शुद्धि से विशेष रहता है। वे भी छह प्रकार के हैं—

१. **प्रायश्चित्त**— किये गये दोष या अपराधों पर दण्डरूप पश्चात्ताप करना प्रायश्चित्त है। इससे अपराधों का शोधन हुआ करता है। साधक नव प्रकार से शोधन करता है—(१) आलोचना (गुरू के समक्ष आत्मदोषों का सविनय निवेदन करना), (२) प्रतिक्रमण (कर्मजन्य अथवा प्रमादजन्य दोषों का "मिथ्या मे दुष्कृतम्" के रूप से प्रतिकार करना), (३) तदुभय (आलोचना अथवा प्रति-क्रमण से यथानुसार आत्मदोषों की शुद्धि करना) (४) विवेक (उपलब्ध आहारादि तथा उपकरणादि सामग्रीका ज्ञान हो जाने पर उसे छोड़ देना), (५) व्युत्सर्ग (काल का नियमकर कायोत्सर्ग करना), (६) तप (अनशन आदि तप करना), (७) छेद (दीक्षा का छेदन करना), (८) परिहार (कुछ समय तक संघ से निष्कासित कर देना), और (९) उपस्थापना (महाव्रतों का मूलो-च्छेदकरके फिर दीक्षा देना)।[1] उत्तराध्ययन में पाराञ्चिक भेद का भी उल्लेख है जिसमें गम्भीरतम अपराधके लिए गम्भीरतम प्रायश्चित्त का विधान है।[2]

२. **विनय**— गुरू आदि के प्रति विनम्रताका व्यवहार करना। इसके चार भेद हैं—(१) ज्ञानविनय (ज्ञान ग्रहण, अभ्यास और स्मरण),)। (२) दर्शन-विनय (जिनोपदेश में निःशंक होना), (३) चारित्र विनय (उपदेशके प्रति आदर प्रगट करना), और (४) उपचार विनय (आचार्य को वन्दना आदि करना)। उपचार विनय के ही अन्तर्गत अभ्युत्थान, आञ्जलिकरण, आसन-दान, गुरूभक्ति, ओर भावसुश्रुषा विनय आते हैं।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९.२२

२. उत्तराध्ययन, ३०-३१; व्यवहार विवरण (मलयगिरि कृत), पृ. १९

३. वैयावृत्य— आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ साधु अथवा विद्वान पर यदि किसी प्रकार की व्याधि या परीषह आये तो यथावश्यक उपकरणों से उसका प्रतीकार करना वैयावृत्य है।

४. स्वाध्यायतप—शास्त्रों का अध्ययन करना। इसके पांच भेद हैं—वाचना (पढ़ना, पढ़ाना या प्रतिपादन करना), पृच्छना (सन्देह हो जाने पर पूछना), अनुप्रेक्षा (बारम्बार चिन्तन करना), आम्नाय (पाठ की आवृत्ति) और धर्मोपदेश। स्वाध्याय से संशय का उच्छेद, प्रज्ञा में तीक्ष्णता, प्रवचन में स्थिति, तप में वृद्धि, विचार में शुद्धि और परवादियों की शंकाओं का समाधान होता है। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय भी इसी से होता है।

५. व्युत्सर्ग—व्युत्सर्ग का अर्थ है त्याग। वह दो प्रकारका है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य पदार्थों का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है और क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व आदि आभ्यन्तर दोषों की निवृत्ति आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

६. ध्यान— गमन, भोजन, शयन और अध्ययन आदि विभिन्न क्रियाओं में भटकने वाली चित्तवृत्ति को एक क्रिया में रोक देना 'निरोध' है और यही निरोध ध्यान कहलाता है। ध्यान के चार भेद हैं— आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ध्यान।

ध्यान और योगसाधना :

ध्यान का तात्पर्य है—चित्तवृत्ति को केन्द्रित करना। इसका शुभ और अशुभ दोनों कार्यों मे उपयोग होता है। आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ और अप्रशस्त कार्यों की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान शुभ और प्रशस्त फल की प्राप्ति मे कारण होते हैं। मन को बहिरात्मा से मोड़कर अन्तरात्मा और परमात्मा की ओर ले जाना धर्मध्यान और शुक्लध्यान का कार्य हैं। सोमदेव ने अप्रशस्त ध्यानोंको लौकिक और प्रशस्त ध्यानोंको लोकोत्तर कहा है।[1]

१–२. आर्त और रौद्र ध्यान—

अप्रिय वस्तु को दूर करने का ध्यान, प्रिय वस्तु के वियुक्त होने पर उसकी पुनःप्राप्ति का ध्यान, वेदना के कारण क्रन्दन आदि तथा विषयसुखों की आकांक्षा आर्तध्यान के मूलकारण हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि के संरक्षण के कारण रौद्रध्यान होता है। ये दोनों ध्यान अप्रशस्त हैं और संसार

---

१. उपासकाध्ययन, ७०८.

के कारण हैं। भौतिक साधनों की प्राप्ति के लिए इन ध्यानों में कायोत्सर्ग किया जाता है। मिथ्यात्व, कषाय, दुराशय आदि विकारजन्य होने के कारण ये ध्यान असमीचीन हैं। आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन आदि अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र कार्य करने की क्षमता साधकों में होती है। परन्तु ऐहिकफलवाले ये ध्यान कुमार्ग और कुध्यान के अन्तर्गत आते हैं। ध्यान का माहात्म्य इन से अवश्य प्रगट होता है।[1]

३. **धर्मध्यान**— साधना के क्षेत्र में विशेषत: धर्मध्यान और शुक्लध्यान आते हैं। धर्मध्यान में उत्तम क्षमादि दश धर्मों का यथाविधि ध्यान किया जाता है। वह चार प्रकार का है–(१) आज्ञाविचय (२) अपायविचय, (३) विपाक विचय, और (४) संस्थान विचय। विचय का अर्थ है विवेक अथवा विचारणा।

१. **आज्ञाविचय** — आप्त के वचनों का श्रद्धान करके सूक्ष्म चिन्तन-पूर्वक पदार्थों का निश्चय करना-कराना आज्ञाविचय है। इससे वीतरागता की प्राप्ति होती है।

२. **अपायविचय** — जिनोक्त सन्मार्ग के अपाय का चिन्तन करना अथवा कुमार्ग में जानेवाले ये प्राणी सन्मार्ग कैसे प्राप्त करेंगे, इस पर विचार करना अपायविचय है। इससे राग-द्वेषादि की विनिवृत्ति होती है।

३. **विपाकविचय** — ज्ञानावरणादि कर्मों के फलानुभव का चिन्तन करना विपाकविचय है। और

४. **संस्थान विचय**— लोक, नदी आदि के स्वरूप पर विचार करना संस्थानविचय है।

यह धर्मध्यान सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है और शुक्लध्यान के पूर्व होता है। आत्मकल्याण के क्षेत्र में इसका विशेष महत्त्व है। धर्मध्यान के चारों प्रकार ध्येय के विषय हैं जिनपर चित्त को एकाग्र किया जाता है।[2]

४. **शुक्लध्यान** :—

जैसे मैल दूर हो जाने से वस्त्र निर्मल और सफेद हो जाता है उसी प्रकार शुक्लध्यान में आत्मपरिणति बिलकुल विशुद्ध और निर्मल हो जाती है। इसके चार भेद हैं — १. पृथक्त्व वितर्क, २. एकत्ववितर्क, ३. सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति, और ४. व्युपरतक्रियानिर्वति।

---

१. ज्ञानार्णव, ४०-४

२. उपासकाध्ययन, ६५१-६५८.

शुक्लध्यान को समझने के लिये कुछ पारिभाषिक शब्दों को समझना आवश्यक है। यहाँ 'वितर्क' का अर्थ है श्रुतज्ञान। द्रव्य अथवा पर्याय, शब्द तथा मन, वचन-काय के परिवर्तन को 'वीचार' कहते हैं। द्रव्यको छोड़कर पर्याय को और पर्याय को छोड़कर द्रव्य को ध्यानका विषय बनाना 'अर्थ संक्रान्ति' है। किसी एक श्रुतवचन का ध्यान करते-करते वचनान्तर में पहुँच जाना और उसे छोड़कर अन्य का ध्यान करना 'व्यञ्जन संक्रान्ति' है। काययोग को छोड़कर मनोयोग या वचनयोग का अवलम्बन लेना तथा उन्हें छोड़कर काय-योग का अवलम्बन लेना 'योगसंक्रान्ति' है।

निर्जन प्रदेश में चित्तवृत्ति को स्थिरकर, शरीर क्रियाओंका निग्रह कर मोहप्रकृतियों का उपशम या क्षय करने वाला ध्यान **पृथक्त्ववितर्कवीचार** ध्यान कहलाता है। इसमें ध्याता क्षमाशील हो बाह्य-आभ्यन्तर द्रव्य—पर्यायों का ध्यान करता हुआ वितर्क की सामर्थ्य से युक्त होकर अर्थ और व्यञ्जन तथा मन-वचन-काय की पृथक् पृथक् संक्रान्ति करता है।

मोहनीय प्रकृतियों को समूल नष्ट कर श्रुत ज्ञानोपयोग वाला वह साधक जब अर्थ-व्यञ्जन और योग संक्रान्ति को रोककर क्षीणकषायी हो वैडूर्यमणि की तरह निर्लिप्त होकर ध्यान धारण करता है तब उसे **एकत्ववितर्क** ध्यान कहते हैं।

एकत्ववितर्क शुक्लध्यान से घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं और केवल-ज्ञान प्रगट हो जाता है। केवलज्ञानी उपदेश देते रहते हैं। जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है और वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति भी उतनी ही रहती है तब सभी वचनयोग और मनोयोग तथा वादरकाय योग को छोड़कर सूक्ष्मयोग का अवलम्बन ले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान आरम्भ करते हैं।

इसके बाद ध्याता को यथाख्यात चारित्र, ज्ञान और दर्शन की उपलब्धि हो जाती है और वह श्वासोच्छवास आदि समस्त काय, वचन और मन सम्बन्धी व्यापारों का निरोध कर 'व्युपरतक्रियानिर्वात' ध्यान आरम्भ करता है तथा ध्याता अपनी ध्यानाग्नि से समस्त मल-कलंक रूप कर्मबन्धों को जलाकर निर्मल और किट्ट रहित सुवर्ण की तरह परिपूर्ण स्वरूप लाभ करके निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क श्रुतकेवली के होते हैं तथा सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिर्वाति ध्यान केवली के होते हैं। उसे 'शैलेशी

अवस्था' कहा जाता है। इनमें योगों का पूर्णतः निरोध हो जाने पर आत्मप्रदेश स्थिर हो जाते हैं। सच्चा योगी कर्मों के आवरण को क्षण भर में धुन डालता है और निराकुलतामय, स्थिर और अविनाशी परम सुख को प्राप्त करता है।[1]

ध्यान के सन्दर्भ में ध्याता, ध्येय और ध्यानफल पर भी विचार किया जाता है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योगी को 'ध्याता' कहते हैं। यह ध्याता प्रज्ञापारमिता, बुद्धिबलयुक्त, जितेन्द्रिय, सूत्रार्थावलम्बी, धीर, वीर, परीषहजयी, विरागी, संसार से भयभीत और रत्नत्रयधारी होता है।[2] सप्त तत्त्व और नव पदार्थ उसके ध्येय रहते हैं। पंच परमेष्ठियों का स्वरूप, विशुद्धात्मा का स्वरूप तथा रत्नत्रय व वैराग्य की भावनायें भी उसके ध्येय के विषय हैं। उन पर चिन्तन करता हुआ ध्याता ध्यान के अध्ययन से परम पद रूप ध्यान के फल को प्राप्त कर लेता है। अव्यथ, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग ये चार शुक्लध्यान के लक्षण हैं। क्षान्ति, युक्ति, मार्दव और आर्जव ये चार आलम्बन हैं।

योग :

ध्याता का ध्येय के साथ संयोग हो जाने को ही योग कहते हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध से साधक समाधिस्थ हो जाता है और तदाकारमय हो जाता है। पतञ्जलि के अष्टांगयोग की तुलना हम जैन योग साधना से निम्न प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं —

१. यम – इसे जैनधर्म में महाव्रत कहा गया है जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

२. नियम – मूलगुणों और उत्तरगुणों का पालन करना।

३. कायक्लेश– विभिन्न प्रकार के तप करना।

४. प्राणायाम– जैनधर्म में मूलतः हठयोग को कोई स्थान नहीं, पर उत्तरकाल में उसका समावेश हो गया।

५. प्रत्याहार – प्रतिसंलीनता–अप्रशस्त से प्रशस्त चित्तवृत्तियों को छोड़ना।

६. धारणा – पदार्थ चिन्तन

७. ध्यान – उपर्युक्त चार प्रकार के ध्यान, और

८. समाधि – धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

---

१. योगासार प्राभृत, ९.९-११; ९.५९

२. महापुराण, २१.८६-८८.

ध्यान और योगसाधन :

ध्यान और योग मुक्ति का मार्ग है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पर आधारित है। जैन साधना आत्मप्रधान साधना है। आत्मसिद्धि उसकी मूलभावना है। सयम और तप से उसकी प्राप्ति हो सकती है। मैत्री प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं को अपनाते हुए वह समत्व योग को प्राप्त कर लेता है। इसे ही परमात्मपद कहने लगते हैं। इसके लिए समाधि की अवश्यकता होती है। सूत्रकृतांग मे समाधि के दस भेद कहे गये है जो मूलगुणों और उत्तरगुणों से मिलते-जुलते हैं। इसी को योग कहा जाता है। योगबिन्दु मे योग-फल की प्राप्ति के लिए पाँच सोपान बताये गये है।

१. व्रतादि के माध्यम से कर्मों पर विजय पाना.

२. भावना प्राप्ति.

३. ध्यान प्राप्ति.

४. समता प्राप्ति, और

५. सर्वज्ञत्व की प्राप्ति.

योग का मुख्य लक्ष्य सम्यग्दृष्टि को प्राप्त करना है। इस दृष्टि का विकास योगदृष्टिसमुच्चय में आठ प्रकार से दिया गया है—मित्रा, तारा, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। योगी को इस विकास तक पहुँचने के लिए तीन स्थितियों को पार करना पड़ता है —

१. इच्छा योग,

२. शास्त्रयोग, और

३. सामर्थ्ययोग।

उपर्युक्त आठ दृष्टियों की तुलना यम-नियमादि से की जा सकती है। ये दृष्टियां क्रमशः खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद्, रुक् एवं असंग से रहित हैं और अद्वेष, जिज्ञासा, सुश्रुषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, परिशुद्धि, प्रतियुक्ति व प्रवृत्ति सहगत हैं। ऋद्धि, सिद्धि आदि की प्राप्ति योग व समाधि के माध्यम से ही होती है। यह समाधि दो प्रकार की होती है— सालंबन और निरालबन। निरालम्बन ही निर्विकल्पक समाधि है। यही शुक्ल ध्यान और मोक्ष है। बौद्धधर्म में निर्दिष्ट चार किंवा पांच प्रकार के ध्यानों की तुलना यहाँ की जा सकती है।

प्रारम्भ से ही जैन और बौद्ध साधना अनुभववादी रही है।[1] प्रत्यात्म-संवेद्य बिना कोई भी सिद्धांत उन्हें स्वीकार्य नहीं। दोनों साधनाओं का लक्ष्य सर्वज्ञता की प्राप्ति है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र तथा प्रज्ञा, शील और समाधि उसकी प्राप्ति के साधन हैं। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र उसके बाधक तत्व हैं। उस बाधा को दूर करना साधना का परम लक्ष्य है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि साधक आत्मा के विभिन्न स्वरूपों को पहिचाने। जैन संस्कृति में आत्मा के तीन रूप हैं — बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। प्रथम स्थिति में साधक आत्मा और शरीर को एक द्रव्य मानकर पर पदार्थों में मोहित बना रहता है। उसके भवसागर में संचरण का यही मूल कारण है।[2] द्वितीय स्थिति में यह मोह-बुद्धि दूर हो जाती है[3] और साधक उसके बाद तृतीय अवस्था अन्तरात्मा को प्राप्त कर लेता है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते वह आत्मा के मूल स्वरूप को पहचानने लगता है और मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, व माध्यस्थ्य भावनाओं को भाते हुए शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में, लाभ-अलाभ में, लोष्ठ-काञ्चन में समदृष्टिवान् हो जाता है। तदनन्तर वह निर्मल, केवल, शुद्ध, विविक्त और अक्षय परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। जैन ध्यान और योग साधना का यही लक्ष्य है। बौद्ध साधना में भी लगभग यही प्रक्रिया है। जो भेद है वह दृष्टव्य है।

परवर्ती जैन साहित्य में ध्यान का एक अन्य वर्गीकरण भी मिलता है। वह चार प्रकार का है — पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत। इसे हम तन्त्रशास्त्र से प्रभावित कह सकते हैं। प्रथम ध्यानों में आत्मा से भिन्न पौद्-गलिक द्रव्यों का अवलम्बन लिया जाता है। इसलिए उसे सालम्बन ध्यान कहा जाता है। रूपातीत ध्यान का आलम्बन अमूर्त आत्मा रहता है जिसमें ध्यान, ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं। इसी को 'समरसता' कहा जाता है। प्रथम ध्यान स्थूल और सविकल्पक है तथा द्वितीय ध्यान सूक्ष्म और निर्विकल्पक है। स्थूल से सूक्ष्म और सविकल्पक से निर्विकल्पक की ओर जाना ध्यान का क्रमिक अभ्यास माना गया है।[4]

---

१ देखिये, लेखक का लेख — जैन-बौद्ध साधना का तुलनात्मक अध्ययन, जिनवाणी, ध्यान विशेषांक, जयपुर.

२. ज्ञानार्णव, ३२.६.११; समाधि, १५

३. तत्त्वार्थसूत्र, ७.११.१३; समाधि, ६

४. ज्ञानसार, ३७; योगशास्त्र, १०.५

ध्यानशतक में ध्यान से संबद्ध बारह विषयों पर विवेचन किया गया है — भावना, प्रदेश, काल, आसन, आलम्बन, क्रम, ध्येय, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिङ्ग और फल।[१] इन्हें हम धर्म ध्यान के अन्तर्गत रख सकते हैं। शुक्ल-ध्यान में मन महदालम्बन से ध्यान का अभ्यास करता है और परमाणु पर स्थिर हो जाता है। केवली अवस्था तक आते-आते मन का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है।[२] इसका विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

भिक्षु प्रतिमाएँ :

श्रावक-प्रतिमाओं की तरह दशाश्रुतस्कन्ध (सातवां उद्देश) आदि ग्रंथों में भिक्षु-प्रतिमाओं का भी उल्लेख मिलता है। उनकी संख्या बारह है — १. मासिकी भिक्षु-प्रतिमा, २. द्विमासिकी भिक्षु-प्रतिमा, ३–७. यावत् सप्त मासिकी भिक्षु-प्रतिमा, ८–१०. प्रथम, द्वितीय व तृतीय सप्तरात्रिदिवा भिक्षु प्रतिमा, ११. अहोरात्रि भिक्षु-प्रतिमा, और १२. एक रात्रिकी भिक्षु-प्रतिमा दिगम्बर परम्परा मे इन प्रतिमाओं का कोई वर्णन नही मिलता। इन प्रतिमाओं के माध्यम से भिक्षु विशेषतः अनशन और ऊनोदर तप का अभ्यास करता है।

मुनि इन सभी तप और परीषहों को इसलिए करता और सहता कि वह अपने स्वीकृत मार्ग से च्युत न हो सके और संचित कर्म मल को नष्ट कर सके।[३] भगवान् बुद्ध कायक्लेश को न पूर्णतः स्वीकृत कर सके और न अस्वीकृत कर सके। पालि साहित्य मे कुछ जैन भिक्षु-नियमों का उल्लेख मिलता है जिनकी भगवान् बुद्धने आलोचना की। नग्न रहना, आहूत भिक्षा का त्याग, अपने लिए आनीत भिक्षा का त्याग, अपने लिए पकाये भोजन का त्याग, निमंत्रण का त्याग, दो भोजन करनेवालों के बीच से आनीत भिक्षा का त्याग, गर्भिणी स्त्री द्वारा आनीत भिक्षा का त्याग, दूध पिलाती स्त्री द्वारा आनीत भिक्षा का त्याग, जहाँ कुत्ता खड़ा हो ऐसे स्थान से आनीत भिक्षा का त्याग, न मांस, न मछली, न कच्ची शराब और न चावल की शराब (तुषोदक) ग्रहण करता है। वह एकही घर से जो भिक्षा मिलती है लेकर लौट जाता है, एक ही कौर खाने वाला होता है, दो घर से जो भिक्षा ...दो ही कौर खाने वाला, सात घर सात कौर। वह एकही कलछी खाकर रहता है, दो सात...। वह एक एक दिन बीच देकर भोजन करता है, दो दो दिन सात सात दिन...। इस तरह वह आधे-आधे महिने पर भोजन करते हुए विहार

---

१. ध्यान शतक, २८.२९

२. वही, ७०

३. मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परिषहाः : तत्त्वार्थसूत्र, ९.८

करता है।[१] बोधि प्राप्त करने के पूर्व भगवान् बुद्ध ने स्वयं इन नियमों को पालते हुए तपस्या की थी।[२] श्रमण-ब्राह्मणों के बीच इस प्रकार की तपस्या प्रचलित थी। अचेल काश्यप ने यही तपस्या की थी।[३] आजीविकों के साथ भी इसका उल्लेख मिलता है।[४] भगवान् महावीरने भी इन्हीं का पालन किया। दशवैकालिक के पाँचवें-छठवें अध्याय में दिये गये जैन भिक्षुओं के नियमों से ये नियम मिलते-जुलते हैं।[५] मूलाचार में इन्हें उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजन, अंगार, धूम आदि दोषों में गिना गया है।[६] जो भी हो, पर इन नियमों से जैनधर्म के प्राचीनतम नियमों की एक झलक अवश्य मिलती है।

जैन भिक्षुओं के उपर्युक्त मूलगुणों और उत्तरगुणों का उल्लेख दशवैकालिक, सूत्रकृतांग,[७] आचारांग[८] आदि आगम ग्रन्थों में भी मिलता है। इन नियमों का पालन अहिंसादिव्रतों के परिपालन के लिए किया जाता है। स्नान, गन्ध, माला, पंखा, गृहस्थपात्र, राजपिण्ड, अंगमर्दन, दन्त-प्रक्षालन, शरीर-प्रमार्जन क्रीडा, छत्र, उपानह, उबटन, विरेचन, तेलमर्दन, शरीर-अलंकरण आदि कार्य जैन मुनि के लिए वर्जित हैं।[९] सूत्रकृतांग के धर्म नामक नवम अध्ययन में श्रमण भिक्षुओं की कुछ दूषित प्रवृत्तिओं का उल्लेख मिलता है। असत्य, परिग्रह, अब्रह्मचर्य, अदत्तादान, वक्रता (माया), लोभ, क्रोध, मान, धावन, रंजन, वमन, विरेचन, स्नान, दन्तप्रक्षालन, हस्तकर्म आदि ऐसे ही दूषण हैं जो श्रमण भिक्षुओं के लिए वर्जित हैं। इसलिए इन्हें गणिसम्पदा का विधान किया गया है जो आठ प्रकार की है — १. आचार-सम्पदा, २. श्रुत-सम्पदा, ३. शरीर-सम्पदा, ४. वचन-सम्पदा, ५. वाचना-सम्पदा, ६. मति-सम्पदा, ७. प्रयोगमति-सम्पदा और ८. संग्रह-परिज्ञा-सम्पदा। साधु के लिए अधःकर्म (हीनतर कर्म) भी वर्जित हैं।

---

१. दीघनिकाय, प्रथम भाग, पृ. १६६
२. मज्झिमनिकाय, प्रथम भाग, पृ. ७७
३. दीघनिकाय, प्रथम भाग, पृ. १६६.
४. मज्झिमनिकाय, भाग १, पृ. ३८.
५. दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. ९९; पिंडनिर्युक्ति भी देखिये।
६. मूलाचार, ६. २; लेखक का ग्रन्थ देखिये–
   Jainism in Buddhist Literature, पृ. ११६-१७.
७. सूत्रकृतांग, १. ९. १२-२९.
८. आचारांग, १ ९. १. १९.
९. दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. १२५. दशाश्रुतस्कंध के तीसरे उद्देश में तेतीस प्रकार की आशातनाओं का उल्लेख है जिनसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र का ह्रास होता है।

श्रमण जैन भिक्षुओं के लिए वर्षावास का भी विधान है। बुद्ध ने भी उनका अनुकरण कर बौद्ध भिक्षुओं के लिए वर्षावास का नियम बनाया था। नियमों के विरुद्ध आचरण करने पर संघ से निष्कासित कर दिया जाता है अथवा दुराचरण की मात्रा कम होने पर प्रायश्चित्त दिया जाता है। निशीथ सूत्रों में प्रायश्चित्त के प्रकारों का विस्तार से वर्णन मिलता है।

सामाचारिता :

साधु की दैनिक चर्या सम्यक् आचरण से परिपूर्ण रहती है। वह एकान्त में बने मंदिर स्थानक अथवा उपाश्रय में रहकर साधना करता है साधुओं के बीच में रहनवाले साधु के लिए कुछ ऐसे नियम बनाय गये हैं जिन्हे सामाचारी कहा गया है। उत्तराध्ययन आदि ग्रंथों में उनकी संख्या दस कही गई है —

१. आवश्यकी — उपाश्रय से बाहर जाने पर आवश्यक कार्य से बाह जा रहा हूं' ऐसा कहना।
२. नैषेधिकी — उपाश्रय में वापिस आने पर 'निसिही' कहना।
३. आपृच्छना — गुरु से कार्य करने की आज्ञा लेना।
४. प्रतिपृच्छना — दूसरे के कार्य के लिए पूछना।
५. छन्दना — भिक्षा-द्रव्य को बाँटने की अनुमति माँगना।
६. इच्छाकार — गुरु की इच्छा के अनुसार काम करना।
७. मिथ्याकार — अपणी निन्दा करणा।
८. तथाकार — गुरु की आज्ञा स्वीकार करना।
९. अभ्युत्थान — सेवा-सुश्रूषा करना।
१०. उपसम्पदा — ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए किसी के पास जान

मुनि के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपनी दिनचर्या चार भा में विभक्त कर ले – प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में भिक्षा-च और चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्य द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निद्रा और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्य करना चाहिए। स्वाध्याय में वाचना, पृच्छना, परिवर्तना (पुनरावर्तन अनुप्रेक्षा तथा धर्मकथा इन पाँच क्रियाओं का समावेश होता है।

सामाचारी के सन्दर्भ में यह भी दृष्टव्य है कि जैन मुनि वर्षावास बीच आवागमन नहीं करते। वर्षाऋतु में उत्पन्न जीव-जन्तुओं की हिंसा से ब

भी इसका मुख्य उद्देश्य है। महात्मा बुद्धने भी जैनों के इस वर्षावास नियम का अनुकरण कर अपने भिक्षुओं को वर्षावास का निर्धारण किया था।

मार्गणा और प्ररूपणा :

कर्मबन्धन के कारण जीव संसार में भटकता रहता है। मोह के कारण वह अपने मूल स्वभाव को प्राप्त नहीं कर पाता। मार्गणा के द्वारा उस स्वरूप को खोजने का प्रयत्न किया जाता है। मार्गणा का तात्पर्य है–खोज।[1] जिन धर्म विशेषों के कारण जीवों की खोज की जाती है उन्हें 'मार्गणा' कहते हैं। इनकी संख्या चौदह है —

१. गति ४ – नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव।

२. इन्द्रिय ५ – स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण।

३. काय २ – त्रस और स्थावर। दो इन्द्रियों से लेकर पाँच इन्द्रियों तक के जीव त्रस कहलाते हैं और पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति में रहने वाले जीव स्थावर कहलाते हैं। वनस्पति के अन्तर्गत ही निगोदिया जीव आते हैं जो एक श्वास में अठारह बार जन्म लेते हैं और अठारह बार मरण करते हैं।

४. योग ३ – मन, वचन, काय वर्गणा निमित्तक आत्म प्रदेशों का परिस्पन्दन योग कहलाता है। काय योग सात प्रकार का है –

औदारिक, वैक्रियक, आहारक, औदारिकमिश्र, वैक्रियकमिश्र, आहारक मिश्र और कार्माण। मनोयोग और वचनयोग चार-चार प्रकार का है – सत्य, असत्य, उभय और अनुभय।

५. वेद ३ – आत्मा में सम्मोह रूप प्रवृत्ति की उत्पत्ति होना वेद है। वह नोकषाय के उदय से तीन प्रकार का होता है —स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद।

६. कषाय ४ – जो चारित्र को नष्ट करे वह कषाय है। इसके चार भेद हैं —क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमें प्रत्येक के चार भेद हैं —अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन। नोकषाय की संख्या नव कही गयी है—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। इस प्रकार कषाय के कुल ४×४+९= पच्चीस भेद होते हैं।

---

१. विशेष वर्णन के लिए देखिये– षट्खण्डागम (१. १. १. ४.), गोमट्टसार जीवकांड (१४२) मूलाचार, ११९७, राजवार्तिक, ९. ७-११; पंचसंग्रह (प्राकृत), १५६

७. ज्ञान ८ – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान, कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान।

८. संयम ७ – संयम की सात अवस्थायें होती हैं—असंयम, संयमासंयम, सामायिक संयम, छेदोपस्थापना संयम, परिहार विशुद्धि संयम, सूक्ष्मसांपराय संयम और यथाख्यात संयम।

९. दर्शन ४ – चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन।

१०. लेश्या ६ – कषाय से अनुरञ्जित प्रवृत्ति का नाम लेश्या है। इसके छह भेद हैं – कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या।

११. भव्य २ – भव्य और अभव्य। निर्वाण पाने की योग्यता जिनमे प्रगट हो सके वह भव्य है और अन्य अभव्य है।

१२. सम्यक्त्व ५ – सप्त तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। वह पांच प्रकार का है – मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, क्षयोपशम सम्यक्त्व उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व।

१३. संज्ञी २ – शिक्षा, क्रिया, आलाप आदि ग्रहण करने वाला संज्ञी है और इसके विपरीत असंज्ञी है।

१४. आहार २ – उपभोग्य शरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करन आहार है और इसके विपरीत अनाहार है। विग्रहगति, केवली समुद्घात, और अयोगी केवली अवस्था में जीव अनाहारक होता है।

मार्गणा में धर्म विशेषों के कारण जीवों की खोज की जाती है औ प्ररूपणा में पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणों से उनकी परीक्षा की जाती है। इ प्ररूपणों की संख्या बीस कही गयी है—गुण स्थान, जीव समास, पर्याप्त, प्राण संज्ञा, चौदह मार्गणायें और उपयोग।

चारित्र के भेद :

चारित्र का कार्य है – मोह के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने वाली आत्मविशुद्धि (समता) की अभिव्यक्ति। इसमें अहिंसा का परिपाल तथा इन्द्रियों पर संयमन करना आवश्यक होता है।[1] चारित्र के पाँच भे

---

१. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ।। प्रवचनसार १. ७

होते हैं – सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात ।[1]

१. सामायिक – हिंसादिक सावद्य योगों का सार्वकालिक अथवा नियत-कालिक त्याग समायिक है।

२. छेदोपस्थापना – प्रमादवश स्वीकृत निरवद्य क्रियाओं में दूषण लगने पर उसका सम्यक् प्रतीकार करना छेदोपस्थापना है।

३. परिहारविशुद्धि – इसमें प्राणिवध के परिहार के साथ ही साथ विशिष्ट शुद्धि होती है। यह चारित्र विशिष्ट साधु को ही प्राप्त होता है।

४. सूक्ष्मसांपराय – जो स्थूल व सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा के परिहार में पूर्णतः अप्रमत्त हो, कर्मरूपी ईन्धन को ध्यानाग्नि में जला चुका हो, जिसके मात्र सूक्ष्म लोभ कषाय बच गया हो उसे सूक्ष्म सांपराय चारित्र की प्राप्ति होती है।

५. यथाख्यात – मोह के उपशम या क्षय के अनन्तर प्रगट होने वाला चारित्र्य यथाख्यात चारित्र्य कहलाता है।

ये चारित्र के प्रकार आत्मा की विशुद्धि के प्रतीक हैं और उसके स्वस्वरूपात्मक स्थिति को प्राप्त करने के विकासात्मक परिणाम हैं। स्व-परविवेक रूप भेदविज्ञान उसका अवलम्बन है। इनमें से किसी एक चारित्र में प्रवृत्त व्यक्ति को 'चारित्रपण्डित' कहा जाता है।[2]

मोक्ष :

मोक्ष का तात्पर्य है—कर्मों का आत्यन्तिक क्षय। इस अवस्था में आत्मा कर्म-मलों से विमुक्त होकर आत्यन्तिक ज्ञान-दर्शन रूप अनुपम सुख का अनुभव करता है।[3] यह मोक्ष दो प्रकार का है – द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष। आत्मा का संपूर्ण कर्मों से पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है। क्षायिक ज्ञान, दर्शन व यथाख्यात चारित्र नाम वाले जिन परिणामों से निरवशेष कर्म आत्मा से दूर किये जाते हैं उन परि-णामों को भावमोक्ष कहते हैं। इसी अवस्था में व्यक्ति सर्वज्ञ बनता है। भावमोक्ष केवलज्ञान की उत्पत्ति, जीवन्मुक्त और अर्हन्त पद ये सब एकार्थक शब्द हैं। अष्ट कर्मों से विमुक्त हो जाने पर जीव जन्म, जरा, मरण आदि क्रियाओं से मुक्त

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९. १८

२. भगवती आराधना, विजयो; २५.

३. सर्वार्थ सिद्धि, १.१.

हो जाता है और सिद्ध कहलाने लगता है। उसके पुन: कर्मबन्ध की प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं होती। जैसे बीज के पूर्णतया जल जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार कर्मबीज के दग्ध हो जाने पर संसार रूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता। फलत: उसमें क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व आदि गुण प्रगट हो जाते हैं।

मोक्षावस्था में अतीन्द्रिय सुख के विषय में दार्शनिकों के बीच मतभेद है। बौद्धधर्म में तृष्णा के क्षय को 'निर्वाण' कहा गया है। शरीर शेष रहते हुए तृष्णा का विनाश सोपधिशेष निर्वाण कहलाता है और शरीर के नि:शेष हो जाने पर निरुपधिशेष निर्वाण कहा जाता है।[1] इसी अवस्था को अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत कहा गया है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण के सन्दर्भ में भी विकास हुआ है।[2] वहाँ आत्मदर्शन को ही संसार का कारण माना गया है। सांसारिक पदार्थों में अनित्य, अनात्म, दु:खरूप की भावना आने से ही ममत्व हटता है और वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य उत्पन्न होने से अविद्या, तृष्णा आदि के अभाव से युक्त चित्तसन्तति स्वरूप संसार का नाश हो जाता है। यही मोक्ष है।[3]

बौद्ध दर्शन की दृष्टि में मुक्ति अवस्था में चित्त-सन्तान का अत्यन्त उच्छेद हो जाने से चित्त प्रवाह रूप आत्मा की सत्ता ही जब नहीं है तब सुख होगा कैसे? यहाँ मूल में ही मतभेद है। फिर भी आत्मा के समकक्ष यदि किसी पदार्थ को बौद्ध दर्शन में देखा जाय तो वह है 'चित्तसन्तति'। यह चित्तसन्तति सांसारिक अवस्था में साश्रव अर्थात् अविद्या और तृष्णा से संयुक्त थी, प्रव्रज्या आदि अनुष्ठानों से वही चित्त सन्तति निराश्रव अविद्या तृष्णासे रहित हो जाती है। इस निराश्रव अर्थात् चित्तसन्तति को यदि सान्वय (वास्तविक रूप से पूर्व उत्तर-क्षणों में अपनी सत्ता रखने वाली) माना जाय तो उसे निर्वाण का सही स्वरूप कहा जा सकता है। निरन्वय मानने पर बंधनेवाले और छूटनेवाले के बीच कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। निर्वाण को 'असंस्कृत' कहा गया है वह भी सही है। उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का कोई सम्बन्ध ही नही। पर यह अवश्य है कि जन्म, जरा, मरण आदि से विनिर्मुक्त अवस्था सुखरूप ही होगी।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार जब आत्मा का तत्त्वज्ञान परिपूर्ण रूप विकसित हो जाता है तब उस तत्त्वज्ञान के बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न

---

१. सुत्तनिपात, पारायण वग्ग

२. विशेष देखिये, लेखक की पुस्तक– बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ. १०५-१११.

३. प्रमाणवार्तिक, १. २१९-२२१.

धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद हो जाता है और आत्मा अपने शुद्ध रूप में लीन हो जाता है। यही मोक्ष है। जैन दर्शन इन बुद्धयादि गुणों का उच्छेद नहीं मानता। ये गुण आत्मा से न तो सर्वथा भिन्न कहे जा सकते हैं और न सर्वथा अभिन्न, बल्कि कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न होते हैं। सन्तानी से अत्यन्त भिन्न सन्तान उपलब्ध ही नहीं हो सकती। सन्तान का तात्पर्य है—कार्य-कारण भूत क्षणों का प्रवाह। यह कार्य-कारण भाव न तो सर्वथा नित्यवाद में हो सकता है और न सर्वथा अनित्यवाद में। और फिर यदि मोक्ष में अतीन्द्रिय ज्ञान, सुख आदि गुणों का अभाव माना जायगा तो उसे प्राप्त करेगा कौन ? सुख तो आत्मा का निजी स्वभाव है। उसे मोक्ष की स्थिति में परम सुख कहा जाता है। अतः नैयायिक — वैशेषिक का उपर्युक्त कथन सही नहीं है।

सांख्यदर्शन में पुरुष को शुद्ध चैतन्यस्वरूपी माना गया है पर वह अकर्ता और साक्षात् भोक्ता नहीं। प्रकृति में प्रतिबिम्बित सुखादि फलों को मोहवशात् वह अपना मानता है। यही धारणा संसार का कारण है। प्रकृति का संसर्ग छूट जाने पर पुरुष अपने शुद्ध स्वरूप में – चैतन्यमात्र में अवस्थित हो जाता है यही स्वरूपावस्थिति मोक्ष है। जैनदर्शन प्रकृति और पुरुष के इस स्वरूप को स्वीकार नहीं करता। ज्ञान बुद्धि का धर्म है जो सांख्यदर्शन में प्रकृति के साथ ही मुक्त पु रुष से दूर हो जाता है। अर्थात् मुक्त पुरुष बुद्धि के नष्ट हो जाने से अज्ञानी बन जाता है। इस अज्ञान अवस्था को मोक्ष कैसे कहा जा हकता है ? और फिर विवेक ख्याति (भेदविज्ञान) पुरुषको होती है या प्रकृति को ? प्रकृति ज्ञान से शून्य है अतः उसे विवेकख्याति युक्त माना नहीं जा सकता। पुरुष भी विवेकख्याति शून्य है क्योंकि वह भी असंवेद्यपर्व में स्थित होने से अज्ञानी है। अज्ञानी को मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ? मोक्ष तो सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्-चारित्री को ही प्राप्त हो सकता है। रत्नत्रय के बिना मोक्ष कैसे ?

मीमांसक जीव आदि के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी मोक्ष का अभाव बतलाते हैं। तत्त्वसंसिद्धि में मोक्ष सद्भाव नहीं माना गया। महर्षि जैमिनिने भी मोक्ष की चर्चा नहीं की पर कुमारिल भट्ट लीक से हटकर मोक्ष की बात करते हैं। यशस्तिलक चम्पू (भाग-२, पृ. २६९) में कहा गया है कि कोयले एवं कज्जल की भांति स्वभावसे भी मलिन मन की वृत्ति किसी भी कारण शुद्ध नहीं हो सकती, यह जैमिनियों-मीमांसकों का मत है। जैन दर्शन इसे स्वीकार नहीं करता। वह अनुमान से ही मोक्ष को सिद्ध करता है। सर्वज्ञता की भी सिद्धि अनुमान से ही होती है। समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर यह अवस्थाप्रगट होती है।

पाश्चात्य दर्शन में मोक्ष :

पाश्चात्य दर्शन में आधुनिक दर्शनों का लक्ष्य ज्ञान की प्राप्ति रहा है पर यूनानी दर्शन का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति रहा है। भारतीय दर्शनों के समान अफलातून ने सांसारिक इच्छाओं को ज्ञान के मार्ग में बाधक माना। वह सक्रिय जीवन और ज्ञानमय जीवन में अन्तर भी स्थापित करता है। लॉक ने जन्म-जात प्रत्ययों को ज्ञान का उद्गम स्थल माना है और अनुभव के आधार पर उसकी चरम प्राप्ति को स्वीकार किया है। बर्कले ने भी लगभग यही कहा है। बुद्धिवाद इसके विपरीत है। सुकरात, प्लेटो, अफलातून, डेकार्ते, लाइबनित्स, आदि दार्शनिक बुद्धि को ज्ञान की जननी मानते है। कान्ट परीक्षावादी हैं। वह अनुभववाद और बुद्धिवाद दोनों को अन्ध विश्वासी (dogmatic) मानता है। पाश्चात्य दर्शन में ज्ञान की उत्पत्ति और विकास के ये विभिन्न सिद्धान्त दृष्टव्य हैं। इसी प्रकार बर्कले का प्रत्ययवाद, पेरी का यथार्थवाद, ब्रेण्टेनो का वस्तुवाद, लॉक का द्वैतवाद आदि जैसे सिद्धान्त भी मोक्ष सम्बन्धी विचार रखते हैं। लाप्लास, डार्विन, लामार्क और स्पेन्सर का यान्त्रिक विकासवाद, बर्गसां का प्रयोजनवाद, लाईड मार्गन का नव्योत्क्रान्तिवाद भी किसी सीमा तक इसपर विचार करते हैं। बर्कले, कान्ट, हैगल आदि अध्यात्मवादी दार्शनिक, तथा ह्यूम, डेकार्ते आदि आत्मवादी दार्शनिक भी मोक्ष तत्त्व पर विचार करता प्रतीत होता है, पर उस सीमा तक नहीं जिस सीमा तक भारतीय दर्शन ने मोक्ष की सार्वभौमिक व्याख्या की है।

इस प्रकार जैन आचार की दृष्टि मे मोक्ष परम विशुद्धावस्था का प्रतीक है। जैनधर्म हर व्यक्ति को आत्मोत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचने का अधिकारी मानता है। इसी सन्दर्भ में वह धर्म की सार्वभौमिक व्याख्या करता हुआ उसके लोकोपयोगी और लोकमङ्गलकारी तत्त्वों को भी प्रस्तुत करता है।

* * ।

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय, कारिका ५२-५३.

सप्तम परिवर्त

जैनधर्म का प्रचार-प्रसार और कला

सप्तम परिवर्त

जैनधर्म का प्रचार-प्रसार और कला

जैनधर्म का प्रचार :

जैनधर्म के प्राचीन इतिहास को देखने से पता चलता है कि भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के पूर्व जैन संस्कृति का प्रचार-प्रसार बहुत हो चुका था। पालि साहित्य में यद्यपि इस प्रकार के उल्लेख कम मिलते हैं पर जो भी मिलते हैं उनसे महावीर के पूर्व के जैन-इतिहास और संस्कृति पर किञ्चित् प्रकाश पड़ता है। पार्श्वनाथ परम्परा के शिष्य के साथ महावीर और बुद्ध के वार्तालाप तथा विविध प्रसंग इस सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं।[1]

उत्तर भारत

शिशुनागवंश (ई. पू. ७ वीं शताब्दी से ई. पू. ५ वीं शताब्दी तक) :

भगवान महावीर का समकालीन शिशुनागवंशीय राजा श्रेणिक बिम्बिसार मगध का प्रधान नरेश था जिसका सम्बन्ध परम्परा से जैनधर्म से बताया जाता है। राजगृह उसकी राजधानी थी। वैशाली नरेश चेटक, कोसल नरेश प्रसेनजित आदि राजाओं से भी उसका पारिवारिक सम्बन्ध रहा है। प्रसेनजित की पुत्री चेलना से उत्पन्न कुणिक अजातशत्रु उसका उत्तराधिकारी बना। उसने कौशल और वज्जिसंघ की संयुक्त शक्ति को छिन्न-भिन्न किया और राज्य का विस्तार किया। उसके उत्तराधिकारी उदायी आदि भी प्रभावक राजा हुए। ये सभी नरेश जैनधर्म के अनुयायी रहे हैं। अवन्ति नरेश पालक का भी यही समय रहा है।

जैनधर्म उत्तर भारत की देन है। वहीं से वह देश-विदेश के कोनों में फैला है। मगध प्रायः हर सम्प्रदाय का सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। राजगृह और

---

१. विशेष देखिये– लेखक की पुस्तक-Jainism in Buddhist Literature.

नालन्दा ऐसे स्थल थे जहां जैनधर्म अधिक लोकप्रिय था। बुद्ध को यहाँ निगण्ठों से बहुत लोहा लेना पड़ा। राजगृह की समीपवर्ती कालशिला (इसिगिलि) पर्वत पर कठोर तपस्या करते हुए बुद्धने जैन साधुओं को देखा और उनकी तीव्र आलोचना की। फिर भी उन्होंने जैन धर्म को नहीं त्यागा।[1] परन्तु उपालि गहपति,[2] अभयराजकुमार[3] असिबन्धकपुत्त गामणि आदि[4] जैन श्रावकों को निश्चित ही बुद्ध ने अपनी ओर खींच लिया। जो भी हो, मगध जैनधर्म का केन्द्र था, यह इन सन्दर्भों से संपुष्ट होता है। वज्जि गणतंत्र के प्रमुख राजा चेटक और उनकी राजधानी वैशाली, तथा मगध सम्राट श्रेणिक और उनकी साम्राज्ञी चेलना जैनधर्म के प्रधान अनुयायी थे।

कौशल में बुद्धने लगभग २१ वर्ष व्यतीत किये। महावीर ने भी यहाँ अनेक बार भ्रमण किया। अयोध्या, सावत्थि (श्रावस्ती) और साकेत जैनधर्म के केन्द्र रहे हैं। श्रावस्ती के श्रेष्ठी मिगार और कालक महावीर के भक्त रहे है। कपिलवस्तु यद्यपि बुद्ध का जन्म स्थान था पर यहाँ भी जैनधर्म का काफी प्रचार था। बुद्ध और उनका परिवार भी सम्भवत: प्रारम्भ में पार्श्वनाथ परम्परा का अनुयायी था। बाद में बुद्ध ने उसे अपने धर्म में परिवर्तित कर लिया। महानाम इसी का उदाहरण है।[5] देवदह भी एक जैन केन्द्र था जिसे बुद्धने अपने प्रभाव में लेने का प्रयत्न किया।[6] लिच्छवि गणतन्त्र की प्रधान नगरी वैशाली तो महावीर का जन्मस्थान ही था। पावा और कुसीनारा के मल्ल भी निगण्ठ नातपुत्त के अनुयायी थे। पावा में निगण्ठनातपुत्त के निर्वाण होने पर मल्लों और लिच्छवियों ने उनके सन्मान में दीप जलाये थे।[7]

वाराणसी, मिथिला, सिहभूमि, कौशाम्बी, अवन्ती आदि स्थान भी जैनधर्म के प्रचार स्थल रहे है। महावीर ने केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद बिहार, बंगाल, उत्तरप्रदेश आदि स्थानों का भ्रमण किया और अपने सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया। इस संदर्भ में उन्हें चेटक, उदयन, दधिवाहन, चण्ड प्रद्योत, नन्दिवर्धन, बिम्बिसार आदि राजाओं से भी अपेक्षित सहयोग मिला।

---

१. मज्झिम निकाय, प्रथम भाग, पृ. ३१, ३८०.
२. वही, ३७१
३. वही, पृ. ३९२
४. संयुत्तनिकाय, भाग, ४, पृ. ३२२
५. मज्झिमनिकाय, प्रथम भाग, पृ. ९१
६. वही, द्वितीय भाग, पृ. २१४
७. वही, पृ. २४३

बिम्बिसार का उल्लेख जैन साहित्य में श्रेणिक नाम से अधिक हुआ है। उसके बाद उसका पुत्र अजात शत्रु (कुणिक) और फिर उदायी राजा हुआ। ये सभी राजा महावीर के उपासक रहे हैं और उन्होंने उनके धर्म प्रचार में विविध योगदान दिया है।[१]

नन्दवंश (ई. पू. ५ वीं शती से ई. पू. ३ री शती तक) :

शिशुनागवंश के उत्तराधिकारी नन्द राजा हुए। नन्द वंश का राजा नन्दिवर्धन कलिंग पर आक्रमणकर कलिगजिन (ऋषभदेव) की मूर्ति को मगध ले आया। नौ नन्द राजा का मंत्री शकटाल जैनाचार्य स्थूलभद्र का पिता था।[२] अत: मगध और कलिंग को जैन केन्द्रों के रूप में स्वीकार किया गया है। लगभग ई. पू. प्रथम शती में चेदिवंशीय महाराजा खारवेल मगध पर आक्रमण कर ऋषभ जिन की मूर्ति को वापिस कलिंग ले आया। यह हाथी गुम्फा शिलालेख से ज्ञात होता है। उत्तर काल में भी मगध और कलिंग जैन केन्द्र बने रहे हैं।

मौर्य साम्राज्य (ई. पू. ३१७ से ई. पू. १८४) :

नन्दों के उत्तराधिकारी मौर्य राजा हुए। मौर्य राजाओं में जैन साहित्य के अनुसार चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक, कुणिक, सम्प्रति और दशरथ जैनधर्मानुयायी थे। दुर्भिक्ष काल में भद्रबाहु कर्णाटक पहुँचे जहाँ जाकर चंद्रगुप्त ने जिन-दीक्षा ग्रहण की। आज भी उस पहाड़ी को 'चंद्रगिरि' कहते हैं। दक्षिण में जैनधर्म का प्रचार प्रथमत: इसी समय हुआ। बिन्दुसार और अशोक ने जैनधर्म को काफी प्रश्रय दिया। सम्प्रति को 'परम अर्हत्' कहा गया है। उसने अनेक जैन मंदिरों का निर्माण कराया और उज्जैन में जैन उत्सवों को मनाने की परम्परा प्रारंभ की।[३] वह आर्य सुहस्ति का शिष्य था।[४] लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त जिनमूर्ति से पता चलता है कि मौर्यकाल में जैनधर्म जनधर्म हो गया था।

शुंगकाल (ई. पू. १८४ से ७४) :

यह काल वैदिक धर्म का पुनरुद्धार काल कहा जा सकता है। इस वंश का संस्थापक पुष्यमित्र जैनों और बौद्धों से द्वेष करने वाला था। कलिंग नरेश खारवेल ने संभवत: इसी लिए मगध पर आक्रमण कर ऋषभदेव की प्रतिमा को वापिस

---

१. त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र, ६. १६१-१८१; उत्तराध्ययन, बीसवाँ अध्याय

२. आवश्यक सूत्र, ४३५-६

३. आवश्यक सूत्र, ४३५-६

४. सम्प्रति के भाई सालिशुक ने सौराष्ट्र में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया, (इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १६, १९४०.)

प्राप्त किया था। इस काल में मगध प्रदेश में जैनधर्म से सम्बद्ध कोई विशेष घटना नहीं हुई। वैसे उसका प्रचार-प्रसार बढ़ता ही रहा।

सातवाहन काल (६० ई. पू. २२५ ई. तक)

मौर्य वंश के पतन के बाद अनेक राजवंश खड़े हो गये। सातवाहन उनमें एक था। इसका अस्तित्व ई. पू. प्रथम शती से ई. सन् तृतीय शती के आसपास तक रहा। जैनाचार्य सर्ववर्मा द्वारा लिखित कातन्त्र व्याकरण तथा काण-भिक्षु द्वारा लिखित कथा के आधार पर लिखी गई गुणाढ्य की वृहत्कथा की रचना इसी के राज्यकाल में हुई। इस समय मथुरा और सौराष्ट्र भी जैनधर्म के केन्द्र थे। मथुरा पार्श्वनाथ का जन्मस्थान है।[1] यापनीय संघ के अधिष्ठाता शिवार्य की साहित्य-साधना भी संभवतः यहीं से प्रारंभ हुई होगी। मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से पता चलता है कि यह नगर लगभग दशवीं शताब्दी तक जैन केन्द्र रहा है। यहाँ की खुदाई में जो स्तूप मिला है उसे महावीर से भी पूर्वकालीन होने की संभावना प्रगट की गई है।[2] पञ्चस्तूपान्वय का प्रारंभ भी यहीं से हुआ। इसी काल में सौराष्ट्र में महिमानगरी में एक जैन सम्मेलन भी बुलाया गया। पुष्पदन्त और भूतबली ने षट्खण्डागम की रचना भी इसी काल में की। मथुरा के रत्नजटित स्तूप के होने का भी उल्लेख मिलता है।[3] इस काल में प्राकृत जैन साहित्य का सृजन बहुत हुआ। दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायों के रूप में जैन सम्प्रदाय का विभाजन भी संभवतः इसी काल का परिणाम है।

कुषाण और कुषाणोत्तर काल :

इसके बाद कुषाणकाल (प्रथम शताब्दी ई. पू. से द्वितीय शताब्दी तक) में भी जैनधर्म फलता-फूलता रहा। गान्धारकला और मथुराकला इसी समय की देन है। जिनका उपयोग जैनमूर्ति कला के क्षेत्र में बहुत किया गया। कुषाणों के बाद (लगभग चतुर्थ शती तक) के उत्तरी भारत में यौधेय मद्र, मालव, नाग, वाकाटक आदि जातियों के गणराज्य अस्तित्व में आये। इन गणराज्यों में भी जैन संस्कृति अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाती रही। उज्जैन, मथुरा, अहिच्छत्र आदि नगरियाँ जैनधर्म के प्रभाव में थी। उज्जैन के कालकाचार्य (द्वितीय), मथुरा का जैनस्तूप और अर्धफलक सम्प्रदाय तथा यापनीय संघ, नागराजाओं की

---

१. विविध तीर्थकल्प, पृ. ६९.

२. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. ३४.

३. व्यवहार भाष्य, ५.२७.

नागरशैली आदि विशेषतायें इसी समय हुईं। पादलिप्तसूरि आदि अनेक जैनाचार्यों का यह कार्य क्षेत्र रहा है।

गुप्तकाल (ई. ४०० से ७०० तक) :

गुप्तवंश प्रायः वैदिक संस्कृति का अनुयायी रहा है। परन्तु वह अन्य धर्मावलम्बियों के सांस्कृतिक और साहित्यिक केन्द्रों को विकसित करने में कभी पीछे नहीं रहा। हरिगुप्त, सिद्धसेन, हरिषेण, रविकीर्ति, पूज्यपाद, पात्रकेशरी, उद्योतनसूरि आदि जैनाचार्य इसी समय हुए हैं। कर्णाटक, मथुरा, हस्तिनापुर, सौराष्ट्र, अवन्ती, अहिच्छत्र, भिन्नमाल, कौशाम्बी, देवगढ, विदिशा, श्रावस्ती, वाराणसी, वैशाली, पाटलिपुत्र, राजगृह, चम्पा, आदि नगरियाँ जैनधर्म के केन्द्र के रूप में मान्य थीं। श्वेताम्बर साहित्य का लेखन भी इसी काल में प्रारम्भ हुआ। रामगु त और कुमार गुप्त के काल में अनेक जैन मूर्तियों और मन्दिरों की प्रतिष्ठायें हुईं। रामगुप्त के व्क्तित्त्व को स्पष्टकर उसे ऐतिहासिक रूप देने में विदिशा में प्राप्त जैन मूर्तियों का योगदान अविस्मणीय है।

गुप्तोत्तरकाल (८ से १० वीं शती तक) :

प्रतिहार वंश में कक्कुक, वत्सराज और महेन्द्रपाल जैन राजा थे। कन्नौज उनकी राजधानी थी। पुन्नाटसंघीय जिनसेन का हरिवंशपुराण, उद्योतन सूरि की कुवलयमाला और सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू आदि ग्रन्थों की रचना इसी समय हुई। देवगढ की समृद्ध जैनकला का भी यही काल है।

मालवा के **परमारों** (१० वीं से १३ वीं शती तक) की राजधानी धारा नगरी थी जो सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में विख्यात है। कहा जाता है कि मुंज, नवसाहसांक और भोज जैनधर्म के अनुयायी रहे हैं। धनपाल, अमितगति, माणिक्यनन्दि, नयनंदि, प्रभाचन्द, आशाधर, धनञ्जय, दामोदर आदि जैनाचार्यों ने सरस्वती के क्षेत्र में इसी समय योगदान दिया है। राजपूताना के परमारों का भी यही कार्यकाल रहा है। उनकी राजधानी चित्तोड़ थी। कालकाचार्य और हरिभद्रसूरि यहाँ के प्रधान आचार्य थे। मेवाड़ के मन्दिर कला की दृष्टि से प्रसिद्ध हैं ही। कहा जाता है कि विक्रमादित्य जैन था और वह सिद्धसेन दिवाकर का शिष्य था।

चन्देल वंश (९ वीं से १३ वीं शती तक) काल भी जैन संस्कृति के विकास की दृष्टि से उल्लेखनीय रहा है। खजुराहो, देवगढ़, महोवा, मदनपुरा, चंदेरी, अहार, पपोरा, ग्वालियर आदि कला केन्द्र इसी काल के हैं। **कच्छपघट** और

है। हयवंश ने क्रमशः ग्वालियर और त्रिपुरी को जैन संस्कृति की दृष्टि से समृद्ध किया है।

त्रिपुरी (जबलपुर का समीपवर्ती तेवर नामक ग्राम) वैदिक, जैन और बौद्ध, इन तीनों संस्कृतियों का संगम रहा है। पुरातत्व में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वहाँ जैनधर्म बहुत अच्छी स्थिति में था। उत्खनन-में और मंदिरों में जो जैन मूर्तियाँ मिली हैं उनमें तीर्थंकर ऋषभदेव तथा नेमिनाथ, चक्रेश्वरी देवी और यक्षी पद्मावती की प्रतिमायें विशेष उल्लेखनीय हैं। तेवर के बालसागर नामक सरोवर के मध्य में स्थित एक मंदिर में एक उत्कृष्ट अभिलिखित शिल्पपट्ट सुरक्षित है। उसमें पार्श्वनाथ और पद्मावती का अंकन है। तेवर से ही प्राप्त एक तोरण द्वार से जैन स्थापत्य की विशेषता लक्षित होती है। एक खण्डित जैन प्रतिमा के पीठ पर उत्कीर्ण अभिलेख से पता चलता है कि उसे जसदेव और जसधवल ने कल्चुरी सं. ९००, ई. स. ११४९ में बनवाया था। वे मूलतः मथुरा के निवासी थे। यहाँ प्राप्त एक अन्य तोरण द्वार में ध्यान मुद्रा में आसीन जिनों का भी अंकन है।

इस विवरणसे यह स्पष्ट है कि त्रिपुरी लगभग दशवीं शती में एक महत्वपूर्ण जैन केन्द्र के रूप में विश्रुत था। मेरूतुंग ने प्रबन्ध चिन्तामणि (पृ.-४९–५०) में त्रिपुरी के सम्राट कर्ण के विषय में कुछ विशेष जानकारी दी है। वहीं उन्होंने कर्ण के कुछ दरबारी प्राकृत कवि विद्यापति, नाचिराज आदि की रचनाओंका भी संकलन किया है। संस्कृत, प्राकृत, और अपभ्रंश के कवि कर्ण के दरबार को सुशोभित करते थे। करकण्डुचरिउ के रचयिता मुनि कनकामर, श्रुतकीर्ति आदि विद्वान कलचुरी राजाओं के ही आश्रय में रहे हैं।[1]

गुजरात और काठियावाड़ :

जैन परम्परा की दृष्टि से गुजरात महावीर के बहुत पहले से ही जैन-धर्म से सम्बद्ध रहा है। अरिष्टनेमि का निर्वाण गिरिनार पर्वत पर हुआ था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने यहाँ भिक्षुओं के लिए एक बिहार बनवाया था। भद्रबाहु भी दक्षिण की ओर इसी मार्ग से गये थे। धरसेनाचार्य उपर्युक्त बिहार में रुके थे और पुष्पदन्त तथा भूतबलि को जैनागम लिखने के लिए प्रेरित कर गये थे। लगभग तृतीय शताब्दी में नागार्जुन सूरि ने बल्लभी में एक संगीति का आयोजन

---

१. विशेष देखिये– त्रिपुरी में जैनधर्म डॉ. अजयमित्र शास्त्री, चिदानन्द स्मृति ग्रन्थ द्रोणगिरि पृ. १५१-१५३ तथा त्रिपुरी, भोपाल, १९७१, पृ ११४.

यहीं किया जिसमें जैनागमों को लिपिबद्ध करने की योजना बनाई गई थी। यहीं देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने लगभग पंचम शताब्दी में इसी उद्देश्य से एक और संगीति बुलाई। सप्तम शताब्दी में जिनभद्र क्षमाश्रमण एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं जिनका संबन्ध शीलादित्य से रहा है। जूनागढ के समीप बाबा प्यारामठ में कुछ जैन प्रतीक भी मिले हैं।

राष्ट्रकूल काल में भी जैनधर्म यहाँ अच्छी स्थिति में रहा। लगभग ९ वीं शती में सुवर्णवर्ष नामक जैन राजा हुआ। इसी समय यहाँ नवसारिका नामक एक जैन विद्यापीठ भी थी जिसके प्राचार्य परवादिमल्ल थे। बाद में चालुक्य वंश जैनधर्म का संरक्षक बना।[1] हेमचन्द्र जयसिंह के राजकवि थे जो नेमिनाथ के भक्त थे। केक्कल, वाग्भट्ट, गुणचन्द्र, महेन्द्रसूरि, वर्धमानसूरि देवचन्द्र, उदयचन्द्र इत्यादि साहित्यकार भी जयसिंह के ही संरक्षण में रहे हैं। जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल हुए जिन्होंने जैनधर्म का और भी अधिक संरक्षण किया। परन्तु कुमारपाल के बाद अजयपाल ने जैन मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करने का काम अधिक किया। वस्तुपाल और तेजपाल ने उसका पुनः संरक्षण किया। ये दोनों वघेलों (सोलंकी शाखा) के मन्त्री थे। उन्होंने आबू, गिरिनार और शत्रुञ्जय के प्रसिद्ध जैन मन्दिरों का निर्माण कराया। नादोल के चाहमान जैनधर्मानुयायी थे। उन्होंने भी अनेक जैन मन्दिर बनवाये।

राजस्थान :

राजस्थान भी गुजरात के समान प्रारम्भ से ही जैनधर्म का गढ़ रहा है। बडली शिलालेख (वीर. नि. सं. ८४) की 'माझमिका' की पहचान चित्तोड़ की समीपवर्ती नगरी माध्यमिका से की जाती है जो महावीर काल में श्रमण संस्कृति का केन्द्र रही है।[2] मौर्यकाल में चन्द्रगुप्त, अशोक और सम्प्रति ने राजस्थान में जैन संस्कृति को संवारा और वही क्रम उत्तरकाल में भी चलता रहा। कालकाचार्य, सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, हरिभद्रसूरि आदि प्रसिद्ध जैनाचार्यों का कार्यक्षेत्र राजस्थान भी रहा है। राजपूत काल में प्रतिहार, चौहान, सोलंकी, परमार आदि वंशों के अनेक राजा जैनधर्मानुयायी रहे हैं।

---

१. दुर्लभ राजा के उत्तराधिकारी भीम और कर्ण के समय वर्धमानसूरि और जिनेश्वरसूरि-प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। सिद्धराज ने भी जैन धर्म का, विशेषतः श्वेताम्बर सम्प्रदाय का संरक्षण किया है। कुमुदचन्द्र और देवचन्द्रसूरि का शास्त्रार्थ इसी के राज्यकाल में हुआ था।

२. नाहर – Jain Inscription, No. 402; भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ-२.

बप्पभट्टसूरि, मिहिरभोज, अश्वराज, आल्हणदेव, जयसिंह सिद्धराज, कुमारपाल आदि राजाओं का नाम इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। बप्पसूरि, धर्मघोषसूरि, जिनदत्तसूरि, गुणचन्द्र, पद्मप्रभ, हेमचन्द्र, शीलगुणसूरि, कुमुदचन्द्र, दुर्गदेव आदि विद्वान इन्हीं राजाओं के काल में हुए। इन राजाओं ने अनेक जैन मन्दिरों और पुस्तकालयों का निर्माण किया। इसी काल में मेवाड़, कोट, सिरोही, जैसलमेर, श्रीमालनगर, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, अलवर, आदि प्रधान जैन केन्द्र रहे हैं। यहाँ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों जैन परम्पराओं के संघों और गच्छों का विकास हुआ है। राजस्थान की जैनकला भी उल्लेखनीय रही है।[1]

मध्यप्रदेश :

वर्तमान मध्यप्रदेश प्राचीन विन्ध्यप्रदेश तथा मध्यभारत का सम्मिलित रूप है। महाकोसल और मालवा प्रान्त भी इसी में अन्तर्भूत हो जाता है। इस प्रदेश पर नन्द, मौर्य, खारवेल, गुप्त, राष्ट्रकूट, चन्देल, कलचुरि आदि राजाओं का राज्य रहा। इन राजाओं के राज्य में जैनधर्म भी फलता-फूलता रहा। विदिशा, उज्जैन, मन्दसौर, ग्वालियर, धारा आदि प्राचीन नगर जैनधर्म के केन्द्र थे। कालकाचार्य उज्जैन के ही थे जिन्होंने, कहा जाता है, प्रथमशती में गर्द-भिल्ल को पराजित कराया।

इस प्रदेश में जैनधर्म के अस्तित्व का प्रमाण प्रारम्भ काल से ही मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक सम्प्रति, वृहद्रथ आदि राजाओं ने मध्यप्रदेश में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया। गुप्तयुग में उसके इस प्रचार-प्रसार का रूप अधिक दिखाई पड़ता है। समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त आदि राजाओं के काल में जैन-धर्म और संस्कृति यहाँ विकसित होती रही। एरण (सागर जिला) पर गुप्त सम्राटों का अधिकार था। यहाँ की खुदाई में रामगुप्त के अनेक सिक्के मिले। यह रामगुप्त वही है जिसका उल्लेख विदिशा में प्राप्त जैन मूर्ति-लेखों में हुआ है।

विदिशा मध्यप्रदेश का प्राचीन ऐतिहासिक नगर रहा है। मौर्य तथा शुंग कालीन जैनधर्म का प्रमाण यहाँ मिलता है। आज भी यहाँ कुछ जैन मन्दिर और गुफायें कला के वैभव को द्योतित कर रही हैं। विदिशा को वेसनगर भी कहा गया है।

---

१. राजस्थान की जैन संस्कृति के विकास का ऐतिहासिक सर्वेक्षण – डॉ. कैलाशचन्द्र जैन एवं मनोहरलाल दलाल, जिनवाणी, अप्रैल-जुलाई, १९७५, पृ. १२५-१६८.

उज्जयिनी भी प्राचीन काल की महत्त्वपूर्ण नगरी है। अशोक, सम्प्रति आदि ने यहां पर राज्य किया है। यहाँ का मालव गण प्रसिद्ध रहा ही है। अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत महावीर स्वामी के मौसा ही थे। कालकाचार्य का सम्बन्ध भी उज्जैन से ही रहा है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजधानी उज्जयिनी ही थी। उत्तर पुराण के अनुसार भ. महावीरने भी यहाँ भ्रमण किया था।

धारा नगरी सरस्वती नगरी रही है। यहाँ का परमार वंश अधिक प्रसिद्ध रहा है। मुञ्ज वाक्पतिराज, सिन्धुल, भोज आदि राजाओं के काल में यह नगरी जैनधर्म का केन्द्र रही है। भोज का काल इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। पद्मचरित के कर्ता महासेन, अमितगति, माणिक्यनंदी, नवनंदी, प्रभाचन्द्र, शान्तिसेन, धनञ्जय, धनपाल आदि जैनाचार्य इसी राजा के आश्रय रहे हैं। आशाधर भी परमार वंशीय राजाओं के सान्निध्य में साहित्य सृजन करते रहे।

कलचुरि और चन्देल राजाओं ने त्रिपुरी, और खजुराहो को कला की दृष्टि से अमर बना दिया। देवगढ़, महोबा, अजयगढ, चंदेरी, सीरोन, वानपुर, मदनपुर, ललितपुर, दुधई, चांदपुर, जहाजपुर, अहार, पपोरा, नदारी, गुरीला, खन्दारजी, थूबन, बूढी चन्देरी, गूढर, गोलकोट, पचराई, निवोडा, भरवारी, सोनागिरि, पावागिरी, रेशन्दीगिरि, द्रोणगिरी, कुण्डलपुर, गढा, बीनावारा, पजनारी, पटनागंज, नवागढ, पटेरा ग्वालियर, बडवानी, बहोरीबन्द, उर्दमऊ, बिलहरी, नरवर, धुवेला, टीकमगढ, लखनादोन आदि जैन स्थल कला की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। चन्देलकाल में ही देवगढ़ का निर्माण हुआ है। श्रीदेव, वासवचन्द्र, कुमुदचन्द्र आदि जैनाचार्य इसी समय के हैं। ग्वालियर के कच्छपघट और तोमरवंश ने ग्वालियर को भी एक प्रभावक जैन केन्द्र बना दिया।

बंगाल :

बंगाल में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार बहुत पहले से रहा है। आचारांग सूत्र (२-८-३) से पता चलता है कि भ. महावीर ने सम्बोधिकाल में वज्जभूमि और सुब्रह्मभूमि के लाढ (राढ) प्रदेश में विचरण किया था और वहाँ के खण्डहरों में वर्षावास भी किया था। इस विचरण काल में महावीर को लाढ़ देशीय व्यक्तियों और समुदायों द्वारा किये गये घनघोर उपसर्ग सहन करना पड़े। बाद में वे यहाँ के लोगों का हृदय-परिवर्तन करने में सफल हो गये। भगवतीसूत्र और कल्पसूत्र भी इस परम्परा को स्वीकार करते हैं। उनमें

उल्लिखित पणियभूमि, जहाँ महावीर ने वर्षावास किया था, मानभूमि या वीर भूमि से पहिचानी जा सकती है। छोटा नागपुर, वर्दवान, बांकुरा, मिदनापुर आदि जिलों के भूभाग भी लाढ़ देश में अन्तर्भूत होते रहे हैं। भट्ट भावदेव के भुवनेश्वर प्रशस्ति (११ वीं शती) तथा कृष्ण मिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय से पता चलता है कि यह लाढ देश बहुत पिछड़ा हुआ प्रदेश था। सुब्रह्मभूमि की पहिचान सिंहभूमि से की जाती है। महावीर का एक वर्षावास अष्टिकाग्राम में भी बताया जाता है जिसे कल्पसूत्र के टीकाकार ने वर्धमान नाम दिया है। इसे भी वर्दवान पहिचाना जा सकता है। बंगाल में वर्धमान (चिटगांव के आसपास) स्थान नाम के रूप में बहुत परिचित है।

कहा जाता है कि बंगाल मूलतः अनार्य देश था जिसे जैनों नें आ बनाया। महावंश में भी बंगाल के अनार्य होने की कल्पना दिखाई देती है अशोक के समय तक यहाँ जैनधर्म निश्चित रूप से लोकप्रिय हो चुका था कल्पसूत्र के अनुसार भद्रबाहु के शिष्य गोदास ने यही एक गोदासगण स्थापि किया। उत्तरकाल मे उसकी चार शाखायें हो गईं— पुण्ड्रवर्धनीय, कोटिवर्षी ताम्रलिप्तीय और दासि खार्वतिक। लगभग ये सभी गण बंगाल में विकसि हुए हैं। भारहुत रेलिंग पर पुण्ड्रवर्धनीय गण अंकित भी हुआ है।

लगभग पंचम शती का एक ताम्रपत्र मिला है जिसके अनुसार ए ब्राह्मण परिवार ने गुहनन्दिन को पञ्चस्तूपान्वयी जैन विहार के लिए भूमिद दिया था। यह भूमिदान वटगोहाली (गोहलभीटा) में दिया गया था। यह ताम्रप पहारपुर (४७८–७९ ई.) में प्राप्त हुआ है। वहाँ एक सर्वतोभद्र (चतुर्मुख प्रकार का जैन मन्दिर भी मिला है। मैनामती (बंगला देश) में भी इ प्रकार की कुछ जैन मूर्तियां मिली हैं जो गुप्त और गुप्तोत्तरकाल की प्रतं होती है। ह्यूनशांग ने भी बंगाल में जैनधर्म की लोकप्रियता का उल्ले किया है।

बाद में यहाँ वैदिक और बौद्धधर्म को संरक्षण मिलने लगा। प और सेन वंश ने जैनधर्म को आश्रय दिया अवश्य पर शनैः शनैः बंगाल जैनधर्म बिहार की ओर आने लगा। सुहरोहोर (दीनापुर) आदि स्थानों कुछ जैन मूर्तियां मिली हैं। वांकुरा, केन्दुआ, बारकोला, मानभूमि, च सांका, बोराम, बलरामपुर, आरसा, देवली, पाकबीरा, दुल्मी, झाल्दा, अम्बि नगर, चितगिरी, धारापात, पार्श्वनाथ, देवलिया, वर्दवान, सुन्दरवन अ स्थानों पर १०–११ वीं शती की जैन मूर्तियां और स्थापत्य कला के अ प्रतीक उपलब्ध होते हैं।

उत्तरकाल की मूर्तियों में ऋषभदेव, शान्तिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर तथा अम्बिका, पद्मावती आदि की मूर्तियां प्राप्त होती हैं। इन मूर्तियों से यह स्पष्ट है कि बंगाल में जैनधर्म अविरल रूप से बना रहा है। भद्रकाली, मानदोइल, राजपारा, उजनी, देउलभिरा, कान्ताबेन, नालकोरा आदि स्थान भी जैन संस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। कायोत्सर्ग मुद्रा में मूर्तियां यहां अधिक मिली हैं। यह सब इसका प्रमाण है कि बंगाल में जैनधर्म अच्छी स्थिति में रहा हैं।[1]

इसी प्रकार सिन्ध, कश्मीर, पंजाब, असम आदि प्रदेशों में भी जैनधर्म अच्छी स्थिति में था।

दक्षिण भारत :

विदर्भ, महाराष्ट्र, कोंकण, आंध्र, कर्नाटक, तमिल, तेलगू और मलयालय दक्षिण भारत के प्रधान केन्द्र हैं। जैन परम्परा के अनुसार नाग, ऋक्ष, वानर, किन्नर इत्यादि विद्याधर दक्षिण के निवासी थे। उन्हें ऋषभदेव का अनुयायी बताया गया है। नेमि, विनमि आदि विद्याधर भी ऋषभदेव से सम्बद्ध रहे हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, हनुमान, बाली, रावण आदि पौराणिक पुरुष परम्परानुसार जैनधर्म के अनुयायी थे। अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और संभवतः महावीर ने भी दक्षिण की यात्रा की है। दक्षिणी भाषाओं और लिपियों में जैनसाहित्य पर्याप्त मात्रा में सुरक्षित है।

आचार्य भद्रबाहु अपने दस हजार शिष्यों के साथ दक्षिण में गये और कटवप्र नामक पर्वत पर तपस्या की। इसी को आज 'श्रमण वेलगोल' कहा जाता है। इतने अधिक शिष्यों के साथ भद्रबाहु की दक्षिण यात्रा करने का स्पष्ट अर्थ यह है कि उस समय यहाँ जैन धर्म बहुत लोकप्रिय रहा होगा। चन्द्रगुप्त ने यहीं जिन दीक्षा ली और सम्प्रति ने उज्जैन से दक्षिण तक जैनधर्म का प्रचार किया। खारवेल ने भोजक और राष्ट्रकूटों को पराजित किया और दक्षिण में जैनधर्म का प्रसार किया।

१. विशेष जानकारी के लिए देखिये – डी. के. चक्रवर्ती का लेख – A Survey of Jain Antiquarian Remains in west Bengal, महावीर जयंती स्मारिका, १९६५, तथा के. के. गांगुली के Jaina Images in Bengal (I. C. Vol. 6, 1939) और Jaina Art in Bengal, महावीर जयंती स्मारिका, १९६४ आदि लेख।

भद्रबाहु द्वितीय, लोहाचार्य और कुमारनन्दि आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्व वर्ती विद्वान थे। तमिल भाषा में लिखित कुरल काव्य संभवतः कुन्दकुन्द (ऐलाचार्य) की रचना है। प्रवचनसार नियमसार, पंचास्तिकाय, समयसार आदि महान् ग्रथ उन्ही की देन है। उनके बाद दक्षिण में ही शिवार्य ने भगवती आराधना, विमलसूरि ने पउमचरिउ, पुष्पदंत और भूतवली ने षट्खंडागम कुमार कार्तिकेय ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि ग्रंथों की रचना की।

लगभग ६६ ई. मे महिमा नगरी में आचार्य अर्हत्बली ने एक सम्मेलन बुलाया। फलस्वरूप नन्दि, देव, सेन आदि गच्छो मे जैन शासन विभक्त हो गया इसी समय सभवतः श्रीकलश ने यापनीय सघ की स्थापना की। उत्तरकाल म अतंतः जैन शासन दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के रूप मे विभाजित होने से बचाया नही जा सका। मूलसंघ, काष्ठसंघ, द्राविडसंघ आदि सघ भी दक्षिण की देन है। भट्टारक प्रथा भी दक्षिण की ही उपज है।

आंध्र सातवाहन, क्षत्रप और नाग राजाओं के समय चोल पांड्य, सत्य पुत्र आदि राज्यों का अस्तित्व मिलता है। इन्हीं राजाओं के काल में समन्तभद्र शिवकोटि, नागहस्ति, यति वृषभ, सिघनन्दि आदि प्रधान जैनाचार्य हुए है पल्लव वंश (द्वितीय-तृतीय शती) के शिवस्कंद वर्मन, सिंहवर्मन और महेन्द्र वर्मन जैनधर्म के संरक्षक रहे है। प्रतिष्ठान (पैठन) सातवाहन काल से ही जैन केन्द्र रहा है। उसका सम्बन्ध शालिवाहन से बताया जाता है। कालकाचार्य शालिवाहन से संपर्क स्थापित किया था।

पाण्ड्य देश की राजधानी मदुरा तमिल सगम साहित्य की प्रणयन-स्थल थी। इस साहित्य के आद्य ग्रंथ तिरुकुरल, तोलकाप्पियम, नलादियर, चिंतामणि शिलप्पदिकरम् नीलकेशि, मणिमेखलै, कुरल आदि महाकाव्य जैनाचार्यों द्वारा लिखे गये हैं। देवनन्दि, पूज्यपाद, वज्रनन्दि, गुणनन्दि, पात्र केसरी, सुमतिदेव आदि आचार्य दक्षिण के ही हैं। चोल राजवंश में राजराजा और कोलुत्तुंग (१०७४-११२३ ई.) प्रधान जैन रक्षक रहे हैं। धनपाल की तिलक मंजरी और जयंगोदन्य की तमिल महाकाव्य कलिंगत्तुपरणी इसी समय की रचनायें हैं चेर राजा सेंगुत्थवन (द्वितीय-तृतीय शती) जैनधर्म का अनुयायी था। तमिल भाषा का प्रसिद्ध महाकाव्य शिलप्पदिकरम् उसी के भाई जैनमुनि इल्लीवलर की रचना है। कदम्ब वंश के राजा शिवस्कन्द ने समन्तभद्र से जिनदीक्षा ली इसी वंश के अन्य राजा शांतिवर्मन्, मृगेश वर्मन, रवि वर्मन् और हरि वर्मन् जै धर्मानुयायी थे। उन्होंने श्रुतकीर्ति और वारिषेण को बहु सम्मानित किया। शैवनायनार और वैष्णव अलवरों के काल को

जैनों ने समृद्ध किया है। कांची, सित्तन्नवासल, मदुरा, पाटलीपुत्र आदि बीसों स्थल हैं जहाँ जैन मन्दिर और गुफायें आदि उपलब्ध हैं।

दक्षिण में गंगवंश एक शक्तिशाली राजवंश था। उसके राजाओं में गंगदत्त, मानसिंह, विष्णुगुप्त, अविनीत, शिवमार और श्रीदत्त जैनधर्मानुयायी थे। उनके काल में उच्चारणाचार्य, शिवशर्म, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र, कविपरमेष्ठी, वप्पदेव, पूज्यपाद, जिनसेन, गुणनन्दि, वक्रग्रीव, पात्रकेसरी, वज्रनन्दि, श्रीवर्धदेव, चन्द्रसेन, जटासिंह नन्दि, अपराजितसूरि, धनञ्जय, आर्यनन्दि, अनन्तकीर्ति, पुष्पसेन, अनन्तवीर्य, विद्यानन्दि, जोइन्दु आदि अनेक जैनाचार्य हुए हैं। श्रमणवेलगोला का निर्माता चामुण्डरय गंगवंस का अन्तिम राजा था। नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती इसी के राजाश्रय में रहे हैं। इस समय जैनधर्म राष्ट्रधर्म-सा बन गया था। गंगराजाओं ने अनेक जैन मन्दिरों का भी निर्माण कराया।

पुलकेशी (५३२–५६५ ई.) बादामी के पश्चिमी चालुक्यवंश का संस्थापक था। चालुक्य वंश में जैनधर्म बहुत लोकप्रिय रहा है। प्रसिद्ध जैनाचार्य रविकीर्ति और भट्टाकलंक पुलकेशिन द्वितीय के राजकवि थे। पुष्पदन्त, विमलचन्द्र, कुमारनन्दि और वृहत् अनन्तवीर्य विनीतदेव के राज्याश्रय में रहे हैं। वेंगि के पूर्वी चालुक्य भी जैनधर्म के पालक रहे हैं। कुब्जविष्णुवर्धन और विष्णुवर्धन (७६४–७९९ ई.) के राज्याश्रय में कलिभद्र और श्रीनन्दी आचार्य रहे हैं। रामतीर्थ (विशाखापत्तनम्) की पहाडियां इसीसमय जैन संस्कृति की केन्द्रस्थली बनी। कल्याणी का दक्षिणी चालुक्य वंश भी जैनधर्म से प्रभावित रहा है। महाराष्ट्र में प्राप्त अभिलेख इस तथ्य के प्रमाण हैं। तैलप (१०वीं शती) चेन्नपार्श्व वसदि शिलालेख के अनुसार जैनधर्म का अनुयायी था। रन्न उसका राजकवि था। जयसिंह द्वितीय और कुमारपाल, वादिराजसूरि अर्हनन्दी और वासवचन्द्र के आश्रयदाता रहे हैं। यह चालुक्य वंश जैनधर्म के प्रति उदार रहा है। सौराष्ट्र में पालिताना, गिरनार, और तारंगा समूचे चालुक्यों की जैनकला के प्रति अभिरुचि का परिणाम कहा जा सकता है[1]।

चालुक्यों के बाद आठवीं शती में राष्ट्रकूटों ने दक्षिण पर अधिकार किया। अकालवर्ष शुभतुंग ने एलोरा में जैन मन्दिर बनवाया। एलोरा दिगम्बर जैनधर्म का केन्द्र इस समय तक बन चुका था। दन्तिदुर्ग ने तो एलोरा को ही राजधानी बना लिया। स्वयम्भू और वीरसेन ध्रुव के राजकवि थे। जिनसेन, विनयसेन, पद्मसेन, विद्यानन्दि, अनन्तकीर्ति, अनन्तवीर्य आदि जैनाचार्य

---

१. Studies in South Indian Jainism, P. 110-11.

गोविन्द तृतीय के आश्रय में रहे हैं। अमोघवर्ष जिनसेन का शिष्य था। वीरसेन का अधूरा कार्य जिनसेन ने पूरा किया और जयधवला ग्रन्थ का निर्माण किया। गुणभद्र, पाल्यकीर्ति और महावीराचार्य भी इसी राजा के राजाश्रय में रहे हैं। अमोघवर्ष स्वयं विद्वान था। उसने स्वयं 'प्रश्नोत्तरमाला' संस्कृत मे और 'कविराजमार्ग' कन्नड में लिखा। कृष्ण द्वितीय के राज्यकाल में हरिवंश पुराण के लेखक गुणवर्मा और धर्मशर्माभ्युदय तथा जीवन्धरचम्पू के रचयिता हरिचन्द रहे। इन्द्र तृतीय तथा इन्द्र चतुर्थ ने भी जैनधर्म को प्रश्रय दिया। कृष्णराज तृतीय अकालवर्ष (९३९–६७ ई.) राष्ट्रकूट वंश का अन्तिम प्रभावक शासक था। पोन्न और सोमदेव उसके राजकवि थे। महाकवि पुष्पदन्त भी इसी समय रहे।

'पउमचरिय' में रामगिरि (रामटेक, नागपुर) मे जैन मन्दिरो के बनाये जाने का उल्लेख मिलता है। हरिवंशपुराण भी इस कथन की पुष्टि करता है। पूर्व वाकाटक कालीन जैन मंदिरो के विद्यमान होने की भी सभावना है। केलकर (वर्धा) से प्राप्त ऋषभदेव की मूर्ति, पवनार (वर्धा) से प्राप्त जिन प्रस्तर प्रतिमायें, पद्मपुर (गोंदिया) से प्राप्त पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरो की प्रतिमायें, देवटेक (चांदा) से प्राप्त मौर्यकालीन अभिलेख, सातगांव तथा मेहकर (बुलढाना) से प्राप्त जिन प्रतिमाये व अभिलेख शिरपुर से प्राप्त अभिलेख युक्त पार्श्वनाथ की दिगम्बर मूर्ति, राजनापुर, खिनखिनी (अकोला), अचलपूर, (अमरावती), मुक्तागिरी, बाजारगांव (नागपुर), भांदक आदि स्थानों से प्राप्त जैन मूर्तिया तथा अभिलेख विदर्भ में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के ज्वलन्त उदाहरण है।

चालुक्य वंश मे दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का बहुत प्रभाव रहा है और समूचे दक्षिण मे उसने केन्द्र स्थापित किये। छोटे छोटे राजवशो ने भी जैनधर्म को आश्रय दिया। होयसालवंश उनमे प्रमुख है। इसकी राजधानी द्वारसमुद्र नगरी प्रमुख जैन केन्द्र थी। नागचन्द्र, नागवर्य, ब्रह्मशैव, नेमिचन्द्र, राजादित्य, जन्न आदि प्रधान जैनाचार्य इसी वश के राजाश्रय मे रहे हैं। बाद मे यद्यपि जैनधर्म दक्षिण में अच्छी स्थिति मे रहा पर उसे लिङ्गायतो अथवा वीरशैवो का तीव्र द्वेष सहना पड़ा। लिङ्गायत सम्प्रदाय की स्थापना बासव (११६० ई.) ने की थी जो एक समय स्वयं जैन था।

विजयनगर राज्य मे जैनधर्म और वैष्णवधर्म समान रूप से लोकप्रिय रहे। सिंहकीर्ति, बाहुवली, केशववर्णी, धर्मभूषण, कल्याणकीर्ति, जिनदेव, मल्लिनाथसूरि आदि जैनाचार्य इसी काल में रहे हैं। हरिहराय (१३४६–१३६५ ई.) बुक्कराय, देवराय, वीरुपक्षाश्रय आदि राजा जैनधर्म के अनुयायी अथवा

सहिष्णु रहे हैं। विशालकीर्ति, विजयकीर्ति, विद्यानन्द, कोटीश्वर, शुभचन्द्र आदि जैनाचार्य इसी राजवंश के आश्रय में रहे हैं। इसी समय अनेक नगरियों में जैन कला के भव्य प्रतीक मन्दिरों का निर्माण हुआ और जैन शिक्षा केन्द्रों की स्थापना हुई।

दक्षिण में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का सर्वेक्षण करने पर पता चलता है कि यहाँ उसका प्रारम्भ महावीर अथवा उनके पूर्व काल में हुआ। और उत्तरकाल में वह अधिकाधिक लोकप्रिय होता हुआ दिखाई देता है। दिगम्बर परम्परा यहाँ अधिक मान्य रही है। कहीं-कहीं तो गांव के गांव जैनधर्म का पालन करने वाले अभी भी हैं। यह स्थिति प्राचीन काल में लगभग दशवीं शती तक रही। उसके बाद धीरे-धीरे उसका अपकर्ष होता गया। वैष्णवधर्म, अलवार पन्थ तथा शैवमत के लिंगायत सम्प्रदाय की उत्पत्ति और उनके विकास ने जैनधर्म की लोकप्रियता को कम कर दिया। सम्बन्दर, तिरुनावुक्करसट, अप्पर, मुक्कन्ती, तिरुमलीसई, तिरुमंगै आदि वीर शिव भक्तों ने जैनधर्म और उसके अनुयायियों पर दारुण अत्याचार किये। उनका सामूहिक संहार भी किया गया। इस बीच जैन कला केन्द्र शैव अथवा वैष्णव कलाकेन्द्रों के रूप में भी परिवर्तित कर दिये गये। इस संदर्भ में पिल्लैयरपट्टि और कुन्नक्कुंडि (रामनाथपुरम् जिला), अरिट्टायट्टि (मदुरै जिला), नर्तमल्लै और कुदुमियमलै (तिरुच्चिरापल्लि जिला), तिरुच्चिरापल्लि, वीरशिखामणि और कुलुगुमलै (तिरुनेलवेली जिला), दलवनूर (दक्षिण अर्काट जिला), सीयमंगलम और मामंडूर (उत्तर अर्काट जिला) को प्रस्तुत किया जा सकता है।[1]

मुगलकाल में जैनधर्म :

मुस्लिम काल में जैनधर्म का ह्रास होना प्रारम्भ हुआ। उन्होंने भी अनेक जैन मन्दिरों को नष्ट किया और पुस्तकालयों को जलाया तथा उन्हें मसजिदों के रूप में परिणत किया। अजमेर की बडी मस्जिद, दिल्ली की कुतुब मीनार आदि इस के उदाहरण हैं। इसके बावजूद कुछ मुसलिम राजाओं ने जैनधर्म के प्रति सहिष्णुता का भी प्रदर्शन किया। मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५–५१ ई.) ने प्रभाचन्द्र, जिनप्रभसूरि तथा महेन्द्रसूरि को आश्रय दिया। आचार्य सकलकीर्ति, ब्रह्म श्रुतसागर, ब्रह्मनेमिदत्त, ज्ञानभूषण, शुभचन्द्र आदि भट्टारक इसी समय हुए। जिनेश्वर और भद्रेश्वर (१२०० ई.) की कथावली, प्रभाचन्द्र (१२७७ ई.) का प्रभावकचरित, मेरुतुंग (१३०५ ई.) की प्रबन्धचिन्तामणि,

---

1. जैन कला एवं स्थापत्य, भाग–२, पृ. २१२; भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, दक्षिण भारत में जैनधर्म आदि ग्रन्थ भी दृष्टव्य हैं।

जिनप्रभसूरि (१३०२ ई.) का विविध तीर्थकल्प और राजशेखर का प्रबन्ध-कोश भी इसी समय की रचनायें हैं। सवस्त्र भट्टारकप्रथा का प्रारम्भ भी इसी समय हुआ है।

अकबर (१५५६–१६०५ ई.) ने भी जैनधर्म के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार किया। उसने जैन तीर्थ स्थानों पर पशुबध को बन्द किया। अनेक जैन मन्दिर बनवाये। उसके आग्रह पर राजमल्ल ने जम्बूस्वामी चरित संस्कृत में और साहु टोडरने उसे हिन्दी में लिखा। मृगावती चौपाई, परमार्थी दोहा-शतक, पंचाध्यायी, लाटी संहिता, अध्यात्मकमलमार्तण्ड, पिङ्गलशास्त्र, यशोधर-रास, हनमन्तचरित, धर्मपरीक्षारास, शीलरास, जम्बूचरित, ज्ञानसूर्योदय, अज्ञानसुन्दरीरास, श्रीपालचरित, आदि ग्रन्थ इस समय के प्रमुख साहित्यिक मणि कहे जा सकते हैं।

जहांगीर (१६०५–१६२७ ई.) ने जैन तीर्थक्षेत्र शत्रुञ्जय का संरक्षण किया और जिनप्रभमूरि का सम्मान किया। भविष्य दत्तचरित, भक्तामरकथा, सीताचरित, सुदर्शनचरित, यशोधर, चरित, भगवतीगीता, रावण मन्दोदरी संवाद आदि हिन्दी के जैन ग्रन्थ इसी काल में लिखे गये हैं। शाहजहां (१६२८–१६५८ ई.) ने जैन तीर्थोंकी रक्षा के लिए योगदान देना पूर्ववत् जारी रखा। बनारसीदास (१५८६–१६४३ ई.) शाहजहां के घनिष्ठ मित्र थे। उनके अतिरिक्त शालिभद्र, हरिकृष्ण, जगभूषण, हेमराज, लूनसार, पृथ्वीपाल, वीर-दास, रायरछ, मनोहरलाल, रायचन्द्र, भगवतीदास, आनन्दघन, यशोविजय, विनय-विजय, लक्ष्मीचन्द्र, देवब्रह्मचारी, जगतराय, शिरोमणिदास आदि जैन विद्वान हैं जिन्होने संस्कृत और हिन्दी के ग्रन्थ भण्डारों को अपनी लेखनी से समृद्ध किया है।[1]

भारत में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का यह एक अत्यन्त संक्षिप्त विवरण है। उसमें जैनधर्म के उत्थान और पतन की कहानी भी देखी जा सकती है। उसे बौद्ध और वैदिक तथा मुसलिम आदि अन्य सम्प्रदायों के साम्प्रदायिक कोप का भी भाजन होना पड़ा, फिर भी वह बौद्धधर्म के समान लुप्तप्राय नहीं हो सका। बल्कि राष्ट्रीय चेतना के विकास में सतत योगदान देता रहा। मन्दिरों और पुस्तकालयों के नष्ट कर दिये जाने से उसके विकास में बाधायें अवश्य आयीं फिर भी अपनी चारित्रिक निष्ठा और संयमशीलता तथा

---

१. देखिये, भारतीय इतिहास : एक दृष्टि – डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी.

दूरदर्शिता के फलस्वरूप उसके अस्तित्व को कोई भी शक्ति समाप्त नहीं कर सकी। आज भी वह हर क्षेत्र में अपना प्रमुख स्थान बनाये हुए है।

विदेशों में जैनधर्म :

जैनधर्म ने साधारणतः अपनी जन्मभूमि की सीमा का उल्लंघन नहीं किया। उसका प्रसार उतना अधिक नहीं हो पाया जितना बौद्धधर्म का हुआ इसका मुख्य कारण यह था कि उसमें आचार शैथिल्य अधिक नहीं आया। आचार के क्षेत्र में दृढता होने के कारण वह विदेशी संस्कृति को अन्तर्भूत नहीं कर सका। इसके बावजूद किसी सीमा तक वह विदेशों में गया है और वहाँ की संस्कृति को प्रभावित भी किया है।

भारत की भौगोलिक सीमा बदलती रही है। प्राचीन काल में अफगानिस्तान, गांधार (कन्दहार तथा ईरान का पूर्वी भाग), आसाम, नेपाल, भूटान, तिब्बत कश्मीर, वर्मा, श्रीलंका, आदि देशों को भारत के ही अन्तर्गत माना जाता था। जावा, सुमात्रा, बाली, मलाया, स्याम आदि देश भारत के उपनिवेश जैसे थे। चीन, अरब, मिश्र, यूनान आदि कुछ ऐसे देश थे जहाँ भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा था। विदेशों से थल और जल मार्गों द्वारा व्यापार हुआ करता था। इसलिए आवागमन के साथ सांस्कृतिक तत्वों का भी आना-जाना लगा रहता था। यही कारण है कि आज की सुदूर पूर्ववर्ती देशों और मध्य ऐशिआ के विभिन्न भागों में भारतीय संस्कृति के विविध रूपों का अस्तित्व मिलता है। जैन मंस्कृति का रूप भी यहाँ उपलब्ध है।

श्रीलंका :

जैनधर्म श्रीलंका[1] में लगभग आठवीं शती ई. पू. में पहुँच चुका था। उस समय उसे रत्नद्वीप, सिंहद्वीप अथवा सिंहलद्वीप कहा जाता था। दक्षिण की विद्याधर संस्कृति का अस्तित्व सिंहलद्वीप के ही पालि ग्रन्थ 'महावंश' में मिलता है। वहाँ कहा गया है। कि विजय और उसके अनुयायियों को श्रीलंका में यक्ष और यक्षणियों के तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा था। बाद में पाण्डुकाभय (४३८–३६८ ई. पू.) उनका सहयोग लेने में सफल हो गया। उसने अनुराधापुर के आसपास जोतिय निग्गंठ के लिए एक विहार भी बनाया। वहाँ

---

१. श्रीलंका वर्तमान सीलोन है या श्रीलंका कहीं मध्यप्रदेश अथवा प्रयाग के आसपास थी, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है।

लगभग पांच सौ विभिन्न मतावलम्बियों का निवास था। वहीं गिरि नामक एक निगण्ठ भी रहता था।[१]

पांच सौ परिवारों का रहना और निग्रन्थों के लिए बिहार का निर्माण कराना स्पष्ट सूचित करता है कि श्रीलंका में लगभग तृतीय-चतुर्थ शती ई. पू. में जैनधर्म अच्छी स्थिति में था। बाद में तमिल आक्रमण के बाद वट्टगामणि अभय ने निगण्ठों के बिहार आदि सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर दिये।[२] महावंश टीका के अनुसार खल्लाटनाग ने गिरिनिगण्ठ के बिहार को स्वयं नष्ट किया और उसके जीवन का अन्त किया।[३]

जैन परम्परा के अनुसार श्रीलंका में विजय के पहुँचने के पूर्व वहाँ यक्ष और राक्षस नहीं थे बल्कि विकसित सभ्यता सम्पन्न मानव जाति के विद्याधर थे जिनमें जैन भी थे।[४] श्रीलंका की किष्कन्धा नगरी के पास त्रिकूटगिरि पर जैन मन्दिर था जिसे रावण ने मन्दोदरि की इच्छा पूर्ति के लिए बनवाया था।[५] कहा जाता है कि पार्श्वनाथ की जो प्रतिमा आज शिरपुर (वाशिम) में रखी है वह वस्तुतः श्रीलंका से माली-सुमाली ले आये थे।[६] करकण्डु चरिउ में भी लंका में अमितवेग के भ्रमण का उल्लेख मिलता है और रावण द्वारा निर्मित मलय पर्वत पर जैन मन्दिर का भी पता चलता है।[७] इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीलंका में जैनधर्म का अस्तित्व वहाँ बौद्धधर्म पहुंचने के पूर्व था और बाद में भी रहा है। तमिलनाडु के तिरप्परंकुरम (मदुरै जिला) में प्राप्त एक गुफा का निर्माण भी लंका के एक गृहस्थ ने कराया था, यह वहाँ से प्राप्त एक ब्राह्मी शिलालेख से ज्ञात होता है।[८]

बर्मा तथा अन्य देश :

बर्मा को सुवर्ण भूमि के नाम से प्राचीन काल में जाना जाता था। कालकाचार्य ने सुवर्ण भूमि की यात्रा की थी।[९] ऋषभदेव ने बहली (बेक्ट्रिआ)

---

१ महावंस, पृ. ६७
२. वही, ३३-७९
३. महावंशटीका, पृ. ४४४
४. हरिवंशपुराण, पउमचरिउ आदि ग्रन्थ देखिये।
५. विविध तीर्थकल्प, पृ. ९३
६ वही, १०२
७. करकण्डु चरिउ, पृ. ४४-६९
८. जैनकला और स्थापत्य, भाग १, पृ. १०२
९. उत्तराध्ययन, निर्युक्ति गाथा, १२०; बृहत्कल्प भाष्य भाग-१ पृ. ७३-७५

यवन (यूनान), सुवर्ण भूमि, पल्हव (ईरान) आदि देशों में भ्रमण किया था।[१] पार्श्वनाथ शाक्य देश (नेपाल) गये थे।[२] अफगनिस्तान में भी जैनधर्म के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है।[३] वहाकरेज एमीर (अफगानिस्तान) से कायोत्सर्ग मुद्रा में संगमरमर से निर्मित तीर्थंकर की मूर्ति भी प्राप्त हुई है। ईरान, स्याम और फिलिस्तीन में दिगम्बर जैन साधुओं का उल्लेख आता है।[४] यूनानी लेखक मिस्र एबीसीनिया, और इथ्यूपिया में भी दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व बताते हैं।[५] काम्बुज, चम्पा, बल्गेरिया आदि में भी जैनधर्म का प्रचार हुआ है। केमला (बल्गेरिया) से तो एक कांस्य तीर्थंकर मूर्ति भी प्राप्त हुई है।

जैन संस्कृति का प्रचार–प्रसार विदेशों में अधिक क्यों नहीं हुआ, यह एक साधारण प्रश्न हर अध्येताके मन में उभर आता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह रहा, जहाँ तक मै समझता हूँ, कि अशोक जैसे कर्मठ और क्रान्तिकारी नरेश की छाया जैनधर्म को नहीं मिल सकी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि जैनधर्म को राजाश्रय नहीं मिला। राजाश्रय तो बहुत मिला है और यही कारण है कि भारत में बौद्धकला और स्थापत्य की अपेक्षा जैन कला और स्थापत्य परिमाण और गुण दोनों की अपेक्षा अधिक है। परन्तु यह राजाश्रय मातृभूमि-तक ही सीमित रहा। विदेशों तक नहीं जा सका।

एक अन्य कारण यह भी माना जा सकता है कि जैन आचार अपेक्षाकृत कठिन है। बौद्धधर्म की तरह यहाँ शैथिल्य अथवा अपवादात्मक स्थिति नहीं रही। बौद्धधर्म ने विदेशी संस्कृति के परिवेश में अपने आपको बहुत कुछ परिवर्तित कर लिया जो जैनधर्म नहीं कर सका। जैनधर्म के स्थायित्व के मूल में भी यही कारण है। जैन इतिहास के देखने से यह भी आभास होता है कि जैनाचार्य भी स्वयं जैनधर्म को विदेशों की ओर भेजने में अधिक उत्सुक नहीं रहे। वे तो सदा साधक रहे हैं, आत्मोन्मुखी रहे हैं। राजनीति के जंजाल में वे प्रायः कभी नहीं पड़े।

इसके बावजूद जैनधर्म विदेशों में पहुँचा। इसे विदेशियों की गुणग्राहकता ही कहनी चाहिए। आधुनिक युग में भी जैनधर्म और संस्कृति के क्षेत्र में अन्वेषण का सूत्रपात करने वाले विदेशी विद्वान ही हैं।

---

१. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा, ३३६-३३७
२. पार्श्वनाथ चरित्र-सकलकीर्ति, १५. ७६-८५
३. Journal of the Royal Asiatic Society of India, Jan, 1885
४. जे. एफ.-मूर, हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रंथ, पृ. ३७४
५. Asiatic Researches, vol. 3, पृ. ६

जैन पुरातत्त्व

२. जैन कला एवं स्थापत्य

जैन संस्कृति मूलतः आत्मोत्कर्षवाद से संबद्ध है इसलिए उसकी कला एवं स्थापत्य का हर अंग अध्यात्म से जुड़ा हुआ है। जैन कला के इतिहास से पता चलता है कि उसने यथासमय प्रचलित विविध शैलियों का खूब प्रयोग किया है और उनके विकास में अपना महनीय योगदान भी दिया है। आत्मदर्शन और भक्ति भावना के वश मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण किया गया और उन्हें अश्लीलता तथा श्राङ्गारिक अभिनिवेशों से दूर रखा गया। वैराग्य भावना को सतत जागरित रखने के लिए चित्रकला का भी उपयोग हुआ है।

यहाँ हम जैन पुरातत्त्व (कला) को पाँच भागों में विभाजित कर रहे हैं— मूर्तिकला, स्थापत्यकला, चित्रकला, काष्ठशिल्प, और अभिलेख तथा मुद्राशास्त्र। इन सभी कला-प्रकारों में अनासक्त भाव को मुख्य रूप से प्रतिबिम्बित किया गया है। इसी में उसका सौन्दर्यबोध और लालित्य छिपा हुआ है।[1]

१. मूर्तिकला

उत्तर भारत :

जैन मूर्ति विज्ञान के क्षेत्र में साधारणतः चौबीस तीर्थंकरों, शासन देवियों यक्ष-यक्षिणियों तथा देवों की मूर्तियों का तक्षण हुआ है। अतः सर्वप्रथम उनके विषय में जानकारी आवश्यक है।

चोबीस तीर्थंकरों की मान्यता आगम काल से तो मिलती ही है। मोहेनजोदड़ो, हडप्पा तथा लोहानीपुर से प्राप्त मस्तक विहीन नग्न योगी की मूर्तियों को यदि ऋषभदेव की मूर्तियों के रूप में मान्यता मिल जाय तो यह परम्परा और भी प्राचीन कही जा सकती है। इन तीर्थंकरों की मूर्तियों पर प्रारम्भ में साधारणतः चिन्ह नहीं उकेरे जाते थे बल्कि उनकी पहचान उनकी पादपीठ में उट्टंकित शिलालेखों से होती थी। वक्षस्थल पर श्रीवत्स तथा हस्ततल या चरणतल पर धर्मचक्र अथवा उष्णीष के चिन्ह अवश्य होते थे। ऋषभदेव के शिरपर जटाजूट, सुपार्श्वनाथ के शिरपर पाँच फण, तथा पार्श्वनाथ प्रतिमा पर सप्तफण भी उकेरे जाते थे। कलिंग से नन्द द्वारा लायी गई जिन-

---

१. इस भाग के लेखन में मैंने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित जैन स्थापत्यकला का उपयोग किया है। अतः उसके प्रकाशक व लेखकों के प्रति कृतज्ञ हूँ।

मूर्ति और फिर आक्रमणकर खारवेल द्वारा उसकी पुनः प्राप्ति से पता चलता है कि नन्दकाल में जैन मूर्तियों का प्रचलन हो चुका था। वहाँ की मर्तिकला उल्लेखनीय है।

मथुरा प्राचीन काल से ही जैनकला का केन्द्र रहा है। यहाँ के कंकाली टीले से जैन मूर्तियाँ, आयागपट्ट, स्तम्भ, तोरण खण्ड, वेदिकास्तम्भ, छत्र आदि उत्खनित हुए हैं। ईटों से बना एक स्तूप भी मिला है जिसे देवनिर्मित स्तूप की संज्ञा दी गई है। मूर्तियाँ प्रायः चित्तीदार लाल बलुआ पत्थर की हैं। ये मूर्तियाँ दिगम्बर हैं और विशेषतः आयागपट्टों पर उत्कीर्ण हैं। चिन्हों का प्रयोग इस समय तक नहीं हुआ था। यहाँ चौमुखी मूर्तियाँ भी मिली हैं जिन्हें 'सर्वतो-भद्रिका' प्रतिमा कहा गया है। इन कुषाण युगीन मूर्तियों के शिलालेखों में कनिष्क, हुविष्क व वासुदेव के नाम मिलते हैं। नेमिनाथ और बलराज की भी मूर्तियाँ मिली हैं। इन मूर्तियों पर बोधिवृक्ष भी उत्कीर्ण हुए हैं। यहाँ एक ऐसी भी मूर्ति है जिसका शिर नहीं। उसके बाये हाथ में पुस्तक है। इसे सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति कही गई है। ये मूर्तियाँ प्रथम-द्वितीय ई. तक की मानी जा सकती हैं। इस काल की मूर्तियों में कला-कौशल अधिक नहीं। इनका नीचे का भाग प्रायः स्थूल है और स्कन्ध तथा वक्ष चौड़े हैं। इसके बावजूद चेहरे पर शान्ति तथा आध्यात्मिकता के चिन्ह स्पष्टतः दिखाई देते हैं।

वसुदेव हिण्डी में जीवन्त स्वामी (महावीर के जीवन काल में निर्मित प्रतिमा) का उल्लेख मिलता है।[1] आवश्यक चूर्णी से पता चलता है कि वीत-भयपत्तन के राजा उद्दायण की रानी चन्दन काष्ठ निर्मित जीवन्त स्वामी की मूर्ति की पूजा किया करती थी। बाद में प्रद्योत उसे विदिशा उठा ले गया।[2] इसके बाद की मूर्ति कला का इतिहास अन्धकाराच्छन्न है।

गुप्तकालीन मूर्ति निर्माण :

गुप्तकाल (चतुर्थ शताब्दी) से ही मूर्ति निर्माण होता है। इस काल के प्रारम्भ में मथुरा में जैनधर्म उतना लोकप्रिय नहीं रहा जितना कुषाण काल में था। पर कला-लालित्य अवश्य बढ़ा है। आसन में अलंकारिता और साजसज्जा, धर्म-चक्र के आधार में अल्पता, परमेष्ठियों का चित्रण, गन्धर्व युगल का अंकन, नवग्रह तथा भामण्डल का प्रतिरूपण इस काल की मूर्तियों की विशेषता है। प्रतिमाओं की हथेली पर चक्र चिन्ह तथा पैरों के तलुओं में चक्र और त्रिरत्न

---

१. वसुदेव हिण्डी, भाग—१, पृ. ६१

२. आवश्यक चूर्णि, खण्ड १, गाथा ७७४

उकेरा जाता था। छत्रत्रय और छत्रावली तथा लांछन का अभाव इस की मूर्तियों पर स्पष्ट दिखाई देता है। मथुरा संग्रहालय में गुप्त युग की मूर्तियों का अच्छा संकलन है। वेसनगर, बूढी चंदेरी तथा देवगढ़ में भी गुप्त-युगीन मूर्तिकला के दर्शन होते हैं।

राजगिर, कुमराहार, वैशाली, चौसा, पहाड़पुर आदि से प्राप्त कांस्य, प्रस्तर तथा मृण्मूर्तियों के देखने से यह पता चलता है कि कलाकारों में सौन्दर्य-बोध बढ़ चुका था। मूर्तियों के भावों में सरलता, सामञ्जस्य और आध्या-त्मिकता का अंकन और अधिक स्पष्ट हो गया था। प्रतिमाओं पर कुछ चिन्ह भी बनने लगे थे।

विदिशा के समीप दुर्जनपुर में उपलब्ध जैन मूर्तिओं पर रामगुप्त का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन प्रतिमाओं पर कोई चिन्ह नहीं है। चिन्हों की पूर्ण स्वीकृति गुप्तकाल के अन्तिम समय तक हो सकी होगी, ऐसा प्रतीत होता है। विदिशा के समीप ही उदयगिरि और वैसनगर से भी जैन मूर्तियाँ मिली है। पन्ना जिले के नचना ग्राम के समीपवर्ती सीरा नामक पहाड़ी से भी कुछ सुन्दर मूर्तियाँ मिली है जो गुप्तयुगीन विशेषताओं को लिये हुए हैं। पर यहाँ की मूर्तियों में अलंकरण उभरकर अधिक दिखाई देता है।

अकोटा समूह से उपलब्ध कुछ कांस्य मूर्तियाँ है जिनमें एक जीवन्त स्वामी की भी मूर्ति है। वह कायोत्सर्ग मुद्रा में है और मुकुट, कुण्डल, भुजबन्ध, कंगन तथा धोती पहने हुए है। एक अन्यमूर्ति का प्रभामण्डल दर्शनीय है। एकावली-युक्त अम्बिका का भी यहाँ अंकन हुआ है।

गुप्तोत्तरकालीन मूर्तिकला :

इस काल में भी मथुरा नगरी कला-केन्द्र बनी रही। पर उसके कला-केन्द्र नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये। मथुरा के समीप कामन की चौंसठ-खंभा नामक प्राचीन मसजिद ऐसी ही है जिसमें १०–११ वीं शती की जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। वयाना की उरवा मसजिद भी ऐसी ही है जो जैन मन्दिर को नष्ट कर बनायी गई है। मथुरा संग्रहालय में गुप्तोत्तर कालीन मूर्तियों का अच्छा संग्रह है। प्रतिहारकालीन पार्श्वनाथ की मूर्ति, तथा चक्रेश्वरी की मूर्ति कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर है। लखनऊ, इलाहाबाद और वाराणसी के संग्रहालयों में भी उत्कृष्ट कोटि की मूर्तियों का संग्रह है।

दसवीं शताब्दी में उत्तर भारत में मूर्तिकला का कुछ और विकास हुआ। उसमें तान्त्रिकता ने पूरी तरह प्रवेश कर लिया। वहाँ शासन देवी-देवताओं, क्षेत्रपालों, दिक्पालों, नवग्रहों और, विद्याधरों को भी स्थान मिल गया। पञ्च कल्याणकों के दृश्य अधिक लोकप्रिय हुए। पद्मासनस्थ प्रतिमाओं में सिंहासन तथा अलंकृत परिकरों का अंकन किया गया। ग्यारह-बारहवीं शती में इस शैली में और भी लालित्य आया। इस काल में बलुए पत्थर का उपयोग अधिक हुआ, वैसे काले और सफेद पाषाण का भी प्रयोग मिलता है। कांस्य प्रतिमाओं का भी निर्माण हुआ है। अलवर और जैसलमेर की ओर इन धातु-प्रतिमाओं की निर्मिति अधिक हुई है। इस काल की प्रायः सभी मूर्तियों के चेहरे चौकोर और कपोल उठे हुए-से हैं। अलंकृति के भार से कहीं कहीं यह अंकन औपचारिकता लिये हुए-सा दिखाई देता है।

चौदहवीं शताब्दी से मूर्तिकला का विकास रुक-सा गया। उत्तर-भारत में इस समय की मूर्तियों में अनेक शैलियों का समन्वित रूप दिखाई देता है। कला सौन्दर्यपरक अवश्य है पर वह पूर्व शैलियों की अनुकृति मात्र है। उस में बलुआ पत्थर, संगमरमर तथा विविध धातुओंका प्रयोग हुआ है।

पूर्वभारत :

यहाँ उड़ीसाकी उदयगिरी और खण्डगिरि में प्राप्त सम्राट् खारवेल द्वारा प्रतिष्ठित जैन मूर्तियों का भी उल्लेख किया जा सकता है। बाद में पूर्व भारत में बंगाल और बिहार में पाल शैली का विकास हुआ। गुप्तकला के आधार पर इसे कुछ और सशक्त बनाया गया। शासन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ अधिक मिलने लगीं। बलुए पत्थर का उपयोग अधिक हुआ है। मन्यता (मदनापुर) तथा सोनामुखी (बांकुरा) से प्राप्त ऋषभदेव की प्रतिमायें उल्लेखनीय हैं। अलोरा, सिहभूमि और मानभूमि की प्रतिमाओं में भी यह शैली मिलती है। देउलिया और पुरुलिया (वर्दवान) में प्राप्त सर्वतोभद्र प्रतिमायें भी दर्शनीय है। उड़ीसा में वानपुर की जैन मूर्तियाँ भी पाल शैली पर ही आधारित हैं।

पालकालीन मूर्तियों में सुरोहार (दीनाजपुर) से प्राप्त ऋषभदेव व पार्श्वनाथ की मूर्ति उल्लेखनीय है। इसी प्रकार सात देउलिया (वर्दवान) से प्राप्त ऋषभदेव, महावीर, पार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभ की मूर्तियाँ, तथा मिदनापुर, बांकुरा, अंबिकानगर, चटनगर, पाकबीरा, बलरामपुर (पुरुलिआ) आदि स्थानों से अन्य जैन मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें कला-प्रदर्शन हो सका है। उड़ीसा में पोड़ासिंगिडी (क्योझर

जिला), चरंपा (बालासोर जिला), बानपुर समूह, खण्डगिरि, आदि जैनकला केन्द्र रहे जहाँ विशाल जैन मूर्तियाँ मिली हैं। उन पर गुप्तकालीन मूर्तिकला का प्रभाव दिखाई देता है बिहार में राजगिरि की वैभार पहाड़ी और उदयगिरि पहाड़ी में सुरक्षित कुछ जैन मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं जिनमें से कुछ में पादपीठ पर कमल का अंकन है। गुप्तकाल में कमल का अंकन नहीं होता था।[1]

तेरहवीं शताब्दी के बाद पूर्व भारत में जैनधर्म और कला वैदिक धर्म और कला में अन्तर्भूत होती-सी प्रतीत होती है। इसलिए जैनकला पर वैदिक मूर्तिकला का प्रभाव अधिक पड़ा है। इस समय की जैन मूर्तियों में सर्वतोभद्र मूर्तियों का परिमाण अधिक है। यक्ष-यक्षिणियों की भी मूर्तियाँ उकेरी गई हैं।

पश्चिम भारत :

पश्चिम भारत जैनधर्म का प्रारंभ से ही केन्द्र रहा है। कहा जाता है कि भ. महावीर ने भिल्लामाल की यात्रा की थी परन्तु यह तथ्य अभी तक किसी पुष्टप्रमाण से प्रमाणित नहीं हो सका। मौर्य शासन काल में सम्प्रति आदि राजाओं ने जैनधर्म को प्रश्रय तो दिया पर इस काल की कोई कलात्मक कृति देखने नहीं मिल सकी। वसुदेव हिण्डी (लगभग ५ वीं शताब्दी)[2] तथा आवश्यक चूर्णि (सातवीं शती)[3] में महावीरके जीवन काल में निर्मित 'जीवन्तस्वामी' की चन्दन काष्ठ प्रतिमा का उल्लेख अवश्य आता है पर अभी तक वह उपलब्ध नहीं हुई। इसी प्रतिमा को प्रद्योत उठा ले गया और उसे विदिशा में प्रतिष्ठित किया। हेमचन्द्र ने इसी प्रतिमा को कुमारपाल द्वारा पत्तन में प्रतिष्ठापित किये जाने का उल्लेख किया है।[4]

कोयोत्सर्ग मुद्रा में पार्श्वनाथकी कांस्य प्रतिमा जो प्रिन्स ऑफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई में सुरक्षित है, लोहानीपुर और मोहेन्जोदड़ो से प्राप्त मूर्तियों के समकक्ष रखी जा सकती है। शाह ने इसे पश्चिम भारत में निर्मित मूर्ति कहा है।[5] पश्चिम भारत में ई. पू. और प्राथमिक शताब्दियों में जैनधर्म के प्रचार-

---

१. विशेष देखिए- पूर्व भारत, श्रीमती देवला मित्रा, डॉ. रमानाथ मिश्र, डॉ. प्रियतोष बनर्जी, सरसी कुमार सरस्वती, तथा जैन जर्नल, अप्रेल, १९६९.

२. वसुदेव हिण्डी, भाग १, पृ. ६१

३. आवश्यक चूर्णि, गाथा, ७७४

४. त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, १०, ११, ६०४

५. जैन कला एवं स्थापत्य, भाग १, पृ. ९१.

प्रसार होने के उल्लेख आदि तो अवश्य मिलते हैं पर कोई प्रतिमा अथवा मन्दिर आदि प्रतीक नहीं मिले। प्राचीन जैन गुफायें अवश्य मिलती हैं।

चौथी शताब्दी से छठी शताब्दी के बीच भी कोई जैन अवशेष नहीं मिले। मूर्तियों के इतिहास में दिगम्बर मूर्तियोंका निर्माण प्राचीनतम माना जा सकता है। गुप्तकाल की ऋषभनाथ की एक कांस्य मूर्ति अकोटा से प्राप्त हुई है पर वह खण्डित है अतः कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। बलभी से पाँच तीर्थंकरों की कांस्य मूर्तियाँ खडगासन में मिली हैं। अकोटा में जीवंत-स्वामी की भी कांस्य मूर्ति मिली है। अंबिका की भी एक प्रतिमा उपलब्ध हुई है। ये सभी प्रतिमायें लगभग छटी शताब्दी की है। कंबु-ग्रीवा शैली यहाँ अधिक लोकप्रिय दिखाई दे रही है।

सातवीं शताब्दी से दशमी शताब्दी के बीच पश्चिम भारत की मूर्तिकला में कुछ विकास हुआ। ओसिया के महावीर मन्दिर की पाषाण प्रतिमायें सामान्यतः आकोट में उपलब्ध प्रतिमाओं के समान हैं पर इनमें कुछ विकसित शैली के दर्शन होते हैं। साहित्य में अनहिलपाटन आदि में प्रतिष्ठापित मूर्तियों के भी अनेक उल्लेख मिलते हैं।

ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच पश्चिम भारत में मूर्तिकला आदि का सर्वाधिक विकास हुआ है। चालुक्यों ने उसे संरक्षण दिया। लगभग सातवीं शताब्दी में तीर्थंकर प्रतिमा के पादपीठ पर या उसके समीप कुबेर और अंबिका के रूप में यक्ष-यक्षिणी का अंकन होता था पर दसवीं शताब्दी में हर तीर्थंकर के शासन देवी देवता निश्चित किये जा चुके। दिग्पाल की आकृतियाँ भी उकेरी जाने लगीं। सप्त मातृकायें भी उट्टंकित होती दिखती हैं। विद्यादेवियाँ और देवकुलिकायें भी माऊन्ट आबू के विमल वसही आदि मंदिरों में अंकित मिलती है। इतना ही नहीं. भित्तियों पर तीर्थंकरों के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं को भी उकेरा जाने लगा। इस समय संगमरमर का प्रयोग अधिक किया गया। यहाँ अलंकरण की सूक्ष्मता दर्शनीय है। कुंभारिका के महावीर मन्दिर की मूर्तिकला भी उत्तम कोटि की है। इस समय की कांस्य मूर्तिओं से उस काल की ढलाई कला का भी परिज्ञान होता है। लंदन के विक्टोरिया एन्ड अल्बर्ट म्यूजियम में सुरक्षित शांतिनाथ की कांस्य मूर्ति इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

पश्चिम भारत में चौदहवीं शताब्दी से मुसलिम आक्रमण अधिक हुये और फलतः कला का विकास अधिक नहीं हो पाया। फिर भी मेवाड़ के राणा

शासकों ने जैन मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण सहृदयता पूर्वक कराया। ठक्कर फेरु (१३१५ ई.) के वास्तुसार से पता चलता है कि इस समय नागर-शैली को पश्चिम भारतीय रूप में रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया गया। चित्तोड़, रणकपुर, पालीताना, गिरनार आदि स्थानों में उपलब्ध मूर्तियाँ इसके उदाहरण हैं। सुघड़ता और अलंकारिता इस काल की मूर्तिशैली अन्यतम विशेषतायें हैं। कुछ मूर्तियाँ ऐसी भी मिलती हैं जो भौंडी आकृति की हैं। कहा जाता है कि शाह जीवराज पापडीवाल ने सं. १५४८ (१४९० ई.) में लगभग एक लाख मूर्तियाँ बनवाकर सारे भारतवर्ष में वितरित करायी थीं।[1]

मध्यभारत :

मध्यभारत में गुप्तोत्तरकालीन मूर्तियों में कुण्डलपुर (जिला दमोह) की पार्श्वनाथ प्रतिमा, पिथोरा (सतना) के पतियानी देवी के मन्दिर की कुछ जैन मूर्तियाँ, तेवर (त्रिपुरी) की धर्मनाथ की मूर्ति, ग्वालियर किले की अंबिका तथा आदिनाथ की मूर्तियाँ, ग्यारसपुर (विदिशा) की यक्ष-यक्षियों तथा तीर्थंकरों की मूर्तियाँ, और देवगढ़ की शान्तिनाथ की मूर्तियाँ विशेष दृष्टव्य हैं। पश्चिमी भारत में बलभी नगरी इस काल में भी जैन कला केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित बनी रही। यहाँ की मूर्तियाँ अकोटा की मूर्तियों से मिलती-जुलती हैं। बडवानी (बावनगजा) की १३–१४ वीं शती की ८४ फीट की खडगासन प्रतिमा भी उल्लेखनीय है।

यहाँ खजुराहो की चंदेलकालीन कला प्रसिद्ध है। यहाँ की जैन मूर्तियों में कुछ आराध्य मूर्तियाँ है जो कोरकर बनायी गयी हैं और रीतिबद्ध हैं, कुछ शासन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हैं जो मानवके समान अलंकृत हैं पर कौस्तुभ मणि या श्रीवत्स तथा लंबी माला से पृथक्ता लिये हुये हैं। कुछ अप्सराओं और सुर-सुन्दरियों की तारुण्य लिये मूर्तियाँ हैं जो अधिक अलंकृत और लुभावने हावभाव से युक्त हैं और कुछ पशु-पक्षियों की प्रतीकात्मक मूर्तियाँ हैं जो कुछ अधिक वैशिष्टय लिये हुये हैं। यहाँ की मूर्तिकला में "पूर्व की संवेदनशीलता तथा पश्चिम की अधीरतापूर्ण किन्तु मृदुलता हीन कला का सुखद संयोजन हैं।"

१. विशेष देखिये– पश्चिम व मध्यभारत डॉ. यू. पी. शाह, कृष्णदेव, अशोक कुमार भट्टाचार्य; जैन जर्नल, अप्रेल, १९६९.

मध्यभारत में इस काल में मूर्तियां परम्परा के अनुसार बृहत् परिमाण में बनी। सिद्धक्षेत्र और अतिशय क्षेत्रों को संवारा गया। सोनागिरि, द्रोणगिरि, रेशन्दीगिरि, ग्वालियर अहार, पपोरा, देवगढ, बरहटा आदि स्थानों पर मन्दिरों का निर्माण इसी अवधि में हुआ। इनमें नागर अथवा शिखर शैली का प्रयोग हुआ है। मूर्तियों का आकार विशाल बना। सौन्दर्य और भावाभिव्यक्ति में यद्यपि कमी नहीं आयी फिर भी परिमाण का आधिक्य होने से समरसता का पालन नहीं किया जा सका। ग्रेनाइट और बलुए पाषाण का प्रयोग किया गया। चंदेरी, उज्जैन, भानुपुरा (मन्दसौर), धार, बडवानी, झाबुआ, थूबन, कुण्डलपुर, बीना–आरहा, टीकमगढ, अजयगढ आदि उल्लेखनीय स्थान हैं।

दक्षिण भारत :

दक्षिणा पथ में सप्तम शताब्दी से दशम शताब्दी के बीच मूर्तियों की कलात्मक शैली में अधिक विकास हुआ है। बादामी पहाड़ी, मेगुटी पहाडी (ऐहोल), ऐलोरा, श्रवणवेलगोल आदि स्थानों पर उपलब्ध आदिनाथ, पार्श्वनाथ, शान्तिनाथ आदि की मूर्तियां विशेष आकर्षक है और यहां मूर्तिकलाके विकास में नये चरण संस्थापित होते हुए दिखाई देते है। तिरक्कोल, तिरुमलै, वल्लिमलै, चिट्टामूर, उत्तमवलैयम, कुलुगुमलै, चितराल, पालघाट, गोमट्टगिरि आदि ऐसे ही कलात्मक स्थान है। इनमें श्रवणवेलगोल की बाहुबली की मूर्ति विशेष दृष्टव्य है। इसे १४० मीटर ऊंची चोटी वाली ग्रेनाइट की चट्टान को काटकर बनाया गया है। अर्धनिमीलित ध्यानमग्न नेत्र, सौम्य स्मित ओष्ठ, संवेदनशील नासिका, और घुंगराले केश विशेष आकर्षक है। सभी अंगों का अंकन समन्वित और सन्तुलित ढंग से हुआ है। पालिश अभी भी नया-सा चमक रहा है। कार्कल, वेणूर और गोमट्टगिरि में भी बाहुबली की मूर्तियाँ है पर इतनी सुन्दर और विशालकाय नहीं। गोमटेश्वर की मूर्ति को राचमल्ल (९७४–९८४ ई.) के मंत्री चामुण्डराय ने ९८३ ई. में बनवाया। इस समय की मूर्ति शैलियों में पाण्डय, पल्लव और गंगा शैलियों का उपयोग किया गया है। ये मूर्तियां कहीं शैलाश्रित है और कहीं निर्मित हैं। केरल में जैनधर्म नवीं शती में चेरवंश काल में पहुँचा। तलक्कवु (कन्नानोर), चितराल तिरुच्चारणत्तुमलै, कल्लिल, पालघाट आदि स्थानों पर जैन मूर्तियां बड़े परिमाण में उपलब्ध होती हैं। सभी का अंकन अलंकृत और आकर्षक है।

चालुक्य कालीन मूर्तिकला में अम्बिका और कुबेर का अंकन तीर्थंकरों के परिकर रूप में अधिक लोकप्रिय हुआ। साथ ही अन्य देवी देवताओं का भी

अंकन अलंकृत रूप में होने लगा। इस काल की अम्बिका की प्रतिमाओं को चतुर्भुजी बना दिया गया। चौखटों, भ्रमतियों और कोष्ठों का अलंकरण इन्हीं प्रतिमाओं से होने लगा। विमल वसही का मन्दिर इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। ब्राह्मण्य आख्यानों का भी उपयोग होने लगा। इन सभी आकारों में अंकन सूक्ष्म और मनोहारी हुआ है।

उत्तरकालीन चालुक्य, विजयनगर, होयसल और यादव राजवंश में जैनधर्म को अधिक प्रश्रय नहीं मिल सका। वैष्णव धर्म से उसे जूझना पड़ा। फिर भी जैनकला का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ। यहाँ के गर्भालयों की भित्तियों पर लोककला का शिल्पांकन हुआ जिनमें चेहरों पर रूक्षता तथा शिर पर आकुञ्चित केश और आंख भी उभरी हुई पुतलियां अंकित हैं। कांस्य प्रतिमाओं के निर्माण से अलंकरण का और अधिक विकास हुआ। इस समय की मूर्तियाँ विशाल और पालिशयुक्त हैं, सूक्ष्मांकन से हीन हैं, तथा वैराग्य की अभिव्यक्ति से परिपूर्ण हैं, परिकर के रूप में शिलाफलक पर सिंहललाट सहित मकर तोरण है तथा कंधों आदि अंगोंका आकार यथोचित है। होयसलों और पश्चिमी चालुक्यों की मूर्ति शैली में शरीर को संपुष्ट और मांसल दिखाया गया है।

तमिलनाडु की मूर्तिकला में ग्रेनाइट पाषाण का प्रयोग हुआ है। यहाँ की शैलीगत विशेषतायें यों देखी जा सकती हैं—त्रिच्छत्र और लताओं का संयोजन, मष्तिस्क और शरीर की चतुष्कोणीय आकृति, मकर-तोरण या चमरधारियों के अंकन में कमी तथा हाथ पैर निर्बल और मस्तक छोटा। शक्करमल्लूर, हम्पी आदि स्थानों पर यह कला देखी जा सकती है। परन्तु दक्षिण विजयनगर और नायक वंशों के राजकाल में मूर्तिकला अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत और समन्वित रही है।

दक्षिणापथ में जैनधर्म चौदहवीं शताब्दी से वर्तमान काल तक भी अधिक जागरित रहा। अनेक शासक और सामन्त जैनधर्मावलम्बी थे। कार्कल, वेणूर, गोमट्टगिरि आदि स्थानों पर विशालाकार गोमट्ट स्वामी की मनोहारी मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। मालखेड, सेडम, मूडवद्री, हम्पी, हुम्मच आदि स्थान भी महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ की मूर्तियों में अनेक शैलियों का संमिश्रण दिखायी देता है। काकतीय शैली का भी प्रयोग हुआ है। मूर्तियाँ सुन्दर, आकर्षक और भावाभिव्यक्ति पूर्ण हैं।[1]

---

१. विशेष देखिये— डॉ. र. चम्पकलक्ष्मी, के. आ. श्रीनिवासन, के. पी. सौन्दरराजन आदि।

मूर्ति और स्थापत्य कला के सिद्धान्त :

मूर्तिकला का संक्षिप्त सवक्षण करने पर हम प्राय: यह पाते हैं कि जैन-मूर्तियाँ केवल दो आसनों में बनायी जाती हैं—खड्गासन (कायोत्सर्ग) और पद्मासन। खड्गासन में हाथ लम्बायमान रहते हैं और पद्मासन में बायें हाथ की हथेली दायें हाथ की हथेली पर न्यस्त रहती है। ये प्रतिमायें दिगम्बर, श्रीवत्सयुक्त, नखकेशविहीन, परम शान्त, वृद्धत्व और बाल्य रहित, तथा तरुण एवं वैराग्य भावों से ओतप्रोत रहती हैं। उनमें ध्यानावस्था और नासाग्रदृष्टि का होना भी आवश्यक माना गया है। ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली की मूर्तियाँ कायोत्सर्ग अवस्था में ही मिलती हैं। उनका परिमाण भी बहुत अधिक है।

तीर्थंकर मूर्तियाँ :

साधारणत: पञ्चपरमेष्ठियों में अर्हंत् और सिद्ध की प्रतिमायें अधिक मिलती हैं। अर्हंत् प्रतिमाओं में अष्टप्रातिहार्य, दायीं ओर यक्ष और बायीं ओर यक्षिणी, पादपीठ के नीचे लाञ्छन, छत्रत्रय, अशोक वृक्ष, देवदुन्दुभि, सिंहासन और धर्मचक्र आदि का अंकन होता है। सिद्ध-प्रतिमाओं में अष्टप्रातिहार्य नहीं होते। कुछ प्रतिमाओं में विशेष चिन्ह भी होते हैं। जैसे आदिनाथ की प्रतिमा जटाशेखर युक्त होती है तथा सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर पञ्चफणी छत्र और पार्श्वनाथ के मस्तक पर सप्तफणी छत्र होता है। अर्धोन्मीलित नेत्र, लम्बकर्ण श्रीवत्स, धर्मचक्र आदि विशेषतायें भी जैन मुतियों में दिखायी देती हैं। जिन प्रतिमाओं के अंग हीन, वक्र अथवा अधिक हों, वे पूज्य नहीं होतीं। भग्न प्रतिमाओं को भी अपूज्य माना गया है।

अर्हंत् प्रतिमाओं में जिन अष्ट प्रतिहार्यों को उकेरा जाता है वे हैं—सिंहासन, दिव्यध्वनि, चामरेन्द्र, भामण्डल, अशोकवृक्ष, छत्रत्रय, दुंदुभि और पुष्पवृष्टि। तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म तप, ज्ञान और निर्वाण इन पाँच घटनाओं को पञ्चकल्याणकों के रूप में अंकन किया जाता है। प्रतिमाओंका अंकन कालान्तर में निर्धारित वर्ण परम्परा के अनुसार भी होने लगा। अभिधान चिन्तामणि में पद्मप्रभ और वासुपूज्य को रक्तवर्ण का, चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त को शुक्लवर्ण का, मुनिसुव्रत और नेमिनाथ को कृष्णवर्ण का, मल्लि और पार्श्वनाथ को नीलवर्ण का तथा शेष तीर्थंकरों को स्वर्ण के समान पीत वर्ण का बताया गया है।[1] चन्देरी की चौबीस जिन प्रतिमायें उनके वर्णों के अनुसार निर्मित हुई हैं।

१. अभिधान चिन्तामणि, १.४९.

स्वप्न :

तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के साथ ही उनकी माताओं द्वारा देखे गये सोलह अथवा चौदह स्वप्नों को भी अंकित किया जाता रहा है।

सोलह स्वप्न दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य हैं और चौदह स्वप्नों को श्वेताम्बर परम्परा स्वीकार करती है। ये दोनों परम्परायें इस प्रकार हैं।

दिगम्बर परम्परा	श्वेताम्बर परम्परा
१. ऐरावत गज	१. ऐरावत गज
२. वृषभ	२. वृषभ
३. सिंह	३. सिंह
४. गजलक्ष्मी	४. गजलक्ष्मी
५. माल्यद्विक	५. पुष्पमाला
६. चन्द्र	६. चन्द्र
७. सूर्य	७. सूर्य
८. पूर्ण कुम्भयुग्म	८. कलश
९. मीनयुगल	९. मीनयुगल
१०. सागर	१०. पद्मसरोवर
११. सिंहासन	११. विमान
१२. देव विमान	१२. रत्नपुञ्ज
१३. नाग विमान	१३. क्षीरसागर
१४. रत्नराशि	१४. अग्निपुञ्ज
१५. कमल	
१६. निर्धूम अग्नि	

मूर्तिचिन्ह, चैत्यवृक्षादि :

प्राचीन काल में साधारणतः जिन-प्रतिमाओं पर कोई चिन्ह नहीं होते थे। परन्तु गुप्तकाल तक आते-आते चिन्हों की निर्धारणा हो गई जिससे प्रतिमाओं को सरलता पूर्वक पहचाना जा सके। इतना ही नहीं, बल्कि जिनवृक्षों के नीचे

बैठकर उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया, उनका भी उल्लेख हुआ है[1]। प्रत्येक तीर्थंकर के अनुचर के रूप में यक्ष और यक्षिणियों का भी निश्चय हुआ। उनके नाम इस प्रकार हैं[1]—

	तीर्थंकर	चिन्ह[2]	चैत्यवृक्ष[3]	यक्ष[4]	यक्षिणी[5]
१.	ऋषभनाथ	बैल	न्यग्रोध	गोवदन	चक्रेश्वरी
२.	अजितनाथ	गज	सप्तपर्ण	महायक्ष	रोहिणी
३.	संभवनाथ	अश्व	शाल	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति
४.	अभिनंदन-नाथ	बंदर	सरल	यक्षेश्वर	वज्रश्रृंखला
५.	सुमतिनाथ	चकवा	प्रियंगु	तुम्बुरव	वज्रांकुशा
६.	पद्मप्रभ	कमल	प्रियंगु	मतंग	अप्रतिचक्रेश्वरी
७.	सुपार्श्वनाथ	नंद्यावर्त	शिरीष	विजय	पुरुषदत्ता
८.	चन्द्रप्रभ	अर्धचन्द्र	नागवृक्ष	अजित	मनोवेगा
९.	पुष्पदन्त	मकर	अक्ष (बहेड़ा)	ब्रह्म	काली
१०.	शीतलनाथ	स्वस्तिक (श्वे. श्रीवत्स)	धूलि (मालिवृक्ष)	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी
११.	श्रेयांसनाथ	गेंडा	पलाश	कुमार	महाकाली

---

१. प्रतिष्ठातिलक, पृ. ३५३.; कल्पसूत्र

२. तिलोयपण्णत्ति, ४. ६०४-६०५. कुछ मतभेद भी हैं।

३. वही ४.९१६-९१८

४. वही, ४. ९३४-९४०. प्रतिष्ठासार संग्रह, अभिधान चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में कुछ मतभेद है। विशेषतः मातंग (६) के स्थान पर पुष्प व सुमुख, विजय (७) के स्थान पर मातंग, अजित के स्थान पर श्याम या विजय, पाताल (१३) के स्थान पर चतुर्मुख, किन्नर (१४), कुबेर (१८), वरुण (१९), भ्रकुटि (२०), गोमेध (२१), पार्श्व (२२), मातंग (२३)और गुह्यक (२४) के स्थान पर क्रमशः पाताल, यक्षेन्द्र, कुबेर, वरुण, भृकुटि, गोमेध, पार्श्व, और मातंग का उल्लेख मिलता है।

५. वही, ४. ९३४-९४९. अभिधान चिन्तामणि में २४ यक्षिणियों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—चक्रेश्वरी, अजितबला, दुरितारि, कालिका, महाकाली, श्यामा, शान्ता, भृकुटि, सुतारका, अशोका, मानवी, चण्डा, विदिता, अंकुशा, कन्दर्पा, निर्वाणी, बला, धारिणी, धरणप्रिया, नरदत्त, गांधारी, अम्बिका, पद्मावती, और सिद्धायिका। इनके आयुध आदि के विषय में देखिये, जैन प्रतिमा विज्ञान; सातवां अध्याय.

१२.	वासुपूज्य	भैंसा	तेंदू	षण्मुख	गौरी
१३.	विमलनाथ	शूकर	पाटल	पाताल	गांधारी
१४.	अनंतनाथ	सेही (या बाज)	पीपल	किन्नर	वैरोटी
१५.	धर्मनाथ	वज्र	दधिपर्ण	किंपुरुष	सोलसा
१६.	शान्तिनाथ	हरिण	नन्दी	गरुड	अनंतमती
१७.	कुंथुनाथ	छाग	तिलक	गंधर्व	मानसी
१८.	अरहनाथ	मत्स्य (श्वे. नन्द्यावर्त)	आम्र	कुबेर	महामानसी
१९.	मल्लिनाथ	कलश	अशोक	वरुण	जया
२०.	मुनिसुव्रत-नाथ	कूर्म	चम्पक	भृकुटि	विजया
२१.	नमिनाथ	उत्पल	बकुल	गोमेध	अपराजिता
२२.	नेमिनाथ	शंख	मेषशृंग	पार्श्व	बहुरूपिणी
२३.	पार्श्वनाथ	सर्प	धव	मातंग	कुष्माडी
२४.	महावीर	सिंह	शाल	गुह्यक	पद्मा सिद्धायिनी

शासन देवी-देवता :

इनमें यक्ष और यक्षिणियों को शासन देवताओं और देवियों के रूप में स्वीकार किया गया। प्रारम्भ में प्रतिमा विधान में इनका कोई अस्तित्व नहीं था। मध्ययुग में तान्त्रिकता बढ़ी और जैनधर्म उससे अप्रभावित नहीं रहा। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इन शासन देवी-देवताओं की कल्पना तीर्थंकरों के रक्षक और सेवक के रूप में की गई। उनकी उपासना का कोई विधान नहीं था। उनकी संख्या में क्रमशः वृद्धि होती रही और लगभग नवीं शती में यह संख्या स्थिर हो सकी। यक्षिणियों में अम्बिका का प्राचीनतम उल्लेख आगमों में मिलता है। अतः ऐसा लगता है कि यक्ष-यक्षिणियों की स्थापना के पूर्व अम्बिका का अंकन होने लगा था। लगभग ५ वीं शती की अम्बिका की प्रतिमायें मिलती भी हैं। अम्बिका के साथ कुबेर की प्रतिमायें उपलब्ध होती हैं। जैसा हम जानते हैं, अम्बिका को नेमिनाथ की शासन देवी माना गया है। इन शासन देवियों के नामों में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में कुछ मतभेद हैं।

सरस्वती देवी :

जैसा हम देख चुके है, जैन कला में सरस्वती देवी की भी मूर्ति बहुत लोकप्रिय रही है। मथुरा के जैन शिल्प में प्राप्त सरस्वती की मूर्ति प्राचीनतम कही जा सकती है। उसे आचार दिनकर में श्वेतवर्णा, श्वेतवस्त्रधारिणी, हंस-वाहना, श्वेतसिंहासनासीना, भामण्डलालंकृता और चतुर्भुजा बताया गया है।[1] उसकी चार भुजाओं में से बायीं भुजाओं में श्वेतकमल और वीणा तथा दायीं भुजाओं में पुस्तक और अक्षयमाला रहती है। कहीं-कहीं एक हाथ अभयमुद्रा में और दूसरा हाथ ज्ञान मुद्रा में रहता है। शेष दो हाथों में अक्षमाला और पुस्तक रहती है। जैन ग्रन्थों में सोलह विद्या देवियों का भी उल्लेख मिलता है जिन्हें प्रायः शासन यक्षियों के रूप में पूजा जाता है।[2]

अष्ट मातृकायें और दिक्पाल :

जैन शिल्प में अष्ट मातृकाओं का उल्लेख मिलता है—इन्द्राणी, वैष्णवी कौमारी, वाराही, ब्रह्माणी, महालक्ष्मी, चामुण्डी, और भवानी। इनमें प्रथम चार की स्थापना पूर्वादि दिशाओं में और शेष चार की स्थापना आग्नेयादि दिशाओं में की जाती है।

इसी तरह दस दिक्पाल और उनकी पत्नयों का भी वर्णन मिलता है। इन्द्र, अग्नि, छाया, नैऋत्य, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, सोम और धरणेंद्र ये दस दिक्पाल हे और शची, स्वाहा, छाया निर्ऋति, वरुणानी, वायुवेगी, धनदेवी, पार्वती, रोहिणी और पद्मावती ये क्रमशः दस दिग्पालों की पत्नियां हैं। तीर्थंकरों की माताओं की सेवा करने वाली छ दिक्कुमारियों का भी उल्लेख आता है—श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी। त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र में इनकी संख्या छप्पन कर दी गयी।

क्षेत्रपाल :

जैन तीर्थक्षेत्रों की रक्षा करने की दृष्टि से क्षेत्रपालों की भी कल्पना की गई है। उनकी संख्या निश्चित नहीं पर कुंकुम, तैल, सिन्दूर आदि से उनकी

---

१. आचार दिनकर, उदय ३३, पृ. १५५

२. सोलह विद्या देवियाँ इस प्रकार मानी गई हैं– रोहणी, प्रज्ञप्ति, वज्र, श्रृंखला वज्रांकुशा, जाम्बूनदी, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गांधारी, ज्वाला मालिनी, मानवी, वैरोटी, अच्युता, मानसी, और महामीनसी। श्वेताम्बर परम्परा में जाम्बूनदी के स्थान पर चक्रेश्वरी का नामोल्लेख मिलता है। चतुर्विंशति देवी-देवताओं के विषय में भी कुछ मतभेद हैं। विशेष विवरण के लिए देखिये, जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ. १२५.

कहीं-कहीं पूजा का विधान अवश्य है।[१] वीभत्सरूप और हाथों में विभिन्न आयुध लिये क्षेत्रपालों की स्थापना की जाती है। यह जैन कला का उत्तरकालीन रूप है। पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि देवी-देवताओं की पूजा का आचार्योंने बहुत विरोध किया है। उसकी मूल संस्कृति से यह विधान मेल भी नहीं खाता।[२]

नवग्रह और नैगमेश :

जैनकला में ग्रहों की स्थिति को भी स्वीकार किया गया है। पहले उनकी संख्या आठ थी बाद में नव कर दी गई। ये नवग्रह हैं— सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, और केतु। इनके क्रमशः दस वाहन ये हैं— सप्ताश्व, रथ, अश्व, भूमि, कलहंस, हंस, अश्व, कमठ, सिह और पन्नग।[३]

यहाँ नैगमेश की मूर्ति का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। उसकी मुखाकृति बकरे के समान है, कंधों पर बालक बैठे हुए हैं, बायें हाथ से भी दो शिशुओं को धारण किये हुए है और कहीं-कही दायां हाथ अभय मुद्रा में है। नैगमेश की ये विभिन्न मुर्तियाँ मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुई हैं और कुषाणकालीन हैं। उत्तरकाल में भी उनका निर्माण होता रहा है।

अष्टमंगल :

अष्ट मंगलों की भी पूजा हुआ करती थी। वे ये हैं— भृंगार (घट प्रकार), कलश, दर्पण, चामर, ध्वज, व्यंजन (पंखा), छत्र, और सुप्रतिष्ठ (भद्रासन)। जिन विम्ब के सिंहासन पर गज, सिह, कीचक, चमरधारी और अञ्जलिधारी पार्श्ववर्ती प्रतिकृतियाँ, शिरोभाग पर छत्रत्रय, छत्रत्रय के दोनों ओर सूंड में स्वर्णकलश लिये श्वेतगज, उनके ऊपर झांझ बजानेवाले पुरुष, उनके ऊपर मालाधारी और शिखर पर शंख फूकनेवाला पुरुष और उसके ऊपर कलश का अंकन होता है।[४] जिन प्रतिमा के साथ सिहासन, दिव्यध्वनि, चामरेन्द्र, भामण्डल, अशोकवृक्ष, छत्रत्रय, दुंदुभि और पुष्पवृष्टि इन आठ प्रातिहार्यों को भी उत्कीर्ण किया जाता है।[५] कहीं-कहीं बीच में धर्मचक्र और पार्श्व में यक्ष-यक्षिणी तथा आसपास देव, गज, सिह आदि को भी उकेरा जाता है। तीर्थंकरों के

---

१. आचार दिनकर, उदय ३३, पृ. २१०
२. उपासकाध्ययन, ६९७–७००
३. आचार दिनकर, पृ. १८१
४. आचार दिनकर, उदय ३३
५. प्रतिष्ठासारसंग्रह, ५-७४-७५; अपराजितपृच्छा, ५७; रूपमण्डन, ६. ३३. ३९; प्रतिष्ठातिलक पृ. ५७९-५८१.

समवशरण, प्रतिहारदेव, देवताओं द्वारा पुष्पवृष्टि, प्रभामण्डल, चौदह अतिशय, विभिन्न देव-देवियाँ, द्वारपाल आदि का भी अंकन होता है।

धातुप्रतिमायें :

पत्थर के अतिरिक्त धातुओं की मूर्तियाँ भी बनने लगीं। प्रिन्स आफ वेल्स में संग्रहीत पार्श्वनाथ की धातु मूर्ति मौर्य कालीन मानी जाती है। चौसा से प्राप्त आदिनाथ की मूर्ति भी लगभग इसी प्रकार की है जो पटना संग्रहालय में सुरक्षित है। सवस्त्र जिन प्रतिमायें भी उपलब्ध हुई हैं। वसन्तगढ (सिरोही) से प्राप्त खड्गासन मूर्ति में धोती का अंकन स्पष्ट दिखता है। वलभी से भी इसी प्रकार की कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। रोहतक (पंजाब) में पाषाण की खड्गासन मूर्ति प्राप्त हुई है जिसपर धोती का प्रदर्शन है। जीवन्त स्वामी की प्रतिमायें तो सवस्त्र अवस्था में ही मिलती हैं। अकोटा (बडोदा) से इस प्रकार की दो धातु प्रतिमायें मिली हैं। इनका समय लगभग छठी शती है। गुप्तकालीन अलंकरण शैली का प्रभाव यहाँ स्पष्ट दिखाई देती है। उत्तरकाल में भी मेहसाना आदि स्थानों पर धातु की मूर्तियाँ मिलती हैं।[1] नागपुर म्युझियम में भी धातुकी कुछ सपरिकर जिन प्रतिमायें संग्रहीत है।

२. स्थापत्य कला

स्थापत्यकला अथवा वास्तुकला के अन्तर्गत स्तूप, गुफा, चैत्य व बिहार तथा मन्दिरों की निर्माण कला आती है। उसमें मानव सभ्यता का विकास छिपा हुआ है। जैन कला में भी प्रारम्भ से ही इसका उपयोग हुआ है। यहाँ हम क्रमशः संक्षेप में इनका वर्णन कर रहे हैं।

१. मथुरा स्तूप

मथुरा लगभग ई. पू. द्वितीय शताब्दी तक जैनधर्म का एक बड़ा केन्द्र बन गया था। वहाँ १८८८ और १८९१ ई. के बीच हार्डिज, कनिंघम, फ्युरर आदि विद्वानों ने ई. पू. द्वितीय शती से लेकर ग्यारहवीं शती तक की अनेक शिल्पाकृतियाँ कंकाली टीले से प्राप्त कीं। यह एक पुराना जैन मन्दिर था जिसने नष्ट होने के बाद टीले का रूप धारण कर लिया। उस पर एक और स्तंभ खड़ाकर जनता उसे कंकाली देवी के नाम से पूजने लगी। इस स्तूप का व्यास १४.३३ मीटर बताया जाता है। यह ढोलाकार शिखरवाला है और अण्डाकार है। इसका क्या रूप रहा होगा, यह आयागपट्टों के देखने से स्पष्ट हो जाता है। यहीं

१. शाह, यु. पी. स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. ९, १२.

प्राप्त मुनिसुव्रतनाथ की मूर्ति 'पर थूवे देवनिमिते' लिखा मिला है जो स्तूप की प्राचीनता को प्रमाणित करता है। कंकाली टीले से प्राप्त सामग्री लखनऊ और मथुरा संग्रहालयों में सुरक्षित है। आयागपट्टों के अतिरिक्त अनेक सरदल, स्तम्भ, वेदिकायें, तोरणद्वार, उष्णीष, प्रस्तर, टोडे, शालभंजिकायें, मंदिर और-बिहार मिले हैं। यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका कि यहाँ का बिहार अर्ध वृत्ताकार था अथवा अण्डाकार अथवा चतुर्भुजाकार। बिहार के निर्माण में ईंटों का प्रयोग हुआ है और स्तम्भों आदि के लिये पत्थर का। पत्थरों पर अनेक प्रकार का शिल्पांकन हुआ है। यह सब कुषाण कालीन है। अनेक शिला-लेख भी इस काल के मिले हुए हैं।

मथुरा के स्तूप से पूर्ववर्ती स्तूप अभी तक कोई नहीं मिला। वैशाली में मुनिसुव्रतनाथ के स्तूप होने की सूचना अवश्य मिलती है पर यह स्तूप अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

चतुर्थ से षष्ठ शताब्दी के बीच मथुरा में जैनधर्म को लोकाश्रय तो मिला पर राजाश्रय नहीं मिल सका। इसलिए मन्दिरों का आधिक्य नहीं है। आयाग-पट्ट, सरस्वती, शासनदेवी-देवताओं आदि की प्रतिमायें नहीं मिलतीं। मन्दिरों का निर्माण भी प्रायः नहीं हुआ। मूर्तियाँ अवश्य उपलब्ध हुई हैं।[1]

२. जैन गुफायें

प्रारम्भिक गुफायें :

साधारणतः गुफाओं का प्रयोग साधना के लिए किया जाता था। प्रारम्भ में उनका उपयोग प्राकृतिक अवस्था में होता था पर बाद में उन्हें संस्कारित किया जाने लगा। कला का उद्‌घाटन संस्कारित होने पर ही हो सका। अभी प्राचीनतम तीन गुफासमह गया बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों के पास प्राप्त हुआ है जिसकी पुरालिपि उसे ई. पू. तृतीय शती की सिद्ध करती है। ये गुफायें वैसे तो आजोविक सम्प्रदाय के लिए अशोक द्वारा भेंट की गई थीं पर आजीविक सम्प्रदायका सम्बन्ध दिगम्बर जैन सम्प्रदाय से अधिक रहा है। अतः उनका उल्लेख यहाँ किया जा सकता है।

वास्तविक रूप में प्राचीनतम जैन गुफाओं के रूप में हम उदयगिरि और खण्डगिरि गुफाओं का उल्लेख कर सकते हैं। महामेघवाहन के काल में इन

---

१. विशेष देखिये– मथुरा, श्रीमती देवला मित्रा व एन. पी. जोशी.

अधिष्ठानों की बहुत उन्नति हुई। कलिंग ने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में इन पहाड़ियों पर जैन गुफायें, स्तूप, बिहार और मंदिरों का निर्माण कराया। हाथी गुफा शिलालेख में यह सब विस्तार से उत्कीर्ण मिलता है। इन गुफाओं को बिहार के रूप में विकसित किया गया। इनमें कोठरियाँ और बरामदे हैं तथा कहीं-कहीं बरामदे के सामने समतल भूमि भी है। कोठरियों की छतें अधिक नीची हैं। ये गुफायें प्राय: दो मंजिलों की हैं। बिना स्तम्भ और बरामदे वाली गुफायें छोटी और अलंकृत हैं तथा स्तंभयुक्त बरामदेवाली गुफायें बड़ी और अलंकृत हैं। इनमें रानी गुफा का शिल्प अधिक मनोहारी है। शिल्पांकित तोरण और द्वारपाल भी अंकित हुए हैं।

जूनागढ (गिरिनार) में लगभग बीस शैलोत्कीर्ण गुफायें हैं जो बाबा-प्यारा-मठ की गुफायें कहलाती हैं। ये तीन पंक्तियों में बनी हैं। इनमें मंगल कलश, स्वस्तिक, श्रीवत्स, भद्रासन, मीनयुगल आदि चिन्ह मिलते हैं। इसका काल लगभग ई. पू. द्वितीय शती है। यह धरसेनाचार्य की चन्द्रगुफा हो सकती है।[1] क्षत्रप कालीन ये गुफायें कुछ विशेषतायें लिये हुए हैं।

राजगृह के समीप सोनभण्डार नाम का एक जैन गुफा समूह है जो प्रथम-द्वितीय शती का होना चाहिए। इसका विशेष सम्बन्ध दिगम्बर सम्प्रदाय से है। इसके कक्ष विशाल आयताकार हैं और द्वार स्तम्भ ढलुवाँ हैं। यहाँ प्राप्त लेख के अनुसार ये गुफायें वैरदेवमुनि ने जैन साधुओं के आवास की दृष्टि से बनवाईं। प्रयाग के पास पभोसा की गुफायें भी शुंगकालीन हैं जो वहाँ के लेख के अनुसार अर्हतों को भेंट की गई थीं।

दक्षिणापथ में प्रारम्भिक शताब्दियों मे तमिलनाडु में प्राकृतिक जैन गुफाओं की संख्या अधिक है। यहाँ तमिल भाषा के प्राचीनतम अभिलेख तथा प्रस्तर-स्मारक मिले हैं। गुफाओं के भीतर शिलाओं को काटकर शय्यायें बनायी गयीं और तकिये भी उठा दिये गये। ऊपर प्रस्तर-खण्ड को लटका दिया गया है ताकि वर्षा का पानी बाहर निकल सके। ये ई. पू. द्वितीय शती की गुफायें है। इसी प्रकार मदुरै जिले में आनैमलै, अरिट्टापट्टि, मांगुलम्, मुत्तुप्पट्टि (समणरमलै), तिरप्परंकुरम्, वरिच्चियुर, अजगरमलै, करुंगालक्कुडि, कीजवलवु, तिरुवादवूर और नीलक्कोट्टै, रामनाथपुरम् जिले में पिल्लैयर्पत्ति, तिरुनेल्वेलि जिले में मरुकल्तलै, तिरुच्चिरप्पल्लि जिले में तिरुच्चिरप्पल्लि, शितन्नवासल, नर्त्तमलै, तेनिमलै, पुगलूर, कोयम्बतूर जिले में अरच्चलूर उत्तर अर्काट जिले में ममन्दुर, सेदुरम्पत्तु, दक्षिण अर्काट में तिरुनाथरकुण्रु, सोल- वन्दिपुरम्

१. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. ३१०.

आदि स्थानों में जैन गुफायें हैं। जिनमें शय्याओं की भी व्यवस्था की गई है। आन्ध्र प्रदेश के चित्तूर जिले में कम्भिकपुर और नगरी नामक स्थान हैं जहाँ पंच-पाण्डव सहित कुछ जैन गुफायें हैं। सित्तन्नवासल नामक स्थान पर प्राप्त गुफा भी उल्लेखनीय है।

चतुर्थ शताब्दी से षष्ठ शताब्दी के बीच जैनधर्म के लिए मथुरा तथा पूर्व भारत में विशेष राजाश्रय नहीं मिल सका। इसका मूल कारण था बौद्धधर्म और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान होना। साथ ही जैन प्रतिष्ठानों पर जैनेतर धर्मावलम्बियों ने अधिकार कर लिया। उदाहरणतः सोनभण्डार (राजगिरि) पर वैष्णवों का स्वामित्व हो गया और पहाड़पुर पर स्थित जैन बिहार को धर्मपालने बौद्ध बिहार के रूप में परिणत कर दिया। इसके बावजूद कुछ निर्माण तो हुआ ही है।

विदिशा (मध्यप्रदेश) की उदयगिरि की जैन गुफायें भी उल्लेखनीय हैं। इनके आकार-प्रकार से तो लगता है कि ये, ई. पू. की होनी चाहिए पर यहाँ के शिलालेख से पता चलता है कि वह उत्तरकालीन है।

मध्यकालीन गुफायें :

मध्यकाल में उडीसा की खण्डगिरि की गुफाओं को गुफामन्दिरों का रूप दिया गया। यहाँ शैल भित्तियों पर जैन प्रतिमाओं का अंकन किया गया। शासन देवी-देवताओं का भी निर्माण हुआ। बारभुजी गुफा में यह प्रक्रिया अधिक हुई।

छठी शती से ग्यारहवीं शती के बीच दक्षिणापथ में स्थापत्य कला का पर्याप्त विकास हुआ है। वातापी, पल्लव, पाण्डव, चालुक्य, राष्ट्रकूट, गंग आदि राज्य जैनधर्म को प्रश्रय देने वाले थे। इनके राज्यकाल में गुफायें गुफा-मन्दिरों के रूप में परिणत हुईं अथवा बनायी गईं। इस काल की गुफाओं की विशेषता यह है कि उनके महा मंडप और गर्भगृह लगभग वर्गाकार होते हैं, मुखमण्डप या बरामदे आयताकार होते हैं, उनमें स्तम्भ लगे रहते हैं। मण्डपशैली के इन मन्दिरों में चट्टान पर बने मन्दिरों के कक्ष पर कक्ष बनते चले जाते हैं। बादामी पहाड़ी पर बना मन्दिर इसी प्रकार का बना है। उसका समय लगभग आठवीं शती का है। प्रवेशद्वार पांच चितकबरी शाखाओं के पक्षों से निर्मित है। इनमें अलंकारिता और अधिक उभरी हुई है।

ऐहोल के समीप मेंगुटी पहाड़ी में एक गुफा मन्दिर है जिसमें महावीर की मूर्ति विराजमान है। इसमें वर्गाकार संकीर्ण मण्डप है जिसकी पार्श्व भित्तियों

पर जैन मूर्तियाँ उट्टंकित हैं। वहीं एक द्वितल गुफा मन्दिर भी है जिसमें एक मण्डप और लम्बा कक्ष है। यहाँ इस प्रकार के अनेक और भी मंदिर हैं।

राष्ट्रकूट काल में एलोरा जैन कला केन्द्र बना। यहाँ की शैलोत्कीर्ण जैन गुफा मन्दिरों की काफी संख्या है। उनमें इन्द्रसभा और जगन्नाथ सभा विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्द्रसभा में अनेक मन्दिर हैं। इसमें मानस्तम्भ, शासन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ, गर्भगृह, महामण्डप, तथा चित्रांकित स्तम्भ हैं। जगन्नाथ सभा उतनी व्यवस्थित नहीं। पर यहाँ भी गर्भगृह, मण्डप मूर्तियां आदि अलंकृत शैली में निर्मित हैं।

तेरापुर (धाराशिव) की गुफा भी उल्लेखनीय है। कनकामर ने अपने करकण्डुचरिउ (११ वीं शती) में इस गुफा का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है जिससे पता चलता है कि यह गुफा उस समय विशाल आकार की थी। करकंडु ने स्वयं यहाँ कुछ गुफाओं का निर्माण कराया था और पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी।

मनमाड रेलवे जंकसन से लगभग १५ किलो मीटर दूर अंकाई नामक स्टेशन के पास अंकाई-तंकाई नामक गुफा समूह है जो तीन हजार फुट ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। इसमें सात गुफायें हैं जिनमें बरामदे, मंडप, एवं गर्भगृह हैं। पार्श्वों में सिंह, द्वारपाल, विद्याधर, गजलक्ष्मी आदि की अनुकृतियाँ हैं। इनका समय लगभग ग्यारहवीं शताब्दी माना जा सकता है।

गुफा निर्माण कला धीरे धीरे समाप्त होती गई। प्रारम्भ में प्राकृतिक गुफायें होती थीं जिनका उपयोग साधना के लिए किया जाता था। उत्तरकाल में प्राकृतिक गुफाओं को गुफा मन्दिरों के रूप में परिणत किया जाने लगा। अधिकांश गुफायें गुफा मन्दिर बन गईं। ऐसे अन्तिम गुफा मन्दिर ग्वालियर के किले में देखने मिलते हैं। इनका निर्माण १५ वीं शती में हुआ। इनमें विशाल मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। कुछ तो ६० फीट तक की मूर्तियाँ हैं। शिल्प सौष्ठव यहाँ अवश्य नहीं है। यहाँ अनेक गुफा समूह हैं। समूची पहाड़ी गुफाओं और मन्दिरों से आकीर्ण है। सन् १९९३ का बना हुआ एक सास-बहु का जैन मन्दिर भी ग्वालियर किले में दृष्टव्य है। इन गुफाओं और मन्दिरों में यद्यपि शिल्प वैशिष्ट्य नहीं पर मूर्तियों की विशालता और सघनता देखते ही बनती है। प्रथम गुफा समूह में लगभग २५ विशाल मूर्तियाँ हैं। द्वितीय गुफा समूह में एक मूर्ति ६० फीट की स्थित है। इन गुफाओं में शिलालेख भी उत्कीर्ण हैं।

इन गुफाओं के अतिरिक्त और भी अनेक जैन गुफायें हैं जो शिल्पादि की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उन सभी का यथाक्रम अध्ययन अपेक्षित है।

३. जैन मन्दिर

शैली प्रकार :

वास्तुकला की चरम परिणति मन्दिरों के निर्माण में होती है। इस क्षेत्र में तीन शैलियों का उपयोग किया गया है– नागर, वेसर और द्राविड़। नागरशैली में गर्भगृह चतुष्कोणी रहते हैं और उनके ऊपर झुकी हुई रेखाओं से संयुक्त छत्ते के समान शिखर रहता है। इनका प्रचलन दक्षिण में तो कम रहा पर पंजाब, हिमालय, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बंगाल आदि प्रदेशों में अधिक हुआ। इसमें शिखर गोलाकार होता है और शिखर के ऊपर कलश लगा हुआ रहता है। वेसर शैली में शिखर की आकृति वर्तुलाकार होती है और वह ऊपर उठकर चपटी रह जाती है। मध्यभारत में इसका प्रयोग अधिक हुआ। द्राविड शैली में मन्दिर स्तम्भ की आकृति ग्रहण करता है और ऊपर सिकुड़ता जाता है। अन्तमें वह स्तूपिका का आकार ग्रहण कर लेता है। दक्षिण में इसका प्रयोग अधिक हुआ है।

डॉ. हीरालालजी ने प्राचीनतम बौद्ध, हिन्दू और जैन मन्दिरों की पांच शैलियों का उल्लेख किया है[1]—

१. समतल छत वाले चौकोर मन्दिर जिनके सम्मुख एक द्वारमंडप रहता है। जैसे सांची, तिगवा और एरण के मन्दिर हैं।

२. द्वार मंडप और समतल छतवाले वे चौकोर मन्दिर जिनके गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा भी बनी रहती है। ये मन्दिर कभी कभी दुतल्ले भी बनते थे। जैसे नाचना-कुठारा का पार्वती मंदिर तथा भूमरा (म. प्र.) का शिवमन्दिर (५–६ वीं शती)।

३. चौकोर मंदिर जिनके उपर छोटा या चपटा शिखर भी बना रहता है। जैसे—देवगढ़ का दशावतार मंदिर तथा बोधिगया का महाबोधि मंदिर।

४. वे लम्बे चतुष्कोण मंदिर जिनका पिछला भाग अर्धवृत्ताकार रहता है व छत कोठी (वैरल) के आकार का बनता था। जैसे— बौद्धों की चैत्यशालायें, और उस्मानाबाद जिले के तेर मंदिर। नागर और द्राविड़ शैलियां इसी प्रकार के अन्तर्गत आती हैं।

---

१. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ. ३१८.

५. वृत्ताकार मंदिर जिनकी पीठिका चौकोर होती है। जैसे राजगृह का मणियार मठ या सोनभण्डार के मंदिर।

पूर्व भारत :

प्राचीनतम जैन मन्दिर के प्रमाण के रूप में लोहानीपुर (पटना) को प्रस्तुत किया जा सकता है जहाँ कुमराहर और बुलंदीबाग की मौर्यकालीन कलाकृतियों की परम्परा के प्रमाण मिले हैं। यहाँ ८–१० फुट वर्गाकार की नींव मिली है और अनेक जैन मूर्तियाँ आदि प्राप्त हुई हैं। दुर्भाग्य से यहाँ का उत्खनन आगे नहीं बढ सका।

इसके बाद के जैन मन्दिरों के अस्तित्व के प्रमाण साहित्य में तो मिलते हैं पर पुरातत्व में नहीं। लगभग सातवीं शताब्दी से वे पुनः मिलने लगते हैं। जोधपुर जिले में ओसिया नामक स्थान पर एक मन्दिरों का समूह मिला है जिसमें सप्तम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी के और कदाचित् उत्तरकाल के भी जैन मन्दिर सम्मिलित हैं।

घानेराव का महावीर मन्दिर सांधार प्रासाद के रूप में है जिसमें प्रदक्षिणा पथ युक्त एक गर्भगृह, एक गूढ मण्डप, एक त्रिकमण्डप तथा द्वार मण्डप (मुखचतुष्की) सम्मिलित है। मंन्दिर के चारों ओर देव-कुलिकाओं से युक्त एक रंग मण्डप भी बना हुआ है। यह समूचा मंदिर एक ऊंचे प्राकार के भीतर स्थित है। इसके गर्भगृह की रचना शैली सरल है। उसमें केवल दो अवयव हैं—भद्र और कर्ण। प्रदक्षिणा पथ के तीन ओर बनाये गये भद्रप्रक्षेपों (छज्जों) को गूढ मण्डपों की भित्तियों की भांति सुंदर झरोखों द्वारा सजाया गया है। जिनसे प्रकाश प्रस्फुटित होता है। इसके बहिर्भाग में दिग्पालों, गंधर्वों, अप्सराओं, विद्यादेवियों और यक्ष-यक्षिणियों का अंकन अलंकृत शैली में हुआ है। यह लगभग दसवीं शती का मन्दिर है।

ओसिया में आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक के मंदिर समूह हैं। मुख्य जैन मन्दिर महावीर मंदिर है जो प्रतीहार वत्सराज के शासन काल का है। इसमें प्रदक्षिणा पथ के साथ गर्भगृह, अंतराल, पार्श्वभित्तियों के साथ गूढ मण्डप, त्रिक मण्डप तथा सीढियाँ चढ़कर पहुँच जाने योग्य मुख चतुष्की (द्वार मण्डप) सम्मिलित है। यह भी मारु गुर्जर शैली की परवर्ती रचना है। गर्भगृह वर्गाकार में है। इसकी उठान में देवकुलिकायें (आले) तथा अलंकृत शैली में कुबेर, गजलक्ष्मी आदि देवी-देवताओं का अंकन है। वास्तुकला की दृष्टि से ये मन्दिर उल्लेखनीय हैं।

पूर्व भारत में सात देउलिया का मंदिर मूलतः जैन मन्दिर रहा है। वह ईटों से बना है जिसे उड़ीसा की रेखा शैली कहा जाता है। इसका गर्भगृह सीधा और लंबाकार है और उस पर वक्ररेखीय शिखर है। वांकुरा जिले के अम्बिकानगर का जैन मन्दिर भी अलंकृत शैली में निर्मित हुआ है। इसकी रूपरेखा त्रिरथशैली में है। इस काल में खण्डगिरी की गुफाओं को गुफा मन्दिरों का रूप दिया गया। वहाँ की शैलभित्तियों पर तीर्थंकरों और शासन देवी-देवताओं का प्रतिरूपण हुआ।

पश्चिम भारत :

पश्चिम भारत में प्राचीन कालीन कुछ मूर्तियाँ तो मिलती हैं पर मन्दिरों के कोई अवशेष नहीं मिलते। अकोटा, बलभी, वसंतगढ, भिनमाल आदि से प्राप्त मूर्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र में छठी से दशवीं शताब्दी के बीच जैन मन्दिरों का निर्माण अवश्य हुआ है, परन्तु उन्हें नष्ट कर दिया गया। साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि अनहिलवाड़ पाटन में वनराज चापोत्कर ने, चन्द्रावती में निन्नय ने और थराड़ में वटेश्वर सूरि ने जैन मन्दिरोंका निर्माण कराया। जिनसेन ने अपना हरिवंशपुराण सन् ७२३ में वर्धमान (बध्बन) स्थित पार्श्वनाथ मन्दिर (नन्नराजवसति) में रहकर किया। उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला ई. ७७९ में जालौर के आदिनाथ मन्दिर में पूरी की। हरिभद्र सूरि ने चित्तोड़ में अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया। और भी इसी प्रकार अनेक मन्दिरों को अलंकृत शैली में बनवाया गया है।

पश्चिम भारत में इस काल में चालुक्य शैली के मंदिर अधिक लोकप्रिय रहे। इनमें गर्भगृह, गूढमडप और मुखमंडप होते हैं जो एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इनकी साज-सज्जा अलंकृत वेदिकाओं से की गई है। उत्तरकालीन चालुक्य शैली में छह या नव चौकियोंवाला स्तम्भयुक्त मुखमंडप तथा देवकुलिकाओं का निर्माण हुआ। विवेच्यकाल में पश्चिमी भारत के आबू पर बने विमलवसही (१०३२ ई.) का आदिनाथ जैन मंदिर प्रसिद्ध है। संगमरमर के बने इस मन्दिर के गर्भगृह, गूढ मंडप और मुख मंडप मूल भाग हैं और शेष भाग बारहवीं शताब्दी में जोड़े गये हैं। इसी प्रकार के अन्य मन्दिर कुंभारिया में भी है। कुमारपालके ही समय उसके मन्त्री पृथ्वीपाल ने ११५० ई. में एक नृत्यमण्डप बनवाया। मण्डप को जोड़ने-वाली गलधारे की छतें स्थापत्य की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। कुमारपाल का अजितनाथ मन्दिर सांधार प्रकार का एक मेरू प्रासाद है।

राजनीतिक सत्ता सन् १२२० के आसपास चालुक्यों से बघेलों के हाथ आयी। बघेलों के मंत्री वस्तुपाल और तेजपाल ने गिरिनार, शत्रुंजय, पाटन, जूनागढ

आबू आदि स्थानों पर मंदिर बनवाये जो भारतीय कला की दृष्टि से अनुपम रत्न हैं। संगमरमर का बना उनका लूणवसही का मन्दिर प्रसिद्ध ही है।

चित्तोड़गढ का कीर्तिस्तम्भ मध्यकालीन जैन स्थापत्य का एक सुन्दर उदाहरण है। इसके काल-निर्धारण में मतभेद है। बारह से पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच विद्वान इसका निर्माण मानते हैं। समय-समय पर इसमें विकास भी हुआ है। गुंबद और शिखर इसी विकास का परिणाम कहा जाता है। किन्तु गर्भगृह, अंतराल और संयुक्त मण्डप का निचला भाग पुराना माना जाता है। चित्तोड़ के ही दो मंदिर और उल्लेखनीय हैं श्रृंगार चौरी और सात-बीसड्योढी। श्रृंगार चौरी १४४८ ई. का बना हुआ है। यह पंचरथ प्रकार का है जिसमें गर्भगृह, तथा उत्तर-पश्चिम दिशा से संलग्न चतुष्कियाँ है। ऊपर एक गुंबद है तथा भित्तियों पर अलंकृत शैली में शासन देवी-देवताओं की मूर्तियाँ खुदी हुई है।

जैसलमेर के दुर्ग में भी अनेक जैन मंदिर मिलते हैं, जिनका समय लगभग १५ वीं शताब्दी माना जा सकता है। इनमें गर्भगृह, मुखमण्डप, देवकुलिकायें आदि सभी अलंकृत शैली में निर्मित हुए है। यहाँ का पार्श्वनाथ का मंदिर अधिक प्राचीन है। बीकानेर के पार्श्वनाथ मंदिर में परंपरागत और मुगल दोनों शैलियो का उपयोग हुआ है। यहाँ चितामणिराव बीकाजी तथा नेमिनाथ के मंदिर भी उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार नागदां, जयपुर, कोटा, किशनगढ, मारोठ, सीकर, अयोध्या, वाराणसी, त्रिलोकपुर, आगरा, फीरोजपुर, आदि स्थानों पर भी मध्यकालीन जैन मन्दिरों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

पश्चिम भारत में जैन कला का पुनरुत्थान राणा लाखा तथा उसके उत्तराधिकारियों ने किया। राजा कुम्भी (सन् १४३८–६८) का उनमें विशेष योगदान रहा है। उन्होंने चित्तोड को कला केन्द्र बनाया और नागर-शैली का विकास किया। यह दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का केन्द्र रहा है। पश्चिम भारत की इस कला शैली में फर्ग्युसन के अनुसार मध्यशैली की अभिव्यक्ति हुई है जो नागर, सोलंकी और बघेल शैलियों का समन्वित रूप है। इसे चतुर्मुख मंदिर अथवा सर्वतोभद्र मंदिर का प्रकार कहा जा सकता है। मेवाड़ का रणकपुर मंदिर इस शैली का प्रमुख उदाहरण है। इसका निर्माण सन् १४३९ में हुआ। इसमें २९ बड़े कक्ष और चार सौ बीस स्तम्भ हैं। कुल मिलाकर ३७१६ वर्ग मीटर क्षेत्र में यह मंदिर फैला हुआ है। गर्भगृह के अंदर सर्वतोभद्र प्रतिमा स्थापित है। यह अत्यंत अलंकृत और प्रभावक स्थापत्य का नमूना है।[1]

---

१. पूर्व-पश्चिम भारत, कृष्ण देव तथा डॉ. उमाकान्त शाह।

इसी प्रकार के सर्वतोभद्र मंदिर आबू के दिलवाडा मंदिर समूह में तथा पालीताना के समीप शत्रुंजय पहाड़ी पर स्थित करलबासी-टुक में निर्मित है। इन सभी मंदिरों में भित्तियों, छतों और स्तम्भों पर लहरदार पत्रावलियाँ, पत्र-पुष्प, शासन देवी-देवताओं और मूर्तियों आदि का अंकन बड़ी सुघड़ता से किया गया है। भरतपुर, मेवाड़, बागडदेश, कोटा, सिरोह, जैसलमेर, जोधपुर, नागर, अलवर आदि संभागों में भी जैन मंदिरों का निर्माण हुआ है।

मध्य भारत :

मध्य भारत में प्राचीन कालीन जैन मन्दिर उपलब्ध नहीं होते। मध्य काल से ही यहाँ उनका निर्माण प्रारम्भ हुआ है। मध्य काल में कुण्डलपुर (दमोह) का जैन मन्दिर समूह वास्तु शिल्प की दृष्टि से अनुपम है। इनमें चौकोर पत्थरों से निर्मित शिखर हैं, वर्गाकार गर्भगृह तथा कम ऊँचे सादा वेदी बन्ध (कुरसी) पर निर्मित मुख मण्डप हैं। मुख मण्डपों में चौकोर स्तम्भों का प्रयोग हुआ है। इनकी वास्तु शैली गुप्तकालीन कला का विकासात्मक रूप है। सतना जिले के पिथौना का पतियानी मन्दिर भी इसी शैली में निर्मित हुआ है।

ग्यारसपुर का मालादेवी मन्दिर एक सांधार प्रासाद है जिसका कुछ भाग शैलोत्कीर्ण तथा कुछ भाग निर्मित है। इसका गर्भगृह पंच-रथ प्रकार का है तथा ऊपर रेखा शिखर है। मुख-मण्डप, मण्डप, पीठ आदि सभी भाग अलंकृत हैं। शिखर, पंच-रथ, दिग्पालों और यक्ष यक्षिणियों की मूर्तियां अलंकृत शैली में बनी हुई हैं। आकर्षक कीर्तिमुख भी बना हुआ है। अलंकृत प्रदक्षिणा पथ है। अतः इसका रचनाकाल लगभग नवमी शताब्दी का है।

देवगढ़ में लगभग ३१ मन्दिर हैं जो नौवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच बनाये गये हैं। १२ वाँ मन्दिर शान्तिनाथ का है जिसके गर्भगृह में १२ फुट ऊंची प्रतिमा है, गर्भगृह के सामने चौकोट मण्डप है जो छह स्तम्भों से अलंकृत है। यहीं भोजदेव (सन् ८६२) का शिलालेख लगा हुआ है। कुछ मन्दिरों में बड़े-बड़े कक्ष हैं जो चैत्यवासीय स्थापत्य के नमूने हैं। यहाँ अनेक शिलालेख मिलते हैं जो भाषा, काल और लिपि की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच मध्यभारत में अनेक कलाकेन्द्रों का निर्माण हुआ। खजुराहो का निर्माण मदन वर्मा (सन् ११२७-६३) के शासन काल में हुआ। यहाँ के जैन मंदिर ऊंची जगती पर बने हैं और उनमें कोई प्राकार नहीं। खुला चंक्रमण और प्रदक्षिणापथ हैं। सभी भाग संयुजित और ऊँचे हैं। अर्धमण्डप, मण्डप, अन्तराल और गर्भगृह सभी मन्दिरों में हैं। अलंकृत शैली का

प्रयोग हुआ है। खजुराहो के समीप ही घण्टाई नामक एक और जैन मंदिर है जो लगभग इसी समय का बना हुआ है।

घण्टाई मन्दिर का आकार विशाल और शैली अलंकरण प्रधान है। वर्तमान में अर्धमण्डप और मण्डप ही शेष हैं। द्वार मार्ग के पीछे अर्धस्तम्भ हैं। द्वार मार्ग की सात साखायें हैं, नवग्रहों, सोलहस्वप्नों तथा तीर्थंकरों और शासन देवी-देवताओं का अंकन है। खजुराहो का पार्श्वनाथ मन्दिर भी यहाँ उल्लेखनीय है जो इसी काल का है।

मालवा का ऊन प्रदेश परमार शैली के लिए प्रसिद्ध रहा। १२ वीं शताब्दी का चालुक्य शैली का यहाँ एक मंदिर मिलता है जिसे कुमारपाल चरण ने बनवाया था। यहीं के ग्वालेश्वर मंदिर में परमार तथा चालुक्य शैलियों का उपयोग किया गया है।

इसके बाद सोनागिरि, द्रोणगिरि, रेशन्दिगिरि पावागिरि, ग्वालियर, आदि स्थानों में जैन मंदिरों का निर्माण हुआ। इस निर्माण में काले ग्रेनाइट पाषाण तथा बलुए पाषाण का उपयोग हुआ है। ग्वालियर के तोमर-वंशीय राजाओं ने जैन स्थापत्य को प्रश्रय दिया। नरवर, तुबेन, चंदेरी, भानपुरा, मक्सी, धार, माण्डु, बडवानी, अलीराजपुर, विदिशा, समसगढ, देवगढ, पजनारी, थुबोन, कुण्डलपुर, बीना-बारहा, अहार, पपोरा, बानपुर, अजयगढ, सेमरखेडी आदि स्थानों पर भी इस काल की कला का दर्शन होता हैं।[1]

उत्तर भारत :

उत्तर भारत में मथुरा को छोड़कर अन्यत्र प्राचीनकालीन जैन मन्दिर नहीं मिलते। वहाँ ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी तक जैन कला का कुछ और भी विकास हुआ। उत्तर भारत में उसे फलने-फूलने का भी मौका मिला। इस काल में मंदिर, मानस्तम्भ निषिधिकायें (स्मारक स्तम्भ) मठ, सहस्रकूट, आदि की रचनायें हुईं। मंदिरों का निर्माण सामान्यत: वैदिक परम्परा से भिन्न नहीं था। इस समय प्रतिहार और गुर्जर शैली प्रसिद्ध रही। मूल राजस्थानी शैली में अलंकारिता और कलात्मकता अधिक है। चाहमानों की नादोल शाखा में जैनधर्म बहुत लोकप्रिय रहा। उन्होंने अनेक जैन मंदिरों का निर्माण भी कराया। इन मंदिरों की विशेषतायें हैं—पंच-रथ शिखर युक्त गर्भगृह, द्वार मंडप, स्तम्भमय अन्त: भाग तथा प्रवेशमंडप। ये विशेषतायें ओसिया के महावीर मंदिर में देखी जा सकती हैं।

१. मध्य भारत, श्रीकृष्ण देव तथा कृष्ण दत्त बाजपेयी।

वाहड़वाल की शैली में ईंटों का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। उनकी मंदिर-निर्माण शैली पर राजस्थान, मध्यभारत और बिहार की शैलियों का प्रभाव पड़ा। इस युग के अनेक जैन मंदिर हरिद्वार आदि स्थानों पर मिलते हैं। मारु-गुर्जर शैली में बना घानेराव का महावीर मन्दिर भी उल्लेखनीय है जो लगभग दसवीं शताब्दी का है।

चाहमान युग का प्रतिनिधित्व करने वाला ओसिया मंदिर समूह अनेक सदियों की कलात्मकता को समाहित किये हुए है। देवकुलिकाओं का निर्माण ८ वीं शताब्दी के बाद ही प्रारंभ हुआ। यहाँ उन्हे १२ वीं शताब्दी में सम्मिलित किया गया जैसा कि बिजोलिया के शिलालेख से ज्ञात होता है। फलोधी में भी इस काल की शैली के जैन मंदिर मिलते हैं।

उत्तर भारत की जैन कला पर १२ वीं शताब्दी के आसपास मुस्लिम आक्रमणों का तांता लगा रहा फलतः बहुत से जैन मंदिर या तो नष्ट कर दिये गये या परिवर्तित कर दिये गये। अजमेर की मस्जिद अढाई दिन झोंपडा, आमेर के तीन शिव मंदिर, सांगानेर का सिघीजी का मंदिर, दिल्ली की कुव्वतुल इस्लाम मस्जिद आदि स्थान मूलतः जैन मंदिर रहे हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास सर्वतोभद्र प्रतिमायें (चतुर्मुख प्रतिमा) अधिक निर्मित हुई इनमें ऋषभनाथ, शांतिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर का अंकन होता है। सरस्वती का यह मत सही हो सकता है कि चार प्रवेश द्वारों वाला वर्गाकार का मंदिर बनाया जाता रहा होगा। पहले इस प्रकार के मंदिरों में अलंकरण नहीं होता था पर उत्तरकाल में उसे अलंकृत किया जाने लगा।

चौदहवीं शताब्दी से जन जीवन आक्रान्तमय होने लगा। अतः उत्तर-भारत में नये मन्दिरों का निर्माण प्रायः बन्द रहा। जो भी निर्माण हुआ, उनमें कुछ मन्दिर तो ऐसे रहे जिनमें परम्परागत शैलियों को कुछ परिवर्तन के साथ अपनाया गया, जैसे चित्तोड गढ, नागदा, जैसलमेर आदि और कुछ ऐसे मन्दिरों का निर्माण हुआ जो मुगल शैली के प्रभाव से न बच सके। मुगल स्थापत्य कला का प्रभाव लगभग सोलहवीं शताब्दी से आया। इस प्रभाव को हम जैन मन्दिरों के दांतेदार तोरणों, अरबशैली के अलंकरणों और शाहजहाँके स्तम्भों में देख सकते हैं। वाराणसी, अयोध्या, श्रावस्ती, सिंहपुर, चन्द्रपुरी, कंपिला, हस्तिनापुर, सौरिपुर, कौशाम्बी आदि स्थानों पर यथासमय जैन मंदिर बनते रहे हैं।[1]

---

१ उत्तर भारत – श्री मुनीशचन्द्र जोशी व कृष्ण देव.

दक्षिण भारत :

आरम्भिक कालीन जैन मन्दिर दक्षिण भारत में भी प्राप्य नहीं। वहाँ सातवीं शदी से उनका निर्माण हुआ है। यद्यपि इसके पूर्व के उल्लेख पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। पल्लव नरेश नरसिंहवर्मन् प्रथम मामल्ल (६६०–६६८ ई.) ने ग्रेनाइट नामक पत्थर की चट्टानों को काटकर शैलोत्कीर्ण मन्दिरों की निर्माण शैली प्रारम्भ की। महाबलीपुरम् के रथमन्दिर इसके उदाहरण है। इन मन्दिरों के बाह्य अलंकार को ईंट-लकड़ी से निर्मित भवन की रूपरेखा देने के लिए अखण्ड चट्टान को पहले उपर से नीचे की ओर काटा जाता था और फिर उत्खनन करके मंडप तथा गर्भगृह के विभिन्न अंग उत्कीर्ण किये जाते थे। कालातंर में यह परम्परा छोड़ दी गई और बलुए प्रस्तर खंड काटकर मंदिर बनाये जाने लगे। इस प्रकार के शैलोत्कीर्ण मंदिर विजयवाडा, धमनर, ग्वालियर, कोलगांव आदि स्थानों पर मिलते है। राष्ट्रकूटकाल में एलोरा की गुफा नम्बर ३० निर्मित हुई जिसे छोटा कैलास कहा जाता है। इसमें भी अखंड शिला मंदिर समूह की रचना हुई है।

तमिलनाडु के शैलोत्कीर्ण गुफा मंदिर सातवी शताब्दी से मिलते है। साधारणतः ये पर्वतश्रेणियों पर बनाये गये है। ये मदिर गुफायें ईट और गारे से बनाये गये है। बाद में ये ब्राह्मणों द्वारा अधिकृत कर लिये गये। इनका आकार-प्रकार विमान शैली लिये हुए है। आयताकार मंडप के साथ अलंकृत स्तम्भ है। पार्श्वभित्तियों में अनेक देव-कोष्ठ उत्कीर्ण है। सर्वाधिक प्राचीन जैन गुफा मंदिर तिरुनेलवेली जिले में मलैयडिक्कुरिच्चि स्थान पर है जिसे बाद में शिवमंदिर में परिवर्तित कर दिया गया। इस प्रकार का परिवर्तन मदुरै और आनैमलै आदि जैन केन्द्रो का भी हुआ है। दक्षिणापथ के शित्तन्नवासल का विशिष्ट मंडप शैली में बना शैलोत्कीर्ण जैन गुफा मदिर है। उसके भीतर चौकोर गर्भगृह और मडप है जिनकी भित्तियां और छत मूर्तियों से अलंकृत हैं।

इस काल में दक्षिणापथ मे शैलोत्कीर्ण गुफा मंदिरों के अतिरिक्त प्रस्तर मंदिरों का भी निर्माण हुआ। इसमें ऐहोले का मेगुटी मंदिर विशेष उल्लेखनीय है। पुलकेशी द्वितीय का पुरालेख यही मिला है जिसे आचार्य रविकीर्ति ने लिखा है। इस मंदिर में बंद-मंडप प्रकार का चौक है जिसमें मध्य के चार स्तम्भों के स्थान पर गर्भगृह हैं। पार्श्व में दो आयताकार कक्ष है। इन कक्षों में शासन देवी-देवताओं आदि की अलंकृत मूर्तियाँ है। इसी प्रकार का एक मंदिर हल्लूर (बागलकोट) में भी पाया गया है। ऐहोले में और भी अनेक अनुकूल शैली में बने मंदिर है।

तमिलनाडु में प्रस्तर निर्मित जैन मंदिरों का क्रम पल्लवशैली के मंदिरों से प्रारंभ होता है। जिन कांची का चन्द्रप्रभ मंदिर इसका उदाहरण है। इसमें तीन तल का चौकोर विमान मंदिर है। उसके सामने मुख मण्डप है। तीनों तलों में नीचे का तल ठोस है और वह मध्य तल के लिए चौकी का काम देता है जिस पर मुख्य मंदिर है। यह तत्कालीन जैन मंदिरों का प्रचलित रूप है। गर्भगृह में चन्द्रप्रभ की मूर्ति है। भित्ति स्तम्भ अलंकृत हैं। इस मंदिर समूह में विशाल मुख मंडप, अग्र मंडप प्राकार और गोपुर भी सम्मिलित हैं। तोंडई-मंडलम के दक्षिण में भी निर्मित शैली के अनेक जैन मंदिर मिलते हैं जो मुत्तरैयार और पांड्यों के द्वारा प्रस्तर के बनवाये हुए हैं।

दक्षिण के संपूर्ण प्रस्तर निर्मित प्राचीन मंदिरों में एक चन्द्रगुप्त बस्ती का मंदिर प्राचीनतम कहा जा सकता है। यह मंदिर समूह श्रवण बेलगोला की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर है। इसमें तीन विमान मंदिरों का समूह है। श्रवण बेलगोला के बाह्य अंचल में कम्बद हल्लि की एक पंचकूट बस्ती है जिसमें दक्षिणी वास्तुशास्त्र शिल्पशास्त्र और आगम ग्रंथों में वर्णित तत्वों और शैलियों का सचित्र वर्णन है। यहाँ नागर, द्राविड़ और वेसर शैली की कृतियां मिलती हैं, जिनमें अलंकरण की प्रचलित पद्धतियों का भरपूर उपयोग किया गया है। चालुक्य और राष्ट्रकूट शैली की संरचना दृष्टव्य है।

दक्षिणापथ में राजनीतिक अस्थिरता के बावजूद जैनधर्म की लोकप्रियता में कमी नहीं आयी। कल्याणी के चालुक्य काल में लक्कुण्डी, श्रवण-बेलगोला, लक्ष्मेश्वर, पटदकल आदि स्थान जैनकला के केन्द्र बने। कहा जाता है कि अत्तियब्बे ने १५०० जैन मन्दिर बनवाये। उत्तर कालीन चालुक्य, होयसल, यादव और काकतीय राजवंशों के शासकों ने स्थापत्य की उत्तरी और दक्षिणी शैलियों को समन्वित किया। गर्भगृह और शिखर में दक्षिणी शैली तथा शेष भागों में उत्तरीशैली को नियोजित किया। विजयनगर में अवश्य दक्षिणी शैली को ही अपनाया गया।

कल्याणी के चालुक्यों द्वारा निर्मित मन्दिरों में लक्कुण्डी (धारवाड़) का ब्रह्मजिनालय, ऐहोल (बीजापुर) का चारण्डी मठ, तथा लक्ष्मेश्वर (धारवाड़) का शंख जिनालय उलेखनीय है। लक्कुण्डी मन्दिर का शिखर ऊपर पहुँचते-पहुँचते चतुरस्र आकार का हो जाता है। ऊपर एक लघु गर्भालय-सा बना है। रथों की संयोजना वर्तुलाकार लिये हुये है, शिखर शुकनासा युक्त है, भित्तियों पर देवकुलिकाओं और त्रिकोण-तोरण का अंकन है। रंगमण्डप के बाहर एक शृङ्गार-चौरी मण्डप है जो उत्तरकालीन विकास का परिणाम है। ऐहोल के चारण्डी

मठ में अर्धमण्डप, सभा मण्डप और मुख मण्डप दक्षिणी विमान प्रकार का है, गर्भगृहों की दोहरी संयोजना है। लक्ष्मेश्वर के शंख जिनालय में चौमुख मंदिराकृति पर चतुष्कोटीय शिखराकृति का अंकन हुआ है। इस मन्दिर में छठी शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक की कला का विकास देखा जा सकता है।

होयसेल शैली में विमान शैली और रेख नागर प्रासाद शैली का संमिश्रण हुआ है। इसमें हरे रंग का तथा ग्रेनाइट पाषाण का प्रयोग किया गया है। तारकाकार विन्याणरेखा, जगती-पीठ तथा उत्तरी शिखर संयोजना का अनुकरण नहीं दिखता। गर्भालियों का चमकता हुआ पालिश तथा अलंकरणों का संयम देखते ही बनता है। होयसलों ने श्रवण वेलगोला में भी अनेक छोटे-बड़े मन्दिरों का निर्माण कराया जिनमें स्थापत्य कला के अनेक रूप मिलते हैं। यहाँ गंगशैली का भी उपयोग हुआ है। हासन जिले का अग्रलिखित मन्दिर, तुमकूर जिले के नित्तूर की शांतीश्वर-वस्ती, मैसूर जिले के होसहोललु की पार्श्वनाथ वस्ती, बंगलोर जिले के शांतिगत्ते की वर्धमानवस्ती आदि जैन मन्दिर इस शैली के अन्यतम उदाहरण हैं।

सेऊणदेश और देवगिरि के यादवों के शासनकाल में जैन स्थापत्यकला के दिग्दर्शक स्थानों में मनमाड़ के समीपवर्ती अंजनेरी गुफामन्दिरों का नाम उल्लेखनीय है जहाँ एलोरा की गुफाकला का अनुकरण किया गया है। ये मन्दिर नासिकसे २१ किलोमीटर दूर एक पहाड़ी पर सुरक्षित हैं।

आन्ध्रप्रदेश में इस काल में अनेक जैन कला केन्द्र बने। जैसे-पोटलाचेरुवु (पाटनचेरु), वर्धमानपुर (वड्डमनी), प्रगतुर, रायदुर्गम, चिप्पगिरि, हनुमकोण्डा, पेड्डतुम्बलम, पुडुर, अडोनी, नयकल्ली, कंबदुर, अमरपुरम्, कोल्लिपाक, मुनुगोंडु, पेनुगोण्डा, नेमिम्, भोगपुरम् आदि। इन स्थानों पर प्राप्त स्थापत्य कला से अनेक शैलियों का पता चलता है। सोपान मार्ग और तलपीठ सहित निर्माण की कदम्ब नागर शैली और शिखर चतुष्कोणी पर कल्याणी चालुक्यों की शुकनासा शैली विशेष उल्लेखनीय है। वेमुलवाड पद्मकाशी, विजयवाडा तैलगिरि दुर्ग, कडलायवसदि, कोल्लिपाक आदि स्थान जैन स्थापत्य कला के प्रधान केन्द्र हैं। यहाँ चौबीसियों का निर्माण बहुत लोकप्रिय रहा है।

तमिलनाडु स्मारकों में तिरुपरुत्तिकुण्रम् उल्लेखनीय है जहाँ के जैन मन्दिरों में पल्लवकाल से विजयनगर काल तक की स्थापत्य शैलियाँ उत्कीर्ण हुई हैं। चन्द्रप्रभ मन्दिर और वर्धमान मन्दिर भी इसी सन्दर्भ में स्मरणीय हैं।

इसी प्रकार तिरुमलै (उत्तर अर्काट जिला) के मन्दिर की निर्माण कला में भी विकास की रूपरेखा जमी हुई है।

तिरुपरुत्तिकुण्रम् में गोपुरशैली का एक विशाल दरवाजा है और विमानशैली के विविध गजपृष्ठ हैं, संगीत मण्डप और काष्ठ मूर्तियाँ हैं। इस मंदिर समूह में एक वर्धमान मंदिर भी है जो संभवत: प्राचीनतम होगा। यहाँ एक त्रिकूटबस्ती भी है जो मूलत: पद्मप्रभ और वासुपूज्य के मंदिरों का ही समूह है।

दक्षिणापथ में भी मुस्लिमों के आक्रमणों ने जैन स्थापत्यकला को भारी आघात पहुँचाया। फिर भी वह कला समूचे रूप में नष्ट नहीं की जा सकी। विजय नगर शासकों, सामंतों और राजदरबारियों ने अनेक जैन मंदिर और मूर्तियों का उदारतापूर्वक निर्माण किया। हम्पी (विजयनगर) के जैनमंदिरों में गणिगित्ति मंदिर उल्लेखनीय है जिसमें प्राचीन शैली के चतुष्कोणिक स्तम्भ हैं।

श्रवणबेलगोला में भी इस काल में अनेक जैन मंदिर बनवाये गये जो प्राय: होयसल शैली में निर्मित है। कर्नाटक में मूडबिद्री भटकल, कार्कल, वेणूर आदि जैन धर्म और कला के प्रधान केन्द्र इसी कालमें बने। इनमें मूड-बिद्री का सहस्र स्तम्भवसदि स्थापत्य कला का सुंदर संयोजन है। इन स्थानों पर सर्वतोभद्र प्रतिमायें अधिक लोकप्रिय दिखाई देती हैं। कहीं कहीं गोपुरम् और द्रविड शैली के भी दर्शन होते हैं।

महाराष्ट्र में हेमाडपंथी शैली का प्रचलन अधिक हुआ। यह शैली मूलत: उत्तर भारतीय शिखर शैली का परिष्कृत रूप है। इस शैली के जैन गुफा मंदिर नासिक जिले की त्रिंगलवाडी और चंदोर नामक स्थानों पर मिलते है। ये गुफायें चतुष्कोणीय स्तम्भों पर आधारित है। महाराष्ट्र में ही वाशिम के समीप सिरपुर में स्थित अंतरिक्ष पार्श्वनाथ मंदिर उल्लेखनीय है जो लगभग १३ वीं शताब्दी का बना हुआ है। इसकी विन्यास रेखा तारकाकार है और पत्रावली युक्त पट्टियों का अलंकरण है। यह मंदिर दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रतीत होता है।[1]

३. चित्रकला

चित्रकला भावाभिव्यक्ति का सुन्दरतम उदाहरण है। उसमें उपदेश और सन्देश देने की अनूठी क्षमता है। जैनाचार्यों न इस तथ्य को भलीभांति

---

१. दक्षिण भारत, श्री के. आर. श्रीनिवासन, के. वी. सौंदर राजन, पी. आर. श्रीनिवासन, ब. डॉ. र. चम्पकलक्ष्मी।

समझा और प्रारम्भ से ही इस ओर अपनी प्रतिभा को उन्मेषित किया। चित्रकला के समूचे इतिहास को देखने से पता चलता है कि इस क्षेत्र में जैनधर्म का पर्याप्त योगदान हुआ है। उसके साहित्य में भी चित्रकला के प्राचीन उल्लेख मिलते हैं।

नायाधम्मकहाओ में चित्रकला की दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है। वहाँ धारणा देवी के शयनागार के वर्णन के प्रसंग में यह कहा गया है कि प्रासाद को लताओं, पुष्पवल्लियों और उत्तम चित्रों से अलंकृत किया गया था।[1] यहीं एक ऐसी चित्रकार श्रेणी का भी उल्लेख है जिसे राजकुमार मल्लदिन्न ने प्रमदवन में चित्रशाला बनवाने के लिए निमन्त्रित किया था। उस समय ऐसे भी चित्रकार थे जो वस्तु के किसी एक अंग को देखकर उसके संपूर्ण अंग को चित्रित करने की क्षमता रखते थे। मल्लिकुमारी के पादांगुष्ठ को देखकर एक चित्रकारने उसकी सर्वाङ्ग आकृति को चित्रित कर दिया।[2] यहीं मणिकार श्रेष्ठि की चित्रशाला का भी उल्लेख हुआ है।[3]

उत्तरकालीन साहित्य में चित्रकला और उसके प्रकारों का भी वर्णन मिलता है। रविषेणाचार्य ने दो प्रकार के चित्र बताये हैं— शुष्क और द्रव। चन्दनादि द्रव पदार्थों से निर्मित चित्र द्रवचित्र हैं। चित्रकर्म के अन्तर्गत रेखांकन करना अथवा बेलबूटा आदि बनाना मूर्तिकर्म है तथा लकड़ी हाथीदांत की चित्रकारी करना पुस्तकर्म है।[4] वरांगचरित, आदिपुराण, हरिवंश पुराण यशस्तिलकचम्पू, गद्यचिंतामणि आदि ग्रन्थों में चित्रकला का वर्णन मिलता है।

यहाँ हम चित्रकला के कुछ प्रमुख भेदों पर विचार कर रहे हैं— (१) भित्तिचित्र, (२) कर्गलचित्र, (३) काष्ठचित्र, (४) पटचित्र, (५) रंगावलि अथवा धूलिचित्र।

(१) भित्तिचित्र :

जैन स्थापत्य में प्राचीनतम भित्तिचित्र शित्तनावासल के जैन गुफा-मन्दिर में मिलते हैं जिसे पल्लववंशी महेन्द्रवर्मन प्रथम ने बनवाया था। इसमें एक जलाशय का चित्र है जहाँ पत्र-पुष्प आदि का चयन करनेवाली मानवा-

---

१. नायाधम्मकहाओ १.९

२. वही, ८.७८

३. वही, १३.९९

४. पद्मपुराण २४. ३६-४०

कृतियों को बड़े स्वाभाविक ढंग से चित्रित किया गया है। इसी में पशु, पक्षियों, मछलियों आदिका भी चित्रण है। पताका मुद्रा में अप्सरा और नृत्य करती हुई नर्तकी के चित्र भी आकर्षक हैं। राजा और रानी का भी युगलचित्र देखने मिलता है।

एलोरा की इन्द्रसभा की भित्तियों पर गोमटेश्वर के विविध चित्र, दिक्पाल समूह, आलिंगनबद्ध विद्याधर दम्पति, तालवाद्यक बौनेगण तथा व्योमचारी देवों आदि का सुन्दर चित्रण है। एलोरा के ही कैलाशनाथ मंदिर में भट्टारक के स्वागत का मनोहारी दृश्य अंकित है। यह समूचा दृश्य सजीव लगता है। तिरुमलै के एक जैन मंदिर में चोलवंशीय राजराज ने गन्धर्व, यक्ष और राक्षस आदि देवों का चोल चित्र शैली में अंकन कराया है। श्रवणबेलगोला के जैन मठ में समवशरण, दिव्यध्वनि, षड्लेश्या आदि के सुन्दर चित्र मिलते हैं। तिरुप्पत्तिकुणरम् के वर्धमान मंदिर का संगीत मण्डप आकर्षक भित्तिचित्रों से चित्रित है। बाजारगांव (नागपुर) के जैन मंदिरों में लगभग १७–१८ वीं शती के सुन्दर भित्तिचित्र अंकित हैं। पर असावधानतावश उन्हें धूमिल होनें से नहीं बचाया जा सका।

सोमदेव ने दो प्रकार के भित्तिचित्रों का उल्लेख किया है। व्यक्तिचित्र और प्रतीकचित्र। व्यक्तिचित्रों में बाहुबलि, प्रद्युम्न, सुपार्श्व, अशोकरोहिणी तथा यक्षमिथुन का उल्लेख है। प्रतीकचित्रों में तीर्थंकरों की माता के द्वारा देखे जाने वाले सोलह स्वप्नों का विवरण है।[1]

ताड़पत्रीय शैली :

भित्तिचित्र की परम्परा ११ वीं शती तक अधिक लोकप्रिय रही। उसके बाद ताड़पत्रों पर चित्रांकन प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार कीप्राचीनतम चित्रित ताड पत्रीय पाण्डुलिपि षड्खण्डागम की मिलती है जो सन् १११३ की लिखी है और मूडबिद्री में सुरक्षित है। ये पाण्डुलिपियाँ होयसलकालीन हैं। इन चित्रों में चमकदार रंगों का प्रयोग हुआ है। पाँच चित्रित ताडपत्रों में दो पत्र प्रारम्भिक काल के हैं। इन पर पुपार्श्वनाथ की यक्षिणी काली का चित्रण है। उसके एक ओर दम्पति खड़ा हुआ है। बीच में कायोत्सर्ग तथा पद्मासनस्थ तीर्थंकर महावीर की आकृति है। उसके आसन आदि अलंकृत हैं। दूसरी ओर भक्त-युगल बैठे हुए हैं। अन्य ताड़पत्रों में पार्श्वनाथ और उनकी शासन देवी-देवताओं

---

१. यशस्तिलकचम्पू, २४६-२२, उत्तरार्ध; यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. २४०.

का अंकन है। साथ ही श्रुत देवी अपने परिकर सहित चित्रित है। अम्बिका, पूजा अर्चना की सामग्री, मातंगयक्ष, हाथी आदि का अंकन होयसलशैली में हुआ है।

संघवी पाड़ा ग्रन्थभण्डार पाटन की निशीथचूर्णि शान्तिनाथ जैन मन्दिर में स्थित नगीनदास भण्डार की ज्ञाताधर्म सूत्र प्रति, जैन ग्रन्थ भण्डार, छाणीं की ओघनिर्युक्ति, जैन सिद्धान्तभवन आरा की तिलोय पण्णत्ति और त्रिलोकसार आदि ताडपत्रीय प्रतियों में विविध चित्रांकन उपलब्ध है।

ताड़पत्रीय पिण्ड निर्युक्ति की पाण्डुलिपि में भी सुन्दर चित्रण मिला है। उसमें हाथी और कमल पदक अंकित हैं। दो कमल पुष्पों के बीच दो वृत्तों को चित्रित किया गया है, एक वृत्त कमलदलों से निर्मित है और दूसरा हंसों के घेरे से। हंसों का यह आलंकारिक चित्रण बारहवीं शताब्दी में प्रचलित हुआ है। शांतिनाथ मंदिर, खम्भात की ज्ञानसूत्र की प्रति पर सरस्वती का चित्रण तथा दशवैकालिक लघुवृत्ति की प्रति पर दो जैन साधु एवं श्रावक का चित्रण भी उल्लेखनीय है। अंबिका और विद्यादेवियों के भी चित्र यहाँ मिलते हैं। ये चित्र लगभग तेरहवीं शताब्दी के हैं।

कुछ अन्य प्रतियों में विषयवस्तु के अनुरूप चित्रांकन किया गया है। तीर्थंकरों के जीवन चरितीय चित्रांकनों ने देवी-देवताओंके चित्रांकन का स्थान ग्रहण कर लिया। सुबाहुकथा की प्रति ऐसी ही है। ताडपत्रों का उपयोग लगभग चौदहवीं शताब्दी तक होता रहा। कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा की चित्रित ताडपत्रीय पाण्डुलिपियाँ इसी काल की हैं। इस काल में लघुचित्र बनाये जाते थे। रंगों को उभारने के लिये कहीं-कहीं स्वर्ण का भी उपयोग किया गया है।

षड्खण्डागम महाबन्ध और कषायपाहुड की ताडपत्रीय प्रतियों पर दक्षिण परम्परा का कुछ प्रभाव दिखाई देता है। विस्फारित नेत्रोंका अंकन तथा दानदाताओं और उपासकों के चित्र यहाँ अंकित हैं। इनमें रेखा शैली तथा सीमित रंग योजना को अपनाया गया है। इनका काल बारहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक माना गया है। देवी-देवताओं का चित्रण कुछ रहस्यात्मकता को लिये हुए है। त्रिलोकसार में संदृष्टियों को चित्रोपम शैली में अंकित किया गया है। इसी प्रकार के और भी ताड़पत्रीय चित्र उपलब्ध होते हैं।[1]

---

१. भित्ति चित्र, ककम्बूर शिवरामूर्ति।

(२) **कर्गलचित्र :**

कागज पर चित्रित प्राचीनतम पाण्डुलिपि कल्पसूत्र-कालकाचार्य कथा है जिसका रचनाकाल १३४६ ई. माना जाता है। इसमें क्रमशः ३१ और १३ चित्र हैं। कालकाचार्य कथा की कुछ और भी सचित्र प्रतियाँ लगभग इसी समय की मिलती हैं। शांतिनाथचरित की १३९६ ई. की प्रति, जो एल. डी. इन्स्टीटयूट, अहमदाबाद में सुरक्षित है तथा कालकाचार्य कथा जो प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम में रखी है, भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। ये पांडुलिपियां १५ वीं शताब्दी के प्रारंभ काल की हैं। इसी की और भी अनेक प्रतियाँ अनेक स्थानों पर भिन्न-भिन्न शैलियों में लिखी मिलती है। इन में सोने और चांदी की स्याहियों का प्रयोग किया गया है। इसे 'समृद्धि शैली' कहा गया है। इसका प्रचलन गुजरात और राजस्थान में अधिक रहा। कल्पसूत्र की भी इसी प्रकार की अनेक प्रतियाँ मिली है। इन पर पत्र-पुष्प और पशु पक्षियों के साथ नारी आकृतियों को उनकी क्षेत्रीय वेशभूषाओं में चित्रित किया गया है। आलंकारिक किनारी का चित्रण फारसी तेमूर चित्र शैली का प्रभाव है। कालीनों, वस्त्रों और वर्तनों का चित्रण भी इसी शैली के अन्तर्गत आता है। पाटन भंडार का सुपासनाह चरिय (१४२२ ई.) बडोदा, का कल्पसूत्र (१४६५ ई.) आदि प्रतियों में भी पश्चिमी चित्रण शैली का प्रयोग हुआ है। इनमें तीर्थंकरों की जीवन, घटनायें माता-स्वप्न, बाहुबली-युद्ध, तथा विविध नृत्य-मुद्रायें अंकित हैं। तत्वार्थसूत्र की १४६९ की पांडुलिपि तथा यशोधरचरित्र की प्रतियाँ भी इसी समृद्ध शैली की प्रतीक है। कई स्थानों पर उत्तराध्ययन की भी इसी प्रकार की प्रतियाँ मिली है। यह शैली पश्चिम भारत में १५ वीं शताब्दी के बीच तक चलती रही।

योगिनीपुरा, दिल्ली में सुरक्षित आदि पुराण (१४०४ ई.) तथा महापुराण की प्रतियाँ भी इसी समृद्ध शैली से जुड़ी हुई है। इनमें रेखीय अंकन का प्रयोग हुआ है। भविसयत्त कहा (१४३० ई.), पासणाह चरिउ (१४४२ ई.), जसधर चरिउ (१५४० ई.) आदि प्रतियों में उत्तर भारत की चित्र परम्परा को विकसित किया गया है। महाकवि रइधू की प्रतियाँ ग्वालियर और दिल्ली में अधिक उपलब्ध हुई हैं। इन प्रतियों में हल्की रंग योजना, मानव की विविध मुद्राओं, वेश भूषाओं तथा स्थापत्य की अनेक परम्पराओं का अंकन किया गया है। आदिपुराण की भी अनेक सचित्र प्रतियाँ उपलब्ध हुई है। नागपुर जैन मंदिर की सुगंध दशमी कथा भी यहाँ उल्लेखनीय है जिसमें ६७ चित्र अंकित हैं। यह अठारहवीं शती की प्रति है। जैन सरस्वती भवन, बम्बई में सुरक्षित भक्तामर स्तोत्र की भी इसी प्रकार सचित्र प्रतियाँ मिलती हैं।

राजस्थान के भण्डारों में तो महापुराण, यशोधरचरित, भक्तामर आदि ग्रन्थों की सचित्र प्रतियाँ बहुत मिलती हैं।

कागज की इन सचित्र प्रतियों का सर्वेक्षण करने पर यह प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर परम्परा ने कल्पसूत्र, ओघनिर्युक्ति और उत्तराध्ययन तथा दिगम्बर परम्परा ने आदि पुराण, महापुराण, यशोधर चरित्र व सुगंध दशमी कथा को अपनी चित्रण परम्परा के लिये विशेष रूप से चुना। यह परम्परा लगभग १८ वीं शताब्दी तक मिलती है।[1]

३. काष्ठ चित्र :

इन ताड़पत्रों की प्रतियों पर दो काष्ठ की पटलियों के आवरण रहते हैं। उन्हें भी चित्रित किया गया है। जैसलमेर के भण्डार में सुरक्षित ओघ-निर्युक्ति की पटलियों पर विद्यादेवियों की मूर्तियों का अंकन मिलता है। यहाँ दो उपासिकायें भी चित्रित हैं। यह चित्रण जिनदत्तसूरि (लगभग ११५० ई.) के संदर्भ में किया गया बताया जाता है। महावीर का आसन भी बीच में चित्रित किया गया है। एक पाटली पर एक श्रावक की दो पत्नियों को चित्रित किया गया है। यह समूचा चित्रण अजंता और एलोरा की परम्परा को लिये हुये है। कानों तक लंबी-लंबी आंखों का चित्रण, जो इस पटली पर हुआ है, अजंता और एलोरा में भी मिलता है। राजस्थान और गुजरात तक यह शैली पहुँच चुकी थी। इस परम्परा में लता-वल्लरियों तथा पशु-पक्षियों की आकृतियों में मानवाकृतियों का भी चित्रण किया गया है। गेंडा और जिराफ का भी अंकन मिला है। जैसलमेर भाण्डार की ही एक अन्य पटली में हाथियों, पक्षियों और शेरों के चित्र अंकित हैं। इसका भी समय लगभग बारहवीं शताब्दी होना चाहिए। जैसलमेर भाण्डार में एक ऐसा भी काष्ठचित्र मिला है जिसपर वादिदेवसूरि और कुमुदचन्द्र के बीच शास्त्रार्थ हो रहा है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग वृत्ति की ताड़पत्रीय प्रति के आवरण काष्ठ पर महावीर की जीवन घटनायें तथा धर्मोपदेश माला की प्रति के आवरण पर पार्श्वनाथ की जीवन-घटनायें चित्रित की गई हैं। इसी प्रकार के और भी अनेक काष्ठचित्र मिलते हैं।

(४) पटचित्र :

पट (वस्त्र) अपेक्षाकृत अधिक स्थायी हो सकते हैं। उन पर बनायी जाने वाली चित्र परम्परा बहुत प्राचीन है। गोशाल की प्रारम्भिक जीविका का साधन चित्रपट का प्रदर्शन ही था। पर, न जाने क्यों, पटचित्रों का लोप हो

---

१. लघु चित्र-कार्ल खण्डालावाला तथा डॉ. श्रीमती सरयू दोशी.

गया। इधर लगभग चौदहवीं शताब्दी से पुनः पटचित्र उपलब्ध होने लगे। आदिपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थों में चित्रपट की पूर्व परम्पराके उल्लेख मिलते हैं। उसी परम्परा में मध्यकालीन पटचित्र अनुस्यूत हैं। श्री अगरचन्द नाहटा के संग्रह में एक 'चिन्तामणि' नामक पटचित्र १३५४ ई. का है। उसमें पार्श्वनाथ, धरणेन्द्र, पद्मावती आदि देवी-देवता चित्रित किये गये हैं। एक अन्य 'मंत्र पट' नामक पटचित्र साराभाई नबाब के पास है जो भावदेवसूरि के लिये १४१२ ई. में बनाया गया था। कुमारस्वामी के पास संगीत पटचित्र १६ वीं शताब्दी का हैं, जिसमें पार्श्वनाथ, समवशरण आदि का अंकन है। इसी प्रकार के और भी अन्य प्रकार के चित्र उपलब्ध हैं जो कला की दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं।[1]

(५) रंगावलि अथवा धूलि चित्र :

एक अन्य प्रकार की भी चित्र परम्परा का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है जिसे रंगावली या धूलिचित्र कह सकते हैं। यशस्तिलकचम्पू में इस प्रकार के चित्रों से आस्थान मण्डप को सुशोभित किये जाने का उल्लेख मिलता है। वहाँ कुंकुम रंगे मरकत पराग से तथा मालती आदि विविध पुष्पों से रचित रंगावलियों का उल्लेख है। ऐसी चित्रावलियों को 'क्षणिकचित्र' कहा गया है। प्रतिष्ठाओं के सन्दर्भ में मांड़ने आदि की भी रचना की जाती है। जैन सिद्धान्त भवन आरा में संग्रहीत इन्द्रध्वज पाठ तथा दशलक्षणादि व्रतोद्यापन के अन्त में इस प्रकार के अनेक मांड़नों के चित्र अंकित है। वहीं एक "जैन चित्र पुस्तक संग्रह" भी उपलब्ध है जिसमें जैन संस्कृति से सम्बद्ध मुगलकालीन १३५ चित्र संग्रहीत हैं। आरा संग्रहालय में ही 'नेत्र स्फुरण' नामक संग्रह है जिसम नेत्रों के हावों-भावों का सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

इस प्रकार समूची जैन चित्रकला के सर्वेक्षण से हम उसमें निम्न लिखित विशेषतायें पाते हैं।[2]

१. रूप, रंग, आकार और सज्जा का समन्वयन।

२. धार्मिक भावनाओं की सफल अभिव्यक्ति।

३. भक्तों के द्वारा की जाने वाली भक्ति का साङ्गोपाङ्ग रूपाङ्कन।

४. प्राचीन संबंधों और धारणाओं का प्रस्तुतीकरण।

---

१. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. ३७३

२ जैन चित्रकलाका संक्षिप्त सर्वेक्षण-श्रीमती सुशीला देवी जैन, गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रंथ, सागर, १९६७.

५. प्राचीन संबंधों और धारणाओं का प्रस्तुतीकरण।
६. अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन।
७. आम्यान संबंधी चित्रों में प्रणयलीलाओं, नाना प्रकार के सम्वेदनाओं एवं विविध प्रकार की मनोदशाओं की अभिव्यंजना।
८. कमलपंखुड़ियों की मृदुलता और कमनीयता का यथार्थ अंकन।
९. भावों का चित्रण और तदनुकूल रसों का सृजन।
१०. स्थिति जनित लघुता का गति शील रेखाओं द्वारा मूर्तिकरण।
११. हाथों की मुद्राओं और आंखों की चितवनों से हृदयगत विभिन्न भावनाओं का चित्रण।
१२. अटूट, प्रवाहमय और भव्य रेखाओं द्वारा सजीव, सशक्त और सौन्दर्यपूर्ण अंकन।
१३. रूप-भावना और आकृति सौन्दर्य का औचित्य।
१४. अंगुलियों की गति एवं विभिन्न हस्त मुद्राओं द्वारा विनय, दान, आशा, निराशा प्रभृति की अभिव्यक्ति।
१५. भवन, पशुओं और मनुष्यों के आलेख में सजीवता।

४. काष्ठ शिल्प

शिल्प के लिए काष्ठ का प्रयोग गुजरात और राजस्थान में अधिक हुआ। वहाँ के उष्ण वातावरण में उसके स्थायित्व में वृद्धि हुई और सुविधा तथा सरलता के कारण लोकप्रिय बना। काष्ठ शिल्प का निर्माण सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के बीच सर्वाधिक हुआ। इसका उपयोग आवास गृह के अलंकरण तथा मूर्ति और मन्दिर के निर्माण में देखा जाता है।

जैनधर्मावलम्बियों ने अपनी आस्था को जागरित रखने तथा धार्मिक वातावरण को निर्मित करने की दृष्टि से अपने आवासगृह के स्तम्भों, मदलों, गवांक्षों, द्वारों, छतों, तोरणों, भित्तियों आदि पर काष्ठकला का प्रदर्शन किया। कलाकारों के बीच अष्टमंगल, पत्र-पुष्प लतायें, द्वारपाल, पशु-पक्षियों, मानवाकृतियों, तीर्थंकरों, शासन देवी-देवताओं आदिका शिल्पांकन विशेष रुचिकर था। इसके निमित्त द्वार-कपाटों को समतल अथवा जालीदार बनाया जाता। कहीं-कहीं चौखटों को चौड़ा रखते और दरवाजे के बिना ही काम चलाया जाता। मुस्लिम प्रभाव के कारण मेहराबदार गवाक्षों की भी संयोजना हुई। स्तम्भ

चतुष्कोणीय, गोल अथवा अण्डाकार रहते। इस प्रकार कहीं-कहीं सारा घर काष्ठ शिल्प से अलंकृत करा लिया गया है।

घर में मन्दिर बनाने की परम्परा उत्तरकाल में प्रारम्भ हुई। फलतः गुजरात के जैन गृहस्थों ने अपने भवनों में अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार सुन्दर से सुन्दर मन्दिर बनवाये। अहमदाबाद, पाटन, बड़ोदा, पालीताना, खम्भात आदि नगरों में इनका निर्माण कार्य हुआ। अहमदाबाद का शांतिनाथ-देरासर (१३९० ई.) तथा पाटन का लल्लूभाई दन्ती का घर-देरासर उल्लेखनीय है। इनके मदल और तोरण तथा मण्डप और उसकी छत विशेष दर्शनीय है। यहाँ देवकोष्ठियों, नर्तकियों, और संगीत मण्डलियों के अच्छे अंकन हुए हैं। अष्ट-कोणीय स्तूप का भी सुन्दर संयोजन है।

काष्ठ शिल्प का उपयोग मूर्तियों के अंकन में भी हुआ। कहा जाता है, महावीर के जीवनकाल में उनकी चन्दनकाष्ठ प्रतिमा बनायी गई थी, पर वह आज उपलब्ध नहीं होती। यह स्वाभाविक है भी क्योंकि काष्ठ उतना स्थायी नहीं रहता जितना पाषाण। पूजा-प्रतिष्ठा प्रारम्भ हो जाने पर इन काष्ठ मूर्तियों का प्रचलन और भी कम हो गया।

वर्तमान में उपलब्ध काष्ठ-मूर्ति-शिल्प में नारी मूर्तियों की विविध मुद्राओं में अनुकृति अधिक मिलती है। नृत्यांगनाओं की मूर्तियों में पायल बांधती हुई मूर्ति विशेष आकर्षक है। कुछ आयताकार पट्टियाँ भी प्राप्त हुई हैं जिनपर जैन साधुओं के स्वागत का तथा राजकीय यात्रा का दृश्यांकन हुआ है। बैलगाडियों, अश्वारोहियों और गजारोहियों का भी शिल्पांकन स्वाभाविकता से ओतप्रोत है।[1]

५. अभिलेखीय व मुद्राशास्त्रीय शिल्प

अभिलेखों तथा मुद्राओं पर भी चित्रांकन हुआ है। कंकाली टीला मथुरा से प्राप्त आयागपट्ट पर (प्रथमशती) महिला युगल का अंकन है। इसी प्रकार १३२ ई. की सरस्वती की मूर्ति भी उपलब्ध होती है।

गुप्तकालके अभिलेखों में रामगुप्त द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियों के पादपीठ पर अंकित लेख महत्त्वपूर्ण हैं। उदयगिरि (विदिशा) मथुरा, कहाऊँ

---

१. काष्ठ शिल्प- डॉ, विनोद प्रकाश द्विवेदी

(गोरखपुर) आदि स्थानों पर भी सुन्दर अभिलेख मिले हैं। देवगढ़ में लगभग ४०० अभिलेख हैं जिनसे पता चलता है कि मंदिरों में द्वार, स्तम्भ, शाला और मण्डप बनाये जाते थे। मूर्तियों पर विविध चिन्ह, यक्ष, यक्षी, चैत्यवृक्ष आदि का चित्रांकन हुआ है जिससे चित्रशैली की विभिन्न परम्पराओं का ज्ञान होता है। गर्भालयों और देवकुलिकाओं का निर्माण भी उल्लेखनीय है। आबू का विमलवसहि मंदिर, एहोल का मेगुटी मंदिर, तथा श्रवणवेलगोल आदि स्थानों पर प्राप्त अभिलेखों का भी उल्लेख किया जा सकता है। खजुराहों, कीरग्राम, जूनागढ, रणकपुर, दानवुलपडु, कुरिक्यल, धर्मवरम्, हम्पी, कीजसातमंगलम्, अर्काट, गोदापुरम्, कार्कल, लक्कुण्डी, एलोरा, मूड़विद्री आदि सैकडों स्थान हैं जहाँ जैन अभिलेख उपलब्ध हुए हैं। ये अभिलेख भाषा, इतिहास, संस्कृति तथा चित्रांकन शैली की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं।

मुद्रा के क्षेत्र में पांडय शासकों द्वारा प्रचारित सिक्कों का विशेष योगदान रहा है। उनकी चतुष्कोणीय कांस्य मुद्राओं पर अंकित सूर्य, चन्द्र, कलश, छत्र, मत्स्य, अश्टमंगलद्रव्य, (स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंद्यावर्त, वर्धमानक (चूर्णपात्र), भद्रासन, कलश, दर्पण, और मत्स्ययुगल), सिंह, गंज, अश्व, पताका, ध्वज आदिका रमणीय अंकन हुआ है। गंग, राष्ट्रकूट, होयसल आदि राजवंशों द्वारा प्रचालित मुद्रायें भी चित्रशैली आदि की दृष्टि से भुलायी नहीं जा सकती। ये राजवंश जैन धर्मावलम्बी थे, यह हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। उनकी मुद्राओं पर जैन प्रभाव लक्षित होता है।[1]

इस प्रकार कला और स्थापत्य के क्षेत्र में जैन धर्म ने प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उसके दर्शन और साहित्य ने भी कला के हर अंग को विकसित किया है। प्रादेशिक संस्कृतियों के तत्वों के साथ लोककथाओं और सांस्कृतिक घटनाओं का अंकन जिस सुन्दरता के साथ जैन कला में हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय कला के क्षेत्र में अभी भी जैन कला के योगदान को निष्पक्ष रूप से नहीं आंका जा सका जो विकास की धारा को स्पष्ट करने के लिए नितान्त आवश्यक है।

---

१. विशेष देखिये—पुरालेखीय एवं मुद्राशास्त्रीय स्रोत - डॉ. जी. एस. ई आदि तथा रंगाचारी वनाजा

* * *

अष्टम परिवर्त

जैन समाज व्यवस्था

अष्टम परिवर्त

जैन समाज व्यवस्था

१. वर्ग व्यवस्था

व्यवस्था अवस्थाजन्य होती है। जहाँ अवस्थायें होती हैं वहाँ सापेक्षता आवश्यक होती है। यदि सापेक्षता न हो तो शान्तिभंग होना एक अनिवार्य तथ्य है। परस्पर सहयोग समन्वय, संयम, सद्भाव और एकता सापेक्षता के प्रमुख अंग हैं। समाज की अभ्युन्नति इसी प्रकारकी सापेक्षता पर अवलम्बित है। शासन व्यवस्था भी इसी पर टिकी हुई है।

वर्ण व्यवस्था :

जैनधर्म सम्मत समाज व्यवस्था आत्मानुशासन पर केन्द्रित है। ईश्वरवाद के घेरे से हटाकर पुरुषार्थवाद, कर्मवाद और समानतावाद के आंचल में पली-पुसी जैन संस्कृति और उसकी समाजव्यवस्था एक क्रान्तिकारी दर्शन लिए हुए है। वैदिक युगीन जन्मत: वर्ण व्यवस्था के विरोध में कर्मत:समाजवादी व्यवस्था प्रस्तुत करना उसका प्रमुख सिद्धान्त है। उत्तराध्ययन में स्पष्ट कहा गया है— कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से ही जीव शूद्र होता है। केवल शिर मुड़ाने से श्रमण, ओंकार का जाप करने से ब्राह्मण, जंगल में रहने से मुनि और कुशचीवर धारण करने से तपस्वी नहीं होता, अपितु समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि तथा सम्यग्ज्ञान पूर्वक तप करने से तपस्वी होता है।[1] जातिकी कोई महिमा नहीं, महिमा है तप की।[2]

---

१. न वि मुण्डियेण समणो, न ओंकारेण बम्हणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥

समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो॥

कम्मुणा बम्भुणो होइ, कम्मुणा होइ खित्तओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

—उत्तराध्ययन, २५.२९-३१.

२. न दीसई जाइविसेस कोई, वही, १२.३७

कर्म के भेदों में एक गोत्रकर्म है जिसके दो भेद किये गये हैं— उच्च गोत्र और नीच गोत्र। ये भेद आत्मा की आभ्यन्तर शक्ति की अपेक्षा से हुए हैं।[१] प्रत्येक पर्याप्तक भव्य जीव आत्मा की सर्वोच्च विशुद्धावस्था के प्रतीक चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। इसमें वर्ण, जाति अथवा गोत्र का कोई बन्धन नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र कोई भी सम्यक्चारित्रवान् व्यक्ति उसे प्राप्त कर सकता है।[२]

इसी सिद्धान्त के आधार पर जैनाचार्यों ने वैदिक संस्कृति में प्रचलित ब्राह्मणादि वर्णों की व्याख्या को अपने ढंग से परिवर्तित कर दिया। तदनुसार ब्राह्मण वही है जो वस्तु के संयोग में प्रसन्न नहीं होता और वियोग में दुःखी नहीं होता, विशुद्ध है, निर्भय है, राग-द्वेष विमुक्त है, अहिंसक है, शान्त है, पञ्चव्रतों का पालक है, गृहत्यागी है, अनासक्त है, अकिञ्चन है और समस्तकर्मों से मुक्त है। धम्मपदका ब्राह्मण वग्ग और सुत्तनिपात का वासेट्ठ-सुत्त भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। वहाँ महात्मा बुद्ध ने भी इसी प्रकार ब्राह्मण की व्याख्या की है। शेष वर्णों को भी श्रमण साहित्य में सम्यक्चारित्र से सम्बद्ध किया गया है और उन सभी को समान रूप से मुक्ति पथ प्राप्य बताया है।

जैन संस्कृति की यह कर्मणा व्यवस्था बहुत समय तक नहीं चल सकी। उत्तरकाल में यह पुनः वैदिक संस्कृति से प्रभावित होने लगी। जिनसेन (८ वीं शती) के आते-आते जैनधर्म ने चातुर्वर्ण व्यवस्था को दबी आवाज में स्वीकार-सा कर लिया। उसने ब्राह्मण का संबन्ध व्रतों के संस्कार से जोड़ दिया। साथ ही शूद्रों के दो भेद कर दिये- कारू और अकारू। धोबी, नाई, सुवर्णकार आदि कारू शूद्र हैं जो स्पृश्य है। तथा समाज से बाहर रहने वाले शूद्र अकारू हैं जिन्हें अस्पृश्य कहा गया है। यह समाज व्यवस्था कर्मणा होते हुए भी सामाजिक दृढ़ता बनाये रखने के लिए स्वीकार कर ली गई। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि तथाकथित उच्च जाति में जन्म लेना मुक्ति का कारण नहीं बल्कि मुक्ति का कारण है चारित्र और वीतरागता।[३] इसी प्रकार वय, लिङ्ग आदि का भी मुक्ति प्राप्ति के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं।

शताब्दियों का परिवर्तन स्थिर-सा हो गया। गर्भान्वय आदि क्रियाओं तथा उपनयन आदि संस्कारों के निर्धारण ने उसे और भी स्थिरता प्रदान कर

---

१. कषायप्राभृत, १.८.; प्रवचनसार, १.७
२. उत्तरज्झयणं, २५.१९-२७.
३. आदिपुराण, १६. १८४-१८६.

दी। यह वैदिक संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव है। जैन संस्कृति में समय के अनुसार यह परिवर्तन लाकर उसे सुस्थिर करने में जिनसेन का महत्वपूर्ण योगदान है।

लगभग एक शताब्दी बाद आचार्य सोमदेव ने इस परिवर्तित मान्यता को झकझोरने का प्रयत्न किया पर वे सफल नहीं हो सके। अतः उन्होंने गृहस्थ धर्मों को दो भागों में विभाजित किया— लौकिक धर्म और पारलौकिक धर्म। लौकिक धर्म ने वेद और स्मृति को प्रमाण मान लिये जाने की व्यवस्था की और पारलौकिक धर्म ने आगमों को।[1] परन्तु यह विभाजन तथा मान्यता आगे नहीं बढ़ सकी और अन्य आचार्यों का समर्थन उसे नहीं मिल सका।

इस प्रकार जैनधर्म में समाज व्यवस्था कर्मणा रहते हुए भी जन्मना की ओर झुकने लगी। फिर भी यह अवश्य ध्यान में रखा गया कि लौकिक धर्म के माध्यम से मिथ्यात्व न पनपने लगे। इसलिए सोमदेव ने यह स्पष्ट कर दिया कि जिस विधि से सम्यक्त्व की हानि न हो तथा व्रत में दूषण न लगे ऐसी प्रत्येक लौकिक विधि जैनधर्म में सम्मत हो सकती है।[2]

आश्रम व्यवस्था :

जहाँ तक आश्रम व्यवस्था का प्रश्न है, वह तो जीवन के विकासक्रम का दिग्दर्शक है। चारित्र उसकी पृष्ठभूमि है। इस दृष्टिसे जैन संस्कृति में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास (भिक्षुक) आश्रमों के कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है। इन कर्तव्यों में वैदिक संस्कृति से कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं। फिर भी यह दृष्टव्य है कि उन्हें जैन संस्कृति की परिधि में रखा गया है।

चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादर्हते मते।
चतुराश्रम्यमन्येषामविचारितसुन्दरम्॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः॥[3]

---

१. द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥
—यशस्तिलकचम्पू, उत्तरार्ध, पृ. २७३

२. सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न यत्र न व्रत दूषणम्॥ वही. पृ. ३७३

३. आदिपुराण, ३९. १५१-१५२; सागार धर्मामृत, ७.२०.

विवाह व्यवस्था :

काम वासना व्यक्ति की स्वाभाविक इच्छा है। उसे संयमित और नियन्त्रित करने की दृष्टि से विवाह की व्यवस्था की गई है। यह व्यवस्था साधारणत: समान रही है फिर भी समय, परिस्थिति और संस्कृति के अनुसार उसमें किञ्चित् भिन्नता भी मिलती है। जैन संस्कृति में विवाह को अनिवार्य तत्त्व के रूप में प्रतिपादित नहीं किया गया पर उत्तरकाल में उसे परिवार के सम्यक् संचालन के लिए आवश्यक-सा बना दिया गया। परिवार की सम्यक् व्यवस्था, वंश परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए सन्तान-प्राप्ति, सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का निर्वाह तथा यौन सम्बन्धों का नियन्त्रण जैसे तत्त्व विवाह के प्रमुख उद्देश्य रहे हैं।

वैदिक संस्कृति में विवाह के आठ प्रकार बताये गये हैं— १. ब्राह्म, २. दैव, ३. आर्ष ४. प्राजापत्य, ५. आसुर, ६. गान्धर्व, ७. राक्षस, और ८. पैशाच। इनमें प्रथम चार प्रकार प्रशस्त हैं और शेष चार प्रकार अप्रशस्त हैं। जैन संस्कृति में चार प्रकार के विवाहों का वर्णन अधिक मिलता है— १. माता, पिता द्वारा व्यवस्थित[1], २. क्रय-विक्रय विवाह[2], ३. स्वयंवर विवाह[3] और गान्धर्व विवाह। इनमें प्रथम दो प्रकार जनसाधारण में प्रचलित थे और अन्तिम दो प्रकारों को राजन्य वर्ग में प्रश्रय मिला था।

विवाह सम्बन्ध में अनुलोमात्मक स्थिति पर भी ध्यान दिया जाता था। साथ ही समान वय, धर्म, रूप, शील, शिक्षा और वैभव पर भी विचार करना आवश्यक था। सप्त व्यसनों में फंसे व्यक्ति को कोई भी अपनी कन्या नहीं देता था।

विवाह का निश्चय हो जाने पर एक उत्सव होता था। वर पक्ष वारात लेकर वधु पक्ष के घर जाता था। वहाँ सिद्ध भगवान की प्रतिमा के समक्ष वेदी में संस्थापित अग्नि की सप्तपरिक्रमाकर वर वधु का पाणिग्रहण करता था। इसी समय दोनों को जैन श्रावक के बारह व्रतों के परिपालन करने का भी व्रत लेना पड़ता था। बाद में विवाहोत्सव में सम्मिलित व्यक्ति वर-वधु को आशीर्वाद देते और चैत्यालय की वन्दना पूर्वक यह उत्सव समाप्त हो जाता था। विवाह में वधु पक्ष द्वारा वर पक्ष को तथा कभी-कभी वर पक्ष द्वारा

---

१. नायाधम्मकहाओ, १.५.५८

२. वही, १.१४.१०१; उत्तराध्ययन, सुखबोधा, पत्र ९७

३. वही, १.१६.१२२

वधु पक्ष को दहेज देने की परम्परा का भी उल्लेख मिलता है।[1] विवाह के बाद विभिन्न उत्सवों की भी परम्परा रही है।

विवाह की संपूर्ण क्रियाओं के लिए एक सुसज्जित मण्डप बनाया जाता था। उसके मुखद्वारों के दोनों ओर मंगल द्रव्य रखे जाते थे, मध्य में वेदिका बनाई जाती थी, वेदिका पर शास्त्रादि मांगलिक द्रव्य संयोजित किये जाते थे, दीपक जलाये जाते थे, स्नान संपन्न वर-वधु वेदिका के समक्ष बैठते थे, और उसपर संयोजित जिन प्रतिमा का अभिषिक्त जल उनपर छिड़का जाता था वधु का पिता वरके हाथ पर जलधारा करता और दहेज, दानादि देकर विवाह-विधि संपन्न हो जाती थी। चैत्यालय में जाकर वर-वधु पूजन भी किया करते थे।[2]

संस्कार :

संस्कार का साधारणतः तात्पर्य है—किसी भी वस्तु को अधिकाधिक उपयोगी बना देना।[3] इस साधारण अर्थ का सम्बन्ध व्यक्तित्व के विकास से जोड़ दिया गया और फलतः संस्कार व्यक्ति के कर्म, भाव, आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक शुद्धि से संबद्ध हो गया। इसी आधार पर उसे 'वासना' भी कहा गया है।[4] वासना का सम्बन्ध पूर्वजन्मकृत कर्मों से भी है। यही कर्म संसार का कारण बनता है। अविद्या के अभ्यास रूप संस्कारों के द्वारा मन स्वाधीन न रहकर विक्षिप्त हो जाता है। वही मन विज्ञान रूप संस्कारों के द्वारा स्वयं ही आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है।

वैदिक संस्कृति में संस्कार के इस आभ्यन्तर स्वरूप को न लेकर उसके बाह्य स्वरूप पर अधिक विचार किया गया है। उसमें संस्कारों की संख्या साधारणतः सोलह दी गई है— गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, बिष्णुवलि, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चारवेदव्रत, समावर्तन और विवाह। गौतम, वैखानस आदि ने इस संख्या में कुछ और वृद्धि की है।

१. उत्तराध्ययन, सुखबोधा, पत्र ८८;

२. आदिपुराण, ७.२६८-२९०.

३. संस्कारो नाम स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य, जेमिनिसूत्र, ३.१.३ पर शबरकी टीका.

४. समाधिशतक, इष्टोपदेशटीका, ३७

आचार्य जिनसेनने वैदिक संस्कृति में मान्य संस्कारों का जैनीकरण कर दिया और उनके तीन वर्ग कर दिये— १. गर्भान्वयक्रिया, २. दीक्षान्वयक्रिया, और कर्त्रन्वयक्रिया।

१. गर्भान्वयक्रियायें :

इस वर्ग में श्रावक की ५३ क्रियाओं का वर्णन किया गया है। इन क्रियाओं का सम्बन्ध गर्भ से लेकर निर्वाण पर्यन्त नियोजित हुआ है। ये क्रियायें इस प्रकार हैं— १. गर्भाधान (विषयानुराग के बिना केवल सन्तान-प्राप्तिकी कामना से अर्हन्त जिन की पूजन पूर्वक समागम करना), २. प्रीति ३. सुप्रीति, ४. धृति, ५. मोद, ६. प्रियोद्भव अथवा जातकर्म, ७. नामकर्म, ८. बहिर्मान, ९. निषद्या, १०. अन्नप्राशन, ११. व्युष्टि (वर्षगांठ) १२. केशवाप (मुण्डन), १३. लिपिसंख्यान, १४. उपनीति (आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत), १५. व्रतचर्या (गुरू के पास अध्ययन), १६. व्रतावरण (समावर्तन— अष्टमूल गुणों का पालन), १७. विवाह, १८. वर्णलाभ (उत्तराधिकार), १९. कुलचर्या, (गृहस्थके षट्कर्मों का पालन करना), २०. गृहीशिता (शुभ वृत्ति, शास्त्राभ्याश और चारित्रपालन पूर्वक उन्नति करना), २१. प्रशान्ति (पुत्र को गृहस्थी का भार सौंपकर धर्मध्यान करना), २२. गृहत्याग, २३. दीक्षा ग्रहण (उत्कृष्ट श्रावक की दीक्षा लेना), २४. जिनरूपता (मुनिव्रत ग्रहण करना), २५. मौनाध्ययनवृत्ति, २६. तीर्थकृद्भावना, २७. गुरुस्थानाभ्युपगमन, २८. गणोपग्रहण, २९. स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति, ३०. निःसंगत्वात्म-भावना, ३१. योगनिर्वाणसंप्राप्ति, ३२. योगनिर्वाणसाधन, ३३. इन्द्रोपपद, ३४. इन्द्राभिषेक, ३५. इन्द्रविधिदान, ३६. इन्द्रत्याग, ३७. अवतार, ३९. हिरण्योत्कृष्टजन्मग्रहण (चरमशरीर धारण करना), ४०. मन्दरेन्द्राभिषेक, ४१. गुरुपूजोपलम्भन, ४२. यौवराज्य, ४३. स्वराज्य, ४४. चक्रलाभ, ४५. दिग्विजय, ४६. चक्राभिषेक, ४७. साम्राज्य, ४८. निष्क्रान्ति, ४९. योगसम्मह (केवलज्ञान प्राप्त करना) ५०. आर्हन्त्य, (अष्ट प्रातिहार्य प्राप्त करना), ५१. बिहार (धर्मचक्र को आगे रखकर उपदेश देना), ५२. योगत्याग, (बिहार त्यागकर योग निरोध करना), और ५३. अग्रनिवृत्ति (सिद्धपद प्राप्त करना)।[1]

इन क्रियाओं में योगनिर्वाणसाधन तक की बत्तीस क्रियाओं का सम्बन्ध इहलोक से है। शेष क्रियायें परलोक से संबद्ध हैं। ये क्रियायें आध्यात्मिक, सामाजिक तथा वैयक्तिक विकास की सूचिका हैं।

---

१. आदिपुराण, ३८. ७०-३१०.

२. दीक्षान्वय क्रियायें :

गर्भावतार से लेकर निर्वाण पर्यन्त व्रतात्मक क्रियायें दीक्षान्वय क्रियायें कहलाती हैं। इनकी संख्या ४८ है— १. अवतार क्रिया (सच्चा गुरु प्राप्त करना), २. वृत्तिलाभ (व्रत धारण करना), ३. स्थानलाभ, ४. गणग्रहण, ५. पूजाराध्य, ६. पुण्ययज्ञ (चौदह पूर्वों का अध्ययन करना), ७. दृढ़चर्या, ८. उपयोगिता, ९. उपनीति, १०. व्रतचर्या, ११. व्रतावरण, १२. विवाह, १३. वर्णलाभ, १४. कुलचर्या, १५. गृहीशिता, १६. प्रशान्तता, १७. गृहत्याग, १८. दीक्षाद्य, १९. जिनरूपता, २०–४८ मौना-ध्ययनवृत्ति से लेकर अग्रनिवृत्ति क्रिया तक की क्रियायें गर्भान्वय क्रियाओं (नं २५ से ५३) तक की क्रियाओं के समान हैं। अध्यात्म की दृष्टि से इन क्रियाओं का विशेष महत्व है।

३. कर्त्रन्वयादि क्रियायें :

ये क्रियायें समीचीन मार्ग की आराधना के फलस्वरूप पुण्यात्माओं को प्राप्त होती हैं। उनकी संख्या सात है— १. सज्जातिक्रिया– विशुद्ध जाति रत्नत्रय की प्राप्ति में कारण होती है। २. सद्गृहित्व क्रिया, ३. पारिव्राज्य क्रिया, ४. सुरेन्द्रता क्रिया, ५. साम्राज्य क्रिया, ६. आर्हन्त्य क्रिया, और ७. परिनिर्वृत्तिक्रिया। इन क्रियाओं में सामाजिक तत्त्व अधिक उभरे हैं। इसलिये व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से उनका बहुत उपयोग है।

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने इन संस्कारों की उपयोगिता को निम्न प्रकार से मूल्यांकित किया है—

१. स्वस्थ पारिवारिक जीवन यापन के हेतु व्यक्तित्व का गठन

२. भौतिक आवश्यकताओं के सीमित होनेसे समाज के आर्थिक संगठन की समृद्धि का द्योतन

३. मानवीय विश्वासों, भावनाओं, आशाओं के व्यापक प्रसार के हेतु विस्तृत जीवन भूमि का उर्वरीकरण.

४. व्यक्तित्व विकास से सामाजिक विकास के क्षेत्र का प्रस्तुतीकरण

५. सामाजिक समस्याओं का नियमन तथा पंचायतों की व्यवस्था का प्रतिपादन

६. सामाजिक समुदायों और पारिवारिक जीवन का स्थिरीकरण.

७. आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन का समन्वयीकरण.

८. व्यक्तित्व का लोकप्रिय गठन

९. दीर्घजीवन, सम्पत्ति, समृद्धि, शक्ति एवं बुद्धि की प्राप्ति.

१०. अभीष्ट प्रभावों का आकर्षण एवं स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति.

११. सामाजिक और आर्थिक विशेषाधिकारों की उपलब्धि के कारण सम्माननीय सामाजिक स्थान की प्राप्ति.

ये संस्कार जिनसेन ने मनुस्मृति आदि वैदिक ग्रन्थों के आधार पर संरचित किये हैं। उनके पूर्व इनका कोई विशेष अस्तित्व देखने नहीं मिलता। वैदिक सम्प्रदाय में प्रचलित संस्कारों को जैन रूप देकर जैन सम्प्रदाय में उन्हें प्रचलित करने का लक्ष्य यह था कि दोनों सम्प्रदाय अधिक से अधिक निकट आयें। जिनसेन का यह उद्देश्य पूरा हो भी गया। सौमनस्य वातावरण के निर्माण में यह उनका एक महत्त्वपूर्ण योगदान कहा जा सकता है।

नारी की स्थिति :

जैन संस्कृति में सामान्यतः नारी की स्थिति पुरुष के समकक्ष ही दिखाई देती है। वैदिक संस्कृति में मान्य ऋणसिद्धान्त को यहाँ स्वीकार नहीं किया गया अतः पुत्र-पुत्री में भी कोई भेदक-रेखा नहीं खींची गयी। पुत्र को कोई धार्मिक महत्त्व भी नहीं दिया गया। इसके विपरीत पुत्री का महत्त्व कहीं अधिक-सा रहा है। यद्यपि विवाह के क्षेत्र में भी वे प्रायः स्वतन्त्र थीं फिर भी माता-पिता की अनुमति पूर्वक विवाह सम्बन्ध निश्चित करना अधिक माना जाता था। सामान्य परिवार में भी यदि पुत्री सुन्दर और स्वस्थ रही तो उसका सम्बन्ध राज परिवार से होने की सम्भावना बढ़ जाती थी। इस दृष्टि से कन्या का होना विषाद का कारण नहीं था।

परिवार के बीच भी उसकी स्थिति अच्छी थी। माता-पिता, भाई, भाभी, ननद सभी एक साथ रहते और उनके बीच किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होता था। वह दासी के रूप में नहीं बल्कि परिवार के एक संमान्य सदस्य के रूप में जीवन यापन करती थी, शिक्षा व्यवस्था भी उसकी पूरी होती थी। विद्यावती नारी को सर्वश्रेष्ठ पद दिया जाता था। पिता की संपत्ति में विवाहके पूर्व तक ही उनका अधिकार था।

वैधव्य अवस्था में नारी के सामाजिक उत्तरदायित्व और अधिकार वापिस नहीं लिये जाते थे। उसे समाज में हेय भी नहीं समझा जाता था।

विधवा-विवाह का प्रचलन नहीं था। उनका जीवन आध्यात्मिक कार्यों में अधिक व्यस्त रहता था।

कुलमिलाकर यह कहा जा सकता है कि नारी की स्थिति समाज में अच्छी थी। यद्यपि साधकों ने नारी की घनघोर निन्दा भी की है पर वह इस दृष्टि से हुई है कि कामवासना के कारण पुरुषवर्ग नारीवर्ग की ओर आकर्षित हो जाता है और फलतः वह आध्यात्मिक क्षेत्र से दूर भाग जाता है। यह तो वस्तुतः पुरुषवर्ग की कमजोरी का ही निदर्शक है। इसे नारीवर्ग की हीन स्थिति का सूचक नहीं कहा जा सकता। उसे तो वस्तुतः पुरुष के समकक्ष माना गया है।

२. जैन शिक्षा पद्धति

शिक्षा व्यष्टि और समष्टि के उत्कर्ष की भूमिका से अनुप्राणित होती है। व्यष्टि समष्टि का निर्माण करता है और उसका एक घटक बनकर अपने मूल उद्देश्य की प्राप्ति में संलग्न रहता है। यह मूल उद्देश्य है— आत्मा की चरम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करना अर्थात् आध्यात्मिक चरमपद की उपलब्धि करना। भौतिक सामग्रियों को एकत्रित करना और उनको सुख का साधन मानकर उनमें आसक्त रहना भी शिक्षा का उद्देश्य रहता है। परन्तु यह भौतिक शिक्षा का उद्देश्य हो सकता है। उससे शाश्वत सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। हर व्यक्ति मृग-मरीचिका के पीछे बेतहाशा दौड़ लगाता रहता है। फिर भी उसकी इच्छायें और अतृप्त वासनायें कभी शान्त नहीं हो पाती। फलतः साध्य-साधनों में निर्मलता न रहने से भटकाव और टकराव ही उसके हाथ आते हैं।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सांसारिक विषय वासनात्मक साधनों को उपलब्ध करना शिक्षा का मूल उद्देश्य कभी नहीं रहा। वह आनुषङ्गिक हो सकता है और होता है पर "सा विद्या या विमुक्तये" की परिभाषा जहाँ घटित नहीं होती उसे शिक्षा नहीं कहा जा सकता। भारतीय संस्कृति अध्यात्ममूलक संस्कृति है और उसमें भी श्रमण संस्कृति की जैन विचारधारा पूर्णतः विशुद्ध साधनों पर आधारित है। अतः यहाँ शिक्षा आध्यात्मिक उन्नति को लेकर ही आगे बढ़ती है। महावीर की समत्व दृष्टि ऐसी ही शिक्षा की स्थापना में लगी रही। जैनागमों में इसी दृष्टिका पल्लवन हुआ है। शिक्षार्थी और शिक्षक के स्वरूप को भी यहाँ स्पष्ट करते हुए उनपर एकात्मक दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

शिक्षा :

शिक्षा का मूल उद्देश्य मानव में सुप्त अन्तर्निहित आत्म-शक्तियों का विकास करना रहा है। सम्यक् आचार-विचार का संयोजन, मानसिक पवित्रता और दृढ़ता, सांसारिक पदार्थों की क्षणभंगुरता का बोध, अनासक्त भाव, स्वाध्याय और चिन्तन, कर्तव्यबोध और सहिष्णुता आदि सद्गुणों और आत्म-गुणों का उन्नयन उसकी साधना तथा मानवता की प्राण-प्रतिष्ठा भी इसी की परिकल्पना है। साधु, उपाध्याय, आचार्य, अर्हन्त और सिद्ध इन पाँच सोपान-सिद्धियों की क्रमशः उपलब्धि जैन शिक्षा पद्धति की फलश्रुति है। आवश्यक चूर्णि (पृ. १५७–८) में शिक्षा के दो प्रकारों का उल्लेख है—ग्रहणशिक्षा और आसेवन शिक्षा। शिक्षा शब्द का अर्थ शास्त्राध्ययन करना भी किया गया है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को शिक्षा-साधना का कल्याण पथ माना गया है। साधन यदि विशुद्ध होते हैं तो साध्य स्वतः विशुद्ध बन जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में साधनों का विशुद्ध होना अत्यावश्यक है। यहीं से जीवन की पगडण्डियां प्रारम्भ होती हैं और आगे चलकर वे महामार्ग के रूप में परिणत हो जाती हैं। अतः शिक्षा का क्षेत्र अध्यात्मिकता से अनुप्राणित होना नितान्त अपेक्षित है। उसका मूल सम्बन्ध सम्यक्चारित्र से जुड़ा हुआ है जिसकी परिभाषा "असुहाओ विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण-चरितं" की गई है। अर्थात् अशुभ कर्मों से निवृत्ति और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति चारित्र का मुख्य अंग है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच व्रतों का पालन सम्यक् चारित्र की प्राप्ति का प्रमुख साधन है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं का चिन्तन, क्षमा, मार्दवादि दश धर्मों का अनुकरण तथा मद्य-मांसादि सप्त दुर्व्यसनों का परित्याग इन साधनों की पुष्टि के उपकारक हैं। इनसे भाव विशुद्ध होते जाते हैं और अन्ततः निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। जिनसेन ने शिक्षा को यशस्करी, श्रेयस्करी, कामदायिनी, चिन्ता-मणि, कल्याणकारिणी आदि रूप से वर्णित किया है।[1]

शिक्षा के ये उद्देश जैन साहित्य के हर पृष्ठ पर अंकित हैं। आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने पुत्र-पुत्रियों को जो शिक्षा दी उससे शिक्षा के स्वरूप और उसके उद्देश्यों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है[2]—

१. आत्मोत्थान के लिए प्रयत्नशीलता —

---

१. आदिपुराण, १६ ९९-१०१

२. आदिपुराण. १६-९७-१०२; अग्निपुराण में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति, पृ. २५९; भगवती आराधना, वि. ११९४

२. जगत और जीवन के सम्बन्धों का परिज्ञान
३. आचार, दर्शन और विज्ञान के त्रिभुज की उपलब्धि
४. प्रसुप्त शक्तियों का उद्‌बोधन
५. सहिष्णुता की प्राप्ति
६. कलात्मक जीवन यापन करने की प्रेरणा की प्राप्ति
७. विभज्जवादात्मक दृष्टिकोण द्वारा भावात्मक अहिंसा की प्राप्ति
८. व्यक्तित्व के विकास के लिए समुचित अवसरों की प्राप्ति
९. कर्त्तव्यपालन के प्रति जागरूकता
१०. शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का उन्नयन
११. विवेक दृष्टि की प्राप्ति.

शिक्षार्थी :

शिक्षार्थी की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसकी स्वयं की वृत्ति किस प्रकार की है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि उसके साधन पवित्र हो और शिष्य विनीत हो। विनम्रता के नीचे मानवता का निवास होता है। विनीत शिष्य सदाचरण, ऋजुता, मार्दव, लघुता, भक्ति आदि आत्मसाधक गुणों से परिनिष्ठित रहता है। वह सभी का मित्र बनकर रहता है। अहंकार से दूर रहता है। गुरुजनों का सम्मान करता है। तीर्थंकरों, बुद्धों एवं आचार्यों की आज्ञा का पालन करता है और गुणों का अनुमोदक रहता है।[१] सत्य तो यह है कि विनय विहीन व्यक्ति की समूची शिक्षा निरर्थक हुआ करती है। शिक्षा का फल ही विनय है और विनय का फल समस्त कल्याण है।

विणएण विप्पहीणस्स हवदि सिक्खा सव्वा णिरत्थिया।
विणओ सिक्खाए फलं, विणयफलं सव्वकल्लाणं ॥[२]

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों तथा उपासक और उपासिकाओं के विनय का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि उनके लिए भी विनय एक आवश्यक गुण है। शील, समाधि और प्रज्ञा के क्षेत्र में साधक जैसे जैसे आगे बढ़ता जाता है, उसकी विनम्रता भी उतनी ही गंभीर होती जाती है। काम, क्रोध, निद्रा, औदार्य और पश्चात्ताप तथा विचिकित्सा (शंका) इन पञ्च नीवरणों को दूर

---

१. मूलाचार, ५.२१३-२१४

२. वही, ५.२११

करना[1], संवेग की उत्पत्ति होना, काय, वेदना, चित्त और धर्म इन चार आनापान सति पट्ठानों पर अनुचिन्तन करना, मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा इन चार ब्रह्मविहारों का पालना चालीस कर्मस्थानों पर ध्यान करना.[2] आदि कुछ ऐसे ही तत्व हैं जिनका अनुकरणकर बौद्ध साधक क्रोधादिविकारों को दूर करता है और परम शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। ये सभी श्रमण शिक्षार्थी के गुण कहे जा सकते हैं।

इसी प्रकार जैन धर्म में भी विनयादि गुणों को शिक्षार्थी के मूलभूत गुणों में सम्मिलित किया गया है। उत्तराध्ययन तो 'विनय सुयं' नामक अध्याय से ही प्रारम्भ होता है। भ. महावीर ने जिस साधना पद्धति को अंगीकार किया था उसका एक अंग तपोयोग हैं।[3] उसका एक प्रकार विनय है जिसके सात रूप वर्णित हैं। १. ज्ञानविनय, २. दर्शनविनय, ३. चारित्रविनय, ४. मनोविनय, ५. वचनविनय, ६. कायविनय, और ७. लोकोपचारविनय।[4] विनय का समावेश आभ्यन्तर तप में किया गया है जिससे अहंकार की मुक्ति और परस्परोपग्रह की भावना का विकास होता है। वृहद्वृत्ति में विनय के पांच रूप दिये गये है—१. लोकोपचारविनय, २. अर्थविनय, ३. कामविनय ४. धर्मविनय, और ५. मोक्षविनय।[5] उत्तराध्ययन सूत्र में विनीत शिष्य के पन्द्रह गुणों का उल्लेख मिलता है[6]—

१. नम्र व्यवहार करना
२. चपलता-चञ्चलता से दूर रहना
३. अमायावी (निश्छल) होना
४. कुतूहल न करना
५. किसी का तिरस्कार न करना अथवा अल्पभाषी होना
६. क्रोध को पत्थर की लकीर के समान बांधकर नही रखना
७. मित्रता और कृतज्ञता रखना
८. ज्ञान प्राप्त करने पर अभिमान न करना

---

१. अभिधम्मत्थसंगहो, ७.८
२. विसुद्धिमग्ग, ३.१०४
३. औपपातिकसूत्र, सूत्र २०
४. उत्तराध्ययन, ३०. ३०
५. वृहद्वृत्ति, पत्र १६
६. आराधना, ११.१०-१३

९. दूसरों के दोषों को अभिव्यक्त न करना
१०. मित्रों पर क्रोध न करना
११. अप्रिय मित्र किंवा शत्रु के प्रति भी परोक्ष में भी कल्याण भावना रखना
१२. कलह और हिंसा से दूर रहना
१३. ज्ञान की खोज में लगे रहना
१४. लज्जावान होना, और
१५. सहिष्णु होना तथा इन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त करना।

उत्तराध्ययन के प्रथम अध्याय में विनीत शिष्य के प्रमुख गुणों का आकलन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करना
२. शुश्रूषा
३. आत्महित की इच्छा
४. शील-सदाचार का पालन
५. प्रशान्तवृत्ति
६. वाचालता का अभाव
७. क्रोधी न होना
८. क्षमाशील होना
९. स्वाध्याय और ध्यान करना
१०. अकरणीय कार्य को न छपाना
११. सत्यवादी होना
१२. बिना पूछे न बोलना
१३. आचार्य के प्रतिकूल न बोलना
१४. कठोरवचन न बोलना
१५. अनुशासन का पालन करना
१६. आचार्य का समुचित आदर करना

आचार्य जिनसेन ने आगम और आगमेतर ग्रन्थों का मनन-चिन्तन कर आदिपुराण में शिक्षार्थी के गुणों का व्याख्यान इस प्रकार किया है[1]—

१. जिज्ञासावृत्ति (१.१९८)
२. श्रद्धा-अध्ययन और अध्यापक दोनों के प्रति आस्था (१.१९८)
३. विनयशीलता (१.१९८)

---

१. आदिपुराण में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति, पृ. २६४

४. शुश्रूषा (१.१४६)
५. श्रवण–पाठ श्रवण के प्रति सतर्कता एवं जागरूकता (१.१४६)
६. ग्रहण– पाठग्रहण की अर्हता (१.१४६)
७. धारण– पठित विषय का स्मरण करना (१.१४६)
८. स्मृति– स्मरण शक्ति (१.१४६)
९. अपोह– अकरणीय का त्याग (१.१४६)
१०. ऊह– तर्कणाशक्ति
११. निर्णीति– सयुक्तिक विचार करने की क्षमता (१.१४६)
१२. संयम (३८.१०९–१३८)
१३. प्रमाद का अभाव (३८.१०९–१३८)
१४. सहज प्रतिभा (३८.१०९–१३८)
१५. अध्यवसाय (३८.१०९–१३८)

शिक्षार्थी के ये सभी गुण उसकी समग्र सफलता को संनिहित किये हुए है। ऐहिक और पारलौकिक सुखसाधना की दृष्टि से इन गुणों को सर्वोपरि कहा जा सकता है। इनसे विरहित शिक्षार्थी सही शिक्षार्थी नहीं हो सकता। सूत्रकृतांग के चौदहवें अध्ययन में शिष्य के दो भेदों का उल्लेख है— शिक्षा-शिष्य और दीक्षाशिष्य। यहाँ दोनों के सम्बन्धों के विषय में कुछ निर्देश मिलते हैं।

शिक्षक :

शिक्षार्थी को योग्य और अनुकूल बनाना शिक्षक का महनीय गुण है। शिक्षक का आदर्श जीवन विद्यार्थी के लिए प्रेरणा पुञ्ज रहा करता है। इस-लिए अनुकूल अनुशासन और स्वच्छ वातावरण के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक सदैव शिक्षार्थी बना रहे और शिक्षार्थी को शिक्षित करने की साधना करता रहे। वह शिष्य को पुत्रवत् माने और हमेशा उसके लाभ की दृष्टि रखे। जो भी उपदेश दे, वह कर्मनाशक कल्याणकारण, आत्मशान्ति तथा आत्मशुद्धि करनेवाला हो।[1]

---

१. उत्तराध्ययन, १.२७

बौद्ध संस्कृति में भी शिक्षक अथवा गुरू को आचार्य और उपाध्याय की संज्ञा दी गई है।[1] शिक्षक उस नाविक की तरह है जो स्वयं नदी पार करने के साथ ही दूसरों को भी पार कर देता है।[2] वह बहुश्रुत, संयमी, सांसारिक विषयों से दूर रहने वाला तथा उत्साही होता है। भ. बुद्ध का यह कथन कि "तथागत केवल आख्याता अथवा शिक्षक है। उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर तुम्हें स्वयं ही चलना है"[3] अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि शिक्षक सर्वप्रथम स्वयं उस विषय का अध्ययन और मनन करे जिसे वह दूसरे को देना चाहता है।

शिक्षण की इन प्रणालियों में जैन-बौद्ध साहित्य में प्रश्नोत्तर शैली, उपमा शैली और खण्डन-मण्डन शैली अधिक प्रचलित रही है। प्रश्नोत्तर शैली में भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध तथा उनके अनुयायी अपने प्रतिपक्षी विद्वानों से प्रश्न पर प्रश्न करते और उन्हीं के माध्यम से उत्तर निकाल लेते। भगवती सूत्र, कथावत्थु, मिलिन्दपञ्हो आदि ग्रन्थों में इस शैली के दर्शन होते हैं। अंगुत्तर निकाय में उत्तर देने की चार रीतियों का उल्लेख है–

१. एकसंव्याकरणीय– प्रश्न का एक भाग व्याकरणीय होता है।

२. विभज्ज व्याकरणीय– प्रश्न का विभाजन करके उत्तर दिया जाता है।

३. पटिपुच्छा व्याकरणीय– प्रश्न का उत्तर प्रतिप्रश्न करके दिया जाताहै।

४. ठापनीय– कुछ प्रश्न ऐसे भी होते हैं जिनका उत्तर छोड़ देना पड़ता है।

इन चारों प्रकारों का जानकार भिक्षु कुशल होता है। वह दुर्विजेय, गंभीर, अनाक्रमणीय, अर्थ-अनर्थ का जानकार, और पण्डित होता है।

> एकंसवचनं एकं विभज्जवचनापरं।
> ततियं पटिपुच्छेय्य, चतुत्थं पन ठापये।
> यो च तेसं तत्थ तत्थ जानाति अनुधम्मतं।
> चतुपञ्हस्स कुसलो, आहु भिक्खु तथाविधं।
> दुरासदो दुप्पसहो गम्भीरो दुप्पधंसियो।
> अत्थो अत्थे अनत्थो च उभयस्स होति कोविदो।

---

१. महावग्ग, पृ. ५६-५७

२. खुद्दकनिकाय, भाग १, पृ. ३१५

३. तुम्हे हि किच्चं आतप्पं आक्खातारो तथागतो, वही, पृ. ३१५; प्रवचनसार, ७९; भगवती आराधना, ३००

अनत्थं परिवज्जेति, अत्थं गण्हाति पण्डितो।
अत्थाभिसमया धीरो पण्डितो ति पवुच्चति ।।

स्याद्वाद, नयवाद और निक्षेपवाद की प्रणालियाँ भी इसी प्रकार हैं जहाँ प्रश्नों का समाधान अनेक प्रकार से मिल जाता है। भगवती सूत्र, प्रश्नव्याकरण आदि जैनागमों तथा उत्तरकालीन साहित्य में इस शैली का पर्याप्त उपयोग हुआ है।

जैन संस्कृति की दृष्टि से शिक्षक अथवा गुरु वही है जो अहिंसादि महाव्रतों का पालन स्वयं करे और दूसरों को कराये।[1] उसे शास्त्रों का ज्ञाता, लोकमर्यादा का पालक, तृष्णाजयी, प्रशमवान्, प्रश्नों को समझकर सही उत्तर देनेवाला, प्रश्नों के प्रति सहनशील, परमनोहारी, किसी की भी निन्दा करनेवाला, गुण निधान, स्पष्ट और हितमित प्रिय भाषी होना चाहिए।

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
प्राप्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसमः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया
ब्रूयाद्धर्म्मकथा गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः।।

उपमा शैली का प्रयोग कथ्य विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए किया जाता था। भगवान् महावीर तथा महात्मा बुद्ध और उनके अनुयायी शिष्यों ने इस शैली का पर्याप्त प्रयोग किया है। सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन आदि आगम ग्रन्थों में इस शैली के माध्यम से विषय का सुन्दर विवेचन उपलब्ध है। मिलिन्द के प्रश्नों का भी समाधान नागसेन ने प्रश्नों के माध्यम से ही किया है। उसमें 'ओपम्मकथा पञ्ह' नामक सप्तम अध्याय है जिसमें उपमाओं के माध्यम से ही मिलिन्द के प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। इससे विषय को हृदयङ्गम और कर्णप्रिय बनाया जाता है।[2] खण्डन-मण्डन शैली का भी प्रारम्भ से ही प्रयोग होता रहा है। वादविवाद अथवा शास्त्रार्थ परम्परा इसी से सम्बद्ध है। इसे सुव्यवस्थित करने के लिए अनेक ग्रन्थों की भी रचना हुई है।

---

१. महाव्रतधराः धीराः भैक्षमात्रोपजीविनः।
सामायिकस्थाः धर्मोपदेशका गुरवो मताः।
भगवान् महावीरः आधुनिक संदर्भ में, पृ. ७४
ज्ञानसार, ५. प्रवचनसार (२१० गाथा) में, आध्यात्मिक गुरु को निर्यापकाचार्य भी कहा गया है।

२. मिलिन्दपञ्हो बहिरकथा, गाथा, ३-४

शिक्षक में उपर्युक्त सभी गुणों का समावेश होना चाहिए। जिनसेन ने शिक्षक के आवश्यक गुणों को इस प्रकार दर्शाया है[1]—

१. सदाचारिता
२. नियात्मकता (स्थिरबुद्धि)
३. जितेन्द्रियता
४. अन्तरंग और बहिरंग की सौम्यता
५. व्याख्यानशक्ति की प्रवणता
६. सुबोधव्याख्या शैली
७. प्रत्युत्पन्न मतित्व
८. तार्किकता
९. दयालुता
१०. पाण्डित्य
११. शिष्यके अभिप्राय को अवगत करने की क्षमता
१२. अध्ययनशीलता
१३. विद्वत्ता
१४. वाङमय के प्रतिपादन की क्षमता
१५. गम्भीरता
१६. स्नेहशीलता
१७. उदारता और विचार समन्वय की शक्ति
१८. सत्यवादिता
१९. सत्कुलोत्पन्नता
२०. अप्रमत्तता, और
२१. परहितसाधनपरता

ऐसे शिक्षकों में पूर्णकाश्यप, मक्खलि गोसाल, अजितकेसकम्बलि, पकुधकच्चायन, संजयबेलट्ठिपुत्त, निगण्ठनातपुत्त एवं सिद्धार्थ गौतम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये सभी आचार्य गणाचार्य, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे।

---

१. आदिपुराण में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति, पृ. २६५; भगवती आराधना (४७९-४८३) में शिष्यों के दोषों का निग्रह करने वाला गुरु यदि कठोर भी है तो वह सम्माननीय माना गया है।

इनके अतिरिक्त सारिपुत्त, मौद्गल्यायन, आनन्द, चापा आदि भिक्षु–भिक्षुणियों का भी उल्लेख हुआ है। अराडकलाम, उद्दकरामपुत्र, काश्यपबन्धु आदि शिक्षकों किंवा आचार्यों के भी उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलते हैं।

ये सभी शिक्षक अपने-अपने धर्म, सम्प्रदाय अथवा संघ में निर्धारित नियमों के अनुसार शिष्य के साथ समुचित व्यवहार किया करते थे। शिक्षक और शिष्य के मधुर सम्बन्धों का प्रभाव समाज को सुयोग्य और सुनियमित मार्ग पर ले जाने के लिए समुचित वातावरण की संरचना करने में कार्यकारी होता है। विनम्रता, अनुशासन और कर्तव्यबोध की त्रिवेणी शैक्षणिक वातावरण को पवित्र, निश्छल तथा निर्द्वन्द बनाने की क्षमता प्रदान करता है। राष्ट्र की चतुर्मुखी प्रगति इसी पर विशेष रूप से अवलम्बित होती है।

शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच स्थापित सम्बन्धों पर श्रमण साहित्य के अनेक उल्लेख मिलते हैं। मिलिन्दपञ्हो' मे शिक्षक के कर्तव्यों की एक लम्बी शृङ्खला दी हुई है[1]—

१. आचार्य शिष्य का पूरा ध्यान रखे।
२. कर्तव्य और अकर्तव्य का सदा उपदेश देता रहे।
३. किसमें सावधान रहे और किसमें नही, इसका उपदेश देते रहना चाहिए।
४. शिष्य के शयन आदि पर ध्यान रखना चाहिए।
५. बीमार होने पर उसका ध्यान रखना चाहिए।
६. उसने क्या पाया है, क्या नही, इसका ध्यान रखना चाहिए।
७. उसके विशेष चरित्र को जानना चाहिए।
८. भिक्षा पात्र में जो जो मिले, उसे बांटकर खाना चाहिए।
९. उसे सदा उत्साह देते रहना चाहिए।
१०. अमुक आदमी की संगति कर सकते हो, यह निर्देश देना चाहिए।
११. अमुक गांव में जा सकते हो, यह बता देना चाहिए।
१२. अमुक बिहार में जा सकते हो, यह बता देना चाहिए।
१३. अमुक के साथ गप्पें नहीं करनी चाहिए।
१४. उसके दोषों को क्षमा करना चाहिए।

---

१. मिलिन्द प्रश्न, पृ. ११९

१५. पूरे उत्साह के साथ सिखाना चाहिए।

१६. शिक्षा बिना किसी अन्तराल के देना चाहिए।

१७. किसी बात को छिपाना नहीं चाहिए।

१८. बद्ध-मुष्टि नहीं होना चाहिए।

१९. पुत्रवत् स्नेह करना चाहिए।

२०. वह अपने उद्देश्य से पतित न हो सके, यह प्रयत्न करना चाहिए।

२१. समस्त शिक्षा-प्रकारों को देकर उसे अभिवृद्ध कर रहा हूँ, ऐसा सोचना चाहिए।

२२. उसके साथ मैत्री भाव रखना चाहिए।

२३. विपत्ति आ जाने पर उसे छोड़ना नहीं चाहिए।

२४. सिखाने योग्य बातों को सिखाने में कभी चूकना नहीं चाहिए।

२५. धर्म से गिरते देख उसे आगे बढ़ाना चाहिए।

आचार्य के प्रति इसी प्रकार शिष्यके भी कर्त्तव्यों का उल्लेख जैन-बौद्ध साहित्य में मिलते हैं। उनमें सेवा-शुश्रूषा, आदर-सम्मान आदि से सम्बद्ध कर्त्तव्य अधिक है।

जैनधर्म मे पांच प्रकारके आचार का वर्णन मिलता है—सम्यग्दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। इन पाँचों प्रकार के आचारों का सम्यक् परिपालन करनेवाला आचार्य कहलाता है।[1] आचार्य परमेष्ठी के छत्तीस गुण होते हैं— आचारवान्, श्रुताधार, प्रायश्चित्त, आयापायकथी, दोषभाषक, अश्रावक, सन्तोषकारी और निर्णायक ये आठ गुण, दो, निषद्यक, बारहतप, सामायिक, चतुर्विशतिस्तव, स्वाध्याय, वंदना, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक तथा अनुद्दिष्टभोजी, शय्याशन, आरोगभुक्, क्रियायुक्त, व्रतवान्, ज्येष्ठ सद्गुणी, प्रतिक्रमी, और षण्मासयोगी।[2]

आचार्यो के अन्य प्रकार से भी पाँच भेद किये गये हैं— गृहस्थाचार्य, प्रतिष्ठाचार्य, बालाचार्य, निर्यापकाचार्य और एलाचार्य। ठाणांग में तीन प्रकार

१. भगवती आराधना, ४१९

२. बोधपाहुड टीका मे उद्धृत, अनगारधर्मामृत, ९.७६; मूलाचार (९६८) तथा भगवती आराधना (४८१) आदि ग्रन्थोंमें भी आचार्य और शिष्योंके बीच रहने वाले सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है।

के आचार्यों का वर्णन मिलता है— कलाचार्य, शिल्पाचार्य, और धर्माचार्य।[1] ये भेद ज्ञानक्षेत्र की दृष्टि से किये गये हैं और पूर्वोक्त पाँच भेद मुनि की अवस्था विशेष से संबद्ध हैं। ये आचार्य अध्ययन-अध्यापन की दिशा में अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रहते थे। शिक्षार्थी भी अपने शिक्षक के प्रति विनम्रता और सम्मान प्रदर्शित करता था। अध्यापक अनुशासन हीन छात्रों को शारीरिक दण्ड भी दिया करता था।[2] दुर्विनीत शिष्य को यहाँ अड़ियल घोड़े और अभद्र बैल की उपमायें दी गई हैं। इस सबके बावजूद शिक्षक और शिक्षार्थी के सम्बन्ध परस्पर स्नेह पूर्ण रहा करते थे, यह ध्वनित होता है।

३. जैन दर्शन का सामाजिक महत्त्व

जैन दर्शन आत्मनिष्ठ धर्म है। वह समाज की अपेक्षा घटक को सुधारने के पक्ष में अधिक है। इकाई का सुधारना सरल भी होता है। इकाइयों के समुदाय से ही समाज का निर्माण होता है। इस प्रकार व्यक्तिनिष्ठ दर्शन समाजनिष्ठ दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। जैनधर्म का प्रत्येक सिद्धान्त व्यक्ति और समाज दोनों के लिये समान रूप से श्रेयस्कर सिद्ध होता है।

तीर्थंकर महावीर ने तत्कालीन समाज व्यवस्था के दोषों को दूरकर एक निर्दोष और प्रगतिशील समाज की संरचना की जिसमें बिना किसी भेद-भाव के हर व्यक्ति को समान अधिकार दिया गया। प्रगति के समान साधन उपलब्ध किये गये और यज्ञ बहुल क्रियाओं से समाज को मुक्त किया गया। आत्म-शुद्धि पर जोर देकर क्रियाकाण्ड वाले धार्मिक वातावरण में नयी क्रान्ति की। ज्ञान और दर्शन की प्रतिष्ठा हुई। चारित्रिक शुद्धि से समाज को शुद्ध किया। शिर-मुण्डन की अपेक्षा राग द्वेषादिक विकारभावों के मुण्डन की ओर अधिक बल दिया गया।[3] यही थी महावीर की सांस्कृतिक क्रान्ति।

समस्त समाज के लिये महावीर ने फिर यह समझाने का प्रयत्न किया कि मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयमशील पराक्रम ये चारों अंग दुर्लभ हुआ करते हैं।[4] मनुष्यत्व की दुर्लभता को बताकर जीवन में सम्यक् पुरुषार्थी होने

---

१. ठाणाङ्ग, ३.१३५.

२. उत्तराध्ययन, १.३८

३. दोहापाहुड, १३५

४. चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं ॥
उत्तराध्ययन, ३.१.

का उन्होंने आवाहन किया। श्रद्धा, श्रुति, और संयमशील पराक्रम ये तीनों शब्द क्रमशः आत्मविश्वास, ज्ञान और चारित्र के समानार्थक हैं। दुर्लभ वस्तु के प्राप्त हो जाने पर उसका किस प्रकार सम्यक् उपयोग किया जाये और उसे स्व-पर कल्याणकारी बनाया जाये यही जैन धर्म और दर्शन की मूल भूमिका रही है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों तत्वों को रत्नत्रय कहा गया है। हर साधना की सफलता के लिए इन तीनों की समन्वित अवस्था को स्वीकार करना अपेक्षित है। जिस प्रकार औषधि पर सम्यक् विश्वास अथवा पूर्व परीक्षण तथा पश्चात् ज्ञान और आचरण किये बिना रोगी रोग से मुक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार संसारके जन्म-मरण रूपी रोग से मुक्त होने के लिये अथवा इष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये रत्नत्रय का परिपालन आवश्यक है। क्रियाहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियों की क्रिया निष्फल है। दावानल से व्याप्त वन में जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति इधर-उधर दौड़कर भी जल जाता है और पंगु व्यक्ति देखते हुए भी जलने से बच नहीं पाता। यदि अंधा और पंगु दोनों साथ हो जायें और नेत्रहीन व्यक्ति के कंधे पर पंगु बैठ जाये तो दोनों का उद्धार हो जाना संभव है। पंगु मार्ग निर्देशन कर ज्ञान का कार्य करे और नेत्रहीन पैरों से चलकर चारित्र का कार्य करे तो दोनों बिना जले नगर में आ सकते हैं। एक चक्र से रथ नहीं चलता। अतः सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का संयोग ही कार्यकारी हो सकता है।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः।
संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञानमेकचक्रेण रथः प्रयाति
अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरे प्रविष्टौ॥[1]

जैन दर्शन में जो स्थान सम्यग्दर्शन का है वही स्थान बौद्धदर्शन में सम्मादिट्ठि का है। दोनों का अर्थ भी प्रायः समान है। हर क्षेत्र के पथिक साधक के लिए साधना के प्रारम्भ में यह आवश्यक है कि वह जिस साधना पथ का अनुकरण करना चाहता है उसे समुचित रूप से समझे और विश्वास करे। यही श्रद्धा आत्मविश्वास और ज्ञान है। आत्मा की ये दोनों अविनश्वर शक्तियाँ हैं। जिस शक्ति से पदार्थ जाने जाते हैं वह ज्ञान है और जिससे तत्व श्रद्धान होता है वह दर्शन है। आत्मा में इन दोनों की प्रवृत्ति होती है। अखण्ड द्रव्य दृष्टि से आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। दर्शन से ही ज्ञान में सम्यक्त्व आता है

---

१. तत्वार्थवार्तिक, १. १. ५१; तुलनार्थ देखिये, सूत्रकृतांग, १. १२. ११

और अज्ञान दूर होता है। अनन्तर सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का परिग्रहण होता है।

सम्यग्दर्शन का तात्पर्य है आत्मविश्वास अथवा आत्मप्रतीति। जीवादि सप्त तत्वों के अस्तित्व पर विश्वास का होना एक आवश्यक तथ्य है। सत्कर्म सुख के कारण हे और असत्कर्म दुःख के कारण हे। इन कर्मों का कर्ता और भोक्ता जीव स्वयं है, कोई ईश्वरादिक नहीं। बिना पुरुषार्थ के किसी भी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। इन विचारों से आत्मविश्वास जाग्रत होता है। आत्म-शक्ति का यह जागरण कभी परोपदेश से होता है जिसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहा गया है और कभी स्वतः होता है जिसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहा गया है। तरतमता की दृष्टि से ही इसके तीन भेद किये गये है— औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक।

जीव का ज्ञान दर्शन स्वभाव है इसलिए जीव गुणी और ज्ञान-दर्शन गुण हैं। गुण और गुणी को सर्वथा विमुक्त नहीं किया जा सकता। आत्मा जबतक कर्मों से बंधा रहता है, उसका ज्ञान-दर्शन स्वभाव उद्घाटित नहीं हो पाता और जैसे ही वह कर्म-मल से विमुक्त हो जाता है, उसका ज्ञान-दर्शन तद्रूप हो जाता है। व्यावहारिक क्षेत्र में इसी को हम आत्मविश्वास कह सकते हैं।

जीव के सुखदुःख के कारण उसके स्वयं के कर्म होते हे। आसक्ति पूर्वक विषय-ग्रहण से राग-द्वेषादि विकार भाव उत्पन्न होते हे। इन विकार भावों की उत्पत्ति में अज्ञानता, तृष्णा, लोभ, मोह आदि भाव हे। ये विकार मन, वचन, काय रूप त्रियोग के निमित्त से आत्मा की ओर आकृष्ट होते हे जिसके कारण वह आत्मशक्ति को नहीं पहिचान पाता और यह भी नहीं समझ पाता कि अपना क्या है और दूसरे का क्या है। इसी को स्व-पर विज्ञान अथवा भेदविज्ञान कहा जाता है।

जैनधर्म के अनुसार हम संसारी जो कार्य करते हे उन्हें स्थूल रूप से चार भागों में विभाजित किया जाता है—

१. ईर्ष्यावश ज्ञानदान नहीं देना, ज्ञान के उपकरणों को छिपा देना, ज्ञान प्राप्ति में विघ्न उपस्थित करना, ज्ञानी की निन्दा करना आदि ऐसे कार्य हैं जिनसे आत्मा का ज्ञानगुण अभिव्यक्त नहीं हो पाता। इसको ज्ञानावरणीय कर्म कहा गया है।

२. पदार्थ दर्शन अथवा आत्मदर्शन को रोकना। पदार्थ दर्शन न कराने में निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि आदि मूल कारण हैं। इसे दर्शनावरणीय कर्म कहा गया है।

३. मोहजन्य कार्य करना। इसके कारण जीव हेयोपादेय का ज्ञान नहीं कर पाता। राग-द्वेषादि के कारणों से ही जीव की बुद्धि तात्विक दर्शन और आचरण की ओर नहीं जाती। क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि कषाय और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि मनोविकार सूचक नोकषाय मोहके कारण ही होते हैं। इसे मोहनीय कर्म कहा गया है। यह कर्म प्रबलतम माना गया है।

४. सत्कार्यों में विघ्न उपस्थित करना। दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि ऐसे ही क्षेत्र हैं जिनमें व्यक्ति दूसरों के लिए ये कार्य नहीं करने देता। इसे अन्तरायकर्म कहा गया है।

ये चारों कार्य जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करते है इसलिये धार्मिक परिभाषा में इन्हें 'घातिया कर्म' कहा गया है। रागद्वेषादि भावों से हमारा स्वास्थ्य, शरीर तथा सामाजिक मान-सम्मान प्रभावित होता है और साथ ही उनका सुख रूप अनुभव होता है। इनको क्रमशः आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायकर्म कहा गया है।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशून्य, पर-परिवाद, रति, अरति, माया, मृषा, आदि पाप के कारण (आश्रव) हैं। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से भी पापमयी क्रियायें होती हैं। संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, कृत, कारित, अनुमोदन आदि को भी आश्रव हेतु कहा गया है। इन आश्रव हेतुओं से मानसिक विक्षेप होता है और जीवन अशान्त बन जाता है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर का मद भी ऐसा ही हे जिसमें व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता और दूसरे की निम्नता प्रगट करता है। इन समस्त दुर्भावों और पापक्रियाओं से दूर रहने पर आत्मा की विशुद्ध अवस्था और सरलता प्रगट हो जाती है। सुख और सफलताका यह प्रथम साधन है। पर्यूषण, और क्षमावाणी पर्व जैसे आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पर्वों में जैनधर्मावलंबी साधक आत्मसाधना करके इस साधन को उज्वलित करने का प्रयत्न करता है।

विकास का दूसरा सोपान सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना है। स्वाध्याय उसकी आधार शिला है। बहुश्रुतत्व होने से साधक का चिन्तन हेयोपादेय की ओर विशेष रूप से झुकता है, पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है और निरासक्त होकर समन्वयता की ओर बढ़ता है। पदार्थ अनेकान्तात्मक है और हमारी क्षमता उसे पूरी तरह समझने की है नहीं। अतः दूसरे का दृष्टिकोण समादरणीय है। इस विचारधारा से कदाग्रह की वृत्ति दूर होती है और सामाजिक संघर्ष कम हो जाते हैं।

समाज अथवा व्यक्तिगत आचार संहिता को सम्यक् चारित्र कहा जाता है। व्यक्ति का सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील

और परिग्रह इन पाँचो पापों को छोड़ दे। मद्य, मांस, मधु तथा पंचोदम्बर फलों (ऊमर, कठूमर, पिलखन, बड़, और पीपल) के भक्षण का त्याग कर दे। जुआ-खेलना, वेश्यागमन, शिकार, परस्त्रीगमन आदि जैसे दुष्कृत्यों से वह दूर रहे। सही गृहस्थ वही हो सकता है जो न्याय पूर्वक धनार्जन करने वाला हो, गुणों, गुरुजनों, तथा गुणियों को पूजने वाला हो, हित-मित-प्रिय भाषी हो, धर्म अर्थ काम रूप त्रिवर्ग को परस्पर विरोध रहित सेवन करने वाला हो, शास्त्रानुकूल आहार-विहारी हो, सदाचारियों की संगति करने वाला हो, विवेकी, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, धर्मविधि का श्रोता, करुणाशील और पापभीरु हो।

> न्यायोपात्तधनो यजन्गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्
> नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।
> युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
> शृण्वन् धर्मविधिं दयालु धर्मी सागरधर्मं चहेत् ॥[1]

सामाजिक शान्ति के लिए जैनधर्म ने कुछ और सूत्र दिये हैं जिनका निर्विवाद रूप से मूल्यांकन किया जा सकता है। प्राणियों को रस्सी आदि से नहीं बाधना, उन्हें लकड़ी आदि से नहीं मारना, उनका अंगच्छेद नहीं करना, उनकी शक्ति से अधिक उन पर भार नहीं लादना, उन्हें ठीक समय पर पर्याप्त भोजन पानी देना, विपरीत उपदेश अथवा सलाह नहीं देना किसी की गुप्त बात को प्रगट न करना, कूट लेख न लिखना, रखी हुई धरोहर को उसी रूप में देना अथवा अस्वीकार न करना, चोर को चोरी के लिए प्रेरणा न देना अथवा उसका उपाय न बताना, चुराई वस्तु को न खरीदना, राज्य की आज्ञा अथवा नियम के विरुद्ध न चलना, देने के बांट आदि कम और लेने के बांट आदि अधिक रखना, कीमती वस्तु में कम कीमत की वस्तु का मिश्रण कर उसे मूल कीमत में बेचना, वेश्याओं और परस्त्रियों से बुरे सम्बन्ध न रखना, अनंगक्रीडा न करना, आवास क्षेत्र, सोना, चांदी, धन, धान्य, भृत्य, वस्त्र, आदि को सीमित करना, अशिष्ट वचन न बोलना, अतिथियों का स्वागत करना, सत्पात्र में दान देना आदि नियम ऐसे ही हैं जिनसे समाज में व्याप्त अशान्ति को दूर किया जा सकता है।[2]

भगवान महावीर के ये सिद्धान्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप तीन आधारशिलाओं पर टिके हुए हैं। तीनों के समन्वित रूप का परि-

---

१. सागार धर्मामृत, १. ११.
२. तत्त्वार्थसूत्र, सप्तम अध्याय.

पालन धर्म के यथार्थ रूप समता की प्राप्ति में मूलभूत कारण है। यह तथ्य किसी कालखण्ड से जकड़ा हुआ नहीं है। वह तो अबोधित, असीमित, और सार्वभौमिक तथ्य है जो जीवन के प्रत्येक अंग को स्वस्थ और समृद्ध कर देता है।

महावीर के समूचे उपदेशों को यदि हम एक शब्द में कहना चाहें तो उसके लिए अहिंसा शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। जीवन के हर क्षेत्र की समस्या का समाधान अहिंसा के आचरण में सन्निहित है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावों का अनुवर्तन, समता और अपरिग्रह का अनुचिन्तन, नय और अनेकान्त का अनुग्रहण तथा संयम और सच्चारित्र का अनुसाधन अहिंसा के प्रमुख रूप हैं। उसकी पुनीत पृष्ठभूमि अहिंसा से अनुरञ्जित है।

अहिंसा समत्व पर प्रतिष्ठित है। समत्व की प्राप्ति सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त सम्यक्चारित्र पर अवलम्बित है। इसी चारित्र को 'धर्म' कहा गया है। यही 'धर्म' सम है। यह समत्व राग-द्वेषादिक विकारों के विनष्ट होने पर उत्पन्न होने वाला विशुद्ध आत्मा का परिणाम है। धर्म से परिणत आत्मा को ही 'धर्म' कहा गया है।[1]

धर्म वस्तुतः आत्मा का स्पन्दन है जिसमें कारुण्य, सहानुभूति, व सहिष्णुता, परोपकारवृत्ति आदि जैसे गुण विद्यमान रहते है। वह किसी जाति अथवा सम्प्रदाय से बंधा नहीं। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोकमांगलिक है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा से संभव है।

संयम धर्म का एक अभिन्न अंग है। संयमी व्यक्ति सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरे के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वयं को अनुकूल लगता हो। तदर्थ उसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना का पोषक होना चाहिए। सभी सुखी और निरोग रहें, किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा प्रयत्न करे।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सन्तु सर्वे निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।
माकार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत कोऽपि दुःखितः
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते॥[2]

---

१. प्रवचनसार, १. ६-७.
२. यशस्तिलकचम्पू, उत्तरार्ध

छठी शताब्दी ई. पू. में समाज विविध सम्प्रदायों और मतवादों की संकीर्ण विचारधारा की पृष्ठभूमि में घुटन भरी सासों से जीरहा था। उसे बाहर आकर समता और सहानुभूति के स्वर खोजने पर भी सुनाई नहीं दे रहे थे। महावीर ने समाज की उस तीव्र अन्तर्वेदना को भलीभांति समझा तथा विश्व को एक सूत्र में अनुस्यूत करने के लिए अहिंसा और अनेकान्त के माध्यम से स्वानुभवगम्य विचारों को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया।

महावीर की अहिंसा पर विचार करते समय एक प्रश्न प्रायः हर चिन्तक के मन में उठ खड़ा होता है कि संसार में जब युद्ध आवश्यक हो जाता है तो उस समय अहिंसा का साधक कौन सा रूप अपनायेगा ? यदि युद्ध नहीं करता है तो आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा, दोनों खतरे में पड़ जाती है और यदि युद्ध करता है तो अहिंसक कैसा ? इस प्रश्न का भी समाधान जैन चिन्तकों ने किया है। उन्होंने कहा है कि आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। चन्द्रगुप्त, चामुण्डराय, खारवेल आदि जैसे धुरन्धर जैन अधिपति योद्धाओं ने शत्रुओं के शताधिक बार दांत खट्टे किये हैं। जैन साहित्य में जैन राजाओं की युद्धकला पर भी बहुत कुछ लिखा मिलता है। बाद में उन्हीं राजाओं को वैराग्य लेते हुए भी प्रदर्शित किया गया है। यह उनके अनासक्ति भाव का सूचक है। अतः यह सिद्ध है कि रक्षणात्मक हिंसा पाप का कारण नहीं। ऐसी हिंसा को तो वीरता कहा गया है।

> यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद्
> यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
> तमैव अस्त्राणि नृपाः क्षिपन्ति
> न दीनकानीन कदाशयेषु ॥[1]

जगत अनन्त तत्त्वों का पिण्ड है। उसके प्रत्येक तत्व में अनन्त रूप समाहित है जिन्हें पूरी तरह से समझना एक साधारण व्यक्ति के लिए संभव नहीं। उसकी ज्ञान की सीमा में तत्त्वों के असीमित रूप युगपत् कैसे प्रतिभासित हो सकते है ? जितने रूप प्रतिभासित होंगे उनमें परस्पर विरोध की संभावना उतनी ही अधिक दिखाई देगी। इसी तथ्य को भ. महावीर ने अनेकान्तवाद की उपस्थापना में स्पष्ट किया है। परस्पर विरोध को बचाने की दृष्टि से अपने कथन के पूर्व 'स्यात्' शब्द का प्रयोग कर पदार्थ में रहने वाले अन्य गुणों को भी अभिव्यक्त कर दिया जाता है। अभिव्यक्ति की इस शैली में

---

१. यशस्तिलक चम्पू

कदाग्रह या हठवादी दृष्टिकोण नहीं रहता बल्कि दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति समादर की भावना सन्निहित रहती है। इसे सन्देहवाद या शायदवाद नहीं कहा जा सकता। यह तो अपने दृष्टिकोण की सीमा में निश्चितता को साथ लिये हुए है और दूसरे के दृष्टिकोणों के लिए पूरे मन से स्थान रिक्त किये हुए है। इस शैली से अभिमानवृत्ति और विषमता के बीज समाप्त हो जाते हैं और समाज समता और शान्ति की प्रतिष्ठापना में लग जाता है।

स्याद्वाद और अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा की भूमिका पर प्रतिष्ठित भगवान महावीर के सार्वभौमिक सिद्धान्त है जो सर्वधर्मसमभाव के चिन्तन से अनुप्राणित हैं। उनमें लोकहित और लोकसंग्रह की भावना गर्भित है। धार्मिक राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करने का अमोघ अस्त्र है। समन्वय वादिता के आधार पर सर्वथा एकान्तवादियों को एक प्लेटफार्म पर ससम्मान बैठाने का उपक्रम है। दूसरे के दृष्टिकोण का अनादर करना और उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना ही संघर्ष का मूल कारण होता है। संसार में जितने भी युद्ध हुए है उनके पीछे यही कारण रहा है। अतः संघर्ष को दूर करने का उपाय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र एक-दूसरे के विचारों पर उदारता और निष्पक्षता पूर्वक विचार करे। उससे हमारा दृष्टिकोण दुराग्रही अथवा एकांगी नहीं होगा। हरीभद्र सूरि न इसी तथ्य को इन शब्दों में कहा है-

आग्रही वत निनीषति युक्ति
तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्ति
र्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ।।

महावीर के दर्शन की यह अन्यतम विशषता है कि उसमें अपरिग्रह को व्रत के रूप में स्वीकार किया गया है। अपरिग्रह का तात्पर्य है आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना। पदार्थ विशेष में आसक्ति रखना परिग्रह है। किसी भी पदार्थ से ममत्व न रखा जाय यही अपरिग्रह है। यहाँ दीन दुःखी जीवों के प्रति कारुण्य जाग्रत करना और उनके प्रति कर्त्तव्यबोध कराना मुख्य उद्देश्य है। न्यायपूर्वक द्रव्यार्जन करना सद्गृहस्थ का लक्षण है। आवश्यकता से अधिक संग्रहीत वस्तुओं को उस वर्ग में वितरित कर देना आवश्यक है जिसमें उसकी कमी हो। समाजवाद का भी यही सिद्धान्त है कि सम्पत्ति किसी एक व्यक्ति या वर्ग विशेष में केन्द्रित न होकर समान रूप से हर घटक में विभाजित हो। यह समाजवाद जैनाचार्यों ने कमसे कम तीन हजार

वर्ष पहले लाने का प्रयत्न किया था। "समन्तभद्र ने इसी तथ्य को सर्वापदा-मन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थ मिदं तवैव" कहकर सर्वोदयवाद की प्रस्थापना की थी।

आधुनिक मानस तर्कवादी और सूक्ष्मदृष्टा है। अन्धश्रद्धा की ओर उसका कोई झुकाव नहीं। साम्प्रदायिकता, धार्मिकता और जातीय बन्धनों के कटघरे को तोड़कर वह उनसे दूर हटता चला जा रहा है। कला और विज्ञान के आलोक में अब वह विश्वबन्धुत्व की भावना की ओर उन्मुख हो रहा है। मानवता का पुजारी बनकर मानव-मानव को जोड़ने का एक पुनीत संकल्प लिये आज की नयी पीढ़ी आगे बढ़ने का संकल्प किये हुए है। तृतीय विश्वयुद्ध की काली मेघमाला को नष्ट करने का यथाशक्य प्रयत्न करना उसका उद्देश्य बना हुआ है।

इस विश्वबन्धुत्व के स्वप्न को साकार करने में भ. महावीर के विचार निःसंदेह पूरी तरह सक्षम है। उनके सिद्धान्त लोकहितकारी और लोकसंग्राहक समाजवाद और अध्यात्मवाद के प्रस्थापक है। उनसे समाज और राष्ट्र के बीच पारस्परिक समन्वय बढ़ सकता है और मनमुटाव दूर हो सकता है। एक मंच पर भी विभिन्न पक्ष बैठकर एक दूसरे के दृष्टिकोणों को सही रूप से समझा जा सकता है। इसलिये जैन सिद्धान्त विश्व शान्ति प्रस्थापित करने में अमूल्य कारण बन सकते हैं। महावीर इस दृष्टि से सम्यक् दृष्टा थे और सर्वोदय तीर्थ के सम्यक् प्रणेता थे। मानव मूल्यों को प्रस्थापित करने में उनकी यह विशिष्ट देन है जो कभी भुलायी नहीं जा सकती।

इस सन्दर्भ में यह आवश्यक है कि आधुनिक मानस धर्म को राजनीतिक हथकण्डा न बनाकर उसे मानवता को प्रस्थापित करने का एक अपरिहार्य साधनात्मक केन्द्रबिन्दु माने। मानवता का सही साधक वह है जिसकी समूची साधना समता और मानवता पर आधारित हो और मानवता के कल्याण के लिये उसका उपयोग हो। एतदर्थ खुला मस्तिष्क, विशाल दृष्टिकोण, सर्वधर्मसमभाव संयम और सहिष्णुता अपेक्षित है। महावीर के धर्म की मूल आत्मा ऐसे ही पुनीत मानवीय गुणों से सिञ्चित है और उसकी अहिंसा बन्दनीय तथा विश्वकल्याणकारी है।

* * *

विषयाभिसूचिका

प्रमुख संदर्भ-ग्रंथ सूची

१. अथर्ववेद संहिता — संपादक : रॉथ, बर्लिन, १९२४.

२. अट्ठसालिनी (बुद्धघोष) — संपादक : डॉ. पी. व्ही. बापट, पूना, १९४२.

३. अनगारधर्मामृत (आशाधर) — स्वोपज्ञ टीका सहित, बम्बई, १८१८.

४. अनेकान्तजयपताका (हरिभद्र) — बम्बई, वी. नि. संवत् २४३६.

५. अपदान — संपादक : जगदीश काश्यप, पटना, १९५६.

६. अपभ्रंश साहित्य — हरिवंश कोछड़, दिल्ली, १९५६.

७. अपराजितपृच्छा (भुवनदेव) — सूरत, १९७६.

८. अभिधानचिन्तामणि कोश (हेमचन्द्र) — सुरत, १९४६.

९. अमितगति श्रावकाचार — मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत,

१०. अभिधम्मत्थसंगहो — संपादक व अनुवादक : श्री. रेवतधम्म व लक्ष्मीनारायण तिवारी, वाराणसी, १९६७.

११. अष्टशती–अष्टसहस्री — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई.

१२. अष्टपाहुड (कुन्दकुन्द) — संपादक : पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, निवाई.

१३. आचार दिनकर (वर्धमानसूरि) — सं. केसरीसिंह ओसवाल, बम्बई.

१४. आचारांग — व्याख्याकार : आत्मारामजी, लुधियाना, १९६३–६४.

१५. आत्मानुशासन (गुणभद्र) — सोलापुर, १९६१.

१६. आदिपुराण — सं. पन्नालाल साहित्याचार्य, ज्ञानपीठ, वाराणसी १९६३.

१७. आदिपुराण में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति — डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी.

१८. आप्तमीमांसा — (समन्तभद्र) सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी.

१९. आलाप पद्धति (देवसेन) — भा. दि. जैन ग्र. बम्बई, १९२०.

२०. इंण्डियन एण्टिक्वेरी —

२१. उत्तराध्ययन — संपादक : आचार्य तुलसी, कलकत्ता, १९६७.

२२. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन. मुनि नथमल, कलकत्ता.

२३. उदान — संपादक जगदीश काश्यप, नालन्दा, १९५६.

२४. उपासकदशांग — संपादक : आत्मारामजी, लुधियाना, १९६५.

२५. उपासकाध्ययन (सोमदेव) — संपादक : पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, दिल्ली.

२६. ऋग्वेद — स्वाध्याय मण्डल, औंध, १९४०.

२७. अंगुत्तरनिकाय — संपादक : जगदीश काश्यप, नालन्दा, १९५६.

२८. कर्म प्रकृति — (शिवशर्म) — भावनगर.

२९. करकण्डचरिउ (कनकामर) — सं. हीरालाल जैन, कारंजा, १९३४.

३०. कत्तिगेयाणुवेक्खा (स्वामि कुमार) — संपादक : डॉ. ए. एन्. उपाध्ये, रायचन्द्र शास्त्रमाला, आगास, १९६०.

३१. कल्पसूत्र स्थविरावली — सम्यग्ज्ञान प्रसारक मण्डल, जोधपुर.

३२. कसाय पाहुड (जय धवला टीका सहित) — मथुरा, १९४४ आदि.

३३. कहावली (भद्रेश्वर) — संपादक : यू. पी. शाह, बडोदा.

३४. कालूगणि स्मृतिग्रंथ— सं. छगनलाल शास्त्री आदि, छपारा, १९७७.

३५. कुरलकाव्य (ऐलाचार्य) — संपादक गोविन्दराम शास्त्री.

३६. कुवलयमाला (उद्योतन)— सं. डॉ. ए. एन्. उपाध्ये, बम्बई, १९५९.

३७. गोमट्टसार जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड — बम्बई, १९२७–२८.

३८. ज्ञानार्णव (शुभचन्द्र) — रामचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९०७.

३९. चतु:शतकम् (आर्यदेव) — सं. डॉ. भागचन्द्र जैन, नागपुर, १८७२.

४०. चरित्रसार (चामुण्ड राय) — भा. दि. जैन, बम्बई, वी. नि. सं. २४४३.

४१. जैन कला एवम् स्थापत्य — भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९७६.

४२. जैन तर्कभाषा (यशोविजय) — सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई.

४३. जैनधर्म — पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, मथुरा.

४४. जैनदर्शन — महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, वाराणसी.

४५. जैन-धर्म-दर्शन — डॉ. मोहनलाल मेहता, वाराणसी.

४६. जैनन्याय — पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी.

४७. जैन निबन्ध रत्नावली — मिलापचन्द्र कटारिया, कलकत्ता, १९६६.

४८. जैन साहित्य और इतिहास — नाथूराम प्रेमी, बम्बई, १९५६.

४९. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका — कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी.

५०. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १–६ : पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, १९६६–७३

५१. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान — मुनि नागराज, दिल्ली.

५२. जैन लक्षणावली — संपादक : बालचन्द्र शास्त्री, दिल्ली, १९७६.

५३. जैन साहित्य में विकार : बेचरदास दोसी, अहमदाबाद.

५४. जैन संस्कृति और राजस्थान — विशेषांक, जिनवाणी, १९७६.

५५. जैन शिलालेख संग्रह — शोलापुर.

५६. जातक — संपादक : जगदीश काश्यप, नालन्दा, १९५६.

५७. जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर — डॉ. भागचन्द्र जैन, नागपुर, १९७१.

५८. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष — संपादक : जैनेन्द्र वर्णी, दिल्ली, १९७५.

५९. ठाणाङ्ग सूत्र — आगमोदय समिति, बम्बई, सन १९१८–२०.

६०. तत्त्वसंग्रह — संपादक : स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी.

६१. तत्त्वार्थवार्तिक — सं. : डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, वाराणसी, १९४४.

६२. तत्त्वार्थसार — संपादक : पन्नालाल साहित्याचार्य, वाराणसी, १९७०.

६३. तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति) — पं. फूलचन्द्र, काशी, वी. नि, सं. २४७६.

६४. तिलोय पण्णत्ति (यतिवृषभ) — सं. : डॉ. उपाध्ये, शोलापुर, १९५१.

६५. त्रिपुरी — डॉ. अजयमित्र शास्त्री, भोपाल, १९७३.

६६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (हेमचन्द्र) — भावनगर, १९०६–१३.

६७. थेरगाथा और थेरीगाथा — संपादक : जगदीश काश्यप, नालन्दा, १९५६.

६८. द्रव्यसंग्रह (नेमीचन्द्र) — सं. : दरबारीलाल कोठिया, वाराणसी, १९६६.

६९. दशवैकालिक — संपादक : आचार्य तुलसी, कलकत्ता, १९६३.

७०. दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन, मुनि नथमल, कलकत्ता.

७१. दर्शनसार (देवसेनाचार्य) — सं. : जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२०.

७२. दर्शन और चिन्तन — पं. सुखलाल संघवी, अहमदाबाद, १९५७.

७३. दक्षिण भारत में जैनधर्म — श्री. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी.

७४. दीघनिकाय — संपादक : जगदीश काश्यप, नालन्दा, १९५६.

७५. दी सेक्रेड बुक्स ऑफ् दी ईस्ट — डॉ. मेक्समुलर.

७६. धर्मबिन्दु (हरिभद्र) — हिन्दी अनुवाद सहित, अहमदाबाद, १९५०

७७. न्यायकुमुदचन्द्र (प्रभाचन्द्र)—संपादक : पं. महेन्द्र कुमार, बम्बई,१९३८

७८. न्याय विनिश्चय विवरण (वादिराज) :— संपादक : पं. महेन्द्र कुमार, न्यायाचार्य, काशी, १९४४, १९५४.

७९. नन्दिसूत्र — व्याख्याकार : आत्मारामजी महाराज, लुधियाना, १९६६.

८०. नवतत्त्व प्रकरण (सुमंगलाटीका) — श्री. लालचन्द्र, बडोदरा.

८१. नवपदार्थ — श्रीचन्द्र रामपुरिया, कलकत्ता, १९६१.

८२. नायाधम्मकहाओ — एन्. व्ही. वैद्य, पूना, १९४०.

८३. नियमसार — बम्बई, १९१६.

८४. प्रतिमा विज्ञान — बालचन्द्र जैन, जबलपुर, १९७४.

८५. प्रतिष्ठातिलक (नेमिचन्द्र) — सोलापुर.

८६. प्रतिष्ठासारसंग्रह (वसुनन्दि) — संपादक : ब्र. शीतलप्रसाद, सूरत.

८७. प्रमाण परीक्षा — सनातन जैन ग्रंथमाला, काशी

८८. प्रमाण वार्तिक — संपादक : राहुल सांकृत्यायन, पटना, वि. सं. २०१०.

८९. प्रवचनसार (कुन्दकुन्द) — डॉ. ए. एन्. उपाध्ये, बम्बई, १९३५.

९०. प्रवचन सारोद्धार (नेमिचन्द्र) — सिद्धसेन टीका सहित, बम्बई, १९२२.

९१. प्रश्नव्याकरणांग— अनुवादक मुनि हेमचन्द्र, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९७३.

९२. प्राकृत भाषा और साहित्य का अलोचनात्मक इतिहास.–डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, तारा प्रेस, वाराणसी

९३. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका — डॉ. राम जी उपाध्याय, इलाहाबाद, १९६६

९४. पञ्चाध्यायी (राजमल) — ग्रंथ प्रकाश कार्यालय, इन्दौर.

९५. पञ्चास्तिकाय (कुन्दकुन्द) — बम्बई, १९०४.

८५. पञ्चाशक विवरण (हरिभद्र) — भावदेव टीका सहित, भावनगर, १९१२

९७. पंचसंग्रह (प्राकृत) — भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६०.

९८. पंचसंग्रह (संस्कृत) — माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२७.

९९. पट्टावली समुच्चय — दर्शनविजय, बीरमगांव, गुजरात, १९३३.

१००. परमात्मप्रकाश (योगीन्द्र) — सं. डॉ. ए. एन्. उपाध्ये, आगास, १९६०.

१०१. परीक्षामुख (माणिक्यनन्दि) — वाराणसी, १९२८.

१०२. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (अमृतचन्द्र) — बम्बई, १९०४.

१०३. पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग — ब्रजगोपाल तिवारी, आगरा.

१०४. बौद्ध संस्कृति का इतिहास — डॉ. भागचन्द्र जैन, नागपुर, १९७३.

१०५. भगवती आराधना (शिवार्य) — भाषावचनिका सहित, बम्बई, १९८९.

१०६. भगवतीसूत्र — अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, अहमदाबाद, १९२२–३१.

१०७. भट्टारक सम्प्रदाय — डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, शोलापुर, १९५८.

१०८. भ. महावीर और उनका चिन्तन — डॉ. भागचन्द्र जैन, पाथर्डी, १९७६.

१०९. भागवत पुराण — संपादक : गोपाल नारायण, बम्बई, १८९८.

११०. भद्रबाहुसंहिता — संपादक : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, काशी.

१११. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी — डॉ. एस. के चाटुर्ज्या, दिल्ली १९५७.

११२. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि — डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, काशी, १९५७.

११३. भारतीय कला — डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, वाराणसी.

११४. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान — डॉ. हीरालाल जैन, भोपाल.

११५. भावसंग्रह — हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय. बम्बई.

११६. भिक्षु स्मृति ग्रन्थ — कलकत्ता.

११७. मज्झिमनिकाय — संपादक : जगदीश काश्यप, नालन्दा, १९५६.

११८. मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्यभावना — डॉ. पुष्पलता जैन, (शोध प्रबन्ध) नागपुर (अप्रकाशित).

११९. मनुस्मृति — संपादक : क्षेमराज श्रीकृष्णदास, कलकत्ता १९०८.

१२०. महाभारत — गीताप्रेस, गोरखपुर, १९५६–५८.

१२१. महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर, १९७७.

१२२. महावंश — अनुवादक : भ. आनन्द कौसल्यायन.

१२३. मंजुश्री मूलकल्प — संपादक : गणपतिशास्त्री, त्रिवेन्द्रम.

१२४. मिलिन्दपञ्हो — संपादक : जगदीश काश्यप, वाराणसी, १९३७.

१२५. मूलाचार (वट्टकेर) — वसुनन्दि टीका सहित, बम्बई, वि. सं. १९७७.

१२६. यशस्तिलकचम्पू (सोमदेव) — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०१.

१२७. यशस्तिलकचम्पूका सांस्कृतिक अध्ययन — गोकुलचन्द्र जैन, वाराणसी.

१२८. योगसारप्राभृत (अमितगति) — सं. : जुगल किशोर मुख्तार, दिल्ली

१२९. योगसूत्र (पातञ्जलि) — संपादक : आर् प्रसाद, इलाहाबाद, १९२५.
१३०. योगशास्त्र आदि (हेमचन्द्र) : जैनधर्म प्रसारक सभा, १९१२.
१३१. रत्नकरण्डश्रावकाचार (समन्तभद्र) — सं. जु. कि. मुख्तार, दिल्ली.
१३२. लाटी संहिता (राजमल्ल) — मा. ग्र. बम्बई, वि. सं. १९८४.
१३३. वरांगचरित (जटासिंहनन्दि) — सं. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, मथुरा.
१३४. वृहत्स्वयंभूस्तोत्र (समन्तभद्र) — वीर सेवा मंदिर, दिल्ली.
१३५. वसुदेव हिण्डी (संघदास-धर्मसेन), प्रथम खण्ड, भावनगर, १९३०.
१३६. वसुनन्दि श्रावकाचार — भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५२.
१३७. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि — पेरिस, १८२८–७; १९२८.
१३८. विविधतीर्थकल्प (जिन प्रभसूरि) सिंघी जैन ग्र. माला, १९३४.
१३९. विसुद्धिमग्ग — संपादक : धर्मानन्द कौशाम्बी, बम्बई, १९७०.
१४०. विशेषावश्यकभाष्य (जिनभद्र) —आगमोदय स. बम्बई, १९२४–२७.
१४१. विष्णु पुराण — संपादक : जीवानन्द वि. भट्टाचार्य, कलकत्ता, १८८२.
१४२. वैदिक कोश — संपादक : डॉ. सूर्यकान्त.
१४३. स्टडीज इन जैन आर्ट — डॉ. यू. पी. शाह, वाराणसी.
१४४. स्टडीज इन साऊथ इन्डियन जैनिज्म — आयंगार व राव, मद्रास, १९२२
१४५. स्याद्वाद मञ्जरी (हेमचन्द्र) — अनु. : डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, १९७०.
१४६. सन्मति प्रकरण (सिद्धसेन)—अंग्रेजी अनुवाद व मूल सहित, बम्बई,१९३८
१४७. सप्तभंगतरंगिणी (विमलदास) — बम्बई, १८१६.
१४८. समकालीन दार्शनिक चिन्तन — डॉ. हृदयनारायण मिश्र, कानपुर.
१४९. समणसुत्त — सर्वसेवा संघ, राजघाट, वाराणसी, १९७५.
१५०. समयसार (कुन्दकुन्द) — परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई.
१५१. समराइच्चकहा (हरिभद्र) — कलकत्ता, १९२३.
१५२. समाधिशतक (पूज्यपाद) — सनातन जैन ग्र. माला, १९०५, दिल्ली.
१५३. सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) — बम्बई, १९३४.
१५४. संयुत्तनिकाय — संपादक : जगदीश काश्यप, नालन्दा, १९५६.
१५५. सागारधर्मामृत (आशाधर) — मा. दि. जन ग्र. माला, बम्बई,
१५६. सामाचारी शतक (समयसुन्दरगणी)—जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार, १९३९
१५७. सावयधम्मदोहा — संपादक : डॉ. हीरालाल जैन, कारंजा, १९३२.

१५८. सांख्यकारिका (ईश्वरकृष्ण) — चौखम्बा, वाराणसी.

१५९. सिद्धिविनिश्चय टीका — संपादक : महेन्द्रकुमार जैन, काशी, १९५९.

१६०. सुत्तनिपात — अनुवादक : भिक्षु धर्मरत्न, सारनाथ, १९६०.

१६१. सुमंगलविलासिनी (बुद्धघोष) — सं. : रिज डेविड्स, लन्दन, १८८६-१९३२.

१६२. सुभाषितरत्नसंदोह (अमितगति) — निर्णयसागर, बम्बई, १९०३.

१६३. सूत्रकृतांग — हिन्दी टीका सहित, ओझा, राजकोट. वि. सं. १९९३–९५.

१६४. श्लोकवार्तिक (कुमारिल) — वाराणसी.

१६५. षड्खण्डागम (धवला टीका सहित) — संपादक : हीरालाल जैन, भाग–१–१६, अमरावती, विदिशा, १९३८–१९५४.

१६६. षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्र) — सं. : महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, काशी.

१६७. हरिवंशपुराण (जिनसेन) — संपादक : पन्नालाल जैन, काशी, १९६३.

१६८. हिन्दी भाषा — डॉ. भोलानाथ तिवारी, इलाहाबाद, १९७२.

१६९. हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिटरेचर — डॉ. विन्टरनित्स, कलकत्ता, १९२७.

१७०. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र — काणे, पुणे.

१७१. श्रृङ्गारशतक — संस्कृतशास्त्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८१८.

१७२. श्रमण भगवान महावीर — कल्याणविजय, जालोर, १९४१.

१७३. जैन जर्नल — सं गणेश ललवाणी, कलकत्ता.

१७४. अनेकान्त — सं. पं. परमानन्द शास्त्री, दिल्ली.

१७५. पालिकोससंगहो — सं. डॉ. भागचन्द्र जैन, नागपूर, १९७५.

१७६. आचारांग — सं. आचार्य तुलसी, कलकत्ता.

---

(१) नन्दिसिह द्वारा उल्लिखित जिनमूर्तियुक्त
आयाग पट्ट, कंकाली टीला, मथुरा—प्रथम-द्वितीय शती

(२) हड़प्पा–मस्तकहीन जिनमूर्ति, तृतीयशती ई. पू.

लोहानीपुर–मस्तकहीन जिनमूर्ति, तृतीय शती ई. पू.

(३) शत्रुञ्जय (पालीताना), पहाडी पर स्थित जैन. मन्दिर समूह

(४) गोमटेश्वर बाहुवली, श्रमणबेलगोल, मैसूर, ९८३ ई.
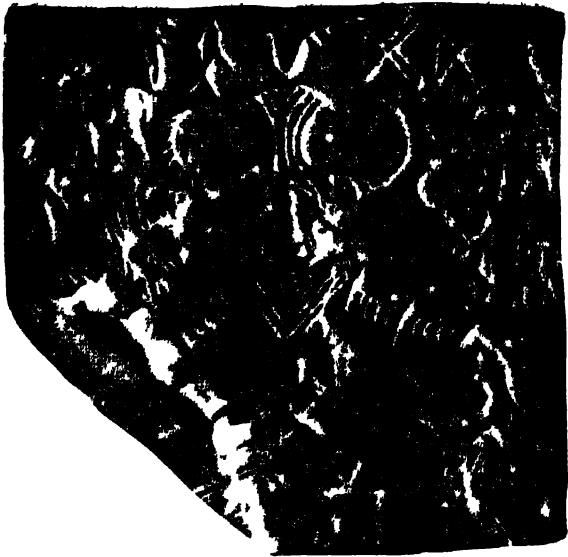
(५) सिन्धुघाटी की त्रिरत्नसहित प्राग्रुप ध्यानस्थ जिन मूर्ति
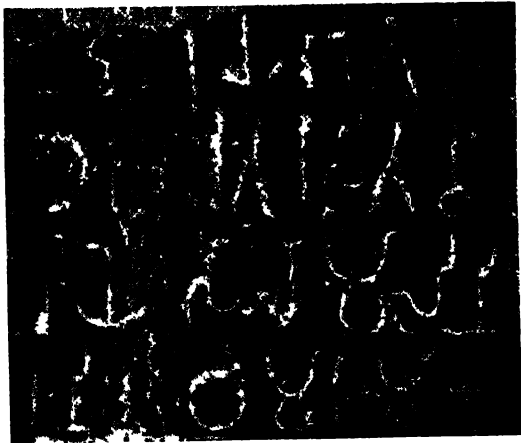
(६) बरली (अजमेर) मे उपलब्ध मौर्य कालीन ब्राह्मी लिपि मे उट्टंकित शिलालेख (वी. नि. सं. ८४)

(७) राणकपुर, आदिनाथ मंदिर, १४३२ ई.
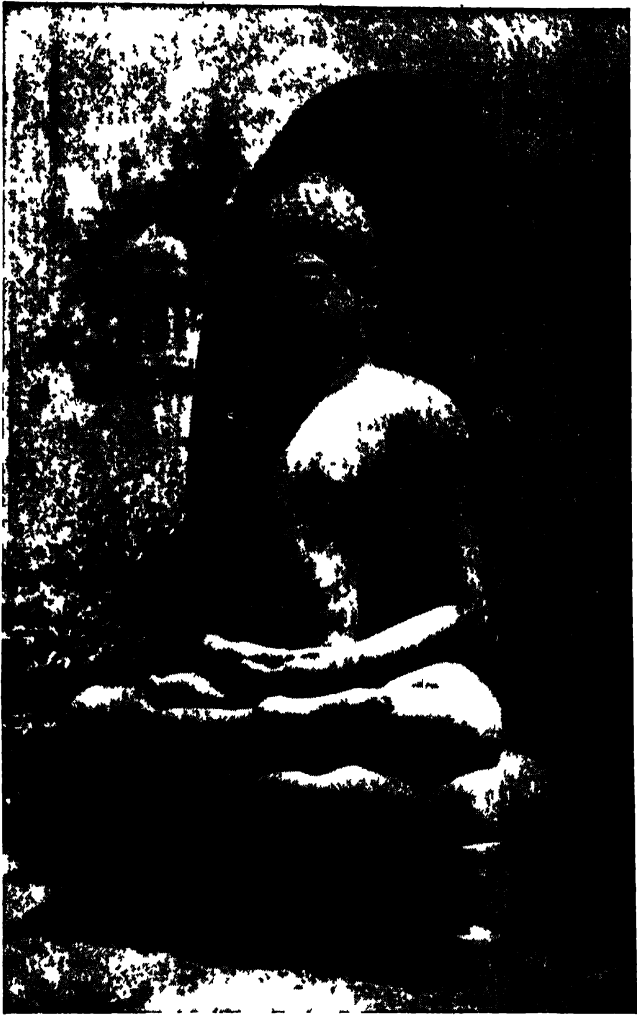
(८) मथुरा में प्राप्त भ. महावीर की मूर्ति-प्रथमशती

(९) बादामी गुफा, क्र. ४, भ. महावीर (७-८ वीं शती)

(१०) जीवन्त स्वामी की कांस्य मूर्ति, गुप्तशैली, मैत्रक काल, अकोट

(११) अम्बिका यक्षी, एलोरा, महाराष्ट्र
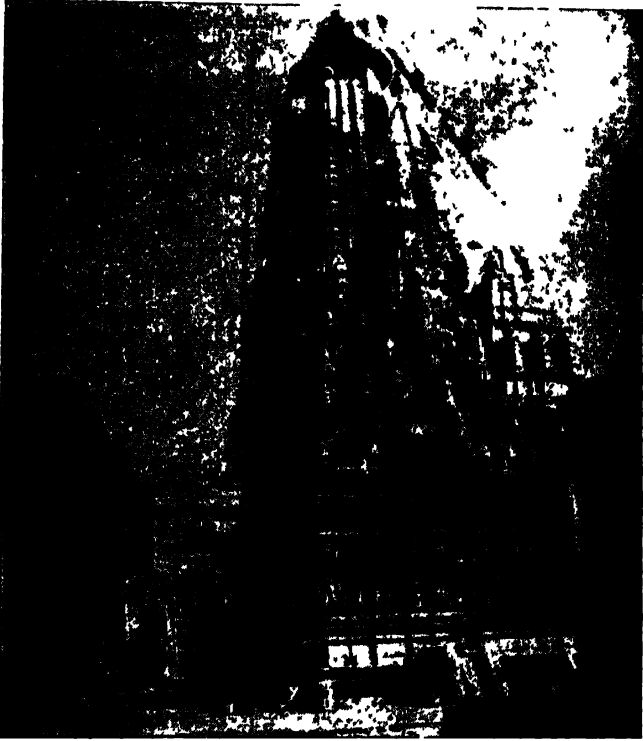
(१२) जैन मंदिर, खजुराहो, म प्र.

(१३) तीर्थंकर माता, देवगढ़, म.प्र.

SVAYAMBHŪRAMAṆA-SAMUDRA
SVAYAMBHŪRAMAṆA-DVĪPA
AND SO ON TILL THE LAST ONE
NANDĪŚVARODA-SAMUDRA
NANDĪŚVARA-DVĪPA
IKSUDA-SAMUDRA
IKṢUVARA-DVIPA (PUṢKARA)
GHṚTODA-SAMUDRA
GHṚTAVARA-DVĪPA (ŚĀKA)
KṢĪRODA-SAMUDRA
KṢĪRAVARA DVĪPA (KRAUÑCA)
VARUṆAVARA-SAMUDRA
VARUṆAVARA-DVĪPA (KUŚA)
PUṢKARA-SAMUDRA
PUṢKARA-DVĪPA (ŚĀLMALI)
KALODADHI-SAMUDRA
DHĀTAKĪKHAṆḌA (PLAKṢA)
LAVAṆA-SAMUDRA
JAMBŪ-DVĪPA
MĀNUSOTTARA PARVATA
CENTRAL SPHERE

(१४) जम्बुद्वीप

(१५) कल्चुरिकालीन महावीर मूर्ति, लखनादोन, म. प्र.

(१६) पार्श्वनाथ मूर्ति, शिरपुर (अकोला)

(१७) लोक पुरुष (प्राचीन पाण्डुलिपि में चित्रित)
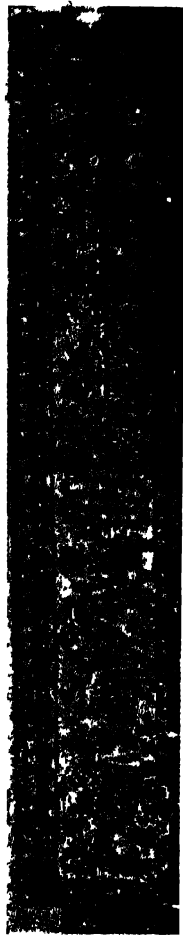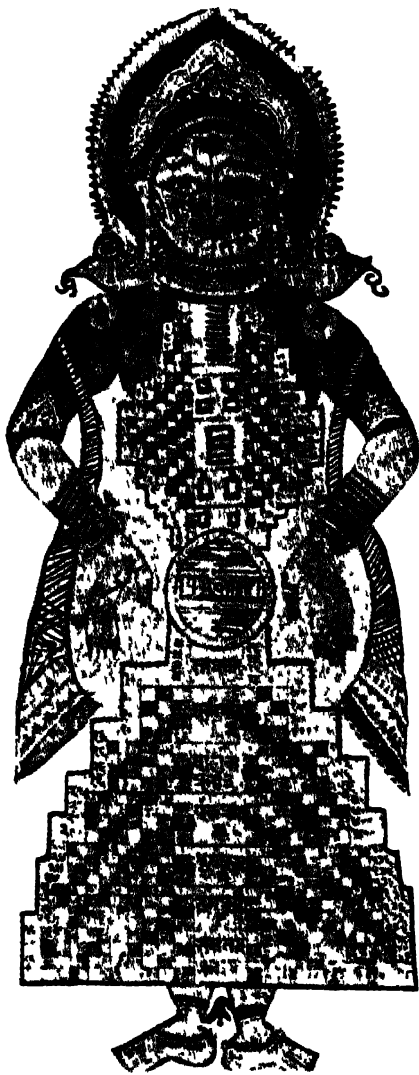
भ. महावीर की माता के काष्ठ-फलक पर उत्कीर्ण चौदह स्वप्न, पाटन, १८ वीं शती

लेखक की प्रकाशित पुस्तकें—

१. Jainism in Bu
Literature.

२. चतुःशतकम् (संपादन
अनुवाद).

३. पातिमोक्ख (संपादन
अनुवाद).

४. पालिकोमसंगहो (संपाद

५ विद्वद्विनोदिनी

६. भगवान महावीर औ
चिन्तन.

७. जैन दर्शन और सं
इतिहास.

८. बौद्ध संस्कृति का इति

९. भारतीय संस्कृतीला ब
योगदान (मराठी).

१०. भगवान महावीर
अग्निरेखा (मराठी).

११. लगभग १०० शोध

१२. अभिधम्मत्थसंगहो (
(प्रकाश्य).

१३. कविता संग्रह (प्रका